करे। (वसु, रुद्र, आदित्य और वषट्कार—ये सब मिलकर बत्तीस हैं। इनका क्रमशः एक-एक दलमें ध्यान एवं न्यास करना चाहिये। ध्रुव, धर, सोम, आप, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास—ये आठ वसु बताये गये हैं। विष्णुपुराण (१ । १ । १५) के अनुसार हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, शम्भु, वृषाकपि, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र हैं। धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा तथा विष्णु—ये बारह आदित्य हैं)। उक्त बत्तीस दलोंवाले कमलके भी बहिर्भागमें भूगृह (भूपुर*) बनाये। उसके चारों दिशाओंमें वज्र तथा कोणोंमें शूलका चिह्न अङ्कित करे। उक्त भूपुरको तीन रेखाओंसे भी संयुक्त करे। ये रेखाएँ सत्त्वादि तीन गुणोंको सूचित करनेवाली होंगी। इसके सिवा—जैसे किसी मण्डपमें द्वार बने होते हैं, उसी प्रकार इसमें भी द्वार बनाये। साथ ही, उस भूपुरको राशि आदिसे भी विभूषित करे। अर्थात् उसे ज्योतिर्मण्डलके आकारका बनाकर उसमें यथास्थान राशि आदि स्थापित करे। उक्त भूपुर-यन्त्रको शेषनागसे युक्त बनाये अर्थात् इस पुरमें प्रदर्शित करे कि इस यन्त्रको शेषनागने धारण कर रक्खा है। (अथवा उसको आठों दिशाओंसे आठों नागोंने धारण कर रक्खा है। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्ख और कुलिक) ॥ १–६ ॥

नवम खण्ड

पूजा-यन्त्रके शेष भागका वर्णन तथा श्रीरामके माला-मन्त्रका स्वरूप एवं माहात्म्य

इस प्रकार भूपुर-यन्त्र लिखकर उसकी चारों दिशाओंमें नारसिंह बीज-मन्त्रका और कोणोंमें वाराह बीज-मन्त्रका अङ्कन करे। 'क्', 'ष्', 'र्', अनुग्रह (औ), इन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) तथा शक्ति (माया) आदिसे युक्त जो '**क्ष्रौं**' मन्त्र है, वही नारसिंह बीज-मन्त्र है। यह ग्रहबाधा-निवारण तथा शत्रुमारण आदि कर्ममें विनियुक्त होकर अभीष्ट-सिद्धि दिलानेमें प्रसिद्ध है। अन्त्य वर्ण (हकार) अर्धीश अर्थात् उकारसे युक्त हो, उसमें बिन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) और शक्ति आदिका भी संयोग हो तो वह '**हुम्**' इस प्रकार वाराह-बीज होता है। इस यन्त्रमें उस 'हुम्' को भी (कोणोंमें) अङ्कित करना चाहिये। अब श्रीरामसम्बन्धी माला-मन्त्रका वर्णन किया जायगा ॥ १–३ ॥

इसमें पहले तो तार (प्रणव) है, फिर 'नमः' पद है। इसके बाद निद्रा (भ), फिर स्मृति (ग), फिर मेद (व), उसके बाद कामिका (तकार) है, जो रुद्र अर्थात् ए से युक्त है। तदनन्तर अग्नि (र), फिर मेधा (घ) है, जो अमर (उ) से विभूषित है। उसके बाद दीर्घ कला (न) है, जो अक्रूर अर्थात् सौम्य—चन्द्रमा (अनुस्वार) से संयुक्त है। तत्पश्चात् ह्लादिनी (द) है। फिर दीर्घा कला (न) है, जो मानदा कला (आ) से सुशोभित है। उसके बाद क्षुधा (य) है। यहाँतक '**ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय**' की सिद्धि हुई। तदनन्तर क्रोधिनी (र), अमोघा (क्ष्) और विश्व (ओ) है, जो मेधा (घ्) से संयुक्त है। फिर दीर्घा (न) है, उसके बाद ज्वालिनी अर्थात् वह्नि-कला (व) है, जो सूक्ष्म—रुद्र (इकारकी मात्रा) से युक्त है। फिर मृत्यु—प्रणवकला (श्) है, जो प्रतिष्ठा अर्थात् उच्चारणके आधारस्वरूप 'अ' से संयुक्त है। फिर ह्लादिनी (दा) और त्वक् (य) है। इससे '**रक्षोघ्नविशदाय**' इस मन्त्रभागका उद्धार हुआ। तदनन्तर क्ष्वेल (म), प्रीति (ध), अमर (उ), ज्योति (र), तीक्ष्णा (प्), जो अग्नि (र), से संयुक्त है, श्वेता (स), जो अनुस्वारसे युक्त है, फिर कामिका अर्थात् तकारसे पाँचवाँ अक्षर (न), फिर 'ल'के बादका अक्षर (व), 'त'के बादवाले 'थ' के पीछेका अक्षर (द), फिर 'ध' के बादका अक्षर (न) है, जो अनन्त (आ) से संयुक्त है। तत्पश्चात् दीर्घस्वरसे युक्त वायु (या), सूक्ष्म (ह्रस्व) इकारसे युक्त विष—मकार (मि), कामिका (त), फिर कामिकामें रुद्र (ए) का संयोग=(ते) है। तदनन्तर स्थिरा (ज) है, उसके बाद 'स' अक्षर और उसमें 'ए'की मात्रा है (से)। इस प्रकार '**मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे**' इस मन्त्रभागका उद्धार हुआ। इसके बाद तापिनी (ब), दीर्घ (ल) और उसमें भू यानी दीर्घ 'आ' की मात्रा है। फिर अनिल (य) है। इस प्रकार '**बलाय**' की सिद्धि हुई। तत्पश्चात् अनन्तग अनल अर्थात् 'आ' की मात्रासे युक्त रेफ (रा) है, फिर नारायणात्मक—अर्थात् आकारकी मात्रासहित काल—मकार (मा) है, उसके बाद प्राण (य) है। इससे '**रामाय**' की सिद्धि हुई। तदनन्तर विद्यायुक्त अम्भस् अर्थात्

* भूपुर-यन्त्रका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'भूमेश्चतुरस्रं सवज्रकं पीतं च'—चौकोर रेखा, वज्र-चिह्नका संयोग और पीला रंग—यह भूपुर है।

इकारकी मात्रासे युक्त वकार (वि) है। फिर पीता (ष्), रति (ण), और 'ल'के बादका (व) है, जो योनि (ए) से युक्त है। इससे 'विष्णवे' की सिद्धि हुई। अन्तमें पुनः नति—प्रणामका वाचक 'नमः' शब्द और प्रणव है ॥ ४—९ ॥

'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः ॐ॥'

यह सैंतालीस अक्षरोंका मालामन्त्र राज्याभिषिक्त भगवान् श्रीरामसे सम्बन्ध रखता है। सगुण होनेपर भी उपासकोंके तीनों गुणोंका नाशक है (अर्थात् त्रिगुणमयी मायाका बन्धन नष्ट करके उन्हें दिव्य साकेत धामकी प्राप्ति करानेवाला है)। इस मन्त्रको पहले बताये हुए क्रमसे ही लिखना चाहिये ॥ १० ॥

यह उपर्युक्त यन्त्र सर्वात्मक—सर्वस्वरूप है। प्राचीन आचार्योंने इसका उपदेश किया है तथा ऋषि-महर्षियोंने भी इस मन्त्रका सेवन किया है। जो इसका सेवन करते हैं, उन्हें यह मोक्ष देता तथा उनकी आयु और आरोग्यकी वृद्धि करता है। इतना ही नहीं, यह पुत्रहीनोंको पुत्र भी देता है। अधिक कहनेसे क्या लाभ, इस मन्त्रके सेवनसे मनुष्य सब कुछ बहुत शीघ्र पा जाते हैं। इसके आश्रयसे उपासक धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदिको भी प्राप्त कर सकते हैं ॥ ११-१२ ॥

यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य है। इस प्रकार जो यह यन्त्र बताया गया है, बिना उपदेशके किसी परम सामर्थ्यशाली पुरुषके लिये भी दुर्गम है। प्राकृत जनोंको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ १३ ॥

दशम खण्ड

पूजाकी सविस्तर विधि

सर्वप्रथम द्वार[1]-पूजा करके पद्मासन[2] आदि आसनसे बैठे; फिर प्रसन्नचित्त होकर पञ्चभूत आदिकी शुद्धि करे। (पृथिवी आदि तत्त्वोंको क्रमशः अपने कारणमें लय करते हुए अन्तमें सब कुछ परमात्मामें लय कर देना ही तत्त्वोंका शोधन है। भूतशुद्धि[3]

१. द्वारपूजाकी विधि इस प्रकार है। आचार्य विधिपूर्वक स्नान करके पूर्वाह्न-कृत्य (संध्या-वन्दन आदि नित्य-नियम) कर लेनेके पश्चात् वस्त्र और माला आदिसे अलङ्कृत हो पूजनादिरूप यज्ञके लिये मौनभावसे यज्ञ-मण्डपमें पदार्पण करे। वहाँ सविधि आचमन करके सामान्यतः पूजाके लिये अर्घ्य बनाकर रख ले। फिर मन्त्रयुक्त जलसे द्वारका अभिषेक करके उसका पूजन आरम्भ करे। द्वारके ऊपरी भागमें उदुम्बर (गूलर) का काष्ठ हो; उसमें विघ्न, लक्ष्मी तथा सरस्वतीका ('विं विघ्नाय नमः, लं लक्ष्म्यै नमः, सं सरस्वत्यै नमः'—इन मन्त्रोंसे) आवाहन-पूजन करे। तत्पश्चात् द्वारकी दक्षिण शाखामें विघ्नका और वाम शाखामें क्षेत्रपालका पूजन करे। इन दोनोंके पार्श्वभागमें क्रमशः गङ्गा-यमुनाका पुष्प और जलसे पूजन करे। (दक्षिण द्वारभागमें गङ्गाका और वाम द्वारभागमें यमुनाका पूजन करना उचित है।) तत्पश्चात् द्वारके निचले भागमें देहलीपर 'अस्त्राय फट्'का उच्चारण करते हुए 'अस्त्र'की पूजा करे। प्रत्येक द्वारपर इसी क्रमसे पूजन करना चाहिये।

२. पद्मासन लगानेकी विधि यह है। बायीं जाँघपर दाहिना चरण रक्खे और दायीं जाँघपर बायाँ चरण रक्खे। फिर दाहिने हाथको पीठकी ओरसे ले जाकर बायें चरणका अँगूठा दृढ़ताके साथ पकड़ ले। इसी प्रकार बायें हाथको पीछेकी ओरसे ले आकर दाहिने चरणका अँगूठा पकड़ ले। फिर गर्दन झुकाकर अपनी ठोढ़ीको छातीमें सटा ले और नेत्रोंसे केवल नासिकाके अग्रभागको ही देखे। यह योगाभ्यासी पुरुषोंके उपयोगमें आनेवाला पद्मासन कहलाता है; यह रोगोंका नाश करनेवाला है। परंतु जो भगवान्की पूजा करने बैठा हो, वह दोनों हाथोंसे अँगूठा पकड़नेका कार्य न करे; क्योंकि वैसे करनेपर हाथ खाली न रहनेसे पूजा सम्भव न होगी।

३. भूतशुद्धिका प्रकार यह है। अपने शरीरमें पैरोंसे लेकर घुटनोंतकका भाग पृथिवीका स्थान है—ऐसी भावना करे। यह पृथिवीका स्थान चौकोर, वज्रके चिह्नसे युक्त और पीतवर्ण है; इसमें 'लं' बीज अङ्कित है। इस प्रकार चिन्तन करे। घुटनोंसे लेकर नाभितकके भागको जलका स्थान मानकर यह भावना करे कि इसकी आकृति अर्धचन्द्रके समान और वर्ण शुक्ल है। इसमें कमलका चिह्न है। इस जलमण्डलमें 'वं' बीज अङ्कित है। नाभिसे लेकर कण्ठतकके भागको भावनाद्वारा त्रिकोणाकार अग्निमण्डलके रूपमें देखे। उसका वर्ण लाल है, उसमें स्वस्तिकका चिह्न और 'रं' बीज अङ्कित है—इस प्रकार चिन्तन करे। कण्ठसे ऊपर भौंहोंके मध्यतकका भाग वायुमण्डल है। उसका वर्ण कृष्ण है, आकृति षट्कोण है और वह छः बिन्दुओंसे चिह्नित है। उसमें 'यं' बीज अङ्कित है। यों ध्यानद्वारा देखे। भौंहोंके मध्यसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतकका भाग आकाशमण्डल है। उसकी आकृति गोल और रंग धूएँके समान है। उसमें ध्वजका चिह्न और 'हं' बीज अङ्कित है। ऐसा ध्यान करे। इस प्रकार चिन्तन करनेके पश्चात् उन भूतोंका लय करे। पृथिवीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें तथा आकाशको अव्यक्त प्रकृतिमें विलीन करे। यह प्रकृति ही अपरब्रह्म अथवा माया कहलाती है; इसका परमात्मामें लय करे। इस प्रकार भावनाद्वारा समस्त देहादि प्रपञ्चका परमात्मामें लय करके कुछ क्षणतक परमात्मरूपसे ही स्थित रहे, अर्थात् ध्यानद्वारा यह देखे कि मैं परमात्मामें मिलकर उनसे अभिन्न हो गया हूँ। फिर (ध्यानसे जगनेपर) अपने किये

यह प्राण-प्रतिष्ठा और मातृकान्यासका भी उपलक्षण है।) भगवान् श्रीरामके पूजन-क्रममें सिंहासनपीठके अधोभाग, ऊर्ध्वभाग तथा पार्श्वभाग आदिमें भी देव-पूजन करनेकी विधि है। पीठके ऊपर मध्यभागमें जो अष्टदल कमल है,

भावनाद्वारा ही परम पवित्र शरीरकी सृष्टि करे। मानो परमात्मासे शब्द-ब्रह्मात्मिका माया प्रकट हुई है। यही जगन्माता और परा प्रकृति है। इस जगन्मातासे आकाश उत्पन्न हुआ है। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी प्रकट हुई है। इन विशुद्ध भूतोंसे अपना यह तेजोमय शरीर निर्मित हुआ है, जो परम पवित्र होनेके कारण आराध्यदेवकी आराधनाके सर्वथा योग्य है। उस शरीरमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, समस्त देवतारूप, सम्पूर्ण मन्त्रमय एवं कल्याणमय परमात्मा ही आत्मा एवं कारणरूपसे विराजमान हैं। इस प्रकारकी भावना ही मुख्यतः भूतशुद्धि कही गयी है।

भूतशुद्धिकी दूसरी प्रक्रिया इस प्रकार है। साधक यह भावना करे कि मेरा हृदय एक प्रफुल्ल कमल है, जो प्रणवके द्वारा विकासको प्राप्त हुआ है। धर्म ही इस हृदय-कमलका मूल और ज्ञान ही नाल (मृणाल) है। यह बहुत ही शोभायमान है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य ही इसके आठ दल हैं। वैराग्य ही इसकी कर्णिका (मध्यभाग) है। इस कर्णिकामें जीवात्मा विराजमान है, जिसकी आकृति दीपककी ज्योतिके समान है। ऐसी भावनाके साथ साधक उस जीवात्माको सुषुम्णा नाड़ीके मार्गसे ब्रह्मरन्ध्रतक ले जाय और उसे परमात्मामें मिला दे। उस समय वह अपनेको परमात्मासे अभिन्न देखता हुआ 'सोऽहम्' मन्त्रका चिन्तन करता रहे। फिर योगयुक्त विधिसे अन्य सब (पृथिवी आदि) तत्त्वोंको भी वहीं परमात्मामें विलीन कर दे। तत्पश्चात् अनादि जन्मोंमें सञ्चित किये हुए पाप-समुदायका एक पुरुषके रूपमें चिन्तन करे। ब्रह्महत्या उस पापपुरुषका मस्तक है, सुवर्णकी चोरी उसकी दो भुजाएँ हैं, सुरापानरूपी हृदयसे वह युक्त है। गुरुपत्नी-गमन ही उसके दो कटिभाग हैं। इन पापों और पापियोंका संसर्ग ही उसके युगल चरण हैं। उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग पातकमय ही है। उपपातक ही उसके रोएँ हैं। उसकी मूँछ-दाढ़ीके बाल और नेत्र लाल हैं। उसके शरीरका रंग काला है और वह अपने हाथोंमें ढाल-तलवार लिये हुए है। ऐसे पापमय पुरुषको अपनी कुक्षिके भीतर दाहिने भागमें स्थित देखते हुए चिन्तन करे। तत्पश्चात् पूरक आदिके क्रमसे अर्थात् पूरक, कुम्भक और रेचकरूप प्राणायामके द्वारा प्राणवायुको रोककर 'यं' बीज एवं वायुके द्वारा उस पापपुरुषके शरीरको सुखा दे। फिर अग्नि-बीज 'रं'के द्वारा अग्नि प्रकट करके उससे उसके शुष्क शरीरको जला डाले। तत्पश्चात् उत्तम बुद्धिसे युक्त विद्वान् पुरुष यह चिन्तन करे कि उस पापपुरुषके दग्ध शरीरका भस्म मेरी नासिकाके मार्गसे बाहर निकल आया है। तदनन्तर 'वं' इस बीजके द्वारा जल प्रकट करके उससे अपने समस्त शरीरको आप्लावित कर दे। इस प्रकार उस भावनामय दिव्य जलमें स्नान करके जब समस्त शरीर निर्मल एवं देवोपासनाके योग्य हो जाय, तब अपने साथ परमात्मामें लीन हुए पृथिवी आदि तत्त्वोंको पुनः अपनी-अपनी पूर्वावस्थामें पहुँचा दे। फिर जीवात्माको भी परमात्मासे पृथक् करके 'हंसः' इस मन्त्रका जप करते हुए विधिपूर्वक हृदय-कमलपर ले आये। इस प्रकार भूतशुद्धि कर लेना आवश्यक है। भूतशुद्धिके बिना की हुई पूजा अभिचार तथा बिना भक्तिके पूजनकी भाँति विपरीत फल दे सकती है।

१. इस प्रकार भूतशुद्धि करनेके पश्चात् प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिये। इसका विनियोग इस प्रकार है—'अस्य श्रीप्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ऋषयः ऋग्यजुःसामाथर्वाणि छन्दांसि क्रियामयवपुःप्राणाख्या देवता आं बीजं ह्रीं शक्तिः क्रौं कीलकम्, अस्यां मूर्तौ प्राणप्रतिष्ठापने विनियोगः।' इस प्रकार विनियोग करके भगवान्की प्रतिमा अथवा यन्त्रपर हाथ रखकर निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़े—

'ॐ आं ह्रीं क्रों अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः क्रों ह्रीं आं हंसः सोऽहम्, अस्यां मूर्तौ अमुष्य प्राणा इह प्राणाः।'

इसका उच्चारण करते समय भावना करनी चाहिये कि इस भगवद्विग्रहमें प्राण-संचार हो रहा है। 'अस्यां मूर्तौ' के आगे 'अमुष्य' के स्थानमें 'श्रीरामस्य' इत्यादि आवश्यकताके अनुसार जोड़ लेना चाहिये।

इसी प्रकार पूर्वोक्त बीजोंको 'ॐ आं' से लेकर 'सोऽहम्' तक पुनः पढ़कर 'अस्यां मूर्तौ अमुष्य जीव इह स्थितः' इस वाक्यका उच्चारण करते हुए यह भावना करनी चाहिये कि इस भगवद्विग्रहमें जीवात्मारूपसे भगवान् स्वयं विराजमान हो रहे हैं। इसी प्रकार पुनः 'ॐ आं ह्रीं' इत्यादि पढ़कर 'अस्यां मूर्तौ अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणपाणिपादपायूपस्थानि इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु' इसका उच्चारण करते हुए विग्रह अथवा यन्त्रमें भगवान्की सम्पूर्ण इन्द्रियोंके आविर्भावकी भावना करे। 'अमुष्य' के स्थानपर सर्वत्र 'आराध्यदेव' के नामका षष्ठयन्त रूप लेना चाहिये और प्रत्येक कार्यमें तीन-तीन बार पाठ करना चाहिये। तत्पश्चात् गर्भाधानादि संस्कारकी सिद्धिके लिये पंद्रह बार प्रणव-जप करना आवश्यक है। प्राणप्रतिष्ठाके समय भगवद्विग्रहमें ऋषि आदिका न्यास भी करना चाहिये। उसका प्रकार यों है—'ॐ ब्रह्मविष्णुमहेश्वरऋषिभ्यो नमः' शिरसि। 'ऋग्यजुःसामाथर्वच्छन्दोभ्यो नमः' मुखे। 'प्राणदेवतायै नमः' हृदि। 'आं बीजाय नमः' गुह्ये। 'ह्रीं शक्तये नमः' पादयोः। 'क्रौं कीलकाय नमः' नाभौ। इन छः मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करते हुए सिर, मुख, हृदय, गुह्य (गुदा), दोनों पैर और नाभिका दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे स्पर्श करना चाहिये। किसी-किसीके मतसे प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रमें केवल ब्रह्मा ही ऋषि, विराट् छन्द और प्रणव बीज है।

२. मातृकान्यासका क्रम इस प्रकार है। निम्नाङ्कित वाक्यका उच्चारण करके विनियोग करे—'ॐ अस्य मातृकान्यासमन्त्रस्य ब्रह्मा

उसका भी पूजन करे। रत्नमय सिंहासनपर मुलायम, चिकनी तथा सिंहासनके आकारकी तूलिका (रूईदार गद्दी) की भावना करके उसपर भगवत्स्वरूप आचार्यका पूजन करके पीठके अधोभागमें आराध्य-देवताके आसनके नीचे आधारशक्ति, कूर्म (कच्छप), नाग (शेषनाग) तथा पृथ्वीमय दो कमलोंकी भावना करके उन सबकी पूजा करे* ॥ १-२ ॥

विघ्न, दुर्गा, क्षेत्रपाल तथा वाणीका इनके नामके आदिमें बीज लगाकर नामके साथ चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग करते हुए पूजन करना चाहिये। (नामके आदि अक्षरको ही प्रणव और बिन्दुसे सम्पुटित कर देनेपर वह देवताका बीज-मन्त्र बन जाता है। ऐसा ही बीज लगाकर मण्डपके द्वारदेशमें विघ्न आदिकी पूजा करनी चाहिये। पूजाका मन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ विं विघ्नाय नमः, ॐ दुं दुर्गायै नमः, ॐ क्षं क्षेत्रपालाय नमः, ॐ वां वाण्यै नमः**)। फिर पीठके पायोंमें, जो अग्निकोण आदिमें स्थित हैं, क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका पूजन करे।† और पीठके अवयवगत पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः अधर्म, अनर्थ, अकाम और अमोक्षकी पूजा करे। फिर पीठके ऊपर मध्यभागमें उत्तम पुरुषोंद्वारा पूजित सूर्य, चन्द्र एवं अग्निका क्रमशः पूजन करे। यन्त्रमें जो बीज (कर्णिका) सहित तीन वृत्त (गोलाकार चिह्न) हैं, उन्हें क्रमशः सत्त्व, रज और तमका प्रतीक मानकर चिन्तन और पूजन करना चाहिये‡ ॥ ३-४ ॥

ऋषिः गायत्री छन्दः सरस्वती देवता भगवत्प्रीतये ललाटाद्यङ्गेषु मातृकावर्णानां न्यासे विनियोगः।' तत्पश्चात् निम्नाङ्कित छः वाक्योंको पढ़कर न्यास करे—१–'अं कं खं गं घं ङं आं' हृदयाय नमः। २–'इं चं छं जं झं ञं ईं' शिरसे स्वाहा। ३–'उं टं ठं डं ढं णं ऊं' शिखायै वषट्। ४–'एं तं थं दं धं नं ऐं' कवचाय हुम्। ५–'ओं पं फं बं भं मं औं' नेत्रत्रयाय वौषट्। ६–अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः' अस्त्राय फट्। इनमेंसे पहले तीन वाक्योंको पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे क्रमशः हृदय, सिर और शिखाका स्पर्श करना चाहिये। चौथे वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथसे बायें और बायें हाथसे दायें कंधेका एक साथ ही स्पर्श करना चाहिये। पाँचवें वाक्यका उच्चारण करके दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रों और ललाटके मध्यभागका स्पर्श करना चाहिये तथा छठे वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये। तदनन्तर ध्यान करे—'मैं उज्ज्वल कान्ति एवं तीन नेत्रोंसे विभूषित माता सरस्वती देवीकी शरण लेता हूँ। उनके मुख, भुजा, चरण, कटिभाग एवं वक्षःस्थल आदि अङ्ग पचास अक्षरोंमें विभक्त हैं। मस्तकपर अर्धचन्द्रजटित चमचमाता हुआ किरीट शोभा पा रहा है। उनके उरोज सब ओरसे उभरे हुए—स्थूल एवं ऊँचे हैं। वे अपने कर-कमलोंमें मुद्रा, अक्षसूत्र, अमृतपूर्ण कलश और विद्या धारण किये हुए हैं।' इस प्रकार ध्यान करके ललाट, मुख-मण्डल, दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नासिका, दोनों कपोल, दोनों ओष्ठ, दोनों दन्तपङ्क्ति, मस्तक, मुख, दोनों बाहुमूल, दोनों कूर्पर (कोहनी), दोनों मणिबन्ध (कलाई), दोनों हाथोंके अङ्गुलिमूल, दोनों हाथोंके अङ्गुल्यग्र, दोनों ऊरुमूल, दोनों जानु (घुटने), दोनों गुल्फ (टखने), दोनों पैरोंके अङ्गुलिमूल, दोनों पैरोंके अङ्गुल्यग्र, दोनों पार्श्वभाग, पीठ, नाभि, उदर, हृदय, दायें कंधे, ककुद् (गलेके पीछेका भाग), बायें कंधे, हृदयादि दक्षिणहस्त, हृदयादि वामहस्त, हृदयादि दक्षिणपाद, हृदयादि वामपाद, हृदयादि उदर तथा हृदयादि मुख—इन अङ्गोंमें 'अं नमः, आं नमः' इत्यादिरूपसे ५१ मातृका-वर्णोंका न्यास करे।

* आधारशक्तिका ध्यान एक देवीके रूपमें करना चाहिये। वह अपने दोनों हाथोंमें दो कमल धारण किये हुए है। उस आधारशक्तिके मस्तकपर भगवान् कूर्म विराजमान हैं, उनकी कान्ति नीले रंगकी है। उनके ऊपर भगवान् अनन्त (शेषनाग) की स्थिति है, जो ब्रह्ममयी शिलापर आसीन हैं। उनके श्रीअङ्ग कुन्दसदृश गौर हैं। उनके हाथमें चक्र है तथा उन्होंने मस्तकपर वसुन्धरा देवीको धारण कर रक्खा है। देवी वसुन्धराकी अङ्गकान्ति तमालके समान श्यामल है। वे नील कमल धारण करती हैं। उनके कटिप्रदेशमें लहराता हुआ समुद्र ही मेखला (करधनी) की शोभा दे रहा है। उक्त वसुन्धरापर एक रत्नमय द्वीप है, जहाँ मणिमय मण्डप शोभा पा रहा है। इस क्रमसे मण्डपतककी पूजा करके उसके प्रवेश-द्वारपर विघ्न आदिकी पूजा करनी चाहिये।

† धर्म आदिका ध्यान और पूजन-क्रम इस प्रकार है। साधकको उसकी इच्छाके अनुरूप सिद्धि प्रदान करनेवाले चार कल्पवृक्ष हैं, ऐसी भावना करके उनकी पूजा करे। फिर उनके नीचे मण्डलाकार एवं तेजसे जाज्वल्यमान वेदीकी भावना करके उसकी पूजा करे। उस वेदीपर रत्नमय पीठका धर्म आदिके साथ पूजन करे। धर्मका रंग लाल है, वह वृषभरूपसे स्थित है। अर्थका रंग साँवला है, वह सिंहकी आकृति धारण किये हुए है। कामका रंग हल्दीके समान पीला है, वह भूतकी आकृतिमें है तथा मोक्षका रंग नीला है, उसका आकार हाथीके समान है। पीठके पायोंमें अग्निकोण आदिमें धर्म आदिका तथा पीठके अन्य अवयवोंमें पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः अधर्म आदिका पूजन करे। तत्पश्चात् कमलका पूजन आरम्भ करे।

‡ ॐ सं सत्त्वाय नमः, ॐ रं रजसे नमः, ॐ तं तमसे नमः—इन मन्त्रोंसे सत्त्वादिरूप तीनों वृत्तोंका पूजन करे।

तत्पश्चात् दिशाओं और कोणोंमें स्थित कमलके आठ दलोंकी पूजा करे। इनमेंसे जो दल मध्यवर्ती दिशा अर्थात् कोणोंमें हैं, उनमें आग्नेय कोणसे आरम्भ करके क्रमशः आत्मा (लिङ्ग), अन्तरात्मा (जीव), परमात्मा (ईश्वर) और ज्ञानात्मा (लीला-पुरुषोत्तम)का पूजन करे[1] तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः माया-तत्त्व, विद्या-तत्त्व, कला-तत्त्व एवं पर-तत्त्वकी पूजा करे[2]। तदनन्तर विमला[3] आदि शक्तियोंका विधिवत् पूजन करे। फिर प्रधान देवताका आवाहन और पूजन करे[4]। इसके बाद जल आदिसे अङ्गव्यूहोंकी[5] पूजा करके धृष्टि[6] आदि, लोकपालगण[7], उनके अस्त्र[8], वसिष्ठ[9] आदि मुनि तथा नील[10] आदिके साथ चन्दन आदि उपचारों तथा नाना प्रकारके श्रेष्ठ उपहारोंद्वारा श्रीरघुनाथजीकी आराधना करे। उनकी पूजा करके विधिपूर्वक जप आदि भी उन्हें समर्पित करे। 'जो ऐसी महिमावाले, जगत्के आधारभूत और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, जिनके करकमलोंमें गदा, चक्र, शङ्ख और पद्म शोभा पा रहे हैं तथा जो भव-बन्धनका नाश करनेवाले हैं, उन भगवान् श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ[11]।' यों कहकर उनकी वन्दना करे। जो इस प्रकार भगवान् श्रीरामका ध्यान करते हैं, वे सब लोग मोक्ष (भगवान्का परमधाम) प्राप्त कर लेते हैं। विश्वव्यापी भगवान् श्रीराम लीला-संवरण-कालमें सशरीर अन्तर्धान हो गये थे। (अन्य प्राणियोंकी भाँति उन्होंने देहत्याग नहीं किया था।) शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मरूप उनके आयुध भी साथ ही अन्तर्धान हुए। उन्होंने अपने स्वाभाविक स्वरूपको धारणकर सीताजीके साथ परमधाममें पदार्पण किया। उस समय उनके साथ सारा परिवार—पुरजन, परिजन, समस्त भाई, समस्त प्रजाजन तथा विभीषण आदि शत्रुके वंशज भी परमधाममें चले गये। जो उनके भक्त होते हैं, वे मनोवाञ्छित भोगोंको पाते हैं, प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करते हैं तथा अन्तमें वे भी भगवान्के परमपदको प्राप्त करते हैं। जो लोग सम्पूर्ण कामनाओं और अर्थोंको देनेवाली इन ऋचाओंका पाठ करते हैं, वे शुद्धान्तःकरण होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो पाठ करते हैं, वे निर्मल अन्तःकरणवाले होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥ ५—१०॥

॥ अथर्ववेदीय श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

---

१. पूजाके मन्त्र इस प्रकार हैं—ॐ आत्मने नमः, अन्तरात्मने नमः, परमात्मने नमः, ज्ञानात्मने नमः। २. मायातत्त्वाय नमः। विद्यातत्त्वाय नमः। कलातत्त्वाय नमः। परतत्त्वाय नमः॥ ३. विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये पीठकी शक्तियाँ हैं। इनका स्थान अष्टदल कमलके केसरोंमें है। ये वरं और अभयकी मुद्राओंसे युक्त होती हैं। ४. 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय......' इत्यादि मूल-मन्त्रका उच्चारण करके 'आहूतो भव' यों कहकर आवाहनकी मुद्रा दिखाये। दोनों हाथोंकी अञ्जलि बनाकर अनामिका अँगुलियोंके मूलपर्वपर अँगूठेको लगा देना—यह आवाहनकी मुद्रा है। यही अधोमुखी (नीचेकी ओर मुखवाली) कर दी जाय तो स्थापिनी (बिठानेवाली) मुद्रा कहलाती है। अँगूठोंको ऊपर उठाकर दोनों हाथोंकी संयुक्त मुट्ठी बाँध लेनेपर संनिधापिनी (निकट संपर्कमें लानेवाली) मुद्रा बन जाती है। यदि मुट्ठीके भीतर अँगूठेको डाल दिया जाय तो संरोधिनी (रोक रखनेवाली) मुद्रा कहलाती है। दोनों मुट्ठियोंको उत्तान कर देनेपर इसका नाम सम्मुखीकरणी (सम्मुख करनेवाली) मुद्रा होता है। ५. हृदय, मस्तक आदि भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी जल आदिसे पूजा ही अङ्गव्यूहोंकी पूजा है। ६. धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र। ७. इन्द्र, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त। ८. वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अङ्कुश, गदा, शूल, चक्र और पद्म—ये क्रमशः इन्द्र आदिके आयुध हैं। ९. वसिष्ठ, वामदेव, जाबाल, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वाल्मीकि, नारद, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार। १०. नील, नल, सुषेण, मैन्द, शरभ, द्विविद, धनद, गवाक्ष, किरीट, कुण्डल, श्रीवत्स, कौस्तुभ, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म—ये सोलह नील आदि हैं।

११. एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम्। गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम खण्ड

काशी एवं तारक-मन्त्रकी महिमा; ॐकाररूप पुरुषोत्तम रामके चार पाद

ॐ बृहस्पतिने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'ब्रह्मन्! जिस तीर्थके सामने कुरुक्षेत्र भी छोटा लगे, जो देवताओंके लिये भी देव-पूजनका स्थान हो, जो समस्त प्राणियोंके लिये परमात्म-प्राप्तिका निकेतन हो, वह कौन है?' यह प्रश्न सुनकर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'निश्चय ही अविमुक्त तीर्थ ही प्रधान कुरुक्षेत्र (सत्कर्मका स्थान) है। वही देवताओंके लिये भी देव-पूजाका स्थान है; वही समस्त प्राणियोंके लिये परमात्म-प्राप्तिका निकेतन है। अतः जहाँ कहीं भी जाय, उस अविमुक्त तीर्थको ही प्रधान कुरुक्षेत्र माने। वही देवताओंके लिये भी देवाराधनका स्थान है। वही सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये परब्रह्म-प्राप्तिका स्थान है। यहीं जीवके प्राण निकलते समय भगवान् रुद्र तारक-ब्रह्मका उपदेश करते हैं, जिससे वह अमृतमय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिये अविमुक्त (काशी) का ही सेवन करे। अविमुक्त तीर्थका कभी परित्याग न करे। ठीक ऐसी ही बात है।' इस प्रकार याज्ञवल्क्यने समझाया। १।

तदनन्तर भरद्वाजने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा—'भगवन्! कौन तारक (तारनेवाला) है और कौन तरता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनि बोले—'तारक-मन्त्र इस प्रकार होता है। दीर्घ आकारसहित अनल (रेफ, रकार) हो और वह रेफ बिन्दु (अनुस्वार) से पहले स्थित हो; उसके बाद पुनः दीर्घ स्वरविशिष्ट रेफ हो और उसके अनन्तर 'माय नमः' ये दो पद हों; इस प्रकार **'रां रामाय नमः'** यह तारक-मन्त्रका स्वरूप है। इसके सिवा **'राम'** पदके सहित **'चन्द्राय नमः'** और **'भद्राय नमः'** ये दो मन्त्र भी तारक ही हैं। ये तीन मन्त्र क्रमशः ॐकारस्वरूप, तत्स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप हैं। ये ही क्रमशः 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' नाम धारण करते हैं। इस प्रकार इनकी उपासना करनी चाहिये। ॐकारमें प्रथम अक्षर अकार है, दूसरा अक्षर उकार है, तीसरा अक्षर मकार है, चौथा अक्षर अर्धमात्रा है, पञ्चम अक्षर अनुस्वार है और छठा अक्षर नाद है। (इस प्रकार छः अक्षरवाला तारक-मन्त्र होता है।) यह सबको तारनेवाला होनेसे तारक कहलाता है। उस ॐकार अथवा 'रां' इस बीज-मन्त्रमय अक्षरको ही तुम 'तारक ब्रह्म' समझो। वही उपासनाके योग्य है—यों जानना चाहिये। वह गर्भ, जन्म, जरावस्था, मृत्यु तथा सांसारिक महान् भयसे भलीभाँति तार देता है। इसलिये 'तारक' इस नामसे उसका कथन किया जाता है। जो ब्राह्मण इस तारक-मन्त्रका सदा जप करता है। वह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है, वह मृत्युको लाँघ जाता है, वह ब्रह्महत्यासे तर जाता है, वह भ्रूणहत्यासे तर जाता है तथा वह वीर-हत्यासे तर जाता है। इतना ही नहीं, वह सम्पूर्ण हत्याओंसे तर जाता है, वह संसारसे तर जाता है, सबको पार कर जाता है। वह जहाँ कहीं भी रहता हुआ अविमुक्त-क्षेत्र (काशीधाम) में ही रहता है। वह महान् होता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है॥ २॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—

अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥

प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः॥
श्रीरामसांनिध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥

"सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी प्रणवके अकार अक्षरसे प्रादुर्भूत हुए हैं। ये जाग्रत्के अभिमानी 'विश्व'के रूपमें भावना करनेयोग्य हैं। (ये ही चतुर्व्यूहोंमें संकर्षणरूप हैं।) शत्रुघ्न स्वप्नके अभिमानी 'तैजस'रूप हैं, इनका आविर्भाव प्रणवके 'उ' अक्षरसे हुआ है। (चतुर्व्यूहोंमें इन्हींकी 'प्रद्युम्न' संज्ञा है।) भरतजी सुषुप्तिके अभिमानी 'प्राज्ञ'रूप हैं। ये प्रणवके 'म' अक्षरसे प्रकट हुए हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको 'अनिरुद्ध' कहा गया है।) भगवान् श्रीराम प्रणवकी अर्धमात्रारूप हैं। ये ही तुरीय पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्मानन्द ही इनका एकमात्र विग्रह है। (चतुर्व्यूहोंमें ये ही 'वासुदेव' नामसे प्रसिद्ध हैं।) श्रीरामके सामीप्य मात्रसे जो सम्पूर्ण देहधारियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं, वे जगदानन्ददायिनी विदेहनन्दिनी सीता नाद-बिन्दुस्वरूपा हैं। वे ही 'मूल प्रकृति'के नामसे जाननेयोग्य हैं। प्रणवसे अभिन्न होनेके कारण ही उन्हें ब्रह्मवादी जन 'प्रकृति' कहते हैं।"

'ओम्' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् उसका ही उपव्याख्यान है—उसीकी महिमाका प्रकाशन करनेवाला है। जो पहले हो चुका है, जो अभी वर्तमान है तथा जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सम्पूर्ण जगत् ॐकार ही है; तथा जो ऊपर बताये हुए तीनों कालोंसे अतीत दूसरा कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है। (ॐकार नाम है और परमात्मा नामी, नाम और नामीमें कोई अन्तर नहीं है—यह दिखानेके लिये ही यहाँ सब कुछ ॐकार बताया गया है।) निश्चय ही यह सब ब्रह्म है। यह सर्वान्तर्यामी आत्मा भी ब्रह्म है। इस परमात्माके चार पाद हैं। (यद्यपि परमात्मा एक और अखण्ड है, तथापि उसके सम्पूर्ण स्वरूपका बोध करानेके लिये ही उसमें चार पादों—अंशोंकी कल्पना की गयी है। जाग्रत् यानी स्थूल जगत्, स्वप्न अर्थात् सूक्ष्म जगत्, सुषुप्ति—प्रलयावस्था अर्थात् कारण-तत्त्वमें लीन जगत् तथा इन सबसे अतीत विशुद्ध ब्रह्म—ये ही समग्र परमेश्वरके चार पाद अथवा अंश हैं। श्रीराम-तत्त्वके वर्णनमें 'रां' यह बीज ही प्रणव है तथा पुरुषोत्तम राम सम्पूर्ण परमेश्वर हैं। इनके चार पाद या अंश हैं—लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत तथा कौसल्यानन्दन श्रीराम। ये चारों मिलकर ही सम्पूर्ण राम हैं। जैसे सब कुछ 'ओम्' है, वैसे ही 'रां' भी है। 'रां' और 'ॐ'में माहात्म्य और महिमाकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। अतः यह सम्पूर्ण जगत् श्रीरामकी ही महत्ताका प्रकाशन कर रहा है।)

जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् जिसका अवयव-संस्थान (शरीर) है; जो बहिःप्रज्ञ है—जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत्में सब ओर फैला हुआ है; भूः, भुवः आदि सात लोक ही जिसके सात अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिसके मुख हैं; जो इस स्थूल जगत्का भोक्ता अर्थात् इसको जानने और अनुभव करनेवाला है—ऐसा वैश्वानर (विश्वरूप पुरुषोत्तम) ही सम्पूर्ण परमेश्वरका पहला पाद है। (लीला-पुरुषोत्तम श्रीरामके चार पादोंमेंसे प्रथम पाद श्रीलक्ष्मणजी हैं। ये शेषनागके रूपमें अखिल विश्वके आश्रय होनेके कारण ही 'विश्व' अथवा 'वैश्वानर' नाम धारण करते हैं तथा श्रीरामकी प्राप्तिके लिये प्रथम उपाय है—श्रीलक्ष्मणजीकी आराधना। अतएव उन्हें प्रथम पाद कहा गया है। वे सदा जागरूक स्थितिमें रहते हैं, अतएव 'जागरितस्थान' हैं। बाहरकी सम्पूर्ण बातोंको जाननेमें सतत सावधान रहनेके कारण उन्हें 'बहिःप्रज्ञ' कहा गया है। भूर्भुवः आदि सात लोक अथवा तल-अतल आदि सात पातालोंकी स्थिति उनके ही अङ्गोंपर है; अतः वे 'सप्ताङ्ग' हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र; व्याकरण, ज्यौतिष, छन्द, कल्प, शिक्षा एवं निरुक्त—ये छः अङ्ग; ऋक्, साम, यजुः एवं अथर्व—ये चार वेद तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र और दर्शन—ये सब मिलकर उन्नीस विद्याएँ श्रीलक्ष्मणजीके मुखमें स्थित हैं—अर्थात् अपने मुखद्वारा वे इन विद्याओंका वर्णन करनेमें समर्थ हैं; अतएव उन्हें 'एकोनविंशतिमुख' कहा गया है। संकर्षणरूपसे प्रलयकालमें अपनी मुखाग्निद्वारा समस्त स्थूल जगत्को वे ग्रस लेते हैं, अतः स्थूलभुक् हैं।)

मनकी सूक्ष्म वासनाद्वारा कल्पित मनोमय जगत् ही स्वप्न कहलाता है; अतः 'स्वप्न' पद यहाँ 'सूक्ष्म जगत्'का ही बोधक है। वह सूक्ष्म जगत् ही जिसका स्थान है, जो अन्तःप्रज्ञ है अर्थात् जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है तथा जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंसे युक्त है, वह

प्रविविक्त—सूक्ष्म जगत्का भोक्ता (जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव करनेवाला) तैजस (प्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ) उस पूर्णतम परमेश्वरका द्वितीय पाद है । (श्रीरामपक्षमें श्री-शत्रुघ्न ही पूर्णतम परमात्मा श्रीरामके द्वितीय पाद—अंश हैं । लक्ष्मणजीकी अपेक्षा दूसरे होनेके कारण ये द्वितीय हैं । प्रद्युम्न—कामके अंश होनेसे ये सबके मनमें स्थित रहते हैं । स्वप्नावस्थामें अन्य इन्द्रियोंके सुप्त हो जानेपर भी मन अपना कार्य करता रहता है, अतः मनके साथ उसमें निवास करनेवाले मनोभवरूप शत्रुघ्नजीकी भी स्वप्नमें स्थिति रहती ही है; इसलिये उनको 'स्वप्नस्थान' कहा गया है । मनमें स्थिति होनेसे वे अन्तःकरणकी बातोंको जानते हैं, इसलिये अन्तःप्रज्ञ हैं । जैसे स्थूल जगत्का भार शेषरूपधारी लक्ष्मणपर है, उसी प्रकार सूक्ष्म लोकोंका भार समष्टि मनमें स्थित 'प्रद्युम्न'—कामपर है । समष्टि मन ही समस्त सूक्ष्म लोकोंका आधार है । उसमें रहनेवाले संकल्पमय प्रद्युम्न ही उस भारको वहन करते हैं । वे शत्रुघ्नसे अभिन्न हैं । अतः भूः आदि सात सूक्ष्म लोकोंका भार जिनके अङ्गोंपर है, वे शत्रुघ्न-जी भी 'सप्ताङ्ग' हैं । उन्नीस मुख पूर्ववत् समझने चाहिये । जो सूक्ष्म लोकोंका अधिष्ठाता है, वह सूक्ष्म तत्त्वोंका भोक्ता और अनुभव करनेवाला होगा ही; अतः शत्रुघ्नजी ही 'प्रविविक्त-भुक्' हैं । तैजसका अर्थ यहाँ तेजोमय—परम कान्तिमान् है । प्रद्युम्न—कामके स्वरूप होनेसे शत्रुघ्नका सौन्दर्य अप्रतिम है; अतः वे 'तैजस' कहे गये हैं ।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ मनुष्य किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है । सुषुप्ति-अवस्थासे यहाँ प्रलयावस्थाकी ओर संकेत किया गया है । उस समय समस्त जगत् अपने कारण-तत्त्वमें विलीन हो जाता है । अतः सुषुप्त अर्थात् कारण-तत्त्व ही जिसका संस्थान (शरीर) है, जो एकरूप है, केवल घनीभूत प्रज्ञान ही जिसका स्वरूप है, जो केवल आनन्दमय है, चैतन्य ही जिसका मुख है, जो एकमात्र आनन्दका ही उपभोग करनेवाला है, वह 'प्राज्ञ' ही परब्रह्म परमात्माका तृतीय पाद है । (श्रीराम-पक्षमें श्रीभरतलालजी ही तृतीय पाद हैं । लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी अपेक्षासे तो वे तृतीय हैं और श्रीरामकी प्राप्ति करानेवाले होनेके कारण ['श्रीरामं पादयति—गमयति इति पादः', इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'पाद' कहे गये हैं । जहाँ इन्द्रियवर्ग और मन दोनों सो जाते हैं—दोनोंके अनियन्त्रित व्यापार बंद हो जाते हैं, उस शम-दमसे सम्पन्न स्थिरप्रज्ञताकी अवस्थाको ही यहाँ 'सुषुप्ति' कहा है । इसमें सुप्त अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष न तो स्थूल भोगोंकी इच्छा करता है और न स्वप्न—सूक्ष्म भोगोंकी ओर ही दृष्टि डालता है । इस जितेन्द्रियता एवं स्थिरप्रज्ञतामें ही स्थित होनेके कारण भरतजी 'सुषुप्त-स्थान' कहे गये हैं । उन्होंने भी पिताकी ओरसे स्वतः प्राप्त हुए राज्यकी कामना नहीं की—स्वप्नमें भी उसका चिन्तन नहीं किया । वे नन्दिग्राममें समाधि लगाकर भगवान्के साथ एकीभूत हो गये थे । यों भी सदा श्रीरघुनाथजीका ही चिन्तन करनेके कारण वे उनके साथ एकरूप हो गये थे । वे प्रज्ञानघन अर्थात् महाप्राज्ञ—परम बुद्धिमान् हैं श्रीरघुनाथजीका अनन्य भक्त होना ही बुद्धिके उत्कर्षका परिचायक है । हर्ष-शोक आदिसे विचलित न होनेके कारण वे सदा 'आनन्दमय' कहे गये हैं । अनिरुद्धस्वरूप होनेके कारण उन्हें आनन्दका भोक्ता कहा गया है । उनमें विवेक-शक्तिकी प्रधानता होनेसे ही वे 'चेतोमुख' हैं । 'प्राज्ञ' उनकी संज्ञा है । परम ज्ञानी—कुशाग्र-बुद्धि होनेके कारण उनको 'प्राज्ञ' कहा गया है ।)

यह तीन पादोंके रूपमें वर्णित परमेश्वर (एवं लीलापुरुषोत्तम श्रीराम) सबका ईश्वर (शासक) है । यह सबको जाननेवाला है । यही सबका अन्तर्यामी है । यही सम्पूर्ण जगत्का कारण है । तथा यही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति, (स्थिति) और प्रलयका स्थान है । जिसकी प्रज्ञा न तो अन्तर्मुखी है न बहिर्मुखी है, न दोनों ओर मुखवाली ही है; जो न प्रज्ञानघन है, न जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला ही है; जिसको देखा नहीं गया, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता और पकड़ा भी नहीं जा सकता; जिसका कोई लक्षण नहीं, जो चिन्तनमें नहीं आ सकता, जो किसी विशेष संकेतसे भी बतलानेमें नहीं आ सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका सार है, तथा जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है, ऐसे सर्वथा शान्त एवं कल्याणमय अद्वैत-तत्त्व (परब्रह्म) को ही ज्ञानीजन समग्र परमेश्वरका चतुर्थ पाद मानते हैं । वह परमात्मा है और वही जाननेके योग्य है । (श्रीरामपक्षमें भी 'नान्तःप्रज्ञम्' आदि पदोंका यही अर्थ है । यहाँ श्रुति अनिर्वचनीय एवं सर्वथा विलक्षण श्रीराम-तत्त्वका तटस्थभावसे संकेतमात्र करती है । स्वरूपतः वर्णन करनेमें तो वह सर्वथा असमर्थ है; क्योंकि वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है ।) वे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा (श्रीराम) सदा उज्ज्वल (निर्मल यशसे प्रकाशमान) हैं । अविद्या और उसके कार्योंसे सर्वथा

रहित हैं। अपने भक्तजनोंके आत्माका अज्ञानमय बन्धन वे हर लेते हैं। सर्वदा अद्वैत हैं—उनमें द्वैतका सर्वथा अभाव है। वे आनन्दमूर्ति हैं। सबके अधिष्ठान हैं। सत्तामात्र उनका स्वरूप है। अविद्याजनित अन्धकार और मोह उनमें स्वभावतः नहीं हैं, अथवा उनकी शरणमें जाते ही अविद्यामय अन्धकार और मोहका सर्वथा नाश हो जाता है। ऐसे जो अनिर्वचनीय परमात्मा श्रीराम हैं, वह मैं ही हूँ—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। ॐ, तत्, सत्, यत् और परं ब्रह्म आदि नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले जो चिन्मय श्रीरामचन्द्रजी हैं, वह मैं ही हूँ; ॐ—सच्चिदानन्दमय, परम ज्योतिःस्वरूप जो वे श्रीरामभद्र हैं, वह मैं हूँ, वह मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनेको सामने लाकर मनके द्वारा परब्रह्म परमात्मा श्रीरामके साथ एकता करे—भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नताका चिन्तन करे।

जो लोग सदा यथार्थरूपसे समझकर 'मैं राम हूँ' यों कहते हैं, वे संसारी नहीं हैं। निश्चय ही वे श्रीरामके ही स्वरूप हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

यह उपनिषद् है। जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है—इस प्रकार याज्ञवल्क्यजीने उपदेश दिया॥ ३॥

तदनन्तर महर्षि अत्रिने इन सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनिसे प्रश्न किया—'यह जो अनन्त एवं अव्यक्त आत्मा (परमात्मा) है, इसे मैं कैसे जानूँ?'

तब वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यजी बोले—उस अव्यक्त परमात्माकी अविमुक्त क्षेत्रमें उपासना करनी चाहिये। यह जो अनन्त एवं अव्यक्त आत्मा है, वह अविमुक्त क्षेत्रमें प्रतिष्ठित है।

प्रश्न–किंतु उस अविमुक्त क्षेत्रकी स्थिति कहाँ है?

उत्तर–अविमुक्त क्षेत्र वरणा और नाशीके मध्यमें प्रतिष्ठित है।

प्रश्न–'वरणा' नामसे कौन प्रसिद्ध है? और 'नाशी' किसका नाम है?

उत्तर–सम्पूर्ण इन्द्रियकृत दोषोंका वारण करती है, इससे वह 'वरणा' है; और समस्त इन्द्रियजनित पापोंका नाश करती है, इससे वह 'नाशी' कहलाती है।

प्रश्न–इस अविमुक्तक्षेत्रका आध्यात्मिक स्थान कौन है?

उत्तर–भौंहों और नासिकाकी जो सन्धि है (जहाँ इडा और पिङ्गला नामकी दो नाड़ियाँ मिली हुई हैं), वह द्युलोक तथा उससे भी उत्कृष्ट ज्योतिर्मय परमधामकी सन्धिका स्थान है। निश्चय ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस सन्धिकी ही 'सन्ध्या' के रूपमें उपासना करते हैं। अतः उस अव्यक्त परमात्मा श्रीरामकी अविमुक्त क्षेत्रमें रहकर अविमुक्तमें (भौंहों और नासिकाकी सन्धिमें) ही उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है, अर्थात् जो ऊपर बताये अनुसार यह भलीभाँति समझता है कि 'अव्यक्त परमात्माकी उपासनाका आधिभौतिक स्थान अविमुक्तक्षेत्र (काशी) और आध्यात्मिक स्थान भौंहों एवं नासिकाके मध्यका भाग है—यहीं ध्यानद्वारा उस अव्यक्त तत्त्वका चिन्तन करना चाहिये', वही परमात्मासे नित्य संबद्ध (अविमुक्त) ज्ञानका उपदेश कर सकता है। यह अविनाशी, अनन्त, अव्यक्त, परिपूर्णानन्दैकचिन्मय-विग्रह परमात्मा अविमुक्तक्षेत्रमें प्रतिष्ठित है।

इसके बाद याज्ञवल्क्यजीने अत्रि मुनिसे यह कथा कही—

एक समय भगवान् शङ्करने काशीमें एक हजार मन्वन्तर-तक जप, होम और पूजन आदिके द्वारा श्रीरामकी आराधना करते हुए श्रीराम-मन्त्रका जप किया। इससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामने शङ्करजीसे कहा—'परमेश्वर! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँग लो; मैं उसे दूँगा।' तब सत्यानन्द-चिन्मय भगवान् शङ्करने श्रीरामसे कहा—'भगवन्! मणिकर्णिका तीर्थमें, मेरे काशीक्षेत्रमें अथवा गङ्गामें या गङ्गाके तटपर जो प्राण-त्याग करता है, उस जीवको आप मुक्ति प्रदान कीजिये। इसके सिवा दूसरा कोई वर मुझे अभीष्ट नहीं है।'

तब भगवान् श्रीरामने कहा—'देवेश्वर! तुम्हारे इस पावन क्षेत्रमें जहाँ कहीं भी प्राण-त्याग करनेवाले कीड़े-मकोड़े आदि भी तत्काल मुक्त हो जायँगे, इसमें कोई संशय नहीं है। तुम्हारे इस अविमुक्तक्षेत्रमें सब लोगोंकी मुक्ति-सिद्धिके लिये मैं पाषाणकी प्रतिमा आदिमें सदा निवास करता रहूँगा। शिवजी! इस काशीधाममें मेरे इस षडक्षर तारक-मन्त्र (**रां रामाय नमः**) द्वारा जो भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करेगा, मैं उसे ब्रह्महत्या आदि पापोंसे भी मुक्त कर दूँगा; तुम चिन्ता न करो। तुमसे अथवा ब्रह्माजीके मुखसे जो यहाँ षडक्षर मन्त्रकी दीक्षा लेते हैं, वे जीते-जी तो मन्त्रसिद्ध होते हैं और मृत्युके बाद जन्म-मरणसे मुक्त हो मुझे प्राप्त कर लेते हैं। शिवजी! जिस किसी भी मरणासन्न प्राणीके दाहिने कानमें तुम स्वयं मेरे मन्त्रका उपदेश करोगे, वह निश्चय ही मुक्त हो जायगा।'

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा वरदानसे अनुगृहीत अविमुक्तक्षेत्रका जो दर्शन करता है, वह जन्मान्तरके दोषोंको

दूर कर देता है तथा वह जन्मान्तरके पापोंका नाश कर डालता है ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यजीसे भरद्वाजने पूछा—'भगवन्! किन मन्त्रोंद्वारा स्तुति करनेपर भगवान् श्रीराम प्रसन्न होते हैं और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं? उन मन्त्रोंका आप हमें उपदेश करें।'

तब वे प्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्यजी बोले—'ब्रह्मन्! जिस प्रकार भगवान् शङ्करको वरदान देते हुए श्रीरामजीने काशीका महत्त्व बताया था, उसी प्रकार किसी समय ब्रह्माजीको भी उन्होंने वैसा ही उपदेश दिया था। उनके द्वारा ऐसा उपदेश पाकर ब्रह्माजीने निम्नाङ्कित गद्यमयी गाथासे उन्हें नमस्कार किया।

जो सम्पूर्ण विश्वके आधार और महाविष्णुरूप हैं, रोग-शोकसे रहित नारायण हैं, परिपूर्ण आनन्द-विज्ञानके आश्रय हैं और परम प्रकाशरूप हैं, उन परमेश्वर श्रीरामका मन-ही-मन स्तवन करते हुए ब्रह्माजीने उनकी इस प्रकार स्तुति की—

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत् परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चाखण्डैकरसात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च ब्रह्मानन्दामृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यत् तारकं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो ब्रह्मा विष्णुरीश्वरो यः सर्वदेवात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः सपुराणा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो जीवात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सर्वभूतान्तरात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये देवासुरमनुष्यादि-भावा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च प्राणो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ११ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च यमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चान्तको भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च मृत्युर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्चामृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यानि पञ्चमहाभूतानि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः स्थावरजङ्गमात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च पञ्चाग्नयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् याः सप्तमहा-व्याहृतयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या विद्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २१ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या सरस्वती भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या लक्ष्मीर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या गौरी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च त्रैलोक्यं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सूर्यो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सोमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यानि च नक्षत्राणि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च नवग्रहा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चाष्टौ लोकपाला भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चाष्टौ वसवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चैकादश रुद्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च द्वादशादित्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च भूतं भव्यं भविष्यद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति विराड् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो हिरण्यगर्भो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या प्रकृतिर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चोङ्कारो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चतस्रोऽर्द्धमात्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः परमपुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४१ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च महेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च महादेवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् य ओं नमो भगवते वासुदेवाय यो महाविष्णुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥४४॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः परमात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो विज्ञानात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सच्चिदानन्दैकरसात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४७ ॥

'ॐ जो जगत्-प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय ही भगवान् (षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न) हैं, अद्वितीय परमानन्द-स्वरूप हैं। जो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म तथा भूर्भुवः स्वः—ये तीनों लोक हैं, वह सब भी वे ही हैं; उन श्रीरामचन्द्रजीको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सर्वत्र विख्यात श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय ही भगवान् हैं; तथा जो अखण्डैकरसस्वरूप परमात्मा एवं भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों लोक हैं, वह सब भी वे ही हैं। निश्चय ही उन्हें मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय ही भगवान् हैं; तथा जो आनन्दमय, अमृतमय ब्रह्म तथा भू आदि तीनों लोक हैं, वह सब भी उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो तारक ब्रह्म और भूः, भुवः, स्वः नामसे प्रसिद्ध तीनों लोक हैं, वह सब कुछ उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं; वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, जो सर्वदेवमय परमात्मा हैं और जो भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेद, उनकी शाखाएँ, पुराण तथा भू आदि तीनों लोक हैं, उन सबके रूपमें भी वे ही हैं। उन भगवान्को निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो जीवात्मा और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान्को निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंका अन्तरात्मा और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो देवता, असुर और मनुष्य आदि भाव

१. सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छः का नाम भग है। जिन पूर्णतम परमेश्वरमें ये छहों परिपूर्णरूपसे नित्य-निरन्तर स्थित रहते हैं, वे 'भगवान्' कहे गये हैं।

(जातियाँ) तथा भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो मत्स्य, कच्छप आदि अवतार और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। निश्चय ही उन भगवान् श्रीरामको मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो प्राण और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—इन चार प्रकारके अन्तःकरणोंमें अवस्थित चेतन आत्मा और भू आदि तीनों लोक हैं, वे सब भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो यम और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो 'अन्तक' एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो मृत्यु एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है॥ १—१५॥

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो अमृत एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो पाँच महाभूत और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो स्थावर-जङ्गमके आत्मा (अथवा चराचरस्वरूप) एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आहवनीय आदि पाँच अग्नि एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो भूः आदि सात महाव्याहृतियाँ और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विद्या तथा भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सरस्वती और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो लक्ष्मी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो गौरी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो भगवती जनकनन्दिनी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो त्रिलोकी—भूः, भुवः और स्वः है, वह सब भी उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सूर्यदेव और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो चन्द्रमा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो नक्षत्रगण एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो नवग्रह और भू आदि तीन लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है॥ १६—३०॥

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही

भगवान् हैं; तथा जो आठ लोकपाल और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आठ वसु और भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ग्यारह रुद्र और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो बारह आदित्य और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यकाल एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विराट् परमेश्वर इस ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर व्याप्त हैं, वे और भू आदि तीनों लोक भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो प्रकृति एवं भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ॐकार और भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो चार अर्धमात्राएँ और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो परम पुरुष एवं भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो महेश्वर और भूः-भुवः-स्वः—तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो महादेव एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रसे नमस्कार करने योग्य महाविष्णु एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो परमात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विज्ञानात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सच्चिदानन्दैकरसात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है' ॥३१–४७॥

जो ब्रह्मवेत्ता इन (मन्त्रराजके ४७ अक्षरोंके अनुसार) सैंतालीस मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान् श्रीरामका स्तवन करता है, उसके ऊपर इस स्तुतिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। अतः जो इन मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान्‌की स्तुति करता है, वह भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन करता है; वह अमृतत्वको प्राप्त होता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तदनन्तर, भरद्वाजने याज्ञवल्क्यकी सेवामें उपस्थित होकर प्रार्थना की—'भगवन्! श्रीराम-मन्त्रराजके माहात्म्यका वर्णन कीजिये।'

तब उन प्रसिद्ध महात्मा याज्ञवल्क्यने कहा—

स्वयंप्रकाश, परम ज्योतिर्मय तथा केवल अपने ही अनुभवद्वारा गम्य अद्वितीय चिन्मात्रस्वरूप जो परमात्मा है, वही श्रीरामचन्द्रजीके षडक्षर मन्त्रका प्रथम अक्षर ('रां' बीज) माना गया है। मन्त्रका मध्यभाग जो 'रामाय' पद है, वह अखण्डैकरसानन्दस्वरूप तारक ब्रह्मका वाचक है; उसे सच्चिदानन्दस्वरूप ही समझना चाहिये। मन्त्रका अन्तिम

भाग जो 'नमः' पद है, उसे भी पूर्णानन्दैकविग्रह परमात्मस्वरूप ही जानना चाहिये। सम्पूर्ण देवता और मुमुक्षु पुरुष सदा अपने हृदयमें उसको नमन करते रहते हैं।

जो श्रीरामचन्द्रके इस षडक्षर मन्त्रराज ('रां रामाय नमः') का प्रतिदिन नियमपूर्वक जप करता है, वह अग्निमें तपाकर शुद्ध किया हुआ हो जाता है। वह वायु, सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवताके द्वारा भी पवित्र कर दिया जाता है। वह सम्पूर्ण देवताओंके द्वारा 'ब्रह्मवेत्ता' रूपसे ज्ञात होता है। वह मानो सम्पूर्ण यज्ञोंके द्वारा भगवान्का यजन कर लेता है। उसके द्वारा इतिहास-पुराणोंका तथा रुद्र-मन्त्रोंका लक्ष बार जप सम्पन्न हो जाता और उसका फल भी उसे मिलता है। प्रणवका तो मानो वह सौ अरब जप कर लेता है। वह अपने पूर्वकी तथा भावी दस-दस पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है। वह (समस्त पापोंसे छूटकर) पङ्क्तिपावन बन जाता है। वह महान् हो जाता है और वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

॥ अथर्ववेदीय श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

रोग और मृत्युको तप समझनेसे महान् लाभ

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति, य एवं वेद, एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद, एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद।

(बृहदारण्यक० ५। ११। १)

ज्वरादि व्याधियोंसे जो कष्ट होता है, उसको निश्चय ही परम तप समझे। जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। (तपकी भावनाके कारण शारीरिक कष्ट होते हुए भी दुःख नहीं होता और तपका फल प्राप्त होता है।) मृत मनुष्यको जो वनमें जलानेके लिये ले जाते हैं, उसको निश्चय ही परम तप समझे, जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको जीत लेता है। मृतक मनुष्यको जो अग्निमें जलाते हैं वह भी निश्चय ही परम तप है, जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। (मृत्युमें तपकी भावनासे मरण-कष्ट नहीं होता और अन्तमें मनमें तपरूप परमात्माकी स्मृति रहनेसे दिव्य धाम या परमात्माकी प्राप्ति होती है।)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम उपनिषद्

श्रीकृष्णका परब्रह्मत्व, उनका ध्यान करनेयोग्य रूप तथा अष्टादशाक्षर मन्त्र

ॐ कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १ ॥

ॐ 'कृष्' शब्द सत्ताका वाचक है और 'न' शब्द आनन्दका। इन दोनोंकी जहाँ एकता है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही 'कृष्ण' इस नामसे प्रतिपादित होता है। ॐ अनायास ही सब कुछ कर सकनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णको, जो वेदान्तद्वारा जानने योग्य, सबकी बुद्धिके साक्षी तथा सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं, सादर नमस्कार है॥ १ ॥

हरिः ॐ । एक समयकी बात है, मुनियोंने सुप्रसिद्ध देवता ब्रह्माजीसे पूछा—'कौन सबसे श्रेष्ठ देवता है ? किससे मृत्यु भी डरती है ? किसके तत्त्वको भलीभाँति जान लेनेसे सब कुछ पूर्णतः ज्ञात हो जाता है ? किसके द्वारा प्रेरित होकर यह विश्व आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है ?' ॥ २ ॥

इन प्रश्नोंके उत्तरमें वे प्रसिद्ध ब्रह्माजी इस प्रकार बोले—"निश्चय ही 'श्रीकृष्ण' सबसे श्रेष्ठ देवता हैं ! 'गोविन्द'से मृत्यु भी डरती है ! 'गोपीजन-वल्लभ'के तत्त्वको भलीभाँति जान लेनेसे यह सब कुछ पूर्णतः ज्ञात हो जाता है ! 'स्वाहा' इस माया-शक्तिसे ही प्रेरित होकर यह सम्पूर्ण विश्व आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है" ॥ ३ ॥

तब मुनियोंने पूछा—'श्रीकृष्ण कौन हैं ? और वे गोविन्द कौन हैं ? गोपीजन-वल्लभ कौन हैं ? और वह स्वाहा कौन है ?' ॥ ४ ॥

यह सुनकर ब्रह्माजीने उन मुनियोंसे कहा—"पापोंका अपकर्षण (अपहरण) करनेवाले 'कृष्ण'; गौ, भूमि तथा वेदवाणीके ज्ञातारूपसे प्रसिद्ध सर्वज्ञ 'गोविन्द'; गोपीजन (जीव-समुदाय) की अविद्या-कलाके निवारक अथवा अपनी ही अन्तरङ्गा शक्तिरूप व्रज-सुन्दरियोंमें सब ओरसे सम्पूर्ण विद्याओं एवं चौसठ कलाओंका ज्ञान भर देनेवाले 'गोपीजनवल्लभ' तथा इनकी मायाशक्ति 'स्वाहा'—यह सब कुछ वह परब्रह्म ही है। इस प्रकार उस श्रीकृष्ण नामसे प्रसिद्ध परब्रह्मका जो ध्यान करता है, जप आदिके द्वारा उनके नामामृतका रसास्वादन करता है तथा उनके भजनमें लगा रहता है, वह अमृत-स्वरूप होता है, अमृतस्वरूप होता है (अर्थात् भगवद्भावको ही प्राप्त हो जाता है)" ॥ ५-६ ॥

तब उन मुनियोंने पुनः प्रश्न किया—'भगवन्! श्रीकृष्णका ध्यान करनेयोग्य रूप कैसा है? उनके नामामृतका रसास्वादन कैसे होता है? तथा उनका भजन किस प्रकार किया जाता है? यह सब हम जानना चाहते हैं; अतः हमें बताइये' ॥ ७ ॥

तब वे हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी स्पष्ट शब्दोंमें उत्तर देते हुए बोले, 'भगवान्का ध्यान करनेयोग्य रूप इस प्रकार है—ग्वाल-बालका-सा उनका वेष है, नूतन जलधरके समान श्याम वर्ण है, किशोर अवस्था है तथा वे दिव्य कल्पवृक्षके नीचे विराज रहे हैं।' इसी विषयमें यहाँ ये श्लोक भी हैं—॥ ८-९ ॥

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥

भगवान्के नेत्र विकसित श्वेत कमलके समान परम सुन्दर हैं, उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति मेघके समान श्याम है, वे विद्युत्के सदृश तेजोमय पीताम्बर धारण किये हुए हैं, उनकी दो भुजाएँ हैं, वे ज्ञानकी मुद्रामें स्थित हैं, उनके गलेमें पैरोंतक लंबी वनमाला शोभा पा रही है, वे ईश्वर हैं—ब्रह्मा आदि देवताओंपर भी शासन करनेवाले हैं, गोपों तथा गोप-सुन्दरियोंद्वारा वे चारों ओरसे घिरे हुए हैं, कल्पवृक्षके नीचे वे स्थित हैं, उनका श्रीविग्रह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित है, रत्न-सिंहासनपर रत्नमय कमलके मध्यभागमें वे विराजमान हैं। कालिन्दी-सलिलसे उठती हुई चञ्चल लहरोंको चूमकर बहनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु भगवान्की सेवा कर रही है। इस रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका मनसे चिन्तन करनेवाला भक्त संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ १०-१२ ॥

अब पुनः उनके नामामृतके रसास्वादन तथा मन्त्र-जपका प्रकार बतलाते हैं—॥ १३ ॥

जलवाचक 'क्', भूमिका बीज 'ल्', 'ई', तथा चन्द्रमाके समान आकार धारण करनेवाला अनुस्वार—इन सबका समुदाय है—'**क्लीं**'; यही काम-बीज है। इसको आदिमें रखकर '**कृष्णाय**' पदका उच्चारण करे। यह '**क्लीं कृष्णाय**' सम्पूर्ण मन्त्रका एक पद है। '**गोविन्दाय**' यह दूसरा पद है। '**गोपीजन**' यह तीसरा पद है। '**वल्लभाय**' यह चौथा पद है और '**स्वाहा**' यह पाँचवाँ पद है। पाँच पदोंका यह '**क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा**' मन्त्र 'पञ्चपदी' कहलाता है। आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—इन सबका प्रकाशक अथवा स्वरूप होनेके कारण यह चिन्मय मन्त्र पाँच अङ्गोंसे युक्त है। अतः—

क्लीं कृष्णाय दिवात्मने हृदयाय नमः। गोविन्दाय भूम्यात्मने शिरसे स्वाहा। गोपीजनसूर्यात्मने शिखायै वषट्। वल्लभाय चन्द्रात्मने कवचाय हुम्। स्वाहा अग्न्यात्मनेऽस्त्राय फट्।

—इस प्रकार पञ्चाङ्गन्यास करके इस पाँच पद और पाँच अङ्गोंवाले मन्त्रका जप करनेवाला साधक मन्त्रात्मक होनेसे परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त होता है, परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त होता है॥ १४ ॥

द्वितीय उपनिषद्

श्रीकृष्णोपासनाकी विधि तथा यन्त्र-निर्माणका प्रकार

इस विषयमें यह श्लोक (मन्त्र) है—"जो उपासक '**क्लीं**' इस कामबीजको आदिमें रखकर '**कृष्णाय**' इस पदका, '**गोविन्दाय**' इस पदका तथा '**गोपीजनवल्लभाय**' इस पदका '**स्वाहा**' सहित एक ही साथ उच्चारण करेगा, उसे शीघ्र ही श्रीकृष्ण-मिलनरूपा सद्गति प्राप्त होगी। उसके लिये दूसरी गति नहीं है।" इन श्रीकृष्ण भगवान्की भक्ति ही भजन है। उस भजनका स्वरूप है—इस लोक तथा परलोकके समस्त भोगोंकी कामनाका सर्वथा परित्याग करके इन श्रीकृष्णमें ही इन्द्रियोंसहित मनको लगा देना। यही नैष्कर्म्य (वास्तविक संन्यास) भी है। उन सच्चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णका वेदज्ञ ब्राह्मण नाना प्रकारसे यजन करते हैं, 'गोविन्द' नामसे प्रसिद्ध उन भगवान्की अनेक प्रकारसे आराधना करते हैं। वे 'गोपीजनवल्लभ' (जीवमात्रके अकारण सुहृद् एवं प्रियतम तथा गोप-सुन्दरियोंके प्राणाधार) श्यामसुन्दर ही सम्पूर्ण लोकोंका पालन करते हैं और संकल्परूप उत्तम वीर्यवाले उन भगवान्ने ही 'स्वाहा' (अपनी मायाशक्ति) का आश्रय लेकर जगत्को उत्पन्न किया है। जैसे सम्पूर्ण विश्वमें फैला हुआ एक ही वायुतत्त्व प्रत्येक शरीरके भीतर प्राण आदि पाँच रूपोंसे अभिव्यक्त हुआ है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण एक होते हुए भी इस उपर्युक्त मन्त्रमें

भिन्न-भिन्न नामसे पाँच नामोंवाले प्रतीत होते हैं—वास्तवमें 'कृष्ण' आदि पाँच नामोंद्वारा एक ही भगवान्‌का प्रतिपादन होता है ॥ १–५ ॥

तत्पश्चात् उन मुनियोंने कहा—'सम्पूर्ण जगत्‌के आश्रयभूत परमात्मा गोविन्दकी उपासना कैसे होती है ? इसका उपदेश दीजिये' ॥ ६ ॥

तब ब्रह्माजीने उन प्रसिद्ध मुनियोंसे भगवान्‌का जो पीठ है, उसका वर्णन करते हुए कहा—पीठपर सुवर्णमय अष्टदल कमल बनाये। उसके मध्यभाग (कर्णिका) में दो त्रिकोण लिखे, जो एक दूसरेसे सम्पुटित हों। इस प्रकार छः कोण होंगे। इन कोणोंके मध्यभागमें स्थित जो कर्णिका है, उसमें आदि-अक्षररूप कामबीजका, जो सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिका अमोघ साधन है, उल्लेख करे। फिर प्रत्येक कोणमें 'क्लीं' बीजसहित 'कृष्णाय नमः' मन्त्रके एक-एक अक्षरका अङ्कन करे। तत्पश्चात् ब्रह्म-मन्त्र अर्थात् अष्टादशाक्षर गोपाल-विद्या एवं काम-गायत्रीका यथावत् उल्लेख करके आठ वज्रोंसे घिरे हुए भूमण्डलका उल्लेख करे। तत्पश्चात् उक्त मन्त्रको अङ्ग, वासुदेवादि, रुक्मिणी आदि स्वशक्ति एवं इन्द्र आदि, वसुदेव आदि, पार्थ आदि तथा निधि आदि आठ आवरणोंसे आवेष्टित करके उसकी पूजा करे।*

धारणके लिये यन्त्र

* यन्त्रकी स्पष्ट विधि इस प्रकार समझनी चाहिये। अपने घरपर गोबर और जलसे भूमिको लीप दे। फिर उस शुद्ध भूमिमें धोया हुआ पीठ स्थापित करके उसके ऊपर सुवर्णमय अष्टदल कमलकी स्थापना करे अथवा घिसे हुए चन्दनमें रोली या केसर मिलाकर उसीसे अष्टदल कमलका रेखाचित्र बना ले। तदनन्तर उस अष्टदल कमलके मध्यभाग (बीचकी कर्णिका) में परस्पर सम्पुटित दो त्रिकोण खींच ले। इस प्रकार छः कोण बन जायँगे। इन कोणोंके मध्यभागमें आदि अक्षररूप कामबीज (क्लीं) का, जो सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिका बीज है, उल्लेख करे। साथ ही साध्य व्यक्तिका तथा उसके कार्यका भी उल्लेख करे (यथा—'अमुकस्य अमुकं कार्यं सिद्ध्यतु')। ऐसा उल्लेख तभी आवश्यक है, जब धारण करनेके लिये यन्त्र बनाया गया हो। पूजाके लिये निर्मित यन्त्रमें साध्य और कार्यका नाम आवश्यक नहीं है। इसके बाद जो छहों कोण हैं, उनमें 'क्लीं कृष्णाय नमः' इस मन्त्रके एक-एक अक्षरका उल्लेख करे। तत्पश्चात् कोणोंके मध्यभाग अर्थात् कर्णिकामें लिखे हुए पूर्वोक्त 'क्लीं' बीजके चारों ओर अष्टादशाक्षर मन्त्रको इस प्रकार लिखे, जिससे वह उसके द्वारा आवेष्टित हो जाय। तदनन्तर छहों कोणोंमेंसे जो पूर्व, नैर्ऋत्य और वायव्यवाले कोण हैं, उनमें श्रीबीज (श्रीं) का उल्लेख करे तथा पश्चिम, अग्निकोण और ईशानवाले कोणोंमें माया-बीज (ह्रीं) को अङ्कित करे। फिर अष्टदलोंके केसरोंमें तीन-तीन अक्षरके क्रमसे चौबीस अक्षरोंकी काम-गायत्रीका उल्लेख करे। कामगायत्री इस प्रकार है—'कामदेवाय विद्महे, पुष्पबाणाय धीमहि, तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्।' इसके बाद प्रत्येक दलमें छः-छः अक्षरके क्रमसे अड़तालीस अक्षरवाले काम-मालामन्त्रका लेखन करे। वह मन्त्र इस प्रकार है—'नमः कामदेवाय सर्वजनप्रियाय सर्वजनसंमोहनाय ज्वल ज्वल प्रज्वल सर्वजनस्य हृदयं मम वशं कुरु कुरु स्वाहा।' इसके बाद अष्टदलोंके बाहर गोल रेखा खींचकर उसके ऊपर अकारादि इक्यावन अक्षरोंकी पूरी वर्णमालाको इस प्रकार लिखे, जिससे सम्पूर्ण अष्टदल-कमल घिर जाय। फिर इस समस्त चक्रके बाह्यभागमें चौकोर भूमण्डल बनाये। उसके पूर्वादि दिशाओंमें तो श्रीबीज (श्रीं)का उल्लेख करे और कोणोंमें मायाबीज (ह्रीं) लिखे। तत्पश्चात् इस भूमण्डलकी आठ दिशाओंमें आठ वज्र अङ्कित करे। वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा और शूल—यह वज्रादि-अष्टक ही आठ वज्र कहे गये हैं। इस प्रकार जो यन्त्र बनेगा, वह धारण करनेयोग्य होगा। इसीमें पूर्वकथित साध्य और कार्यका उल्लेख आवश्यक है। इसके धारणकी विधि यों है—यन्त्रधारणके समय पहले देव-पूजन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक एक सहस्र घीकी आहुतियाँ अग्निमें डाले। प्रत्येक आहुतिका हुतशेष घृत यन्त्रपर ही डाले। आहुतियाँ समाप्त होनेपर यन्त्रका मार्जन करे। फिर दस सहस्र बार अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप करके इस उत्तम यन्त्रको धारण करना चाहिये। इसे विधिपूर्वक धारण करनेवाले पुरुषको त्रिभुवनका ऐश्वर्य मिल सकता है तथा वह देवताओंके लिये भी आदरणीय हो जाता है।

पूजनके लिये यन्त्र

जब पूजाके लिये यन्त्र-निर्माण किया जाय, तब भी यन्त्रका स्वरूप तो वैसा ही रहेगा; केवल साध्य और कार्यका नाम नहीं रहेगा। इसके सिवा यन्त्र-पूजाके पहले पीठकी विभिन्न दिशाओंमें कुछ देवताओंका पूजन कर लेना आवश्यक होगा तथा पीठस्थ यन्त्रके चारों ओर आवरण-देवताओंकी भी स्थापना और पूजा आवश्यक होगी। यहाँ पहले पीठके सब ओर पूजित होनेवाले देवताओंका क्रम बताया जाता है—

पहले पीठके उत्तर भागमें वायव्यकोणसे लेकर ईशानकोणतक चतुर्विध गुरुओंका पूजन करे, यथा—'ॐ गुरुभ्यो नमः, परमगुरुभ्यो नमः, परात्परगुरुभ्यो नमः, परमेष्ठिगुरुभ्यो नमः।' फिर पीठके दक्षिण भागमें गणेशका आवाहन-पूजन करे। तत्पश्चात् यन्त्रगत अष्टदल

उक्त आवरणोंसे परिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्रका तीनों संध्याओंके समय ध्यान करके षोडश आदि उपचारोंद्वारा सदा उनका पूजन करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करनेसे उपासकको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सब कुछ प्राप्त हो जाता है, सब कुछ प्राप्त हो जाता है॥ ७॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य
एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति।
तं पीठस्थं येऽनुयजन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ ८॥

कमलकी कर्णिकाके निम्नभागमें—आधारशक्ति, प्रकृति, कमठ, शेष, पृथ्वी, क्षीरसागर, श्वेतद्वीप, रत्नमण्डप तथा कल्पवृक्ष—इन नौकी पूजा करे। यह पूजा भावनाद्वारा कर्णिकामें ही कर ली जायगी। फिर पीठ (चौकी) के पायोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी पूजा करे। क्रम इस प्रकार होगा— अग्निकोणमें धर्म, नैर्ऋत्यकोणमें ज्ञान, वायव्यकोणमें वैराग्य तथा ईशानकोणमें ऐश्वर्यकी पूजा होगी। इसी प्रकार पीठके पूर्वादि अवयवोंमें भी क्रमशः धर्म आदिकी पूजा होगी। इसके बाद कर्णिकामें ही क्रमशः 'अनन्ताय नमः', 'पद्माय नमः', 'अं द्वादशकलाव्याप्तसूर्यमण्डलात्मने नमः', 'ॐ षोडशकलाव्याप्तचन्द्रमण्डलात्मने नमः', 'मं दशकलाव्याप्तवह्निमण्डलात्मने नमः', 'सं सत्त्वाय नमः', 'रं रजसे नमः', 'तं तमसे नमः', 'आं आत्मने नमः', 'अं अन्तरात्मने नमः', 'पं परमात्मने नमः', 'ह्रीं ज्ञानात्मने नमः'—इन मन्त्रोंद्वारा पूजा करे। फिर अष्टदल कमलके प्रत्येक दलमें क्रमशः 'विमलायै नमः', 'उत्कर्षिण्यै नमः', 'ज्ञानायै नमः', 'क्रियायै नमः', 'योगायै नमः', 'प्रह्व्यै नमः', 'सत्यायै नमः', 'ईशानायै नमः'—इन मन्त्रोंसे विमला आदि आठ शक्तियोंकी पूजा करके पुनः कर्णिकामें 'अनुग्रहायै नमः' इस मन्त्रसे नवीं शक्तिकी पूजा करे। तत्पश्चात् 'ॐ नमो विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगाय पद्मपीठात्मने नमः' इस पीठमन्त्रका अष्टदल कमलके ऊपर विन्यास करके पीठकी पूजा करे। फिर पीठपर भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन और ध्यान करके षोडशोपचारसे पूजन करना चाहिये।

भगवान्का ध्यान इस प्रकार करे—

स्मरेद् वृन्दावने रम्ये मोदयन्तं मनोरमम्। गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्याः सहस्रशः॥
आत्मनो वदनाम्भोजप्रेरिताक्षिमधुव्रताः। पीडिताः कामबाणेन चिरमाश्लेषणोत्सुकाः॥
मुक्ताहारलसत्पीनतुङ्गस्तनभरान्विताः। स्रस्तधम्मिल्लवसना मदस्खलितभूषणाः॥
दन्तपङ्क्तिप्रभोद्भासिस्पन्दमानाधराञ्चिताः। विलोभयन्त्यो विविधैर्विभ्रमैर्भावगर्भितैः॥
फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गो-गोपसंघावृतं गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥

तत्पश्चात् आवरण-पूजा करनी चाहिये। यह आवरण-पूजा अष्टदल कमलमें ही करनी चाहिये। इसका प्रथम आवरण इस प्रकार है। छः कोणोंमेंसे आग्नेयकोणमें 'हृदयाय नमः', नैर्ऋत्यकोणमें 'शिरसे स्वाहा', वायव्यकोणमें 'शिखायै वषट्', ईशानकोणमें 'कवचाय हुम्', अग्रभागमें 'नेत्रत्रयाय वौषट्' तथा पूर्व आदि चारों दिशाओंमें 'अस्त्राय फट्' इस प्रकार मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजन करे।

द्वितीय आवरण—पूर्वदिशामें 'वासुदेवाय नमः', दक्षिणमें 'संकर्षणाय नमः', पश्चिममें 'प्रद्युम्नाय नमः', उत्तरमें 'अनिरुद्धाय नमः'—इन मन्त्रोंसे पूजा करके अग्निकोणमें 'शक्त्यै नमः', नैर्ऋत्यकोणमें 'श्रियै नमः', वायव्यकोणमें 'सरस्वत्यै नमः' तथा ईशान-कोणमें 'रत्यै नमः'—इन मन्त्रोंद्वारा शक्ति आदिका पूजन करे।

तृतीय आवरण—फिर कमलके आठ दलोंमें पूर्वादि दिशाओंके क्रमसे रुक्मिणी आदि आठ पटरानियोंकी स्थापना और पूजा करे— यथा रुक्मिण्यै नमः, सत्यभामायै नमः, जाम्बवत्यै नमः, नाग्नजित्यै नमः, मित्रविन्दायै नमः, कालिन्द्यै नमः, लक्ष्मणायै नमः, सुशीलायै नमः।

चतुर्थ आवरण—यहाँ पूर्वमें पीतवर्ण वसुदेव, अग्निकोणमें श्यामवर्णा देवकी, दक्षिणमें कर्पूरगौरवर्ण नन्द, नैर्ऋत्यमें कुङ्कुम-सदृश गौरवर्णा यशोदा, पश्चिममें शङ्ख, कुन्द एवं चन्द्रके समान उज्ज्वल वर्णवाले बलदेव, वायव्यकोणमें मयूरपिच्छतुल्य श्यामवर्णा सुभद्रा, उत्तरमें गोपगण तथा ईशानकोणमें गोपाङ्गनाओंकी क्रमशः पूजा करनी चाहिये। इनके नामको चतुर्थ्यन्त करके 'नमः' लगा देनेसे पूजाका मन्त्र हो जाता है।

पञ्चम आवरण—कमलके मध्यभागमें क्रमशः अर्जुन, निशठ, उद्धव, दारुक, विष्वक्सेन, सात्यकि, गरुड, नारद तथा पर्वतकी पूजा नाम-मन्त्रोंसे ही करे।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुयजन्ति धीरा-
स्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ९ ॥
एतद् विष्णोः परमं पदं ये
नित्योद्युक्ताः संयजन्ते न कामात् ।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्
प्रकाशयेदात्मपदं तदैव ॥ १० ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेत् ॥ ११ ॥
ॐकारेणान्तरितं ये जपन्ति
गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तम् ।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं
तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥ १२ ॥

'एकमात्र सबको वशमें रखनेवाले सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा स्तवन करने योग्य हैं। वे एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं। जो धीर भक्तजन पूर्वोक्त पीठपर विराजमान उन भगवान्का प्रतिदिन पूजन करते हैं, उन्हींको शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं। जो नित्योंके भी नित्य हैं, चेतनोंके भी परम चेतन हैं और एक ही सबकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको पूर्वोक्त पीठमें स्थापित करके जो धीर पुरुष निरन्तर उनका पूजन करते हैं, उन्हींको सनातन सिद्धि प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं। जो नित्य उत्साहपूर्वक उद्यत रहकर श्रीविष्णुके परमपदस्वरूप इस मन्त्रकी विधिपूर्वक पूजा करते हैं तथा भगवान्के सिवा दूसरी किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, उनके लिये वे गोपालरूपधारी भगवान् श्यामसुन्दर अपना स्वरूप तथा अपना परम धाम तत्काल ही प्रयत्नपूर्वक प्रकाशित कर देते हैं। जो श्रीकृष्ण सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीको उत्पन्न करते हैं तथा निश्चय ही जो उनको वेदविद्याका उपदेश करके उनसे उसका गान करवाते हैं; समस्त जीवोंकी बुद्धिको प्रकाश (ज्ञान) देनेवाले उन भगवान्की शरणमें मुमुक्षु पुरुष अवश्य जाय। जो साधक भगवान् गोविन्दके उस पाँच पदवाले सुप्रसिद्ध अष्टादशाक्षर मन्त्रको ॐकारसे सम्पुटित करके जपते हैं, उन्हींको वे भगवान् शीघ्र अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराते हैं; अतः संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य नित्य-शान्तिकी प्राप्तिके लिये अवश्य ही उक्त मन्त्रका जप करे' ॥ ८–१२ ॥

इस पाँच पदवाले मन्त्रसे ही और भी दशाक्षर आदि मन्त्र उत्पन्न हुए हैं, जो मनुष्योंके लिये कल्याणकारी हैं। उन दशाक्षर आदि मन्त्रोंको भी ऐश्वर्यकी इच्छावाले इन्द्र आदि देवता न्यास, ध्यान आदि यथावत् विधिके साथ जपते रहते हैं ॥ १३ ॥

तृतीय उपनिषद्

अष्टादशाक्षरका अर्थ

'यदि ऐसी बात है तो इन भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपभूत मन्त्रका अर्थ (अभिप्राय और प्रयोजन) क्या है ? यह आप अपनी वाणीद्वारा समझाइये।' इस प्रकार उन सनकादि मुनियोंने पूछा। तब सब लोकोंमें विख्यात ब्रह्माजीने उनके उस प्रश्नके उत्तरमें इस प्रकार कहा—'मुनिवरो ! सुनो; मुझ ब्रह्माकी जो दो परार्धकी आयु होती है, उसे व्यतीत करता हुआ मैं पूर्वकालमें भगवान्का निरन्तर ध्यान और स्तवन करता रहा। इस प्रकार जब एक परार्ध बीत गया, तब भगवान्का

षष्ठ आवरण—पूर्वमें 'इन्द्रनिधये नमः', अग्निकोणमें 'नीलनिधये नमः', दक्षिणमें 'स्कन्दाय नमः', नैर्ऋत्यकोणमें 'मकराय नमः', पश्चिममें 'आनन्दाय नमः', वायुकोणमें 'कच्छपाय नमः', उत्तरमें 'शङ्खाय नमः' तथा ईशानकोणमें 'पद्मनिधये नमः'—इस प्रकार पूजन करे।

सप्तम आवरण—पूर्वमें पीतवर्ण इन्द्र, अग्निकोणमें रक्तवर्ण अग्नि, दक्षिणमें नीलोत्पलवर्ण यम, नैर्ऋत्यकोणमें कृष्णवर्ण राक्षसाधिपति निर्ऋति, पश्चिममें शुक्लवर्ण वरुण, वायव्यमें धूम्रवर्ण वायु, उत्तरमें नीलवर्ण कुबेर तथा ईशानकोणमें श्वेतवर्ण ईशानका नाम-मन्त्रद्वारा ही पूजन करे।

अष्टम आवरण—पूर्व और ईशानके मध्यमें गोरोचनवर्ण ब्रह्मा, नैर्ऋत्यकोण और पश्चिमके मध्यमें शुक्लवर्ण शेषनाग, पूर्व दलमें पीतवर्ण वज्र, अग्निकोणवाले दलमें शुक्लवर्णा शक्ति, दक्षिण दलमें नीलवर्ण दण्ड, नैर्ऋत्य दलमें श्वेतवर्ण खड्ग, पश्चिम दलमें विद्युद्वर्ण पाश, वायव्य दलमें रक्तवर्ण ध्वज, उत्तर दलमें नीलवर्णा गदा तथा ईशान दलमें शुक्लवर्ण त्रिशूलकी नाम-मन्त्रद्वारा ही पूजा करे।

ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हुआ; फिर वे दया करके गोपवेषधारी श्यामसुन्दर पुरुषोत्तमके रूपमें मेरे सामने प्रकट हुए। तब मैंने भक्तिपूर्वक उनके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने दयार्द्र-हृदयसे मुझपर अनुग्रह करके सृष्टि-रचनाके लिये अपने स्वरूपभूत अष्टादशाक्षर मन्त्रका मुझे उपदेश दिया और तत्काल अन्तर्धान हो गये। फिर जब मेरे हृदयमें सृष्टिकी इच्छा हुई, तब अष्टादशाक्षर मन्त्रके उन सभी अक्षरोंमें भावी जगत्‌के स्वरूपका दर्शन कराते हुए वे पुनः मेरे सम्मुख प्रकट हो गये। तब मैंने इस मन्त्रमें जो 'क्' अक्षर है, उससे जलकी, 'ल्' अक्षरसे पृथ्वीकी, 'ई' से अग्नि-तत्त्वकी, अनुस्वारसे चन्द्रमाकी तथा इन सबके समुदायरूप 'क्लीं' से सूर्यकी रचना की। मन्त्रके द्वितीय पद 'कृष्णाय' से आकाशकी और आकाशसे वायुकी सृष्टि की। उसके बादवाले 'गोविन्दाय' पदसे कामधेनु गौ तथा वेदादि विद्याओंको प्रकट किया। उसके पश्चात् जो 'गोपीजनवल्लभाय' पद है, उससे स्त्री-पुरुष आदिकी रचना की तथा सबसे अन्तमें जो 'स्वाहा' पद है, उससे इस समस्त जड-चेतनमय चराचर जगत्‌को उत्पन्न किया॥ १-२॥

चतुर्थ उपनिषद्

गोपाल-मन्त्रके जपकी महिमा; उससे गोलोक-धामकी प्राप्ति

इन भगवान् श्रीकृष्णके ही पूजन तथा उनके ॐकारसे सम्पुटित अष्टादशाक्षर मन्त्रके ही जपसे पूर्वकालमें राजर्षि चन्द्रध्वज मोहरहित होकर आत्मज्ञान प्राप्त करके असङ्ग हो गये॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णके उस परमधाम गोलोकको ज्ञानी एवं प्रेमी भक्तजन सदा देखते हैं। आकाशमें सूर्यकी भाँति वह परम व्योममें सब ओर व्याप्त तथा प्रकाशमान है। उस परम धामकी प्राप्ति पूर्वोक्त अष्टादशाक्षरमन्त्रके जपसे ही होती है; इसलिये इसका नित्य जप करे॥ २-३॥

पञ्चम उपनिषद्

श्रीकृष्णका स्वरूप एवं उनका स्तवन

उक्त मन्त्रके विषयमें कुछ मुनिगण यों कहते हैं— 'जिसके प्रथम पद (**क्लीं**) से पृथ्वी, द्वितीय पद (**कृष्णाय**) से जल, तृतीय पद (**गोविन्दाय**) से तेज, चतुर्थ पद (**गोपीजनवल्लभाय**) से वायु तथा अन्तिम पाँचवें पद (**स्वाहा**) से आकाशकी उत्पत्ति हुई है, वह वैष्णव पञ्चमहाव्याहृतियोंवाला अष्टादशाक्षरमन्त्र श्रीकृष्णके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है। उसका मोक्ष-प्राप्तिके लिये सदा ही जप करते रहना चाहिये'॥ १॥

इस विषयमें यह गाथा प्रसिद्ध है—

जिस मन्त्रके प्रथम पदसे पृथ्वी प्रकट हुई, द्वितीय पदसे जलका प्रादुर्भाव हुआ, तृतीय पदसे तेजस्तत्त्वका प्राकट्य हुआ, चतुर्थ पदसे अमितत्त्व आविर्भूत हुआ तथा पञ्चम पदसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, एकमात्र उसी अष्टादशाक्षर मन्त्रका निरन्तर अभ्यास (जप) करे। उसीके जपसे राजर्षि चन्द्रध्वज भगवान् श्रीकृष्णके अविनाशी परमधाम गोलोकको प्राप्त हो गये॥ २-३॥

अतः वह जो परम विशुद्ध, विमल, शोकरहित, लोभ आदिसे शून्य, सब प्रकारकी आसक्ति एवं वासनासे वर्जित गोलोकधाम है, वह उक्त पाँच पदोंवाले मन्त्रसे अभिन्न है; तथा वह मन्त्र साक्षात् वासुदेवस्वरूप ही है, जिस वासुदेवसे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। वे एकमात्र भगवान् गोविन्द पञ्चपद मन्त्रस्वरूप हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनपर सदा विराजमान रहते हैं। मैं मरुद्गणोंके साथ रहकर (इन) उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन भगवान्‌को संतुष्ट करता हूँ॥ ४-५॥

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ६॥
नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ७॥
नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने।
नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः॥ ८॥

बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ९ ॥
कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने ।
वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥ १० ॥
वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने ।
कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥ ११ ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने ।
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ १२ ॥
नमः पापप्रणाशाय गोवर्द्धनधराय च ।
पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे ॥ १३ ॥
निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।
अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ १४ ॥
प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर ।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥ १५ ॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥ १६ ॥
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन ।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥ १७ ॥

'सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, जो विश्वके पालन और संहारके एकमात्र कारण हैं तथा जो स्वयं ही विश्वरूप और इस विश्वके अधीश्वर हैं, उन भगवान् गोविन्दको बारंबार नमस्कार है। जो विज्ञानस्वरूप और परमानन्दमयविग्रह हैं तथा जो जीवमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले हैं, गोपसुन्दरियोंके प्राणनाथ उन भगवान् गोविन्दको प्रणाम है, प्रणाम है। जो नेत्रोंमें कमलकी शोभा धारण करते और कण्ठमें कमलपुष्पोंकी माला पहनते हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है तथा जो कमला—लक्ष्मी, लक्ष्मीस्वरूपा गोपाङ्गनाओं-के तथा श्रीराधाके प्राणेश्वर हैं, उन भगवान् श्यामसुन्दरको नमस्कार है, नमस्कार है। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट धारण करके जो परम सुन्दर दिखायी देते हैं, जिनमें सबका मन रमण करता है, जिनकी बुद्धि एवं स्मरणशक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, तथा जो लक्ष्मी, गोपसुन्दरीगण तथा श्रीराधाके मानसमें विहार करनेवाले राजहंस हैं, उन भगवान् गोविन्दको बारंबार प्रणाम है। जो कंसके वंशका विध्वंस करनेवाले तथा केशी और चाणूरके विनाशक हैं, भगवान् शङ्करके भी जो वन्दनीय हैं, उन पार्थ-सारथि भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अधरोंपर बाँसुरी रखकर उसे बजाते रहना जिनका स्वाभाविक गुण है, जो गौओंके पालक तथा कालियनागका मान-मर्दन करनेवाले हैं, कालिन्दीके रमणीय तटपर कालियह्रदमें नागके फणोंपर चञ्चलगतिसे जिनकी अविराम लास्य-लीला हो रही है, अतएव जिनके कानोंमें धारण किये हुए कुण्डल हिलते हुए झलमला रहे हैं, सहस्रों गोपसुन्दरियोंके निर्निमेष नेत्र जिनके श्रीअङ्गोंमें प्रतिबिम्बित होकर विकसित कमल-पुष्पोंकी मालासदृश शोभा पा रहे हैं तथा जो नृत्यमें संलग्न होकर अतिशय शोभायमान दिखायी देते हैं, उन शरणागत जनोंके प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है, प्रणाम है। जो पाप और पापात्मा असुरोंके विनाशक हैं, व्रजवासियोंकी रक्षाके लिये हाथपर गोवर्धन धारण करते हैं, पूतनाके प्राणान्तकारक तथा तृणावर्त असुरके प्राण-संहारक हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। जो कला (अवयव) से रहित हैं, जिनमें मोहका सर्वथा अभाव है, जो स्वरूपसे ही परम विशुद्ध हैं, अशुद्ध (स्वभाव तथा आचरणवाले) असुरोंके शत्रु हैं, तथा जिनसे बढ़कर या जिनके समान भी दूसरा कोई नहीं है, उन सर्वमहान् परमात्मा श्रीकृष्णको बारंबार नमस्कार है। परमा-नन्दमय परमेश्वर ! मुझपर प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये। प्रभो ! मुझे आधि (मानसिक व्यथा) और व्याधि (शारीरिक व्यथा) रूपी सर्पोंने डस लिया है; कृपया मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण ! हे रुक्मिणीवल्लभ ! हे गोपसुन्दरियों-का चित्त चुरानेवाले श्यामसुन्दर ! मैं संसार-समुद्रमें डूब रहा हूँ। जगद्गुरो ! मेरा उद्धार कीजिये। हे केशव ! क्लेशहारी नारायण ! जनार्दन ! परमानन्दमय गोविन्द ! माधव ! मेरा उद्धार कीजिये' ॥ ९–१७ ॥

'मुनिवरो ! जिस प्रकार मैं इन प्रसिद्ध स्तुतियोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करता हूँ, उसी प्रकार तुमलोग भी पाँच पदोंवाले पूर्वोक्त मन्त्रका जप और श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए उनकी आराधनामें लगे रहो। इसके द्वारा संसार-समुद्र-से तर जाओगे।' इस प्रकार ब्रह्माजीने उन सनकादि मुनियों-को उपदेश दिया ॥ १८ ॥

जो इस पूर्वोक्त पञ्चपद-मन्त्रका सदा जप करता है, वह अनायास ही भगवान्‌के उस अद्वितीय परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌का वह परमपद गतिशील नहीं—नित्य स्थिर है; फिर भी वह मनसे भी अधिक वेगवाला है।

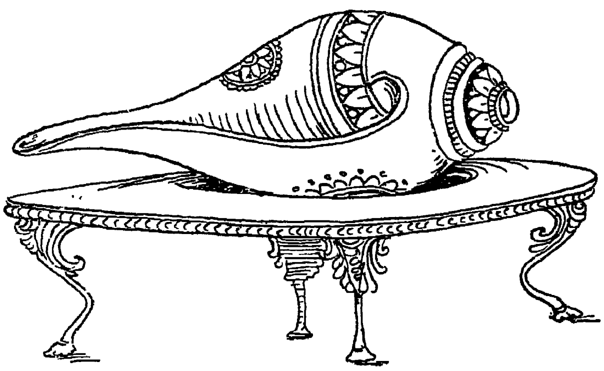
भगवत्स्वरूप होनेके कारण ही वह एक—अद्वितीय है । देवता अर्थात् वाणी आदि इन्द्रियाँ वहाँतक कभी नहीं पहुँच सकी हैं । इन्द्रियोंकी जहाँ-जहाँ गति है, वहाँ-वहाँ वह पहलेसे ही पहुँचा हुआ है । तात्पर्य यह कि भगवान्‌का परमपद नित्य, स्थिर, एक और सर्वव्यापी है । इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं । उनका ध्यान करे, मन्त्रजपद्वारा उनके नामामृतका रसास्वादन करे, तथा उन्हींका सदा भजन करे, उन्हींका सदा भजन करे ॥ १९-२० ॥ ॐ तत्सत् ॥

॥ अथर्ववेदीय गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

राधा आदि गोपियोंका दुर्वासासे संवाद; दुर्वासाके द्वारा श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन

एक समयकी बात है, सदा श्रीकृष्ण-मिलनकी ही अभिलाषा रखनेवाली व्रजकी गोपसुन्दरियाँ उनके साथ रात्रि व्यतीत करके प्रातःकाल उन सर्वेश्वर गोपालसे बोलीं तथा वे श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भी उनसे बोले ॥ १ ॥

उनमें इस प्रकार बातचीत हुई—'प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम हमें बताओ, हमें अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये किस ब्राह्मण-को इस समय भोजन देना चाहिये ?' गोपियोंका यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'महर्षि दुर्वासाको भोजन देना उचित है' ॥ २ ॥

गोपियोंने पूछा—'प्यारे ! जहाँ जानेसे हमारा कल्याण होगा, वह मुनिवर दुर्वासाका आश्रम तो उस पार है । यमुनाका अगाध जल पार किये बिना हम वहाँ कैसे जायँगी ?' ॥ ३ ॥

भगवान् बोले—तुमलोग यमुनाजीके तटपर जाकर कहना—'श्रीकृष्ण नामसे प्रसिद्ध हमारे श्यामसुन्दर पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ।' यों कहनेपर यमुनाजी तुम्हें पार जानेके लिये मार्ग दे देंगी । मैं वह हूँ, जिससे सबकी उन्नति होती है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करनेसे अथाहकी भी थाह मिल जाती है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके अपवित्र भी पवित्र हो जाता है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके व्रतहीन भी व्रतधारी हो जाता है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके निष्काम आत्माराम भी सकाम (परम प्रेमी) हो जाता है । तथा मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके वेद-ज्ञानसे रहित पुरुष भी वेदज्ञ हो जाता है ॥ ४ ॥

कहते हैं, भगवान्‌का यह कथन सुनकर गोपसुन्दरियाँ महादेवजीके अंशभूत दुर्वासाका स्मरण करके—उन्हींको लक्ष्य करके वहाँसे चलीं, और श्रीकृष्णके वचनको दुहराकर सूर्यकन्या यमुनाके पार हो मुनिके परम पवित्र आश्रम-पर जा पहुँचीं । फिर उन सर्वश्रेष्ठ मुनिको, जो रुद्रके ही अंश थे, प्रणाम करके उन ब्राह्मणदेवताको दूध और घीके बने हुए मीठे और प्रिय पदार्थ देकर गोपाङ्गनाओं-ने संतुष्ट किया । प्रसिद्ध महर्षि दुर्वासाने भोजन करके उच्छिष्ट अन्नका यथास्थान त्याग करके गोपियोंको यथेष्ट आशीर्वाद दे घर लौट जानेके लिये आज्ञा दी । तब गोप-सुन्दरियोंने पूछा—'हम सूर्यकन्या यमुनाको कैसे पार करके जायँगी ?' ॥ ५-७ ॥

तब वे सुप्रसिद्ध मुनि बोले—मैं केवल दूबका ही भोजन करनेवाला हूँ, इस रूपमें मेरा स्मरण करनेसे यमुनाजी तुम्हें मार्ग दे देंगी ॥ ८ ॥

उन गोपसुन्दरियोंमें सुन्दर गुण और स्वभावकी दृष्टिसे सबसे श्रेष्ठ थीं गान्धर्वी—श्रीराधा । उन्होंने वहाँ आयी हुई उन सभी गोपियोंके साथ विचार करके मुनिवर दुर्वासासे इस प्रकार पूछा—'हमारे साथ नित्य विहार करनेवाले श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण कैसे ब्रह्मचारी हैं ? और अभी-अभी इतना पकवान

भोजन करनेवाले महर्षि दुर्वासा किस प्रकार केवल दूर्वा ही खाते हैं?' ॥ ९-१० ॥

श्रीराधाको ही प्रधान बनाकर और उन्हें ही आगे करके अन्य गोपाङ्गनाएँ उन्हींके पीछे चुपचाप खड़ी हो गयी थीं ॥ ११ ॥

दुर्वासाने कहा—सुनो, आकाश शब्द-गुणसे युक्त है; परंतु परमात्मा शब्द और आकाश दोनोंसे भिन्न हैं। फिर भी वे उक्त गुणवाले आकाशमें उसके अन्तर्यामी आत्मा होकर निवास करते हैं। वह शब्दवान् आकाश उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता; वही परमात्मस्वरूप आत्मा मैं हूँ, फिर मैं भोजन करनेवाला कैसे हो सकता हूँ। वायु स्पर्श-गुणसे युक्त है, किंतु परमात्मा स्पर्श और वायु दोनोंसे भिन्न हैं; फिर भी वे वायुमें उसके अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। वह स्पर्शवान् वायुतत्त्व उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता। वही विशुद्ध आत्मा मैं भी हूँ, अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। यह तेज रूप-गुणसे युक्त है, किंतु परमात्मा रूप और तेज दोनोंसे भिन्न हैं। फिर भी वे अग्निमें उसके अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। वह अग्नि उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता। वही विशुद्ध आत्मा मैं हूँ। अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। जल रस-गुणसे युक्त है; किंतु परमात्मा रस और जल दोनोंसे भिन्न हैं। तथापि वे उस जलमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। जल उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता। वही विशुद्ध आत्मा मैं भी हूँ, अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। यह पृथिवी गन्ध-गुणसे युक्त है, किंतु परमात्मा गन्ध एवं पृथिवी दोनोंसे भिन्न हैं। तथापि वे भूमिमें उसके अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। भूमि उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानती। वही विशुद्ध आत्मा मैं हूँ, अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। यह मन ही उन आकाश आदिके विषयमें संकल्प-विकल्प करता है, यही उन विषयोंको ग्रहण करता है। जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया है, वहाँ किस विषयका आश्रय लेकर यह मन संकल्प-विकल्प करे अथवा किस विषयकी ओर जाय? इसलिये मैं वही विशुद्ध आत्मा हूँ, फिर कैसे भोक्ता हो सकता हूँ ॥१२-१८॥

ये श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण, जो तुम्हारे प्रियतम हैं, व्यष्टि और समष्टिके स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंके कारण हैं। सदा साथ रहनेवाले दो पक्षियोंकी भाँति जीवात्मा और परमात्मा एक दूसरेके नित्य सहचर हैं। इनमें जो परमात्माका अंशभूत इतर जीव है, वह तो भोक्ता होता है; और उससे भिन्न साक्षात् परमात्मा (श्रीकृष्ण) साक्षीमात्र होते हैं। वृक्षके समान धर्मवाले नाशवान् शरीरमें वे दोनों रहते हैं। इनमें एक भोक्ता है और दूसरा अभोक्ता। पहला (जीवात्मा) तो भोक्ता है और दूसरा स्वतन्त्र ईश्वर ही अभोक्ता है। यह अभोक्ता परमेश्वर ही श्रीकृष्ण हैं। जिनमें मोक्ष और बन्धन देनेवाली विद्या और अविद्याका अस्तित्व हम नहीं जानते, जो विद्या और अविद्या दोनोंसे विलक्षण हैं तथा जो विद्यामय हैं, वे श्रीकृष्ण विषयी कैसे हो सकते हैं? ॥ १९-२१ ॥

जो कामना (विषयासक्ति) से नाना प्रकारके भोगोंकी अभिलाषा करता है, वही कामी होता है; परंतु जो निश्चयपूर्वक कामनाके बिना ही केवल प्रेमी भक्तोंके प्रेमवश उनके द्वारा अर्पित भोगोंको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है, वह अकामी होता है—उसे कामना और आसक्तिसे दूर माना जाता है। ये श्रीकृष्ण जन्म और जरा (बुढ़ापा) आदि शारीरिक धर्मोंसे रहित हैं। ये स्थिर हैं—नित्य हैं, इनका छेदन नहीं हो सकता। वे जो सूर्यमण्डलमें विराजमान हैं, जो गौओंमें रहते हैं, जो गौओंकी रक्षा करते हैं, जो ग्वालोंके भीतर हैं, जो सम्पूर्ण देवताओंमें भी अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जिनकी महिमाका गान किया जाता है, जो समस्त चराचर भूतोंमें व्याप्त होकर स्थित हैं तथा जो भूतोंकी सृष्टि भी करते हैं, वे भगवान् ही तुम्हारे स्वामी हैं ॥२२-२३॥

यह सुनकर वे गान्धर्वी नामसे प्रसिद्ध श्रीराधाजी बोलीं—'महर्षे! ऐसे अद्भुत, अचिन्त्य महिमावाले गोपाल श्रीकृष्ण हमलोगोंके यहाँ कैसे प्रकट हो गये? तथा आपने उन श्रीकृष्णका तत्त्व कैसे जाना? उनकी प्राप्तिका साधनभूत मन्त्र कौन-सा है? उन भगवान्‌का निवास-स्थान कहाँ है? वे देवकीजीके गर्भसे किस प्रकार उत्पन्न हुए? इनके बड़े भैया बलरामजी कौन हैं? तथा कैसे इन गोपालकी पूजा होती है? प्रकृतिसे परे जो ये साक्षात् परमात्मा गोपाल हैं, किस प्रकार इस भूमिपर अवतीर्ण हुए? यह सब स्पष्टरूपसे बताइये' ॥ २४ ॥

तब उन प्रसिद्ध महर्षि दुर्वासाने श्रीराधासे कहा—यह बात सबको विदित है कि सृष्टिके आदिमें एकमात्र भगवान् नारायण ही विराजमान थे, जिनमें ये सम्पूर्ण लोक ओतप्रोत हैं। उनके मानसिक सङ्कल्पसे नाभिमें जो कमल प्रकट हुआ था, उससे कमलयोनि ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। भगवान् नारायणने ब्रह्माजीसे तपस्या करवाकर उन्हें वरदान दिया ॥ २५-२६ ॥

ब्रह्माजीने इच्छानुसार प्रश्न पूछनेका ही वरदान माँगा और भगवान् नारायणने वैसा वर उन्हें दे दिया ॥ २७ ॥

तदनन्तर उन विश्वविख्यात ब्रह्माजीने पूछा—'भगवन्! समस्त अवतारोंमें कौन-सा अवतार सबसे श्रेष्ठ है, जिससे सब लोक सन्तुष्ट हों, सम्पूर्ण देवता भी सन्तुष्ट हों, जिसका स्मरण करके मनुष्य इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं? तथा इस श्रेष्ठ अवतारकी परब्रह्मरूपता कैसे सिद्ध हो सकती है?' ॥२८॥

यह प्रश्न सुनकर उन प्रसिद्ध भगवान् नारायणने उन ब्रह्माजीसे कहा—'वत्स! जैसे मेरु-शिखरपर (यमातिरिक्त सात लोकपालोंकी) सात पुरियाँ हैं, जिन्हें सकामभावसे पुण्य करनेवाले पुरुष प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इस भूगोल-चक्रमें भी सात पुरियाँ[1] हैं, जो निष्काम तथा सकाम—सभी प्रकारके लोगोंद्वारा सेवन करनेयोग्य हैं। (सकाम भाववाले पुरुषोंकी कामना पूर्ण करनेके कारण वे 'सकाम्या' हैं, और निष्काम पुरुषोंको मोक्ष देनेवाली होनेके कारण 'निष्काम्या' हैं।) उन सबके मध्यमें साक्षात् परब्रह्मरूप गोपालकी पुरी मथुरा है; अतः वह सम्पूर्ण देवताओं तथा समस्त भूतोंके लिये भी सकाम्या (कामना पूर्ण करनेवाली) और निष्काम्या (मोक्षदायिनी) है ॥ २९ ॥

निश्चय ही जिस प्रकार सरोवरमें कमल होता है, उसी प्रकार भूतलपर यह पुरी स्थित है। (कमलकी कर्णिकाके स्थानपर तो यह पुरी है और दलोंके स्थानपर मधुवन आदि वन हैं।) अवश्य ही मथुरापुरी भगवान् गोपालके चक्रद्वारा सुरक्षित है, इसलिये वह गोपाल-पुरीके नामसे प्रसिद्ध है। विशाल बृहद्वन (महावन), मधुदैत्यके नामपर प्रसिद्ध मधुवन, ताड़के वृक्षोंसे सुशोभित तालवन, कमनीय श्रीकृष्णकी विहारस्थली काम्यवन (कामवन), कृष्ण-प्रिया बहुलाके नामसे प्रसिद्ध बहुलावन, कुमुद-वृक्षोंसे उपलक्षित कुमुदवन, खदिर-वृक्षोंकी अधिकताके कारण प्रसिद्ध खदिरवन, जहाँ बलभद्रजी विचरते हैं—वह भद्रवन, 'भाण्डीर' नामक वटसे उपलक्षित भाण्डीरवन, लक्ष्मीका निवासभूत श्रीवन, लोहगन्धकी तपस्याका स्थान लोहवन, वृन्दादेवीसे सनाथ हुआ वृन्दावन—इन (कमलदलोंके समान सुशोभित) बारह वनोंसे वह मथुरापुरी घिरी हुई है। उस मथुरामण्डलके अन्तर्गत उपर्युक्त वनोंमें ही देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और किन्नर (श्रीकृष्ण-प्रेमसे उन्मत्त हो) गाते और नृत्य करते हैं। उन बारह वनोंमें बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, सप्त ऋषि, ब्रह्मा, नारद, पाँच गणेश एवं वीरेश्वर, रुद्रेश्वर, अम्बिकेश्वर, गणेश्वर, नीलकण्ठ, विश्वेश्वर, गोपालेश्वर तथा भद्रेश्वर आदि चौवीस शिवलिङ्गोंका निवास है। दो प्रमुख वन हैं—कृष्णवन और भद्रवन। इनके बीचमें ही पूर्वोक्त बारह वन हैं, जो परम पवित्र एवं पुण्यमय हैं। उन्हींमें देवता रहते हैं। वहीं सिद्धगण तपस्या करके सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। वहीं बलरामजीकी रमणीय राममूर्ति, प्रद्युम्नकी प्रद्युम्नमूर्ति, अनिरुद्धकी अनिरुद्धमूर्ति तथा श्रीकृष्णकी श्रीकृष्णमूर्ति विराजती हैं। इस प्रकार मथुरामण्डलके बारह वनोंमें भगवान्‌के बारह अर्चा-विग्रह विराजमान हैं। इनमेंसे प्रथम मूर्तिका पूजन रुद्रगण करते हैं। दूसरी मूर्तिका पूजन स्वयं ब्रह्माजी करते हैं। तीसरीकी पूजा ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि मुनि करते हैं। चौथे विग्रहकी आराधना मरुद्गण करते हैं। पाँचवें स्वरूपकी अर्चना विनायकगण करते हैं। छठे विग्रहकी पूजा वसुगण करते हैं। सातवेंकी आराधना ऋषि करते हैं। आठवीं मूर्तिकी पूजा गन्धर्व करते हैं। नवें विग्रहका पूजन अप्सराएँ करती हैं। दसवीं मूर्ति आकाशमें गुप्तरूपसे स्थित है। ग्यारहवीं अन्तरिक्षमें स्थित है और बारहवीं भूगर्भमें विराजती है। अर्चा-विग्रहोंका जो लोग पूजन करते हैं, वे मृत्युसे तर जाते हैं, मोक्ष पा लेते हैं, गर्भवास, जन्म, जरावस्था, मृत्यु तथा आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापके दुःखको लाँघ जाते हैं ॥ ३०—३८ ॥

इस विषयमें श्लोक भी हैं, जिनका भाव इस प्रकार है—

जो ब्रह्मा आदि देवताओंसे सदा सेवित है; भगवान्‌के शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्ग-धनुष निरन्तर जिसकी रक्षामें रहते हैं; जो बलभद्रजीके मुसल आदि शस्त्रोंसे भी सदा सुरक्षित है, उस परम रमणीय मथुरापुरीमें पहुँचकर (भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करे)। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने अन्य तीन विग्रह—बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धके साथ एवं अपनी अन्तरङ्गा शक्ति श्रीरुक्मिणीजीके साथ सदा समाहित (भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सतत सावधान) रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एकमात्र पूर्ण परमात्मा हैं, तो भी वे प्रणवकी मात्राओंके भेदसे चार नामोंसे प्रसिद्ध होते हैं। (ॐकारकी चार मात्राएँ हैं—अ, उ, म् तथा अर्धमात्रा।) इनमें अकारात्मक विश्वरूप तो बलरामजी हैं, उकारात्मक तैजसरूप प्रद्युम्न हैं, मकारात्मक प्राज्ञरूप अनिरुद्धजी हैं तथा अर्धमात्रात्मक तुरीयरूप भगवान् वासुदेव हैं ॥ ३९-४० ॥

१. वे सात पुरियाँ हैं—अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्ती (उज्जयिनी) तथा द्वारकापुरी।

अतः रजोगुणसे अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृतिसे परे जो भगवान् गोपाल हैं, 'वह मैं ही हूँ'—इस प्रकार निश्चय करके अपने आत्मामें गोपालकी भावना करे। जो यों करता है, वह मोक्ष-सुखका अनुभव करता है, ब्रह्मभावको प्राप्त होता है तथा ब्रह्मवेत्ता होता है। जो गोपों अर्थात् जीवोंको सृष्टिसे लेकर प्रलयतक सदा ही आत्मीय मानकर स्वीकार करते तथा सदा उनकी रक्षा एवं पालनमें संलग्न रहते हैं, वे प्रणववाच्य भगवान् ही गोपाल हैं। 'वे तत्, सत्, परब्रह्म श्रीकृष्ण ही मेरे आत्मा हैं; नित्यानन्दैकरूप जो गोपाल हैं, वह मैं हूँ। ॐ वे गोपालदेव ही तीनों कालोंसे अबाधित परम सत्य हैं। वह मैं हूँ'—इस प्रकार अपनेको लेकर मनसे भगवान्के साथ एकता करे। अपनेको इस भावसे देखे—अपने विषयमें यह निश्चय करे कि 'मैं गोपाल हूँ—वे ही गोपाल, जो अव्यक्त, अनन्त एवं नित्य हैं' ॥ ४१-४४ ॥

भगवान् कहते हैं—ब्रह्मन्! मथुरापुरीमें मेरा निवास सदा ही बना रहेगा। निश्चय ही मैं वहाँ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और वनमालासे विभूषित होकर रहूँगा। ब्रह्मन्! मेरा स्वरूप चिन्मय है, सर्वोत्कृष्ट और स्वप्रकाशरूप है; इसमें प्राकृत रूपकी गन्ध भी नहीं है। इस प्रकार जो सदा मेरे स्वरूपका चिन्तन करता है, वह निश्चय ही मेरे परमधामको प्राप्त होता है। जो मुख्यतः मथुरामण्डलमें अथवा जम्बूद्वीपके किसी भी प्रदेशमें रहकर मेरी प्रतिमाका सामग्रियोंद्वारा पूजन करता है तथा मेरा भी ध्यानके द्वारा समाराधन करता है, वह इस भूमण्डलपर मुझे सर्वाधिक प्रिय है। ब्रह्मन्! मथुरामें मैं श्रीकृष्णरूपसे ही सदा वास करता हूँ, अतः वहाँ तुम्हें उसी रूपमें मेरा पूजन करना चाहिये। अधिकारभेदसे विभिन्न युगोंका अनुसरण करनेवाले उत्तम बुद्धिसम्पन्न भक्तजन चार रूपोंमें मेरी उपासना—मेरा पूजन करते हैं। वे पीछे प्रकट हुए प्रद्युम्न और अनिरुद्धके साथ गोपाल श्रीकृष्णकी और बलरामकी पूजा करते हैं (ये ही चार व्यूह हैं)। इसके सिवा देवी रुक्मिणीके साथ उनके परम प्रियतम भगवान् वासुदेवकी भी पूजा करते हैं। (युग-क्रमसे सत्ययुगमें श्वेतवर्ण बलरामकी, त्रेतामें रक्तवर्ण प्रद्युम्नकी, द्वापरमें पीतवर्ण अनिरुद्धकी और कलिमें श्यामवर्ण श्रीकृष्णकी आराधना करते हैं) ॥ ४५-४९ ॥

विद्वान् पुरुष ऐसी भावना करे कि 'मैं नित्य अजन्मा गोपाल हूँ, सनातन प्रद्युम्न हूँ, बलराम हूँ तथा अनिरुद्ध हूँ।' इस प्रकार अपने आत्मारूपसे भगवान्का चिन्तन करके उनकी पूजा करे। मैंने वेद, पाञ्चरात्र तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें जो विभागपूर्वक वर्णाश्रम-धर्मका उपदेश दिया है, उसके अनुसार निष्काम भावसे स्वधर्मका अनुष्ठान करते हुए उसके द्वारा मेरा पूजन करना चाहिये। भद्रवन एवं कृष्णवनके निवासियोंको वहाँ विराजमान मेरे स्वरूपकी आराधना करनी चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

जो (सकाम या निष्काम) धर्माचरणसे प्राप्त होनेवाली (स्वर्ग-अपवर्गरूप) सद्गतिसे वञ्चित हैं (अतएव मनुष्यरूपमें जन्मे हैं), कलिकालने जिन्हें अपना ग्रास बना लिया है तथा जो मथुरामें रहकर मेरे भजनमें संलग्न रहते हैं, उनकी वहाँ अवश्य स्थिति होती है। (वे वहाँ रहनेके अधिकारी हैं तथा वहाँ रहकर भजन करनेसे उन्हें निश्चय ही अभीष्टसिद्धि प्राप्त होती है।) ब्रह्मन्! जैसे तुम अपने सनकसनन्दन आदि पुत्रोंके साथ स्नेहयुक्त सम्बन्ध रखते हो, जैसे महादेवजी प्रमथगणोंके साथ स्नेह-सम्बन्ध रखते हैं तथा जैसे लक्ष्मीके साथ मेरा प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है, उसी प्रकार मेरा भक्त भी मुझे परम प्रिय है ॥ ५२-५३ ॥

तदनन्तर उन पद्मसम्भव ब्रह्माजीने पूछा—'भगवन्! एक ही देव—आप परमेश्वर चार देवताओं (चतुर्व्यूहों) के रूपमें कैसे हो गये? और इसी प्रकार जो एक अक्षरके रूपमें विख्यात ॐकार है, वह अनेक अक्षर—अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा आदिके रूपमें कैसे हो गया?'

यह प्रश्न सुनकर भगवान् नारायणने उन प्रसिद्ध ब्रह्माजीसे कहा—

सृष्टिके पूर्व एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान था। सर्गकालमें उस ब्रह्मसे अव्यक्त (अव्याकृत मूल प्रकृति) का प्रादुर्भाव हुआ। (अक्षर—अविनाशी ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण) अव्यक्त (प्रकृति) भी अक्षर (ब्रह्म) ही है। उस अक्षर अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व प्रकट हुआ। महत्तत्त्वसे (सात्त्विक, राजस और तामस भेदवाला त्रिविध) अहंकार उत्पन्न हुआ। उस (तामस) अहंकारसे शब्द आदि पाँच तन्मात्राएँ प्रकट हुईं और उनसे क्रमशः आकाश आदि पाँच महाभूतोंकी सृष्टि हुई। (इसी प्रकार राजस अहंकारसे इन्द्रियों तथा सात्त्विक अहंकारसे उनके अधिष्ठाता देवोंकी उत्पत्ति हुई।) इस प्रकार शरीर-इन्द्रिय आदिके रूपमें स्थित उन महत्तत्त्व आदिसे तथा भूतोंसे वह अक्षर परमात्मा आवृत है। (इन प्राकृत आवरणोंसे छिपे हुए अक्षर परमात्माको प्रायः संसारी मनुष्य देख नहीं पाते। वास्तवमें वह अक्षर परमात्मा सब-

भगवान् श्रीगोविन्द



नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे ।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
(गो० पू० ५।७)

सच्चिदानन्द नारायण



श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं कौस्तुभ प्रभया युतम् । चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वितम् ॥
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठं मालासुशोभितम् । द्युमत्किरीटं वलयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम् । (गो० उ० ६१–६३)

का अन्तर्यामी आत्मा है; अतः उसको अपनेसे अभिन्न मानकर ऐसी भावना करनी चाहिये कि) 'मैं अक्षर हूँ—मैं साक्षात् अविनाशी परमात्मा हूँ; उन परमात्माका वाचक जो प्रणव (ॐ) अक्षर है, वह भी मैं हूँ । इसी प्रकार मैं अमर हूँ, निर्भय हूँ और अमृत हूँ । वह जो भयशून्य ब्रह्म है, निःसंदेह वह मैं हूँ । मैं मुक्त हूँ और अक्षर भी मैं हूँ ।' (तात्पर्य यह कि जैसे एक ही ब्रह्म महत्तत्त्वादि रूपोंमें प्रकट और अनन्त नाम-रूपवाले जगत्के आकारमें प्रादुर्भूत हो गया, उसी प्रकार एक ही तत्त्व चतुर्व्यूहरूपमें प्रकट हुआ है और एक ही अक्षरसे अनेक अक्षरोंका भी आविर्भाव हुआ है ।) नित्य सत्ता जिसका स्वरूप है, सम्पूर्ण विश्व जिसका ही आकार है तथा जो प्रकाशस्वरूप एवं सर्वत्र व्यापक है, वह एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी लीलासे चार व्यूहोंके रूपोंमें प्रकाशित हो रहा है ॥ ५४ ॥

रोहिणीनन्दन बलरामजी प्रणवके 'अ' अक्षरके द्वारा प्रतिपादित होते हैं । ये जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी होनेके कारण 'विश्व' कहे गये हैं । स्वप्नावस्थाके अभिमानी प्रद्युम्नजी 'तैजस' कहलाते हैं । प्रणवके 'उ' अक्षरसे इनका ही बोध होता है । अनिरुद्धजी सुषुप्तिके अभिमानी 'प्राज्ञ' कहे गये हैं । प्रणवके 'म्' अक्षरसे इनका ही प्रतिपादन होता है । जहाँ यह सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है, वे श्रीकृष्ण तुरीय तत्त्व हैं । इन्हें अर्धमात्रात्मक नादरूप या प्रणवका सम्पूर्ण स्वरूप बताया गया है । पूर्वोक्त विश्व, तैजस आदि इन्हींमें अन्तर्हित हैं ॥ ५५-५६ ॥

समस्त जगत्की रचना करनेवाली मूलप्रकृतिरूपा देवी रुक्मिणी श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा शक्ति हैं, अतएव श्रीकृष्णस्वरूपा हैं । गोपियोंके रूपमें प्रकट होनेवाली जो श्रुतियाँ हैं, उनकी अपेक्षा प्रणवके साथ ब्रह्मका अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है; श्रुतियाँ और श्रुतिरूपा गोपियाँ दूरसे श्रीकृष्णका आराधन करती हैं, और प्रणव एवं रुक्मिणी आदि शक्तियाँ ब्रह्मके साथ अभिन्नता रखती हैं । अतः ब्रह्मका साक्षात् वाचक प्रणव जिस प्रकार ब्रह्मकी प्रकृति है, उसी प्रकार रुक्मिणीको भी ब्रह्मसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेके कारण ब्रह्मवादीजन प्रकृति ही बताते हैं । इसलिये सम्पूर्ण विश्वके आधारभूत भगवान् गोपाल ही ॐकाररूपमें प्रतिष्ठित हैं । ब्रह्मवादीजन 'क्लीम्' तथा ॐकारका एक ही अर्थमें पाठ करते हैं । (अतः कृष्णके बीजभूत 'क्लीम्' तथा 'ॐ'में अर्थतः कोई अन्तर नहीं है ।) विशेषतः मथुरापुरीमें जो चतुर्भुजरूपमें मेरा ध्यान करता है, वह मोक्ष-सुखका अनुभव करता है ॥ ५७–५९ ॥

ध्यानका स्वरूप यों है—भक्तका अष्टदल हृदय-कमल प्रसन्नतासे विकसित है, उसमें भगवान् विराज रहे हैं । उनके दोनों चरण शङ्ख, ध्वजा और छत्रादिके चिह्नोंसे सुशोभित हैं । हृदयमें श्रीवत्स-चिह्न शोभा पा रहा है । वहीं कौस्तुभमणि अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशित हो रही है । भगवान्के चार हाथ हैं । उनमें शङ्ख, चक्र, शार्ङ्गधनुष, पद्म और गदा—ये सुशोभित हैं । बाँहोंमें भुजबंद शोभा दे रहा है । कण्ठमें धारण की हुई वनमाला भगवान्की स्वाभाविक शोभाको और भी बढ़ा रही है । मस्तकपर किरीट चमचमा रहा है और कलाइयोंमें चमकीले कङ्कण शोभा पा रहे हैं । दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं । सुवर्णमय पीताम्बरसे सुशोभित श्यामसुन्दर श्रीविग्रह है । भगवान् इस मुद्रासे स्थित हैं, मानो अपने भक्तजनोंको अभय प्रदान कर रहे हैं । इस प्रकार प्रतिदिन मेरे चतुर्भुजरूपका मन-ही मन चिन्तन करे । अथवा मुरली तथा सींग धारण करनेवाले मेरे द्विभुज रूप (श्रीकृष्ण-विग्रह) का ध्यान करे* ॥ ६०–६३ ॥

जिस ब्रह्मज्ञानसे सम्पूर्ण जगत् मथ डाला जाता है, उसके सार (विषय) परब्रह्म —लीला-पुरुषोत्तम जिस पुरीमें विराजमान रहते हों, उसे मथुरा कहते हैं । वहाँ आठ दिक्पालरूपी दलोंसे विभूषित मेरा यह भूमिरूपी कमल जगत्के रूपमें प्रकाशित हो रहा है । यह कमल संसार-समुद्रसे ही प्रकट हुआ है तथा जिनका अन्तःकरण राग-द्वेष आदिसे शून्य—पूर्णतः सम है, वे ही हंस या भ्रमररूपसे उस कमलका सेवन करते हैं । चन्द्रमा और सूर्यकी दिव्य किरणें पताकाएँ हैं और सुवर्णमय पर्वत मेरु मेरा ध्वज है । ब्रह्मलोक मेरा छत्र और नीचे-ऊपरके क्रमसे स्थित सात पाताल-लोक मेरे चरण हैं । लक्ष्मीका निवासभूत जो श्रीवत्स है, वह मेरा स्वरूप ही है । वह

* श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं कौस्तुभं प्रभया युतम् ।
चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वितम् ॥
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठं मालासुशोभितम् ।
द्युमत्किरीटं वलयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम् ।
ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा ॥

लाञ्छन अर्थात् चन्द्राकृति रोम-पङ्क्तिके चिह्नसे युक्त है; इसलिये ब्रह्मवादीजन उसे श्रीवत्स-लाञ्छन कहते हैं। भगवत्स्वरूपभूत जिस तेजसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वाक् आदि तेज भी प्रकाश प्राप्त करते हैं, उस चिन्मय आलोकको परमेश्वरके भक्तजन कौस्तुभमणि कहते हैं। सत्त्व, रज, तम और अहंकार—ये ही मेरी चार भुजाएँ हैं। मेरे रजोगुणमय हाथमें पञ्चभूतात्मक पाञ्चजन्य नामक शङ्ख स्थित है। अत्यन्त चञ्चल समष्टि-मन ही मेरे हाथमें चक्र कहलाता है, आदिमाया ही शार्ङ्ग नामक धनुष है तथा सम्पूर्ण विश्व ही कमलरूपसे मेरे हाथमें विराजमान है। आदि-विद्याको ही गदा समझना चाहिये, जो सदा मेरे हाथमें स्थित रहती है। कभी प्रतिहत न होनेवाले धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार दिव्य केयूरों (भुजबंदों) से मेरी चारों भुजाएँ विभूषित हैं। ब्रह्मन्! मेरा कण्ठ निर्गुण तत्त्व कहा गया है; वह अजन्मा मायाद्वारा मालित (आवृत) होता है, इसलिये तुम्हारे मानस-पुत्र सनकादि मुनि उस अविद्याको मेरी माला बताते हैं। मेरा जो कूटस्थ 'सत्' स्वरूप है, उस रूपमें मुझको ही किरीट कहते हैं। क्षर (सम्पूर्ण विनाशी शरीर) और उत्तम (जीव)—ये दोनों मेरे कानोंमें झलमलाते हुए युगल कुण्डल माने गये हैं।

इस प्रकार जो नित्य मनमें मेरा ध्यान करता है, वह मोक्षको प्राप्त होता है। वह मुक्त हो जाता है, निश्चय ही उसे मैं अपने-आपको दे डालता हूँ। ब्रह्मन्! मैंने तुमसे अपने सगुण और निर्गुण—द्विविध स्वरूपके विषयमें जो कुछ बताया है, यह सब सत्य है और भविष्यमें होनेवाला है॥ ६४—७५॥

तब कमलयोनि ब्रह्माजीने पूछा—'भगवन्! आपके द्वारा बतायी हुई जो आपकी व्यक्त मूर्तियाँ हैं, उनका अवधारण (निश्चय) कैसे हो सकता है? कैसे देवता उनका पूजन करते हैं? कैसे रुद्र पूजन करते हैं, कैसे यह ब्रह्मा पूजन कर सकता है? कैसे विनायकगण पूजन करते हैं? कैसे बारह सूर्य पूजन करते हैं? कैसे वसुगण पूजन करते हैं? कैसे अप्सराएँ पूजन करती हैं? कैसे गन्धर्व पूजन करते हैं? जो अपने पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर अदृश्यरूपसे स्थित है, वह कौन है और उसकी पूजा कैसे होती है? तथा मनुष्यगण किसकी और किस प्रकार पूजा करते हैं?'॥ ७६॥

तब वे प्रसिद्ध भगवान् नारायण ब्रह्माजीसे बोले—मेरी बारह अव्यक्त मूर्तियाँ हैं, जो सबकी आदिभूता हैं। वे सब लोकोंमें, सब देवोंमें तथा सब मनुष्योंमें स्थित हैं॥ ७७॥

वे अव्यक्त मूर्तियाँ इस प्रकार हैं—रुद्रगणोंमें रौद्री मूर्ति, ब्रह्मामें ब्राह्मी मूर्ति, देवताओंमें दैवी मूर्ति, मानवोंमें मानवी मूर्ति, विनायकगणोंमें विघ्ननाशिनी मूर्ति, बारह सूर्योंमें ज्योतिर्मूर्ति, गन्धर्वोंमें गान्धर्वी मूर्ति, अप्सराओंमें गौ, वसुओंमें काम्या तथा अन्तर्धानमें अप्रकाशिनी मूर्ति है। इसके सिवा, जो आविर्भाव-तिरोभावरूपा केवला मूर्ति है, वह अपने पदमें (अपनी महिमा एवं परमधाममें) प्रतिष्ठित है। मानुषी मूर्ति सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीन प्रकारकी होती है। केवल सच्चिदानन्दैकरसरूप भक्तियोगमें ही विज्ञानघन और आनन्दघन मूर्ति प्रतिष्ठित है॥ ७८-७९॥

ॐ प्राणात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै प्राणात्मने नमो नमः॥ ८०॥

ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८१॥

ॐ अपानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै अपानात्मने वै नमो नमः॥ ८२॥

ॐ कृष्णाय प्रद्युम्नायानिरुद्धाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८३॥

ॐ व्यानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै व्यानात्मने वै नमो नमः॥ ८४॥

ॐ श्रीकृष्णाय रामाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८५॥

ॐ उदानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै उदानात्मने वै नमो नमः॥ ८६॥

ॐ कृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८७॥

ॐ समानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै समानात्मने वै नमो नमः॥ ८८॥

ॐ गोपालाय अनिरुद्धाय निजस्वरूपाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८९॥

ॐ योऽसौ प्रधानात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ९०॥

ॐ योऽसाविन्द्रियात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ९१॥

ॐ योऽसौ भूतात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९२ ॥

ॐ योऽसावुत्तमपुरुषो गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९३ ॥

ॐ योऽसौ परब्रह्म गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९४ ॥

ॐ योऽसौ सर्वभूतात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९५ ॥

ॐ योऽसौ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमतीत्य तुर्यातीतः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९६ ॥

ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप) प्राणात्माको नमस्कार है। ॐ तत्, सत्—इन तीनों नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले 'भूर्भुवः स्वः'—तीनों लोकरूप प्राणात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। ॐ सबका आकर्षण करनेवाले कृष्ण, गौओंके स्वामी गोविन्द एवं गोपीजनोंके प्राणवल्लभ उन श्यामसुन्दरको बारंबार नमस्कार है, जो 'ॐ, तत्, सत्' इन तीनों नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले हैं तथा 'भूर्भुवः स्वः' इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट हैं। 'ॐ, तत्, सत्' ये तीन जिनके नाम हैं तथा 'भूः, भुवः, स्वः'—ये तीनों जिनके रूप हैं, उन अपानवायुस्वरूप अपानात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले 'भूर्भुवः स्वः'स्वरूप उन श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको अवश्य बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, 'तत् सत्'—इन तीन नामोंवाले तथा 'भूः, भुवः और स्वः'—इन तीन रूपोंवाले उन व्यानवायुरूप व्यानात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप उन श्रीकृष्ण और बलरामको निश्चय ही अनेक बार नमस्कार हैं। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले, 'भूर्भुवः स्वः'स्वरूप उन उदानवायुके रूपमें प्रकट उदानात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन त्रिविध नामोंवाले तथा 'भूर्भुवः स्वः'—इन त्रिविध रूपोंवाले उन सच्चिदानन्दमय देवकीनन्दन श्रीकृष्णको अवश्य ही बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले 'भूर्भुवः स्वः'स्वरूप उन समान-वायुरूप समानात्मा परमेश्वरको नमस्कार है, नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीन नामोंसे प्रसिद्ध और 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीन रूपोंवाले उन स्वस्वरूपभूत सच्चिदानन्दमय गोपाल, अनिरुद्धको निश्चय ही नमस्कार है, नमस्कार है। ॐ जो वे प्रधानात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामों-द्वारा प्रतिपादित होनेवाले तथा 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीनों लोकों-के रूपमें प्रकट हैं; उन्हें अवश्य ही नमस्कार है, नमस्कार है। ॐ वे जो इन्द्रियात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्' नामोंसे प्रसिद्ध हैं और वे ही भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप हैं; उन्हें निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो भूतात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्' नामोंसे प्रसिद्ध हैं और वे ही भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप हैं; उन्हें निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले और भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप हैं; उनके लिये निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो परब्रह्म गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—ये तीन नाम धारण करते हैं तथा वे ही 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट होते हैं; उनको निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो सर्वभूतात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—ये तीन नाम धारण करते हैं और वे ही 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट होते हैं; उनके लिये निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंको पार करके तुरीय पदसे भी अतीत भगवान् गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्' कहे जाते हैं और वे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गरूप हैं। उनको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है॥ ८०-९६ ॥

वे एकमात्र देवता भगवान् गोपाल ही सम्पूर्ण भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे छिपे हुए हैं। वे सर्वत्र व्यापक और सब प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। वे ही सम्पूर्ण कर्मोंके अध्यक्ष (फल-दाता स्वामी), समस्त भूतोंके निवासस्थान, सबके साक्षी, चैतन्यस्वरूप, केवल और निर्गुण हैं॥ ९७ ॥

(भगवान् गोपालकी विभूतिस्वरूप देवता भी वन्दनीय हैं—) रुद्रको नमस्कार है। आदित्यको नमस्कार है। विनायकको नमस्कार है। सूर्यको नमस्कार है। विद्या (सरस्वती)-को नमस्कार है। इन्द्रको नमस्कार है। अग्निको नमस्कार है। यमको नमस्कार है। निर्ऋतिको नमस्कार है।

वरुणको नमस्कार है। मरुत्को नमस्कार है। कुबेरको नमस्कार है। महादेवजीको नमस्कार है। ब्रह्माको नमस्कार है और सम्पूर्ण देवताओंको नमस्कार है ॥ ९८ ॥

दुर्वासाजी कहते हैं—इस प्रकार वे भगवान् नारायण अपने ही स्वरूपभूत ब्रह्माको यह परम पवित्र गोपालोत्तर-तापनीय स्तुति प्रदान करके तथा सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टिका सामर्थ्य देकर वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ९९ ॥

राधिके ! मैंने ब्रह्मासे, ब्रह्मपुत्र सनकादि मुनियोंसे तथा श्रीनारदजीसे भी जैसे सुना था, वैसे ही यहाँ वर्णन किया है। अब तुम अपने घरकी ओर जाओ ॥१००॥

॥ अथर्ववेदीय गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

परम पद

यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥

(बृहज्जाबाल० ८ । ६)

जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता, जहाँ तारे प्रकाशित नहीं होते, जहाँ अग्नि नहीं जलता, जहाँ मृत्यु प्रवेश नहीं करती, जहाँ दुःख प्रवेश नहीं करते, जो सदानन्द, परमानन्द, शान्त, शाश्वत, सदाशिव (नित्य कल्याणमय) और ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित है, वही योगियोंका ध्येय परमपद है, जिसको प्राप्त करके योगी लौटते नहीं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम उपनिषद्

नरसिंह-मन्त्रराजकी महिमा तथा उसके अङ्गोंका वर्णन

कहते हैं, पूर्वकालमें यह सब कुछ जल ही था । सर्वत्र सलिलराशि ही भरी हुई थी । उस जलमें वे प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी कमलपत्रपर प्रकट हुए । उनके मनमें यह कामना हुई कि मैं इस जगत्की रचना करूँ । लोकमें यह प्रसिद्ध है कि पुरुष मनसे जिसकी भावना करता है, उसीको वाणीद्वारा बोलता है और फिर उसीको क्रियाद्वारा सिद्ध करता है। इसी सम्बन्धमें एक ऋचा है, जिसका भाव इस प्रकार है—पूर्वकालमें सृष्टिके अवसरपर मनसे काम—सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा प्रकट हुई । सृष्टिके पूर्व जो जलमात्र विद्यमान था, वही सबका कारण है। अपने अन्तःकरणमें स्थित अन्तरात्मापर दृष्टि रखनेवाले ज्ञानीजन उस कामको सत्स्वरूप आत्माका बन्धन मानते हैं। उन्होंने अपनी बुद्धिसे यह निश्चित किया कि असत् (प्रकृति) के कार्यभूत मनमें ही कामका उदय होता है । जो इस बातको जानता है, वह जिस वस्तुकी कामना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

उन प्रसिद्ध प्रजापतिने तपस्या आरम्भ की। उन्होंने तपस्या करके इस नारसिंह-मन्त्रराजका, जो अनुष्टुप् छन्दमें आबद्ध है, साक्षात्कार किया। निश्चय ही उस मन्त्रराजके प्रभावसे, उन्होंने जो कुछ यह प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहा है, उस सम्पूर्ण जगत्की रचना की। इसलिये यह जो कुछ भी जगत्रूपसे दृष्टिगोचर हो रहा है, इसे मन्त्रराज-आनुष्टुभमय ही कहते हैं । इस अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर वे अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जीवित रहते हैं और मृत्युके समय इस लोकसे प्रयाण करनेपर वे अनुष्टुप्-मन्त्रमें ही सब ओरसे प्रवेश कर जाते हैं। मन्त्रराजकी यह अनुष्टुप्-वृत्ति समस्त सृष्टिकी आदिभूता एवं प्रधान कारण है। निश्चय ही वाणीमात्र अनुष्टुप् है; क्योंकि वाणीसे ही प्राणी मृत्युको प्राप्त होते हैं और वाणीसे ही उत्पन्न होते हैं। यह जो अनुष्टुप् छन्द है, वह निश्चय ही सब छन्दोंमें श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

समुद्र, पर्वत और सातों द्वीपोंसहित जो यह पृथ्वी है, इसे मन्त्रराजरूप सामका प्रथम चरण जाने। यक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराओंसे सेवित जो अन्तरिक्ष लोक है, उसे सामका द्वितीय चरण जाने। वसु, रुद्र और आदित्य आदि सम्पूर्ण देवताओंसे सेवित जो द्युलोक है, उसे सामका तृतीय चरण जाने। तथा जो निरञ्जन—मायारूप मलसे रहित, विशुद्ध परम व्योममय ब्रह्मस्वरूप है, उसे सामका चतुर्थ चरण जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये अङ्गों और शाखाओंसहित चार वेद उपर्युक्त मन्त्रराजके चार पाद हैं। उस मन्त्रराजका ध्यान क्या है ? देवता कौन-सा है ? कौन-कौन-से अङ्ग हैं ? कौन-सा

देवताओंका गण है? कौन-सा छन्द है और कौन-सा ऋषि है? ॥ २ ॥

वे प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी बोले—निश्चय ही वह पुरुष जो श्रीबीज (श्रीं) से अभिषिक्त गायत्री-मन्त्रके आठ अक्षरवाले चरणको इस मन्त्रराजरूप सामका अङ्ग जानता है, वह श्री (शोभा एवं सम्पत्ति) से सुशोभित होता है। सम्पूर्ण वेद प्रणवादि हैं, उनके आदिमें प्रणव—ॐकारका ही उच्चारण किया जाता है। उस प्रणवको जो इस सामका अङ्ग समझता है, वह तीनों लोकोंपर विजय पा लेता है। चौवीस अक्षरोंवाला महालक्ष्मी-मन्त्र यजुःस्वरूप है; उसे जो सामका अङ्ग जानता है, वह आयु, यश, कीर्ति, ज्ञान और ऐश्वर्यसे सम्पन्न होता है। इसलिये अङ्गोंसहित इस सामको जाने। जो अङ्गोंसहित सामको जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव तथा यजुः-स्वरूप महालक्ष्मी-मन्त्रका उपदेश ज्ञानीजन स्त्री और शूद्रोंको नहीं देना चाहते। बत्तीस अक्षरोंवाले सामको जाने; जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव और यजुर्वेदमय महालक्ष्मी-मन्त्रको यदि स्त्री और शूद्र जान लें तो वे मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होते हैं—नरक और नीची योनियोंमें गिरते हैं। इसलिये सदा ही सावधान रहकर उनको इन मन्त्रोंका उपदेश न दे। यदि कोई उन्हें उपदेश देता है, तो वह आचार्य भी उन्हींके साथ मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है—नरकादिमें पड़ता है ॥ ३ ॥

प्रजापतिने फिर कहा—निश्चय ही अग्नि, सारे वेद, यह सम्पूर्ण जगत्, समस्त प्राणी, प्राण, इन्द्रिय, पशु, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् और विराट्—इन सबको इस मन्त्रराजरूप सामका प्रथम चरण जाने। ये ऋक्, यजुः, साम और अथर्वरूप सूर्य तथा सूर्यमण्डलके भीतर स्थित रहनेवाले हिरण्मय पुरुष—इनको सामका द्वितीय पाद जाने। जो समस्त ओषधियों (अन्नों और फलों) के स्वामी तारापति चन्द्रमा हैं, उनको सामका तृतीय चरण जाने। वे ब्रह्मा, वे शिव, वे विष्णु, वे इन्द्र, वे अग्नि, वे अविनाशी परमात्मा स्वराट्—इन सबको उस सामका चतुर्थ चरण समझे। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

'उग्रम्' यह पद मन्त्रराज अनुष्टुप्के प्रथम चरणका आदि अंश है। **'ज्वलं'** यह उसके द्वितीय चरणका आदि अंश है। **'नृसिं'** यह अंश तृतीय चरणका आदि भाग है तथा **'मृत्यु'** पद चतुर्थ चरणका आदि भाग है। इन सबको सामस्वरूप समझे। जो यों समझता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। इसलिये इस सामको जहाँ-कहीं—सबको न बताये। यदि यह मन्त्र किसीको देनेकी इच्छा हो तो सेवापरायण एवं सुननेके लिये उत्सुक पुत्रको दे; अथवा दूसरे किसी शिष्यको भी दिया जा सकता है ॥ ४ ॥

वे सुप्रसिद्ध प्रजापति फिर बोले—भगवान्का जो क्षीरसागरमें शयन करनेवाला नृसिंह-विग्रह है, वह योगियोंके लिये भी ध्यान करनेयोग्य परमपद है। उसे सामस्वरूप समझे। यों समझनेवाला अमृतत्वको प्राप्त होता है। **'वीरं'** इस पदको मन्त्रराज अनुष्टुप्के प्रथम चरणके पूर्वार्धका अन्तिम अंश जाने। **'तं स'** इस अंशको द्वितीय चरणके पूर्वार्धका अन्तिम भाग समझे। **'हं भी'** इस अंशको तृतीय चरणके पूर्वार्धका अन्तिम भाग माने और **'मृत्युम्'**पदको चतुर्थ चरणके पूर्वार्धका अन्तिम भाग समझे तथा इन सबको साम जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। इसलिये इस सामको जो जिस किसी भी आचार्यके मुखसे इस प्रकार जानता है, वह उसी शरीरमें रहते हुए संसारसे मुक्त हो जाता है, दूसरोंको भी मुक्त करता है तथा यदि वह संसारमें आसक्त रहा हो तो इस सामके ज्ञानसे मुमुक्षु बन जाता है। इस मन्त्ररूप सामका जप करनेसे वह उसी शरीरसे आराध्य देवता (भगवान् नृसिंह) का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है। अतः कलियुगमें यही मोक्षका द्वार है। दूसरोंको मोक्षकी प्राप्ति सहजमें नहीं होती। इसलिये इस सामको अङ्गोंसहित जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भगवान् नृसिंहको ऋत और सत्य समझे। वे सर्वव्यापी परमात्मा एवं अन्तर्यामी पुरुष हैं। वे मनुष्य और सिंहकी सम्मिलित आकृति धारण करनेसे कृष्ण और पिङ्गल वर्णके दिखायी देते हैं। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) हैं। उनके नेत्र बड़े विकराल एवं भयङ्कर हैं। तथापि वे शङ्कर हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं। कण्ठप्रदेशमें नील एवं उसके ऊर्ध्वभागमें तेजोमय लोहित वर्ण होनेसे वे ही 'नीललोहित' नाम धारण करते हैं। ये सर्वदेवमय भगवान् नृसिंह ही दूसरे रूपमें गिरिराजकन्या उमाके स्वामी, पशुपति, पिनाकधारी एवं अपार तेजस्वी महेश्वर हैं। ये ही सम्पूर्ण विद्याओंके अधीश्वर और समस्त भूतोंके अधिपति हैं। जो ब्रह्म (वेद) के अधिपति हैं, ब्रह्माजीके भी स्वामी हैं तथा जो यजुर्वेदके वाच्यार्थ हैं, उन भगवान् नृसिंहको साम जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। **'महा'** शब्द मन्त्रराज

अनुष्टुप्के प्रथम चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है । 'वंतो' शब्द द्वितीय चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है । 'षणं' शब्द तृतीय चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है तथा 'नमा' शब्द चतुर्थ चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है । इन सबको साम जाने । जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है । अतः यह साम सच्चिदानन्दमय परब्रह्मस्वरूप है । उसे इस रूपमें जाननेवाला यहाँ—इसी जीवनमें अमृतस्वरूप हो जाता है । इसलिये इस सामको अङ्गोंसहित जाने । जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विश्वस्रष्टा प्रजापतिगणोंने इस साममय मन्त्रके प्रभावसे ही सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि की है । उन्होंने विश्वकी रचना की है, इसीलिये वे विश्वस्रष्टा हैं । यह विश्व इन्हींसे उत्पन्न होता है, इस रहस्यको जाननेवाले उपासक ब्रह्माजीके लोकको तथा उनके सायुज्यको प्राप्त होते हैं—उन्हींमें लीन हो जाते हैं, इसलिये अङ्गोंसहित इस सामको जाने । जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ।

'विष्णुं' पद पूर्वोक्त आनुष्टुभ नारसिंह मन्त्रराजके प्रथम चरणका अन्तिम पद है । 'मुखम्' द्वितीय पादका अन्तिम पद है । 'भद्रं' तृतीय चरणका अन्तिम पद है । 'म्यहम्' चतुर्थ पादका अन्तिम पद है । यह सब साम है—इस प्रकार जाने । जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ।

वे जो प्रसिद्ध प्रजापति हैं, उन्होंने ही यह सब कुछ (जो पहले बतायी हुई उपासना आदिका तत्त्व है) जाना । सबके 'आत्मा' रूप ब्रह्ममें ही जिसकी स्थिति है, ऐसे इस आनुष्टुभ मन्त्रको जाने । जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ।

उपासना करनेवाले स्त्री-पुरुषोंमें जो भी निश्चितरूपसे यहाँ उत्कृष्ट स्थितिमें रहनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें भगवान् नृसिंह सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रदान करते हैं । वह जहाँ-कहीं भी प्राण-त्याग करता है, अन्तकालमें भगवान् नृसिंह वहीं उसे परब्रह्ममय तारक-मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे वह अमृत-स्वरूप होकर अमृतत्व (मोक्ष)को प्राप्त होता है । इसलिये सामनध्यवर्ती तारकमन्त्र (एवं सामोपासनाके अङ्गभूत प्रणव)-का जप करना चाहिये । अतः (मन्त्रद्रष्टा ऋषि होनेके कारण) सामके अङ्गभूत प्रजापति ही यह तारक-मन्त्र हैं । इसलिये साम-के अङ्गभूत प्रजापति ही यह तारक-मन्त्र हैं—इस प्रकार जो जानता है, वही यथार्थ उपासक है । यह महोपनिषद् है (जिसके द्वारा महान् परमेश्वरके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो, उसीका नाम महोपनिषद् है) । जो इस महोपनिषद्को जानता है—इसमें बताये अनुसार उपासना करता है, वह मानो सारा पुरश्चरण पूरा करके महाविष्णुरूप हो जाता है, महाविष्णु-रूप हो जाता है ॥ ७ ॥

द्वितीय उपनिषद्

मन्त्रराजकी शरण लेनेका फल; उसके अङ्गोंका विशद वर्णन; न्यासकी विधि तथा मन्त्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या

कहते हैं, एक बार सब देवताओंको मृत्यु, पाप और संसारसे बड़ा भय हुआ । वे भागकर प्रजापति ब्रह्माजीकी शरणमें गये । प्रजापतिने उनको भगवान् नृसिंहके इस मन्त्र-राज आनुष्टुभका उपदेश दिया । इस मन्त्रके प्रभावसे उन सब देवताओंने मृत्युको जीत लिया । वे सब पापसे तर गये तथा इस संसारसे भी पार हो गये । इसलिये जो मृत्यु, पाप तथा संसारसे भी डरता हो, उसे भगवान् नृसिंहके इस मन्त्र-राज आनुष्टुभकी शरण लेनी चाहिये । जो इसकी शरण लेता है, वह मृत्युको पार कर जाता है । वह पापसे तर जाता है तथा वह संसारसे भी पार हो जाता है ।[1]

पूर्वोक्त सुप्रसिद्ध मन्त्रराजका अङ्गभूत जो प्रणव है, उस प्रणवकी पहली मात्रा अकार है; उसका पृथ्वी लोक है, ऋचाओंसे उपलक्षित ऋग्वेद ही वेद है, ब्रह्मा देवता हैं, वसु-नामक देवताओंका गण है, गायत्री छन्द है तथा गार्हपत्य अग्नि है । यह सब प्रणवकी पहली मात्राके अन्तर्गत है और वह पहली मात्रा ही मन्त्ररूप सामका प्रथम पाद है । उक्त प्रणवकी दूसरी मात्रा उकार है; इसीके अन्तर्गत अन्तरिक्ष लोक, यजुर्मन्त्रों-से उपलक्षित यजुर्वेद, विष्णु देवता, रुद्र नामक देवताओंका गण, त्रिष्टुप् छन्द और दक्षिणनामक अग्नि है । यह दूसरी मात्रा ही साम अर्थात् मन्त्रका द्वितीय पाद है । तीसरी मात्रा मकार है; इसीके अन्तर्गत द्युलोकनामक लोक, सामोपलक्षित सामवेद वेद, रुद्र देवता, आदित्यनामक देवताओंका गण, जगती छन्द तथा

१. मन्त्रराज यह है—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् ।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ॥

आहवनीय अग्नि है। वह तीसरी मात्रा ही इस सामका तीसरा चरण है। प्रणवके उच्चारणकी समाप्ति होनेपर उसकी चौथी मात्राके रूपमें जो नादात्मक अर्धमात्रा सुनायी देती है, उसीके अन्तर्गत सोमलोक नामक लोक, ॐकार वाच्य परब्रह्म देवता, अथर्व-मन्त्रोंसहित अथर्ववेद ही वेद, संवर्तकनामक अग्नि, मरुत्‌नामक देवताओंका गण तथा विराट छन्द है। इस चतुर्थ मात्राविशिष्ट ॐकारके एक ही ऋषि हैं—ब्रह्माजी। यह चौथी मात्रा तुरीयां ब्रह्म-स्वरूपा होनेके कारण परम प्रकाशमयी है। यही सामका चतुर्थ पाद है* ॥ १ ॥

अनुष्टुप्-मन्त्रका प्रथम चरण आठ अक्षरोंका है। शेष तीन चरण भी आठ-आठ अक्षरोंके ही हैं। इस प्रकार कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। निश्चय ही अनुष्टुप्-वृत्ति बत्तीस अक्षरोंकी होती है। अनुष्टुप्‌से ही इस सम्पूर्ण विश्वकी रचना हुई है। अनुष्टुप्‌के द्वारा ही सबका उपसंहार होता है। उस अनुष्टुप्-मन्त्रके पाँच अङ्ग हैं। इसके चार चरण ही चार अङ्ग हैं तथा प्रणवको साथ लेकर सम्पूर्ण मन्त्र पाँचवाँ अङ्ग होता है। **हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, अस्त्राय फट्**—इनमें शरीरके पाँच अङ्गोंका उल्लेख है। ऊपर अनुष्टुप-मन्त्रके भी पाँच अङ्ग बताये गये हैं, अतः मन्त्रके प्रथम अङ्गका हृदय-रूप प्रथम अङ्गसे संयोग कराना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे अङ्गका दूसरे मस्तकरूप अङ्गसे, तीसरे अङ्गका तीसरे शिखारूप अङ्गसे, चतुर्थ अङ्गका चौथे उभय बाहुमूलरूप अङ्गसे और पञ्चम अङ्गका पाँचवें मस्तकरूप अङ्गसे सम्बन्ध होता है।† निश्चय ही ये सम्पूर्ण लोक एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं, इसलिये उक्त अङ्ग भी परस्पर सम्बद्ध होते हैं। ॐ यह अक्षर ही यह सम्पूर्ण जगत् है। इसलिये अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके दोनों ओर—पहले और पीछे ॐकारका सम्पुट लगाना चाहिये। ब्रह्मवादी महात्मा उक्त मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके न्यासका उपदेश करते हैं* ॥ २ ॥

निश्चय ही **'उग्रम्'** इस पदको उस प्रसिद्ध अनुष्टुप्-मन्त्रका प्रथम स्थान जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। **'वीरम्'** यह पद द्वितीय स्थान है। **'महाविष्णुम्'** पद तृतीय स्थान है। **'ज्वलन्तम्'** पद चतुर्थ स्थान है। **'सर्वतोमुखम्'** पद पञ्चम स्थान है। **'नृसिंहम्'** पद छठा स्थान है। **'भीषणम्'** पद सातवाँ स्थान है। **'भद्रम्'** पद आठवाँ स्थान है। **'मृत्युमृत्युम्'** पद नवाँ स्थान है। **'नमामि'** पद दसवाँ स्थान है। **'अहम्'** पद ग्यारहवाँ स्थान है। इस प्रकार जानना चाहिये। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। निश्चय ही यह अनुष्टुपवृत्ति ग्यारह पदोंकी है। इस अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वारा ही इस सम्पूर्ण विश्वकी रचना हुई है। तथा अनुष्टुप्‌के द्वारा ही सबका उपसंहार होता है। इसलिये सब कुछ अनुष्टुप्-मन्त्रका ही विस्तार है—यों जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कहते हैं, देवताओंने प्रजापतिसे पूछा—"भगवान् नृसिंहके लिये **'उग्रम्'** यह विशेषण क्यों दिया जाता है? उन्हें उग्र क्यों कहा जाता है?" तब वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—"क्योंकि भगवान् नृसिंह अपनी महिमासे सम्पूर्ण लोकों, समस्त देवों, सभी आत्माओं तथा सभी भूतोंको ऊपर उठाये रखते हैं, निरन्तर उनकी सृष्टि करते हैं, नाना

* इस प्रकरणका सारांश यह है कि प्रणवकी चार मात्राएँ हैं—अ उ म् और अर्धमात्रा। क्रमशः इनके चार लोक हैं—पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक और सोमलोक। चार ही वेद हैं—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व। चार ही देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा ॐकारवाच्य परब्रह्म। चार ही छन्द हैं—गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती तथा विराट्। चार ही अग्नियाँ हैं—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय और संवर्तक। ये सब मिलकर प्रणवरूप हैं; इस विश्वरूप प्रणवमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित उपास्यदेव भगवान् नृसिंहकी उपासना करनी चाहिये।

† यहाँ अङ्गन्यासका विधान किया गया है। इसके अनुसार न्यासका क्रम इस प्रकार होगा—'ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुम्' हृदयाय नमः—यों कहकर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे। फिर 'ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्' शिरसे स्वाहा—यों कहकर उक्त अङ्गुलियोंसे ही मस्तकका स्पर्श करे। तत्पश्चात् 'नृसिंहं भीषणं भद्रं' शिखायै वषट्—इसका उच्चारण करके पूर्ववत् शिखाका स्पर्श करे। तदनन्तर 'मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्' कवचाय हुम्—इसका उच्चारण करके दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे बायें कंधेका और बायें हाथकी अङ्गुलियोंसे दायें कंधेका एक साथ ही स्पर्श करे। फिर प्रणवसहित पूरे मन्त्रके साथ 'अस्त्राय फट्' कहकर दाहिने हाथको मस्तकके ऊपर बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये।

* अनुष्टुप्-मन्त्रमें कुल बत्तीस अक्षर हैं; उनमेंसे प्रत्येक अक्षरको प्रणवसे सम्पुटित करके शिखासे लेकर पैरतकके बत्तीस अङ्गोंमें क्रमशः न्यास करना चाहिये। यथा—'ॐ उ ॐ नमः शिखायाम्', 'ॐ ग्रं ॐ नमः दक्षिणनेत्रे' इत्यादि।

प्रकारसे उनकी सृष्टिका विस्तार तथा संहार करते हैं, उन सबको अपने ही भीतर बसाते—लीन कर लेते हैं, दूसरोंसे इस जगत्पर उद्ग्रह (अनुग्रह) करवाते हैं तथा स्वयं भी इसपर अनुग्रह करते हैं, इसलिये 'उग्र' कहलाते हैं। इस विषयमें ऋग्वेदका मन्त्र भी है, जिसका भाव इस प्रकार है—'श्रुतियाँ जिनकी स्तुतिमें संलग्न हैं, उन उपास्यदेव परमात्माका स्तवन करो। वे गर्तमें—हृदयरूपी गुफामें स्थित हैं (अथवा व्यूहरूप महाचक्र ही यहाँ गर्त है, उसमें स्थित हैं)। नवतारुण्यसे सुशोभित हैं। मृग अर्थात् सिंहके रूपमें प्रकट होकर भी भक्तजनोंके लिये भयङ्कर नहीं हैं। सदा सबपर अनुग्रह करनेके लिये सर्वत्र सबके निकट पहुँचनेवाले हैं तथा उग्र हैं—साधु पुरुषोंपर अनुग्रह और दुष्टजनोंका निग्रह करनेवाले हैं। हे नृसिंहदेव ! आपकी स्तुति की जाती है; इससे संतुष्ट होकर आप स्तवन करनेवाले मुझ भक्तको सुखी बनाइये। आपकी भयङ्कर सेना हमें छोड़कर अन्यत्र आक्रमण करे।' अर्थात् दुष्टोंका संहार और भक्तोंकी रक्षा करे। इस मन्त्रमें भगवान् नृसिंहका 'उग्र' के नामसे स्तवन किया गया है; इसलिये वे 'उग्र' कहे जाते हैं।"

देवताओंने पूछा—"प्रजापते! अब यह बताइये, भगवान्के लिये **'वीरम्'** यह विशेषण क्यों दिया जाता है—वे 'वीर' क्यों कहे जाते हैं ?" इसपर प्रजापति उत्तर देते हैं—"क्योंकि अपनी महिमासे वे सब लोकों, सब देवों, सब आत्माओं और सम्पूर्ण भूतोंके साथ विविध प्रकारसे क्रीड़ा करते, सबको विश्राम देते, निरन्तर सृष्टि और पालन करते, उपसंहार करते और अपने अंदर लीन करते हैं, अतः 'वीर' कहे जाते हैं। ऋग्वेदका वचन है—भगवान् शूरवीर हैं, कर्मठ हैं, भक्तोंपर अनुग्रह करनेमें पूर्णतः दक्ष हैं, सोमयागमें पत्थर हाथमें लिये रहनेवाले 'अध्वर्यु' आदिके रूपमें भगवान् नृसिंह ही हैं। ये ही देवकाम हैं—देवताओंको उत्पन्न करनेके अभिलाषी हैं।"

(प्रश्न) अब यह बतायें—भगवान् **'महाविष्णुम्'** क्यों कहे जाते हैं ? (उत्तर) वे अपनी ही महिमासे सब लोकोंको, सब देवताओंको, समस्त आत्माओंको तथा सब भूतोंको व्याप्त करके स्थित हैं। जैसे चिकनाई मांस-पिण्डमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार वे शरीरके अवयवोंमें सर्वत्र व्यापक हैं। उन्हींमें यह विश्व लीन होता है। उन्हींमें यह सर्वथा ओतप्रोत एवं सम्बद्ध है। वे इसमें निरन्तर व्याप्त रहते हैं। इससे निरन्तर सम्बन्ध रखकर ही वे व्याप्त और व्यापक होते हैं। ऋग्वेदमें कहा है—'जिनसे बढ़कर दूसरा कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ, जो सर्वव्यापी होनेके कारण सम्पूर्ण विश्वमें समानरूपसे आविष्ट (व्याप्त) हैं, जो प्रजाके पालक हैं और प्रजाके द्वारा जिनकी उपासना होती रहती है, वे भगवान् नृसिंह षोडशकला-विशिष्ट होकर त्रिविध ज्योतियोंमें व्याप्त रहते हैं।' इसीलिये वे 'महाविष्णु' कहलाते हैं।

(प्रश्न) अब यह बतायें—भगवान्‌के लिये **'ज्वलन्तम्'** इस विशेषणका प्रयोग क्यों किया जाता है ? (उत्तर) वे अपनी ही महिमासे सब लोकोंको, सब देवताओंको, सब आत्माओंको और सम्पूर्ण भूतोंको अपने तेजसे प्रकाशित करते तथा स्वयं भी प्रज्वलित एवं प्रकाशित होते हैं। सब लोक उन भगवान्‌के ही प्रकाशसे प्रकाशित होते और दूसरोंको भी प्रकाशित करते हैं। ऋग्वेदका वचन है—'वे ही सविता (प्रकाशक) और प्रसविता (उत्पादक) हैं। वे स्वयं दीप्तिमान् हैं। दूसरोंको उद्दीप्त करते और स्वयं भी उद्दीप्त होते हैं। स्वयं प्रज्वलित होते हुए दूसरोंको प्रज्वलित करते हैं। तपते हुए तपाते हैं तथा संताप देते हैं। स्वयं कान्तिमान् होकर दूसरोंको भी कान्तिमान् बनाते हैं। स्वयं शोभायमान होकर दूसरोंको भी सुशोभित करते हैं तथा परम कल्याणस्वरूप हैं।' इसीलिये उनके लिये 'ज्वलन्तम्' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

(प्रश्न) अब यह बतायें—भगवान्‌को **'सर्वतोमुखम्'** क्यों कहा जाता है ? (उत्तर) वे अपनी ही महिमासे सब लोकों, सब देवताओं, सब आत्माओं और सम्पूर्ण भूतोंको, स्वयं इन्द्रियरहित होते हुए भी, सब ओरसे देखते हैं, सब ओरसे सुनते हैं, सब ओरसे जाते हैं, सब ओरसे ग्रहण करते हैं। सर्वत्रगामी होते हुए सब स्थानोंमें विद्यमान रहते हैं। ऋग्वेदमें कहा है—'जो सबसे पहले अकेले था, जो स्वयं इस जगत्‌के रूपमें प्रकट हो गये, जिनसे इस विश्वकी उत्पत्ति हुई है, जो सम्पूर्ण भुवनके पालक हैं, प्रलयकालमें समस्त भुवन जिनमें विलीन होता है, उन सर्वतोमुख (सब ओर मुखोंवाले) भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ।' इस श्रुतिमें उनका 'सर्वतोमुख' नाम प्रयुक्त हुआ है, इसीलिये उन्हें 'सर्वतोमुख' कहते हैं।

(प्रश्न) अब यह बतानेकी कृपा करें कि भगवान्‌को **'नृसिंहम्'** क्यों कहा गया है ? (उत्तर) सम्पूर्ण प्राणियोंमें नर (मनुष्य) अधिक पराक्रमी तथा सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार सिंह भी सबसे अधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक

श्रेष्ठ है; इसलिये परमेश्वर नर और सिंह दोनोंका संयुक्त रूप धारण करके प्रकट हुए। निश्चय ही उनका यह स्वरूप जगत्‌का कल्याण करनेके लिये ही है। यह स्वरूप सनातन एवं अविनाशी है। ऋचा कहती है—'भगवान् विष्णु मृग अर्थात् सिंहरूपमें स्थित होकर उपासकोंद्वारा स्तुत होते हैं। विभिन्न उपासक स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं। स्तुतिका उद्देश्य है—नाना प्रकारकी शक्ति प्राप्त करना। भगवान् सिंहरूपमें प्रकट होकर भी भक्तजनोंके लिये भयङ्कर नहीं हैं। वे पृथिवीपर भी विचरते हैं और पर्वतपर भी स्थित होते हैं। अथवा वे कहाँ नहीं हैं—सभी रूपोंमें हैं, स्तुति करनेवालोंकी वाणीमें भी हैं। ये वे ही भगवान् हैं, जिनके तीन बड़े-बड़े डगोंमें सम्पूर्ण विश्व (तीनों लोक) समा जाते हैं। अथवा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीन रूपोंमें लीला करते हैं।' इन्हीं सब कारणोंसे इन्हें 'नृसिंह' कहते हैं।

(प्रश्न) अब यह बतावें कि भगवान्‌के लिये 'भीषणम्' विशेषणका प्रयोग क्यों किया जाता है? (उत्तर) इनके भीषण रूपको देखकर सब लोक, समस्त देवता और सम्पूर्ण भूत-प्राणी भयसे घबराकर भागने लगते हैं; किंतु ये स्वयं किसीसे भी भयभीत नहीं होते। इनके विषयमें ऋचा कहती है—'इनके भयसे ही वायु चलती है, इनके भयसे ही सूर्य ठीक समयसे उदित होता है; इन्द्र, अग्नि और पाँचवीं मृत्यु—ये सब भी इनके भयसे ही अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये दौड़ लगाते रहते हैं।' इसीलिये इनको 'भीषण' कहा जाता है।

(प्रश्न) अब यह बताना चाहिये कि भगवान्‌को 'भद्रम्' क्यों कहा गया है? (उत्तर) इसलिये कि भगवान् स्वयं भद्र (कल्याण)-स्वरूप होकर सदा सबको भद्र (कल्याण) प्रदान करते हैं। वे कान्तिमान् होकर दूसरोंको कान्तिमान् बनाते और स्वयं शोभासम्पन्न होकर दूसरोंको भी सुशोभित करते हैं तथा साक्षात् कल्याणमय हैं। ऋग्वेद भी कहता है—'देवताओ! यजन (भगवान्‌का आराधन) करते हुए हमलोग अपने कानोंसे भद्र (कल्याण) का श्रवण करें। नेत्रोंसे भद्र (कल्याण) का ही दर्शन करें। अपने सुदृढ़ अङ्गों तथा त्रिविध शरीरोंद्वारा भगवान्‌का स्तवन करते हुए हमलोग ऐसी आयुका उपभोग करें, जो हमारे उपास्य-देव भगवान्‌के काम आ सके।' इस श्रुतिमें भगवान्‌का नाम 'भद्र' आया है। इसलिये उनको 'भद्र' कहते हैं।

(प्रश्न) अब यह बताना चाहिये कि भगवान्‌के लिये 'मृत्युमृत्युम्' यह विशेषण क्यों प्रयुक्त हुआ है? (उत्तर) इसलिये कि वे स्मरण करते ही अपनी ही महिमाद्वारा अपने भक्तोंकी मृत्यु और अपमृत्यु—अकालमृत्युको भी मार डालते हैं। ऋचा भी कहती है—'जो आत्मा (अपना स्वरूप) और बल प्रदान करनेवाले हैं, सम्पूर्ण देवता जिनके अनुशासनका नतमस्तक होकर पालन करते हैं, जिनकी छाया—जिनका आश्रय अमृतरूप है, जो मृत्युके लिये भी मृत्युरूप हैं, ऐसे एक देवता—भगवान् नृसिंहकी हम हविष्यद्वारा—अपनी ही भेंट अर्पण करके उपासना करते हैं।' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्‌का नाम मृत्युमृत्यु भी है, इसीलिये उन्हें 'मृत्युमृत्यु' कहा जाता है।

(प्रश्न) अब यह बताना चाहिये कि मन्त्रराज आनुष्टुभमें 'नमामि' इस पदका प्रयोग क्यों किया जाता है? (उत्तर) इसलिये कि जिन्हें सम्पूर्ण देवता, मुमुक्षु तथा ब्रह्मवादी (मुक्त पुरुष) भी नमस्कार करते हैं, उन्हें नमस्कार करना उचित ही है। ऋचा भी कहती है—'वे ब्रह्मा और वेदोंका भी पालन करनेवाले हैं, उन्हींको लक्ष्य करके ब्रह्मा स्तुतिके उपयुक्त मन्त्रोंका पाठ करके भगवान्‌को नमस्कार करते हैं; उन्हींमें इन्द्र, वरुण, मित्र तथा अर्यमा आदि देवताओंने अपना आश्रय बनाया है। इसीलिये उनके प्रति 'नमामि' (नमस्कार करता हूँ) यों कहा जाता है।

(प्रश्न) अब यह बतानेकी कृपा करें कि उक्त मन्त्र-में 'अहम्' इस पदका प्रयोग क्यों किया जाता है? (उत्तर) इसलिये कि श्रुति कहती है—'मैं इस मूर्त और अमूर्त जगत्-से प्रथम उत्पन्न होनेवाला चेतन आत्मा हूँ। देवताओं-से भी पहले मेरी स्थिति है। मैं अमृतका केन्द्र हूँ। हे देव! जो मुझे धारण या स्वीकार करते हैं अथवा जो मुझे अपना आश्रय प्रदान करते हैं, उन्हीं आपने मेरा रक्षण भी किया है। मैं अन्न हूँ। मैं अन्नके भक्षण करनेवालेको भी खा जाता हूँ। मैं सम्पूर्ण विश्वको सूर्यकी ज्योतिकी भाँति अपने तेजसे तिरस्कृत कर सकता हूँ।' जो इस प्रकार जानता है, वही यथार्थ उपासक है। यह महोपनिषद् है।

तृतीय उपनिषद्

मन्त्रराज आनुष्टुभकी शक्ति तथा बीज

कहते हैं, देवताओंने जिज्ञासापूर्वक प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! भगवान् नरसिंहके मन्त्रराज आनुष्टुभकी शक्ति और बीज क्या हैं, यह हमें बताइये।'

तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—भगवान् नृसिंहकी शक्तिभूता जो यह माया है, निश्चय वही इस सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है, इस सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा करती है तथा इस सम्पूर्ण जगत्‌का संहार करती है। अतः इस मायाको ही शक्ति जाने। जो इस मायारूप शक्तिको जानता है, वह पापसे तर जाता है, वह मृत्युसे पार हो जाता है; वह संसारसे भी तर जाता है तथा वह अमृतत्वको भी प्राप्त कर लेता है। इस लोकमें वह महती समृद्धि प्राप्त करता है।

ब्रह्मवादी विचार करते हैं कि यह माया-शक्ति ह्रस्व है या दीर्घ है अथवा प्लुत है? यदि ह्रस्व है तो इसे इस रूपमें जाननेसे यह सम्पूर्ण पापोंको दग्ध कर देती है और उपासक अमृतत्वको प्राप्त होता है। यदि दीर्घ है तो इसे इस रूपमें जाननेसे साधक महान् ऐश्वर्यको प्राप्त होता है और अमृतत्वको भी प्राप्त कर लेता है। यदि यह प्लुत है तो इसे इस रूपमें जाननेसे मनुष्य ज्ञानवान् होता है और अमृतत्वको भी प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें ऋषिने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है—'हे मायाशक्तिरूप विन्दुयुक्त स्वर! मैं सरलभावका इच्छुक तथा संसार-सिन्धुसे तरनेके लिये प्रयत्नशील होकर साधनके लिये उपयोगी दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भगवान् विष्णुकी शक्ति श्रीदेवीकी, श्रीलक्ष्मीजीकी (जो नृसिंहदेवकी शक्ति हैं), शङ्करजीकी शक्ति पर्वतराजपुत्री अम्बिकाकी, ब्रह्माजीकी शक्ति सरस्वतीदेवीकी, षष्ठीदेवी (स्कन्दशक्ति)-की, इन्द्रसेना नामसे प्रसिद्ध इन्द्रशक्तिकी तथा ब्रह्मप्राप्तिकी कारणभूता एवं साकाररूपमें प्रकट हुई विद्या-शक्तिकी शरण लेता हूँ। आप उपर्युक्त शक्तियोंकी तथा मुझ उपासककी रक्षा करें।'

निश्चय ही सम्पूर्ण भूतोंका यह आकाश ही परम आधार है। ये सम्पूर्ण भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होनेपर आकाशसे ही जीवन धारण करते हैं तथा मृत्यु होनेपर आकाशमें ही लीन हो जाते हैं; इसलिये आकाशको ही बीज—सबका मूल कारण जाने। इस विषयमें ऋषि (मन्त्र) ने यह दृष्टान्त रक्खा है—'विशुद्ध परम धाममें अथवा बुद्धिमें रहनेवाले जो स्वयम्प्रकाश पुरुषोत्तम हैं, वे ही अन्तरिक्ष-निवासी वसु हैं, घरोंमें उपस्थित होनेवाले अतिथि हैं; यज्ञकी वेदीपर स्थापित होनेवाले अग्निदेव तथा उनमें आहुति डालनेवाले होता भी वे ही हैं; समस्त मनुष्योंमें अर्थात् भूलोकमें, उससे श्रेष्ठ स्वर्गलोकमें तथा सर्वश्रेष्ठ सत्यलोकमें भी उन्हींका निवास है। वे ही आकाशमें रहनेवाले हैं। जल, पृथ्वी, सत्कर्म तथा पर्वतोंमें प्रकट होनेवाले भी वे ही हैं; वे ही सबसे महान् परम सत्य हैं।' जो इस प्रकार जानता है, वह भी पूर्वोक्त फलका भागी होता है। यह महोपनिषद् है।

चतुर्थ उपनिषद्

मन्त्रराज आनुष्टुभके अङ्गभूत मन्त्र; प्रणव वाच्यरूप भगवान् नृसिंहदेवके चार पाद; स्तुतिके मन्त्र

उन प्रसिद्ध देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे जिज्ञासापूर्वक कहा—'भगवन्! नृसिंहदेवके मन्त्रराज आनुष्टुभके अङ्गभूत मन्त्रोंका हमारे लिये वर्णन कीजिये।'

यह सुनकर वे सुप्रसिद्ध प्रजापति बोले—प्रणव (ॐकार), गायत्री, यजुर्लक्ष्मी तथा नृसिंहगायत्री—ये इस मन्त्रराजके अङ्गभूत मन्त्र हैं। इन सबको जानना चाहिये। जो जानता है, वह (लौकिक लाभके साथ ही) अमृतत्वको भी प्राप्त करता है॥ १॥

'ॐ' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् इस परमात्मस्वरूप ॐकारकी ही उपव्याख्या—महिमाका विस्तार है। भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सब कुछ ॐकार ही है। तथा उपर्युक्त तीनों कालोंसे अतीत जो कोई दूसरा तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है। निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। ये परमात्मा (भगवान् नृसिंहदेव) ब्रह्म हैं। उन सर्वात्मा श्रीनृसिंहदेवके चार पाद हैं। उनके

समग्ररूपका तत्त्व समझानेके लिये श्रुतिने यहाँ चार पादोंकी कल्पना की है।

जाग्रत्-अवस्था तथा उसके द्वारा उपलक्षित यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् ही जिनका स्थान—शरीर है, अर्थात् जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं; जिनका ज्ञान इस बाह्य जगत्में फैला हुआ है अथवा जो बाह्य (स्थूल) जगत्को ही अपनी प्रज्ञाका विषय बनाते हैं; भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य—ये सात लोक ही जिनके अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिनके मुख[1] हैं; जो स्थूल जगत्के भोक्ता (अनुभव और पालन करनेवाले) हैं तथा जो विश्व-शरीरमें स्थित नर (अन्तर्यामी पुरुष) होनेके कारण 'वैश्वानर' नाम धारण करते हैं, वे सर्वरूप 'वैश्वानर' ही पूर्णतम परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके प्रथम पाद हैं। (चार व्यूहोंमें ये ही बलभद्र-स्वरूप हैं।)

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है, जिनका ज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है, जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंवाले हैं, जो सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं, वे तैजस पुरुष (प्रकाशके स्वामी सूत्रात्मा—हिरण्यगर्भ) उन पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके द्वितीय पाद हैं। (चतुर्व्यूहोंमें ये ही प्रद्युम्नरूप हैं।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सारा विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है, अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है, जो एक रूपमें ही स्थित हैं अर्थात् जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है, घनीभूत विज्ञान ही जिनका स्वरूप है, जो केवल आनन्दमय ही हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है तथा जो एकमात्र अपने स्वरूपभूत आनन्दके ही उपभोक्ता हैं, जिनके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं, वे प्राज्ञ पुरुष ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके तृतीय पाद हैं। (चतुर्व्यूहोंमें इन्हींको अनिरुद्ध कहा गया है।)

१. विषय-ग्रहणमें द्वारभूत होनेके कारण इनको मुख कहा गया है।

इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें उपवर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये अन्तर्यामी हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं। तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, (स्थिति) और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं।

जो न सूक्ष्मको जानता है न स्थूलको जानता है, और न दोनोंको ही जानता है; जिसे जाननेवाला और न जाननेवाला—कुछ भी नहीं कहा जा सकता और जो न प्रज्ञानका ही घनीभूत रूप है; जो देखा नहीं जा सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता और न पकड़नेमें ही आ सकता है; जिसका कोई लक्षण अथवा चिह्न—आकार भी नहीं है; जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता और न बतलानेमें ही आ सकता है; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति—अनुभूति ही जिसका सार अथवा स्वरूप है तथा जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व उन पूर्णब्रह्म परमात्मा नृसिंहदेवका चतुर्थ पाद है। यों ज्ञानी महात्मा मानते हैं। इस प्रकार चार पादोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे ही प्रणववाच्य परमात्मा भगवान् नृसिंहदेव हैं और वे ही जानने-योग्य हैं (उन्हींकी महिमाका इस उपनिषद्में वर्णन है) ॥ २ ॥

अब सावित्रीका परिचय देते हैं। (यद्यपि मन्त्रराजके पदोंमें 'सवितृ'-वाचक शब्दका उपादान नहीं हुआ है, तथापि तिमिरविनाशक सूर्यकी भाँति वह उपासकोंके अन्तस्तमको दूर करनेवाला है—यह प्रदर्शित करनेके लिये ही 'सावित्री' को अङ्ग-मन्त्र माना गया है।) यह सावित्री-मन्त्र गायत्री-छन्द-विशिष्ट यजुर्मन्त्रके रूपमें निरूपित हुआ है। उसके द्वारा ही यह सब कुछ व्याप्त है। आठ अक्षरोंका मन्त्र होनेसे ही उसको गायत्री कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—'**घृणिः सूर्य आदित्यः।**' 'घृणिः' ये दो अक्षर हैं। 'सूर्यः' ये तीन अक्षर हैं।* तथा 'आदित्यः' ये तीन अक्षर हैं। यह सावित्र-मन्त्रका आठ अक्षरोंवाला पद है; इसको आरम्भमें श्रीबीज (श्रीं) से विभूषित किया जाता है। जो इस प्रकार इस मन्त्रको जानता है, वह लक्ष्मीके द्वारा अभिषिक्त होता है। यही बात ऋचा-द्वारा कही गयी है—'ऋग्वेदकी ऋचाएँ अविनाशी परम-व्योमस्वरूप स्वप्रकाश्य परमात्मामें प्रतिष्ठित हैं, जहाँ कि सम्पूर्ण

* यद्यपि इसमें दो ही अक्षर सस्वर हैं, तथापि वैदिक छन्दोंके लिये स्वीकृत व्यूहके नियमानुसार 'सूर्यः' के स्थानमें 'सूरियः' पाठ मानकर गणना करनेसे तीन अक्षर होते हैं। गायत्री-मन्त्रमें भी 'वरेण्यम्' के स्थानमें 'वरेणियम्' मानकर गणना करनेसे ही चौबीस अक्षर पूरे होते हैं।

देवता भलीभाँति निवास करते हैं। जो उपासक उन स्वप्रकाश परमात्माको नहीं जानता, वह ऋचाओंके स्वाध्यायसे क्या कर लेगा? तथा जो उन परमात्माको जानते हैं, वे ही ये उपासक उनके परमधाममें सुखपूर्वक निवास करते हैं।' इसी प्रकार जो सावित्र-मन्त्रको जानता है, उसको ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे कोई प्रयोजन नहीं है।

ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात्।

'जो सच्चिदानन्दमयी देवी भूर्लोककी लक्ष्मी—शोभा, भुवर्लोककी लक्ष्मी तथा स्वर्लोककी लक्ष्मी हैं, जो कालकर्णी नामसे विख्यात हैं, वे भगवती महालक्ष्मी हमें सत्कर्मोंके लिये प्रेरणा देती रहें।' निश्चय ही यह महालक्ष्मीकी यजुर्वेदोक्त गायत्री है, जो चौबीस अक्षरोंकी है। यह सब—जो कुछ यह प्रतीत हो रहा है, निःसंदेह गायत्री ही है। इसलिये जो इस यजुर्वेदसम्बन्धिनी महालक्ष्मी गायत्रीको जानता है, वह बड़ी भारी सम्पत्तिको प्राप्त होता है।

ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्।

'ॐश्रीनृसिंहदेवकी प्राप्तिके लिये हम उपासना करते हैं, वज्रके समान नखोंवाले उन भगवान्‌के लिये ही उनके स्वरूपका हम चिन्तन करते हैं; वे भगवान् नरसिंह हमें प्रेरणा दें।' यही नृसिंहगायत्री है, जो देवताओं और वेदोंका भी आदि कारण है। जो इस प्रकार जानता है, वह आदिकारणभूत भगवान्‌से संयुक्त होता है ॥ ३ ॥

देवताओंने प्रजापतिसे फिर पूछा—'भगवन्! किन मन्त्रोंसे स्तुति करनेपर भगवान् नृसिंहदेव प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं, यह हमें बतलायें।' यह सुनकर उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—

ॐ उं ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १ ॥

ॐ ग्रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विष्णुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २ ॥

ॐ वीं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च महेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३ ॥

ॐ रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च पुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४ ॥

ॐ मं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ५ ॥

ॐ हां ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या सरस्वती भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ६ ॥

ॐ विं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या श्रीर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ७ ॥

ॐ ष्णुं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या गौरी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ८ ॥

ॐ ज्वं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या प्रकृतिर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९ ॥

ॐ लं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या विद्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १० ॥

ॐ तं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चोङ्कारो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ११ ॥

ॐ सं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्याश्चतस्रोऽर्धमात्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १२ ॥

ॐ वं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च वेदाः साङ्गाः सशाखा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १३ ॥

ॐ तों ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये पञ्चाग्नयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १४ ॥

ॐ मुं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्याः सप्तव्याहृतयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १५ ॥

ॐ खं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ लोकपाला भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १६ ॥

ॐ नृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ वसवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १७ ॥

ॐ सिं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च रुद्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १८ ॥

ॐ हं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च आदित्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १९ ॥

ॐ भीं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ ग्रहा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २० ॥

ॐ षं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यानि पञ्च महाभूतानि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २१ ॥

ॐ णं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च कालो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २२ ॥

ॐ भं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मनुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २३ ॥

ॐ द्रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मृत्युर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २४ ॥

ॐ मृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च यमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २५ ॥

ॐ त्युं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चान्तको भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २६ ॥

ॐ मृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च प्राणो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २७ ॥

ॐ त्युं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सूर्यो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २८ ॥

ॐ नं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सोमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २९ ॥

ॐ मां ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विराट् पुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥

ॐ म्यं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च जीवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥

ॐ हं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सर्वं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥

'ॐ (उं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ब्रह्मा एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हींको हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ग्रं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि विष्णु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (वीं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि महेश्वर तथा भूः-भुवः और स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि पुरुष एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ईश्वर एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (हां) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सरस्वती एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (विं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि श्री एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ष्णुं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि गौरी एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ज्वं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि प्रकृति एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (लं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि विद्या एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (तं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ॐकार एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (सं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि चार अर्धमात्रा एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (वं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि अङ्ग, शाखा और इतिहाससहित वेद एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (तों) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि पाँच अग्नियाँ एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मुं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सात महाव्याहृतियाँ एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (खं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि आठ लोकपाल एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (नृं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि आठ वसु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (सिं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ग्यारह रुद्र एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (हं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि बारह आदित्य एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (भीं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि आठ ग्रह एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (षं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि पञ्च महाभूत एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (णं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि काल एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (भं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान्

नृसिंहदेव हैं, जो कि मनु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (द्रं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि मृत्यु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मृं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि यम एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (त्युं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि अन्तक एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मृं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि प्राण एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (त्युं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सूर्य एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (नं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सोम एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मां) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि विराट् पुरुष एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (म्यं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि जीव एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (हं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सर्वरूप एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है॥ १—३२॥

ये (मन्त्रराजके ३२ अक्षरोंके अनुसार) बत्तीस मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंको बताकर प्रजापतिने उन देवताओंसे कहा—'देवगण! तुमलोग इन मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान्का स्तवन करो। इससे भगवान् नृसिंहदेव प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं। इसलिये जो इन मन्त्रोंद्वारा नित्य भगवान् नरसिंहदेवकी स्तुति करता है, वह उनका प्रत्यक्ष दर्शन पाता है तथा उनके विश्वरूपको देख लेता है। साथ ही वह अमृतत्वको भी प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है, उसे भी वही फल मिलता है। यह महोपनिषद् है॥ ४॥

पञ्चम उपनिषद्

आनुष्टुभ मन्त्रराजके सुदर्शन नामक महाचक्रका वर्णन; मन्त्रराजके जपका फल

कहते हैं, देवताओंने श्रद्धापूर्वक प्रजापतिसे कहा—“भगवन्! श्रीनृसिंहदेवके आनुष्टुभ मन्त्रराजका जो 'महाचक्र' नामक चक्र है, उसका हमसे वर्णन कीजिये। यह चक्र सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तथा मोक्षका द्वार है—इस प्रकार योगीजन वर्णन करते हैं।”

यह सुनकर वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—निश्चय ही यह सुदर्शन नामक महाचक्र छः अक्षरोंका है; इसीलिये यह छः अरोंसे युक्त होता है—छः दलोंवाला चक्र बनता है। छः ही ऋतुएँ होती हैं; ऋतुओंसे ही इसके अरोंकी समानता की जाती है। अर्थात् इसके छः दलोंमें छः ऋतुओंकी भावना करनी चाहिये। इसके मध्यमें नाभि होती है। नाभिमें ही ये अरे प्रतिष्ठित होते हैं। फिर यह सारा चक्र मायारूप नेमिसे आवेष्टित होता है। माया आत्माका स्पर्श नहीं करती, इसलिये वह षड्दल चक्र बाहरकी ओरसे ही मायाद्वारा आवेष्टित होता है। इसके बाद आठ अरोंसे युक्त अष्टदल चक्र बनता है। आठ अक्षरोंकी ही एक पादवाली गायत्री होती है; गायत्रीके अक्षरोंसे ही इस चक्रके अरोंकी तुलना की जाती है। (इसके आठ दलोंमें गायत्रीके एक पादकी भावना करे।) यह भी बाहरकी ओरसे मायाद्वारा आवेष्टित होता है। निश्चय ही यह माया प्रत्येक क्षेत्रको व्याप्त किये रहती है। इसके बाद द्वादश अरोंसे युक्त द्वादशदलका चक्र होता है। बारह अक्षरोंका ही जगती छन्द (का एक पाद) होता है। जगतीकी अक्षर-संख्यासे ही यह चक्र संतुलित होता है। (इसके द्वादश दलोंमें जगतीके एक पादकी भावना करे।) यह भी बाहरसे मायाद्वारा आवेष्टित होता है। तदनन्तर षोडशारचक्र है, जो सोलह दलोंसे सम्पन्न होता है। निश्चय ही पुरुष सोलह कलाओंसे युक्त है। पुरुष (परमात्मा) ही यह सब कुछ है। अतः षोडशार चक्रके अरोंको पुरुषकी कलाओंकी उपमा दी जाती है। (इसके षोडश दलोंमें पुरुषकी—अन्तर्यामी परमात्माकी सोलह कलाओंकी भावना करे।) यह भी बाहरकी ओरसे मायाद्वारा आवेष्टित होता है। तत्पश्चात् बत्तीस अरोंसे युक्त अर्थात् बत्तीस दलोंवाला चक्र है। बत्तीस अक्षरोंका ही अनुष्टुप् छन्द होता है। अनुष्टुप्के अक्षरोंसे ही इसके

अरोंकी तुलना होती है। (इसके बत्तीस दलोंमें अनुष्टुप्की भावना करे।) यह चक्र भी बाहरकी ओरसे मायाद्वारा आवेष्टित है। अरोंसे ही यह पूर्णतः आवद्ध है। वेद ही इसके अरे हैं। पत्तोंसे ही यह सब ओर घूमता है। छन्द ही इसके पत्ते हैं ॥ १ ॥

यह बत्तीस दलोंसे सम्पन्न महाचक्र ही सुदर्शन नामसे विख्यात है। इसके मध्यभागमें स्थित जो नाभिस्थान है, उसमें नृसिंह-देवता-सम्बन्धी अविनाशी तारक-मन्त्रका न्यास करे। वह तारक-मन्त्र एक अक्षरका—ॐ है। छः पत्रोंमें छः अक्षरोंवाले 'सहस्रार हुं फट्' इस सुदर्शन मन्त्रका न्यास होता है। आठ दलोंमें आठ अक्षरोंवाले 'ॐ नमो नारायणाय' इस नारायण-मन्त्रका न्यास होता है। बारह दलोंमें द्वादशाक्षर वासुदेव-मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का न्यास किया जाता है। सोलह दलोंमें वर्णमालाके आदि सोलह अक्षर, जो बिन्दुयुक्त सोलह स्वर-वर्णोंके रूपमें हैं, रक्खे जाते हैं। बत्तीस दलोंमें बत्तीस अक्षरोंके नृसिंह-देवतासम्बन्धी मन्त्रराज आनुष्टुभका न्यास किया जाता है। (एक-एक दलमें मूल-मन्त्रके एक-एक अक्षरको प्रणवसे सम्पुटित करके रक्खा जाता है।) वही यह सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध महाचक्र है, जो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला, मोक्षका द्वार, ऋक्, यजुः और सामवेदस्वरूप तथा ब्रह्ममय एवं अमृतमय है। उसके पूर्वभागमें आठ वसुगण रहते हैं। दक्षिणभागमें ग्यारह रुद्र, पश्चिमभागमें बारह आदित्य, उत्तरभागमें विश्वेदेव, नाभिमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजी एवं पार्श्वभागमें सूर्य और चन्द्रमा हैं।

यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—'अविनाशी परम आकाशस्वरूप भगवान् नृसिंहमें (तथा उनके इस सुदर्शन महाचक्रमें) ही ऋक् आदि सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हैं। उनमें ही सम्पूर्ण देवता निवास करते हैं। जो उन परमात्मा नृसिंह-देव तथा उनके महाचक्रको नहीं जानता, वह ऋग्वेद पढ़कर क्या करेगा? उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। और जो उन भगवान् नृसिंहदेव तथा उनके सुदर्शन महाचक्रको जानते हैं, वे ही उपासक भगवान्में उत्तम स्थितिको प्राप्त करते हैं।' इस सुदर्शन नामक महाचक्रको जो बालक अथवा युवा होकर भी जान लेता है, वह महान् बन जाता है; वह सबका गुरु है। वह सब मन्त्रोंका उपदेशक हो जाता है। मन्त्रराज अनुष्टुप्से होम करे। अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही पूजन करे। यह सुदर्शन महा-चक्र राक्षसजनित भयका नाश करनेवाला है, मृत्युसे तारने-वाला है। इसे यन्त्ररूपमें गुरुद्वारा प्राप्त करके कण्ठमें, बाँहमें अथवा शिखामें बाँध ले। इस मन्त्रके उपदेशक गुरुको सात द्वीपोंवाली समूची पृथ्वी भी दक्षिणारूपमें दे दी जाय तो उसके लिये यह पर्याप्त नहीं है। अर्थात् उस मन्त्रकी महिमाके समक्ष सम्पूर्ण पृथ्वीका दान भी तुच्छ है। अतएव श्रद्धा और शक्तिके अनुसार जो कुछ भी हो सके, थोड़ी बहुत भूमि दान करनी चाहिये; वही दक्षिणा होती है ॥ २ ॥

उन प्रसिद्ध देवताओंने पुनः प्रजापतिसे श्रद्धापूर्वक पूछा—'भगवन्! आनुष्टुभ मन्त्रराज नारसिंहका क्या फल है, यह हमें बताइये।'

यह सुनकर उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—जो इस नारसिंह मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह मानो अग्निमें तपाया जाकर शुद्ध हो जाता है। वह वायुपूत होता है। वह सूर्य और चन्द्रमाद्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। वह सत्यपूत होता है; वह लोकपूत होता है; वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा समस्त वेदोंद्वारा पवित्र कर दिया जाता है। सारांश यह कि वह सबके द्वारा सर्वथा पवित्र कर दिया जाता है ॥ ३ ॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह मृत्युको पार कर जाता है। वह पापसे तर जाता है। वह ब्रह्महत्याको पार कर जाता है। वह भ्रूणहत्यासे तर जाता है। वह वीरहत्यासे तर जाता है। वह सबकी हत्यासे तर जाता है। वह जन्म-मृत्युरूप संसारको पार कर जाता है। वह सबको पार कर जाता है। वह सबको पार कर जाता है ॥४॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह अग्निकी गतिको रोक देता है, वह वायुकी गतिको रोक देता है, वह सूर्यकी गतिको रोक देता है, वह चन्द्रमाकी गतिको रोक देता है, वह जलके प्रवाहको रोक देता है, वह सम्पूर्ण देवताओंको स्तब्ध कर देता है, वह सम्पूर्ण ग्रहोंकी गतिको रोक देता है तथा वह विषका भी स्तम्भन कर देता है ॥५॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह देवताओंका आकर्षण कर लेता है। वह यक्षोंको भी अपने पास खींच लेता है। वह नागोंका आकर्षण कर लेता है। वह ग्रहोंको अपने समीप आकृष्ट कर लेता है। वह मनुष्योंको भी आकृष्ट कर लेता है। वह सबको आकृष्ट कर लेता है। वह सबको आकृष्ट कर लेता है ॥ ६ ॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह भूलोकको जीत लेता है, वह भुवर्लोकको जीत लेता है, वह स्वर्गलोकको जीत लेता है, वह महर्लोकको जीत लेता है, वह जनलोकको जीत लेता है, वह तपोलोकको जीत लेता है, वह सत्यलोकको जीत लेता है, वह सब लोकोंको जीत लेता है, वह सब लोकोंको जीत लेता है ॥ ७ ॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका

नित्य जप करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञद्वारा यजन कर लेता है, वह उक्थ्य यागद्वारा यजन कर लेता है, वह 'षोडशी' से यजन कर लेता है, वह वाजपेयद्वारा यजन कर लेता है। वह अतिरात्रद्वारा यजन कर लेता है। वह आप्तोर्यामद्वारा यजन कर लेता है। वह अश्वमेधद्वारा यजन कर लेता है। वह सम्पूर्ण क्रतुओंद्वारा यजन कर लेता है। वह सम्पूर्ण क्रतुओंद्वारा यजन कर लेता है॥ ८॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह मानो ऋग्वेदका स्वाध्याय करता है। वह यजुर्वेदका स्वाध्याय करता है। वह सामवेदका स्वाध्याय करता है। वह अथर्ववेदका स्वाध्याय करता है। वह उसीके आङ्गिरस भागका स्वाध्याय करता है। वह शाखाओंका स्वाध्याय करता है। वह पुराणोंका स्वाध्याय करता है। वह कल्पों (यज्ञविधिको बतलानेवाले शास्त्रों) का स्वाध्याय करता है। वह गाथाओंका अध्ययन करता है। वह नाराशंसी नामक आख्यानोंका अध्ययन करता है। वह प्रणवका अध्ययन करता है। जो प्रणवका अध्ययन करता है, वह सबका अध्ययन करता है। वह सबका अध्ययन करता है॥ ९॥

जिनका उपनयन-संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे जो सौ बालक हैं, वे एक उपनयन-संस्कारसम्पन्न ब्रह्मचारीके तुल्य हैं। जो सौ ब्रह्मचारी हैं, वे एक श्रोत्रिय (वेदपाठी) गृहस्थके तुल्य हैं। जो सौ गृहस्थ हैं, वे एक वानप्रस्थके तुल्य हैं; जो सौ वानप्रस्थ हैं, वे एक संन्यासीके तुल्य हैं। जो सौ संन्यासी हैं, वे एक रुद्र-जापक (रुद्र-मन्त्र अथवा रुद्राष्टाध्यायीका पाठ करनेवाले साधक) के तुल्य हैं। जो सौ रुद्र-जापक हैं, वे एक अथर्वशिरस् एवं अथर्वशिखा नामक उपनिषद्का स्वाध्याय करनेवालेके तुल्य हैं तथा जो सौ अथर्ववेदीय उपनिषदोंके स्वाध्यायकर्ता हैं, वे मन्त्रराज नारसिंहका जप करनेवाले एक साधकके तुल्य हैं। मन्त्रराजका जप करनेवाले उपासकको वह परम धाम निश्चय ही प्राप्त होता है, जहाँ सूर्य नहीं तपता; जहाँ वायु नहीं बहती, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता; जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ आग नहीं जलाती, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश कर पाती, जहाँ दुःखका कोई प्रभाव नहीं होता, जो सदा आनन्दमय, परमानन्दपूर्ण, शान्त, शाश्वत, सदा कल्याणमय, ब्रह्मादि देवताओंद्वारा वन्दनीय तथा योगियोंका भी परम ध्येयरूप परमपद है और जहाँ जाकर योगी (परमात्मामें लगे हुए पुरुष) इस संसारमें नहीं लौटते।

इसके सम्बन्धमें ऐसी ही बात ऋग्वेदकी ऋचाद्वारा भी बतायी गयी है—

'जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परमव्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परमधामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं। साधनामें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परम पद कहते हैं।' वह परम पद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है। वह यह परम पद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है। यह महा-उपनिषद् है॥ १०॥

॥ अथर्ववेदीय नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

'ॐ' नामसे परमात्म-तत्त्वका तथा उसके चार पादोंका वर्णन; चौथे पादके चार भेद

कहते हैं, एक बार देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे कहा—'भगवन् ! जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उन प्रणवरूप परमात्माके तत्त्वका हमसे स्पष्ट वर्णन कीजिये ।' इसपर ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—

'ॐ' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है । यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उस परमात्मस्वरूप ॐकारकी ही उपव्याख्या—महिमाका विस्तार है । अतीत, वर्तमान और अनागत—इन तीनों कालोंमें होनेवाला यह सारा जगत् ॐकार ही है । तथा जो उपर्युक्त तीनों कालोंसे अतीत एवं जगत्से भिन्न कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है । निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है । यह आत्मा भी ब्रह्म है ।

इस आत्माकी 'ओम्' इस नामसे अभिहित ब्रह्मके साथ एकता करके तथा ब्रह्मकी आत्माके साथ 'ॐ'कारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके, वह एकमात्र (अद्वितीय), जरारहित, मृत्युरहित, अमृतस्वरूप, निर्भय, चिन्मय तत्त्व 'ओम्' है—इस प्रकार अनुभव करे । उस परमात्मस्वरूप ॐकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन शरीरोंवाले इस सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चका आरोप करके, अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-जगत्की कल्पना हुई है—विवेकद्वारा इस प्रकार अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही है । तथा तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण अवश्य यह तत्स्वरूप (परमात्मारूप) ही है, इस दृढ़ निश्चयके द्वारा जगत्को 'ओम्' के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डाले । साथ ही उस त्रिविध शरीरवाले आत्माका 'यह त्रिविध शरीररूप उपाधिसे युक्त परब्रह्म ही है' इस प्रकार चिन्तन करे ।

स्थूल (विराट् जगत्स्वरूप) एवं स्थूल जगत्का भोक्ता, साथ-ही-साथ सूक्ष्म (सूक्ष्म जगत्स्वरूप) एवं सूक्ष्म जगत्का भोक्ता होनेके कारण तथा उसी प्रकार एकमात्र आनन्दस्वरूप एवं आनन्दमात्रका उपभोक्ता और साथ ही इन सबसे विलक्षण होनेके कारण वह आत्मा (परमात्मा) चार पादोंवाला है ।

जाग्रत्-अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित यह सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्थान अर्थात् शरीर है; जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं; जिनका ज्ञान इस स्थूल (बाह्य) जगत्में सब ओर फैला हुआ है; भूः, भुवः, स्वः आदि सात लोक ही जिनके सात अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिनके मुख हैं; जो स्थूल जगत्के भोक्ता हैं;

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ जिनके स्वरूप हैं अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है तथा जो विश्व-शरीरमें स्थित नर होनेके कारण 'वैश्वानर' कहलाते हैं, वे सर्वरूप वैश्वानर ही पूर्णतम परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके प्रथम पाद हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको बलभद्ररूप माना गया है।)

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है, जिनका ज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है, जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंवाले तथा सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं, वे पूर्ववत् चार स्वरूपोंवाले तैजस (प्रकाशके स्वामी) सूत्रात्मा—हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके द्वितीय पाद हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको प्रद्युम्न कहा गया है।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सम्पूर्ण विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है, अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है; जो एकरूपमें ही स्थित हैं—जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है; घनीभूत विज्ञान ही जिनका स्वरूप है; जो केवल आनन्दमय ही हैं; चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है; ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है* तथा जो एकमात्र अपने स्वरूपभूत आनन्दके ही उपभोक्ता हैं; जिनके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं; वे प्राज्ञ नामसे प्रसिद्ध ईश्वर ही पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके तृतीय पाद हैं। (चार व्यूहोंमें ये ही 'अनिरुद्ध' नामसे प्रसिद्ध हैं।)

इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें वर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये अन्तर्यामी हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं।

जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओंमें लक्षित होनेवाला यह जगत् भी वास्तवमें सुषुप्तरूप ही है; क्योंकि इनसे मोहित हुए मनुष्योंको कभी किसी भी वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं

* 'ओत' आदिका स्वरूप आगे बताया जायगा।

होता। इसी प्रकार यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है; क्योंकि यहाँ वस्तुका प्रायः विपरीत ही ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, कुछ-का-कुछ प्रतीत होनेके कारण यहाँ सब कुछ मायामात्र ही है। परमात्मा इससे विलक्षण हैं; क्योंकि ये परमात्मा एकमात्र चिन्मय रसरूप हैं।

उक्त तीनों पादोंके अतिरिक्त जो चौथा पाद है, वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार भेदोंके कारण चार रूपवाला है। उपर्युक्त चारों पाद तुरीय ही कहलाते हैं; क्योंकि प्रत्येक रूपका तुरीयमें ही पर्यवसान (लय) होता है। इस तुरीय पादमें भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञारूप तीन भेद हैं, इन तीनोंको भी पूर्ववत् सुषुप्ति एवं स्वप्नके समान तथा मायामात्र ही समझना चाहिये; क्योंकि पारमार्थिक तुरीयरूप जो निर्विकल्प एवं निर्विशेष परमात्मा हैं, वे एकमात्र चिन्मय रसरूप ही हैं*।

* इस प्रसङ्गका सारांश यों समझना चाहिये—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-कालमें अनुभव किया जानेवाला जो कुछ भी प्राकृत प्रपञ्च या सुख है, वह सब कार्य है और तुरीय उसका कारण है। कारणमें ही कार्यकी कल्पना होती है, अतः कारण ही सत्य है। कारणके भी साक्षी हैं सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा। वे कहीं सत्-रूपसे, कहीं चित्‌रूपसे, कहीं आनन्दरूपसे और कहीं सत् आदि समस्त रूपोंसे कारणमें व्याप्त हैं। इस प्रकार कारणमें परमात्माकी व्यापकताका चिन्तन करना ओतयोग कहलाता है। व्याप्त वस्तु-की सत्ता व्यापकके ही अधीन होती है, इस न्यायसे परमात्माके द्वारा व्याप्त कारण-तत्त्वकी स्वतः कोई सत्ता आदि नहीं है। वह परमात्माके अधीन सत्ताका ही प्रकाशक होनेके कारण परमात्मामें ही आरोपित या कल्पित है। इस प्रकारके चिन्तनका नाम अनुज्ञातृ-योग है। अध्यस्त, आरोपित या कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठानसे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती; वह अधिष्ठानस्वरूप ही समझी जाती है। अतः परमात्मामें आरोपित कारण-तत्त्व भी उनसे पृथक् नहीं, परमात्मरूप ही है। इस प्रकारका चिन्तन अनुज्ञायोग कहा गया है। ये तीनों योग कारण-ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं; अतः कारणमें ही इनका अन्तर्भाव है। इसीलिये इनके पृथक् अस्तित्वको सुषुप्त, स्वप्न एवं मायामात्र बताया गया है। इन भोगोंद्वारा कारणका लय या संहार होता है। लयके आधार हैं तुरीय परमात्मा; अतः इन सबको तुरीयपादरूप बताना उचित ही है। परमात्मा ही 'अविकल्प' नामसे निर्दिष्ट पारमार्थिक तुरीय हैं। 'अथायमादेशः' आदिके द्वारा श्रुति उन्हींके स्वरूपकी ओर संकेत करती है।

अनन्तर श्रुतिका यह आदेश (उपदेश) है—'जो न स्थूलको जानता है, न सूक्ष्मको जानता है और न दोनोंको ही जानता है; जो न तो जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला है और न प्रज्ञानका ही घनीभूत रूप है; जिसे देखा नहीं जा सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता, जो पकड़नेमें नहीं आ सकता; जिसका कोई लक्षण—चिह्न अथवा आकार भी नहीं है; जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता, जिसे किसी विशिष्ट रूपसे बताया नहीं जा सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति (अनुभूति) ही जिसका सार अथवा स्वरूप है एवं जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा सर्वथा कल्याणमय, परम शान्त अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्णब्रह्म परमात्मा नृसिंहदेवका चतुर्थ पाद है—यों ज्ञानी महात्मा मानते हैं।'

इस प्रकार चार पादोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे भगवान् नृसिंहदेव ही सबके आत्मा हैं; वे ही जाननेयोग्य हैं। वे कारणात्मा ईश्वर (अथवा त्रिभुवनका शासन करनेवाले इन्द्र आदि) को भी अपना ग्रास बना लेते—अपनेमें लीन कर लेते हैं। वे तुरीयके भी तुरीय हैं। (अतः परमात्माको ही जानने और पानेका प्रयत्न करना चाहिये) ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

परमात्माके चार पादोंकी ओंकारकी मात्राओंके साथ एकता; मन्त्रराज आनुष्टुभके द्वारा तुरीय परमात्माका ज्ञान

निश्चय ही उन 'तुरीय'नामसे प्रसिद्ध इन चार पादोंवाले परमात्माको ओङ्कारकी मात्राओं तथा समस्त ॐकारके साथ एकीभूत करे। अर्थात् ॐकारको परमात्मा तथा उसकी चार मात्राओंको परमात्माके चार पाद मानकर उसी रूपमें उनकी भावना करे। वे परमात्मा जाग्रत्कालमें स्वप्न और सुषुप्तिसे रहित हैं, स्वप्नकालमें जाग्रत् और सुषुप्तिसे रहित हैं, सुषुप्तिमें जाग्रत् तथा स्वप्नसे रहित हैं, और तुरीयावस्थामें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनोंसे रहित हैं। प्रत्येक अवस्थामें पृथक्-पृथक् रहते हुए भी वे सभी अवस्थाओंसे संयुक्त हैं। कहीं भी उनका व्यभिचार (अभाव) नहीं है। इस प्रकार वे नित्य, अनन्त, सत्स्वरूप तथा एकरस हैं। नेत्रके द्रष्टा हैं, श्रोत्र-इन्द्रियके द्रष्टा हैं। ये दोनों भी उपलक्षणमात्र हैं; वे घ्राणेन्द्रिय, रसना और त्वचाके भी द्रष्टा हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके द्रष्टा, मनके द्रष्टा, बुद्धिके द्रष्टा, प्राणके द्रष्टा, तम अर्थात् अहङ्कारके द्रष्टा हैं; कहाँतक गिनायें, वे सबके द्रष्टा हैं। इसीलिये वे सबसे भिन्न और सबसे विलक्षण हैं। द्रष्टा दृश्यसे भिन्न होता ही है। 'द्रष्टा' कहनेसे कोई यह न समझ ले कि वे राग अथवा द्वेषपूर्वक इन सबको देखते हैं; नहीं-नहीं, वे साक्षी हैं—पक्षपातरहित हैं। वे नेत्रके साक्षी हैं, श्रवणेन्द्रियके साक्षी हैं; घ्राणेन्द्रिय, रसना और त्वचाके भी साक्षी हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके साक्षी, मनके साक्षी, बुद्धिके साक्षी, प्राणके साक्षी हैं; तमके साक्षी—नहीं-नहीं, सबके साक्षी हैं। इसीलिये वे निर्विकार हैं, महाचैतन्यस्वरूप—आत्माके भी आत्मा हैं। इन पुत्र-वित्तादि तथा नेत्र-श्रोत्रादि सबसे बढ़कर प्रियतम हैं और इस प्रकार आनन्दके घनीभूत विग्रह हैं। इस समस्त प्रपञ्चके पूर्वसे ही वे भलीभाँति प्रकाशित हो रहे हैं। अतः एकरस ही हैं। जरा आदि अवस्थाएँ अथवा विकार उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते। और तो और, मृत्यु भी उनसे दूर रहती है। वे अमृत एवं अभय ब्रह्म ही हैं। फिर भी अपनी मायाशक्तिसे चार पादवाले बने हुए हैं।

जाग्रत्-अवस्था तथा उसके द्वारा उपलक्षित यह स्थूल जगत् जिनका स्थान (शरीर) है; जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं; वे विश्वरूप वैश्वानर पूर्णतम परमात्माके प्रथम पाद हैं। और वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा, अथवा बीज, बिन्दु, नाद और शक्ति—इन चार रूपोंवाला अकार ॐकारकी पहली मात्रा है। यह अकार ही वैश्वानर है। क्योंकि यह अकार भी स्थूल (वैखरी), सूक्ष्म (मध्यमा), बीज (पश्यन्ती) और साक्षी (परा)—इन चार स्वरूपोंसे परिलक्षित होनेके कारण वैश्वानरकी भाँति चार रूपवाला ही है। इसके सिवा आप्ति (व्याप्ति) रूप गुणके होनेसे भी दोनोंमें समानता है—वैश्वानर जाग्रत्कालीन समस्त जगत्में व्यापक है तथा अकार भी वाणीमात्रमें व्यापक है। (श्रुति भी कहती है, 'अकारो वै सर्वा वाक्'—निस्संदेह अकार सम्पूर्ण वाणी है।) यही नहीं, बोलते समय सबसे पहले अकारका ही उच्चारण प्राप्त होता है—हृदयदेशसे ऊपरको उठी हुई वायु कण्ठमें पहले ध्वनित होती है; अतः प्रथम कण्ठस्थानीय अकारकी ही ध्वनि निकलती है। उधर सृष्टिकालमें सर्वप्रथम विराट्स्वरूप वैश्वानरकी ही उपलब्धि होती है; अतः

'प्राप्ति'रूप गुणकी दृष्टिसे भी दोनोंमें समानता है। इसी प्रकार आदिमान् होनेके कारण भी दोनोंमें समानता है—अकार सम्पूर्ण वर्णोंमें आदि (प्रथम) है और वैश्वानर भी विराट् रूपमें सबसे पहले प्रकट हुआ है। इन सब समानताओंके कारण तथा ऊपर बताये अनुसार स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कारण-रूप और साक्षीरूप होनेसे भी दोनोंमें अभिन्नता है। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही जगत्‌के सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है और सबका आदि (सबमें प्रधान) बन जाता है।

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है तथा जो पूर्ववत् चार स्वरूपोंवाले हैं, वे पूर्णतम परमात्माके द्वितीय पादरूप तैजस हिरण्यगर्भ और ओंकारकी द्वितीय मात्राके रूपमें उपलब्ध होनेवाला पूर्ववत् चार रूपोंसे युक्त उकार—ये एक ही हैं। उकार ही तैजस है। उकारके जो स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार रूप हैं, इनके द्वारा अवश्य ही उकार भी तैजस पुरुष-की भाँति चार स्वरूपोंवाला है। अतः इस समानताके कारण दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसके सिवा ओंकारकी दूसरी मात्रा जो उकार है, वह पहली मात्रा अकारकी अपेक्षा उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ अथवा श्रेष्ठ) है तथा उभयरूप है—अ और मके बीचमें होनेके कारण दोनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः दोनोंके भावसे युक्त है। इसी प्रकार द्वितीय पादरूप तैजस हिरण्यगर्भ प्रथम पादस्वरूप वैश्वानरसे उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञ दोनोंके मध्यवर्ती होनेसे वह उभय-सम्बन्धी भी है। अतः इस समानताके कारण भी उकार ही तैजस है। इतना ही नहीं; पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होनेके कारण भी दोनों परस्पर समान और अभिन्न हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही ज्ञानकी परम्परा-को समुन्नत करता है तथा सबमें समान भाववाला होता है।

सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्‌की प्रलयावस्था ही जिसका स्थान है अर्थात् समष्टि कारणतत्त्वमें जिसकी स्थिति है; जो ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार रूपोंवाला है, वह प्राज्ञ ईश्वर, जो परमात्माके तृतीय पादरूपमें बताया गया है, ॐकारकी तीसरी मात्राके रूपमें उपलब्ध होनेवाला पूर्वोक्त चार रूपोंसे युक्त मकार ही है। निश्चय ही यह मकार अपने स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—इन स्वरूपोंसे चार रूपवाला है और प्राज्ञ भी चार रूपोंवाला है। अतः अत्यधिक समानताके कारण मकार ही प्राज्ञ है। इसके सिवा, मिति और अपीति अर्थात् माप करने और विलीन करनेके कारण भी मकार और प्राज्ञ परस्पर समानता रखते हैं। 'अ' और 'उ'के उच्चारणके बाद 'म'का उच्चारण होता है, अतः वे दोनों उसके द्वारा माप लिये जाते हैं; तथा 'ओम्' कहते समय 'म्'के उच्चारणके साथ मुख बंद हो जाता है; अतः 'अ' और 'उ' उसीमें विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञद्वारा माप लिये जाते हैं; क्योंकि जाग्रत् और स्वप्नके अन्तमें सुषुप्ति-अवस्था आती है तथा सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका लय हो जाता है। अतः क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नके अधिष्ठाता वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञमें विलीन हो जाते हैं। इन समानताओंके कारण तथा इसके अतिरिक्त पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होनेसे भी दोनों परस्पर समान एवं अभिन्न हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही इस सम्पूर्ण कारण-जगत्‌को माप लेता अर्थात् भलीभाँति जान लेता है तथा सबको अपनेमें विलीन कर लेता है। प्रत्येक मात्राको प्रतिमात्राके रूपमें परिणत कर दे। 'अ', 'उ', 'म्'—ये मात्राएँ हैं। अकारका उकारमें लय होता है; उकार उसकी प्रतिमात्रा है और मकार उकारकी प्रतिमात्रा है। तथा मकारकी प्रतिमात्रा प्रणव है; क्योंकि प्रणवमें ही सबका लय होता है। अतः अकार आदि मात्राओंके अपनी-अपनी प्रतिमात्रामें लय होने-की भावना करे। (इसी प्रकार वैश्वानरके तैजस हिरण्यगर्भमें और उनके प्राज्ञ ईश्वरमें लय होनेकी भावना करनी चाहिये।)

इन वैश्वानर आदि तीन पादोंके अतिरिक्त जो परमात्माके चतुर्थ पादके रूपमें उपवर्णित तुरीय परमेश्वर हैं, वे कारणात्मा ईश्वरको भी अपना ग्रास बना लेते हैं—अपनेमें विलीन कर लेते हैं। वे स्वराट् हैं—अपनी ही शक्तिसे शक्तिमान् सम्राट् हैं; स्वयं ही सर्वसमर्थ ईश्वर हैं तथा अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले परमात्मा हैं। उनके भी चार स्वरूप हैं—ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प। अवश्य ही ये परमात्मा 'ओत' हैं—सर्वत्र व्यापक हैं; ठीक उसी तरह, जैसे संहार-कालमें कालाग्नि और सूर्य अपनी प्रचण्ड ज्वालाओं और प्रखर रश्मियोंसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को बाहर-भीतरसे व्याप्त कर लेते हैं। ये परमात्मा अनुज्ञाता भी हैं। इस सम्पूर्ण जगत्‌के लिये अपने-आपको दे डालते हैं—सबको अपना स्वरूप ही बना लेते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यदेव अन्धकारको अपना स्वरूप बना लेते हैं, उसे अपने प्रकाशमें विलीन करके प्रकाशरूपता प्रदान करते हैं। इसी प्रकार ये परमात्मा अनुज्ञैकरस हैं—एकमात्र ज्ञानके रससे परिपूर्ण हैं, अज्ञानका नाश करके चिन्मय स्वरूपसे ही स्थित हैं; ठीक उसी तरह, जैसे जलानेयोग्य काष्ठ आदिको जलाकर अग्नि केवल तेजोमय

स्वरूपसे स्थित हो जाती है। साथ ही ये परमात्मा अविकल्प भी हैं—भेद और संशयसे रहित हैं; क्योंकि ये मन और वाणीके विषय नहीं हैं, चित्स्वरूप हैं। अतः ये चार रूपवाले ओंकार ही हैं। अवश्य ही यह ओंकार ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन अपने ही स्वरूपोंसे चार रूपोंवाला है; अतः तुरीय पादकी भाँति यह ओंकार भी परमात्मा ही है। क्योंकि यह सब कुछ नाम-रूपमय ही है। अर्थात् नाम वाचक है और रूप वाच्य। यदि वाच्यके चार भेद हैं तो वाचकके भी हो सकते हैं; क्योंकि उनमें भेद नहीं है। अतः जैसे परमात्माके ओत आदि चार स्वरूप हैं, वैसे ही ओंकारके भी हैं। इसलिये तुरीय, चित्स्वरूप, ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप होनेके कारण ओंकार और परमात्मा दोनों परस्पर अभिन्न हैं। जैसे वैश्वानर आदिका तुरीयमें लय होता है, उसी प्रकार ओत आदिका अविकल्पमें लय होता है; अतः यह सब कुछ अविकल्परूप ही है। उसमें किसी प्रकारका कोई भी भेद नहीं है।

चतुर्थ पादके विषयमें श्रुतिका यह उपदेश है—'मात्रारहित ओंकार अर्थात् परमात्माके नामात्मक ओंकारका मात्रारहित—बोलनेमें न आ सकनेवाला निराकार स्वरूप ही (मन-वाणीका अविषय होनेके कारण) व्यवहारमें न आ सकनेवाला, प्रपञ्चसे अतीत, कल्याणमय एवं अद्वितीय परमात्माका चतुर्थ पाद है। जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही आत्माके द्वारा परमात्मामें पूर्णतः प्रवेश कर जाता है। यह उपासक वीर होता है, संसारमें कहीं भी उसका पराभव नहीं होता।

(तुरीय परमात्माको जाननेके लिये उपर्युक्त रूपसे चिन्तन करना तो एक उपाय है ही; दूसरा भी उपाय है, उसे बताते हैं—) अथवा नृसिंहसम्बन्धी मन्त्रराज आनुष्टुभसे तुरीयको जाने। निश्चय ही यह परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित कर देता है; क्योंकि यह सबका संहार करनेमें समर्थ (उग्र) है, परिभवको सहन न कर सकनेवाला (वीर) है, महान् प्रभु है, सर्वत्र व्यापक (विष्णु) है*। सदा उज्ज्वल—प्रकाशमय है, अविद्या और उसके कार्यसे रहित है, अपने आत्मीय जनोंका अज्ञानमय बन्धन दूर कर देता है, सर्वदा द्वैतसे शून्य है, आनन्दस्वरूप है, सबका अधिष्ठान और सन्मात्रस्वरूप है। अविद्या, तम और मोह (मल, आवरण और विक्षेप) को सर्वथा नष्ट कर डालनेवाला है तथा 'अहम्' (मैं) का एकमात्र लक्ष्यार्थ सबका आत्मा है।

इसलिये इस मन्त्रराजको तथा इसके वाच्यार्थरूप भगवान् नृसिंहको ही सबका आत्मा एवं परब्रह्म जानकर निरन्तर उनका चिन्तन करता रहे। इस प्रकार जानने तथा इसीके अनुसार उपासना करनेवाला यह पुरुष वीर एवं मनुष्योंमें सिंहरूप—श्रेष्ठ होता है।

---

* यहाँ 'सर्वसंहारसमर्थः' आदि पदोंद्वारा मन्त्रराज आनुष्टुभकी ही व्याख्या की गयी है। आरम्भसे लेकर 'प्रभुर्व्याप्तः' तक 'उग्रं वीरं महाविष्णुम्' इन तीन पदोंकी व्याख्या हो गयी है, जो स्पष्ट है। 'सदोज्ज्वलः' इस पदके द्वारा 'ज्वलन्तम्' पदकी व्याख्या हुई है। यह भी स्पष्ट ही है। 'अविद्याकार्यहीनः' इसके द्वारा 'सर्वतोमुखम्' का भाव व्यक्त किया गया है। 'सर्वतोमुखम्' पद ज्ञानस्वरूपताको लक्ष्य कराता है; अतः उसके द्वारा अविद्या एवं उसके कार्यका निराकरण होना उचित ही है। 'स्वात्मबन्धहरः' पदमें 'नृसिंहम्' पदका भाव है। 'नृसिंहम्' में दो पद हैं—'नृ' और 'सिंहम्'। गत्यर्थक 'नॄ' धातुसे 'नृ' शब्द बनता है; अतः 'नृ' का अर्थ है—ज्ञानस्वरूप तथा त्रिविध परिच्छेदशून्य आत्मा। 'सिंहम्' पदके दो भाग हैं—सिं+ हम्। 'षिञ् बन्धने' इस धातुसे 'सिं' बना है, अतः उसका अर्थ हुआ बन्धनकारक अज्ञान। 'हं' का अर्थ है—संहार करनेवाला। इस प्रकार 'नृसिंहम्' पदका अर्थ हुआ आत्माको बन्धनमें डालनेवाले अज्ञानका संहारक। इसी भावसे 'स्वात्मबन्धहरः' कहा गया है। 'भीषणम्' पदका अर्थ है डरानेवाला। डर या भय वहीं हैं, जहाँ द्वैत है। भगवान् नृसिंह और उनका मन्त्रराज द्वैतको भयभीत करनेवाला है, अतः उनके पास द्वैत या भ्रम फटकने नहीं पाता। इसी भावको ध्यानमें रखकर 'सर्वदा द्वैतरहितः' कहा गया है। 'सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः' पदसे 'मृत्युमृत्युम्' पदका भाव व्यक्त किया गया है। मृत्युमें ही सबका लय होता है, अतः वही सबका अधिष्ठान है। भगवान् मृत्युके भी मृत्यु हैं, अतः वे तथा उनके मन्त्र ही सर्वाधिष्ठान हो सकते हैं। 'नमामि' का अर्थ इस प्रकार है—न=नहीं है, 'मा' का=प्रमात्मक ज्ञानस्वरूप परमानन्दमय तुरीय पदका, 'मि'=हिंसाकारक अविद्या, तम और मोह जिसमें, वह; इसीको लक्ष्यमें रखकर 'निरस्ताविद्यातमोमोहः' कहा गया है। कहा भी है—'मीति हिंसाकरं नात्र तमोऽज्ञानादिलक्षणम्।' 'अहम्' पदका तो स्पष्टतः उल्लेख हुआ ही है।

तृतीय खण्ड

अनुष्टुप् मन्त्रराजके पादोंके अलग-अलग जप तथा ध्यानकी विधि

निश्चय ही उस प्रणवकी जो पहली मात्रा अकार है; वह अनुष्टुप् मन्त्रराजके प्रथम पादके दोनों ओर लगायी जाती है*। इसी प्रकार प्रणवकी दूसरी मात्रा 'उ' अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पादके आदि-अन्तमें लगती है (यथा—**उं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् उम्**। इस द्वितीय पादरूप मन्त्रका जप करते हुए हिरण्यगर्भका ध्यान करना चाहिये)। इसी तरह प्रणवकी तीसरी मात्रा 'म' अनुष्टुप्-मन्त्रके तृतीय पादके आगे-पीछे लगती है (यथा—**मं नृसिंहं भीषणं भद्रम् मम्**। इसके जपके साथ-साथ प्राज्ञ ईश्वरका ध्यान होना चाहिये)। चौथी मात्रा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूपा है; उसके द्वारा उक्त चार रूपोंवाले तुरीय पादका अनुसन्धान (ध्यान) करके अनुष्टुप्-मन्त्रके चतुर्थ पादसे भी उक्त तुरीय पादका ही चिन्तन करे। फिर पूर्वोक्त तुरीया (चौथी) मात्रासे तुरीय पादका अनुसन्धान करते हुए तुरीय-तुरीयस्वरूप जो परमात्मा हैं, उनके द्वारा निरन्तर ध्यानपूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌को ग्रस ले अर्थात् सबको परमात्मामें ही विलीन कर दे†।

अवश्य ही उस प्रकरणप्राप्त प्रणवकी जो पहली मात्रा है, वह अकार है; वह पृथिवी है, वह ऋक्सम्बन्धी मन्त्रोंके साथ ऋग्वेद है। वह ब्रह्मा देवता है, वसु नामक देवताओंका गण है, गायत्री छन्द है, गार्हपत्य अग्नि है। इस प्रकार वह मात्रा विराट् पुरुष वैश्वानरका प्रतिपादन करनेवाली तथा परमात्माका प्रथम पाद है। केवल प्रथम पाद ही नहीं, सभी पादोंमें वह मात्रा रहती है; क्योंकि पहले बताये अनुसार उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—चार स्वरूप हैं। (अतः स्थूलरूपसे वह प्रथम पादमें, सूक्ष्मरूपसे द्वितीय पादमें, बीजरूपसे तृतीय पादमें और साक्षीरूपसे चतुर्थ पादमें रहती है।)

प्रणवकी दूसरी मात्रा उकार है; वह अन्तरिक्ष-लोक है। वह यजुः-मन्त्रोंके साथ यजुर्वेद है, विष्णु देवता है, रुद्र नामक देवताओंका गण है, त्रिष्टुप् छन्द है, दक्षिणाग्नि है। वह मात्रा तैजस हिरण्यगर्भका बोध करानेवाली तथा परमात्माका द्वितीय पाद है। द्वितीय पाद होते हुए भी वह सभी पादोंमें रहती है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—चार स्वरूप हैं।

प्रणवकी तीसरी मात्रा मकार है; वह द्युलोक है, वह साम-मन्त्रोंसहित सामवेद है, रुद्र देवता है, आदित्य नामक देवताओंका गण है, जगती छन्द है, आहवनीय अग्नि है। वह प्राज्ञ-ईश्वरका बोध करानेवाली तीसरी मात्रा परमात्माका तृतीय पाद है। साथ ही वह अन्य सभी पादोंमें भी रहती है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं।

प्रणवके अन्तमें जो उसकी चौथी मात्रा—अर्धमात्रा है, वह ओंकार (बिन्दु) है; वह सोमलोक है, वह अथर्वमन्त्रोंसहित अथर्ववेद है, संवर्तक-अग्नि देवता है, मरुत् नामक देवताओंका गण है, विराट् छन्द है, एक ऋषि अग्नि है। वह मात्रा बिन्दु आदि रूपसे तुरीय परमात्माका बोधक होनेसे भास्वती (प्रकाशमयी) मानी गयी है। वही पूर्णब्रह्म परमात्माका तथा मन्त्रराज अनुष्टुप्‌का भी चतुर्थ पाद है तथा वह अन्य सब पादोंमें भी है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं।

* इस प्रकार जो मन्त्र बनता है, उसका उच्चारण करके वैश्वानर या विराट् पुरुषका ध्यान करना चाहिये। अकार और विराट् दोनोंको 'चतुरात्मा' बताया गया है; अतः यहाँ बीज, बिन्दु, नाद और शक्तिसे युक्त अकारको ही अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रथम पादके आदि-अन्तमें लगाना चाहिये; यों करनेपर मन्त्रका उच्चारण इस प्रकार होगा—'अं उग्रं वीरं महाविष्णुम् अम्'।

† इस प्रसङ्गका भाव यह है कि 'अम्' इस चार रूपोंवाले अकारसे चार रूपोंवाले विराट् पुरुषकी एकताका अनुभव करके उसके द्वारा विराट्‌का ध्यान करे, फिर अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रथम पादसे भी विराट्‌का ही सम्बन्ध मानकर उसके द्वारा भी उन्हींका स्पष्टरूपसे चिन्तन करे। फिर 'अम्' का उच्चारण कर अकाररूपमें ही विराट्‌का चिन्तन करके 'उम्' का उच्चारण करते हुए हिरण्यगर्भका ध्यान करे। तत्पश्चात् 'अ' को 'उ' में विलीन करते हुए भावनाद्वारा ही विराट्‌का हिरण्यगर्भमें लय करे। फिर अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पाद तथा उकारसे भी हिरण्यगर्भकी ही भावना करते हुए मकारके द्वारा अव्याकृतका चिन्तन करके उसमें हिरण्यगर्भका लय करे। तदनन्तर अनुष्टुप्‌के तृतीय पाद और मकारसे भी अव्याकृतका ही चिन्तन करते हुए नादपर्यन्त उच्चारित ओत, अनुज्ञातृ आदि रूपवाले प्रणवद्वारा तत्त्वरूप तुरीयका चिन्तन करके उसीमें अव्याकृतका लय करे। फिर अनुष्टुप्‌के चतुर्थ पादसे भी तुरीयका ही चिन्तन करके पुनः बिन्दु, नाद आदिसे युक्त प्रणवद्वारा उन तुरीय-तुरीयस्वरूप परमात्माका ही चिन्तन करते हुए सबका उन्हींमें लय करके उनके स्वरूपमें स्थित हो जाय

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टिकी (ओंकारकी एक-एक मात्रा और अनुष्टुप्-मन्त्रके एक-एक पाद और परमात्माके एक-एक पादकी) एकताका चिन्तन करके मात्राको प्रतिमात्राके रूपमें परिणत करे। अर्थात् अकार और विराट् पुरुषको उकार और हिरण्यगर्भमें लीन करे और उकार एवं हिरण्यगर्भको मकार एवं ईश्वरमें विलीन करे। फिर उसको भी अर्धमात्रा एवं तुरीयमें विलीन करके क्रमशः ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पका चिन्तन तथा पूर्व-पूर्वका उत्तरोत्तरमें लय करते हुए अन्तमें सबको अविकल्परूप परमेश्वरमें ही लीन कर दे और निर्विशेष परमेश्वरका चिन्तन करते हुए उन्हींमें स्थित हो जाय।

अपनेको नित्य शुद्ध-बुद्ध, अमृतस्वरूप मानकर अपनी बुद्धिकी वृत्तियोंका परमात्मामें हवन करके अर्थात् अपने अन्तःकरणको परमात्मामें ही लगाकर बाहर-भीतरसे शुद्ध हो पवित्र देशमें पवित्र आसनपर सुखपूर्वक बैठे और (न्यास, शुद्धि, रक्षोघ्न-मन्त्रोंके पाठ, दिग्बन्धन, कवचपाठ, गणपति-स्मरण एवं रक्षा आदिके द्वारा) सब प्रकारके विघ्नोंका निवारण करके प्राणायामपूर्वक ध्यानमें इन परमात्माके तत्त्वका अनुभव करे। फिर परमात्मामें ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्चकी स्थिति देखते हुए प्राणाग्निहोत्र[1] और प्रपञ्च-याग[2]की रीतिसे प्राण और प्रपञ्चसे अपना सम्बन्ध हटा ले और सर्वस्वरूप[3], आधारयुक्त,

१. श्रीविद्यारण्य मुनिने इस प्रसङ्गकी टीकामें संक्षेपसे प्राणाग्निहोत्रकी रीति इस प्रकार कही है। 'ॐ ह्रीं' इस बीज मन्त्रका उच्चारण करते हुए चिदानन्दस्वरूप आराध्यदेवका ध्यान करे और फिर 'क्ष' से उलटे चलकर 'अ' तककी वर्णमालाका (क्षं हं सं······इत्यादि रूपसे) उच्चारण करते हुए उन्हींके स्वरूपभूत सर्वजगन्मय शरीरका (जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षीरूपसे चार प्रकारका है) चिन्तन करे और ऐसी भावना करे कि यह चतुर्विध शरीर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मासे प्रकट हुआ है, अतः यह सच्चिदानन्दमय ही है। फिर 'सोऽहम्', 'हंसः' इन मन्त्रोंके जपद्वारा जीवात्मा और परमात्माकी परस्पर एकताकी भावना करे। इस प्रकार एकत्व-चिन्तनरूप अग्निमें ही 'स्वाहा' का उच्चारण करके उक्त चारों शरीरोंका होम (लय) कर दे।

२. प्रपञ्च-याग भी इसी प्रकार करना होता है। 'ॐ ह्रीं' इस मन्त्रका उच्चारण करके सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका चिन्तन करते हुए 'अ' से लेकर 'क्ष' तककी वर्णमालाको अनुलोम-क्रमसे (अं आं·········इत्यादिरूपसे) उच्चारण करे। फिर समस्त प्रपञ्चको सच्चिदानन्दमय परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ देखकर उसके भी सच्चिदानन्दमय होनेकी भावना करे। तत्पश्चात् 'हंसः, सोऽहम्' इस प्रकार प्राणाग्निहोत्रकी अपेक्षा उलटे क्रमसे जप तथा साथ-ही-साथ परमात्मा और जीवकी एकताका चिन्तन करते हुए उस चिन्तनमय अग्निमें 'स्वाहा' का उच्चारण करके समस्त प्रपञ्च होम दे—विलीन कर दे।

३. यह 'सकलः' का अर्थ है। इसके द्वारा सकलीकरण नामक न्यासकी ओर संकेत किया गया है। पहले इस उत्तरतापनीयके प्रथम खण्डमें बताये अनुसार इस आत्माको 'ॐ' इस नामके द्वारा प्रतिपादित होनेवाले ब्रह्मके साथ एकता करके तथा ब्रह्मकी आत्माके साथ ओंकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके, वह एकमात्र जरारहित, मृत्युरहित, अमृतस्वरूप, निर्भय, चिन्मय तत्त्व 'ॐ' है—इस प्रकार अनुभव करे। तत्पश्चात् उस परमात्मस्वरूप ओंकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन शरीरोंवाले सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-जगत्की कल्पना हुई है—ऐसा विवेकद्वारा अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही है; क्योंकि तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण अवश्य यह तत्स्वरूप (परमात्मस्वरूप) ही है। और इस दृढ़ निश्चयके द्वारा इस जगत्को 'ॐ'के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डाले। इसके बाद चतुर्विध शरीरकी सृष्टिके लिये निम्नाङ्कित प्रकारसे सकलीकरण करे। 'ओम्' का उच्चारण अनेक प्रकारसे होता है—एक तो केवल मकारपर्यन्त उच्चारण होता है, दूसरा बिन्दु-पर्यन्त, तीसरा नाद-पर्यन्त और चौथा शक्ति-पर्यन्त होता है। फिर उच्चारण बंद हो जानेपर उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। सकलीकरणकी क्रिया आरम्भ करते समय पहले 'ओम्' का उपर्युक्त रीतिसे शान्तपर्यन्त उच्चारण करके 'शान्त्यतीतकलात्मने साक्षिणे नमः' इस मन्त्रसे व्यापक-न्यास करते हुए 'साक्षी' का चिन्तन करे। फिर शक्ति-पर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'शान्तिकलाशक्तिपरावागात्मने सामान्यदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए अन्तर्मुख, सत्स्वरूप, ब्रह्मज्ञानरूप सामान्य देहका चिन्तन करे। फिर प्रणवका नादपर्यन्त उच्चारण करके 'विद्याकलानादपश्यन्तीवागात्मने कारणदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए प्रलय, सुषुप्ति एवं ईक्षणावस्थामें स्थित किञ्चित् बहिर्मुख सत्स्वरूप कारणदेहका चिन्तन करे। फिर प्रणवका बिन्दुपर्यन्त उच्चारण करके 'प्रतिष्ठाकलाबिन्दुमध्यमावागात्मने सूक्ष्मदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए सूक्ष्मभूत, अन्तःकरण, प्राण तथा इन्द्रियोंके संघातरूप सूक्ष्मशरीरका चिन्तन करे। फिर प्रणवका मकारपर्यन्त उच्चारण करके 'निवृत्तिकलाबीजवैखरीवागात्मने स्थूलशरीराय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए पञ्चीकृत भूत एवं उसके कार्यरूप स्थूलशरीरका चिन्तन करे।

४. यहाँ 'आधार' शब्द पीठ तथा उसके भी आधारभूत स्थान आदिका बोधक है। उपर्युक्त प्रकारसे उत्पन्न हुआ यह चतुर्विध

अमृतमय, चतुरात्मा[1], सर्वमय[2] एवं चतुरात्मा[3] होकर महान् चतुःसप्तात्मा[4], चतुरात्मा तथा मूलाधारस्थित अग्नि-मण्डलमें पीठके ऊपर परिवारसहित[5] इस प्रणवरूप परमात्माका, जो अग्निरूप हैं, सम्यक् प्रकारसे चिन्तन करे।

देह भगवान्का सपरिकर पीठ अर्थात् आसन तथा मूर्ति है—इस प्रकारकी भावना करनेके लिये 'आधार' शब्दके द्वारा परिकरसहित पीठन्यासकी तथा 'अमृतमय' कहकर मूर्तिन्यासकी सूचना दी गयी है। सच्चिदानन्द पूर्णात्मरूपिणी जो इच्छा, ज्ञान, क्रिया, स्वातन्त्र्य एवं सत्-स्वरूपिणी भगवान्की पराशक्ति है, वही मूर्ति है। इस अमृतमयी मूर्तिकी भावनासे परिपूर्ण होना ही 'अमृतमय' होना है। पीठ आदिकी कल्पनाका प्रकार यों बताया गया है—'ॐ चतुरशीतिकोटिप्राणिजात्यात्मने ब्रह्मवनाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए केश, रोम आदिको एक 'वन' के रूपमें भावनाद्वारा देखे। 'ॐ पञ्चभूतनानारूपात्मकेभ्यः प्राकारेभ्यो नमः' इससे व्यापक करते हुए पञ्चीकृत पञ्चभूत एवं नाम-रूपात्मक सात धातुओंको सात प्राकारों (परकोटों) के रूपमें कल्पित करे। 'ॐ नवच्छिद्रात्मभ्यो नवद्वारेभ्यो नमः' इससे व्यापक करते हुए प्रत्येक प्राकार (घेरे) में नौ-नौ गोपुरों (द्वारों) के रूपमें शरीरके नौ छिद्रोंको ही मान ले। इसी प्रकार स्थूलशरीरको स्थान मानकर सूक्ष्मशरीरको महाराजराजेश्वर आत्माका परिचारक माने। फिर निम्नाङ्कितरूपसे 'संवित्' को राजराजेश्वरद्वार, सकाम-निष्काम वृत्तियोंको द्वारदेवता, काम-वैराग्यको द्वारपाल, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको राज-परिचारक, मनको राजदूत आदिके रूपमें मानकर 'ॐ संविद्रूपेभ्यो राजराजेश्वरद्वारेभ्यो नमः', 'सकामाकामवृत्तिभ्यो द्वारदेवताभ्यो नमः', 'कामवैराग्याभ्यां द्वारपालाभ्यां नमः', 'दिगग्न्याद्यात्मक-श्रोत्रादीन्द्रियरूपिभ्यो राजपरिचारकेभ्यो नमः', 'चन्द्रात्मकाय मनसे राजदूताय नमः', 'ब्रह्मरूपिण्यै सर्वकार्यनिश्चयकर्त्र्यै बुद्ध्यै नमः', 'रुद्ररूपाय सर्वकार्याभिमानकर्त्रेऽहंकाराय नमः', 'विष्णुरूपाय सर्वकार्यानुसंधानकर्त्रे चित्ताय नमः', 'सर्वेश्वररूपाय सर्वाधिकारिणे प्राणाय नमः'—इस प्रकार न्यास, जप अथवा भावना करके सूक्ष्मशरीरको भगवान्की सेवाका उपकरण बनाकर 'गुणत्रयात्मने प्रासादाय नमः' इस मन्त्रसे त्रिगुणमय प्रासाद (महल) की कल्पना करे। फिर बिन्दुपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'परमात्मासनाय नमः' इस मन्त्रसे उसका अपने हृदयके भीतर न्यास करे। साथ ही यह भावना करे कि यह भगवान्के विराजनेके लिये सुन्दर आसन है। तत्पश्चात् पहले बताये हुए किञ्चिद्बहिर्मुख सत्त्वरूप कारण-शरीरको गुणोंकी साम्यावस्थारूप पीठके रूपमें कल्पित करे। फिर शक्तिपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'परमात्ममूर्तये नमः' इस मन्त्रके द्वारा हृदयसे लेकर मस्तकपर्यन्त व्यापक न्यास करते हुए पूर्वोक्त सच्चिदानन्दरूप, अन्तर्मुख सामान्य-शरीरमय ब्रह्मको ही भगवान्की मूर्तिके रूपमें चिन्तन करे। वह मूर्ति ज्ञानपराशक्तिरूपा है। उसके चार हाथ हैं—जो शङ्ख, चक्र, गदा और ज्ञानकी मुद्रासे शोभा पा रहे हैं। सब प्रकारके अलङ्कार उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वह मूर्ति आत्मानन्दानुभवके समुद्रमें गोते लगा रही है।

१. अ, उ, म् तथा ॐ—ये क्रमशः स्थूल देह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह तथा सामान्य देह हैं; इन चारोंका जो आत्मरूपसे चिन्तन करता है, वही चतुरात्मा है।

२. 'सर्वमयः' के 'सर्व' शब्दसे सर्वात्मक विराट् आदि चारों पादोंका प्रतिपादन होता है; इन सर्वात्मक पादोंका न्यास करनेसे साधक सर्वमय होता है। न्यासका क्रम इस प्रकार है—'ऐश्वर्यशक्त्यात्मने द्युलोकाय नमः' इससे दाहिने हाथकी अँगुलियोंद्वारा मस्तकका स्पर्श करे। इसी प्रकार 'ज्ञानशक्त्यात्मने सूर्याय नमः' इससे नेत्रका, 'संहारशक्त्यात्मनेऽग्नये नमः' इससे मुखका, 'क्रियाशक्त्यात्मने वायवे नमः' इससे नासिकाका, 'सर्वाश्रयशक्त्यात्मने आकाशाय नमः' इससे हृदयका, 'इच्छाशक्त्यात्मने प्रजापतये नमः' इससे गुह्यप्रदेश (उपस्थ एवं गुदा)-का तथा 'सर्वाधारशक्त्यात्मने पृथिव्यै नमः' इससे चरणोंका स्पर्श करे। यह सप्ताङ्गन्यास है। पादन्यासका ध्यान और मन्त्र आगे बतायेंगे। इसके बाद उन्नीस मुखोंमें भी न्यास किया जाता है। पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये उन्नीस मुख हैं। प्राण-न्यासके मन्त्र इस प्रकार हैं—'प्रणयनशक्त्यात्मने प्राणाय नमः', 'अपनयनशक्त्यात्मने अपानाय नमः', 'व्यानयनशक्त्यात्मने व्यानाय नमः', 'उन्नयनशक्त्यात्मने उदानाय नमः' तथा 'समनयनशक्त्यात्मने समानाय नमः'। इन्द्रियादिन्यासके मन्त्र इस प्रकार हैं—'अनुसन्धान-शक्त्यात्मने नमः', 'निश्चयशक्त्यात्मने नमः', 'अहङ्कारशक्त्यात्मने नमः', 'सङ्कल्पशक्त्यात्मने नमः', 'श्रवणशक्त्यात्मने नमः', 'स्पर्शनशक्त्यात्मने नमः', 'दर्शनशक्त्यात्मने नमः', 'रसनशक्त्यात्मने नमः', 'घ्राणशक्त्यात्मने नमः', 'वचनशक्त्यात्मने नमः', 'आदानशक्त्यात्मने नमः', 'गमनशक्त्यात्मने नमः', 'विसर्गशक्त्यात्मने नमः', 'आनन्दशक्त्यात्मने नमः'। इन मन्त्रोंद्वारा क्रमशः चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, वाक्, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा आदिमें उन-उनकी शक्तियोंके रूपमें भगवान्का ही निवास है—ऐसी भावना करे। इसके बाद निम्नाङ्कित पाँच मन्त्रोंको पढ़ते हुए व्यापकन्यासपूर्वक चार पादोंका ध्यान करे—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं जागरितस्थानाय स्थूलप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशतिमुखाय स्थूलभुजे चतुरात्मने विश्वाय वैश्वानराय पृथिव्यृग्वेद-ब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्याकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने प्रथमपादाय नमः ॥ १ ॥

सप्तात्मा चतुरात्मा अकाररूप ब्रह्माका नाभिमें चिन्तन करे;* सप्तात्मा चतुरात्मा उकाररूप विष्णुका हृदयमें, सप्तात्मा चतुरात्मा मकाररूप रुद्रका भ्रूमध्यमें, सप्तात्मा चतुरात्मा चतुःसप्तात्मा एवं चतुरात्मा ॐकाररूप सर्वेश्वरका

ॐ ज्वलन्तं सर्वतोमुखं स्वप्नस्थानाय सूक्ष्मप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशतिमुखाय सूक्ष्मभुजे चतुरात्मने तैजसाय हिरण्यगर्भायान्तरिक्षयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्न्युकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने द्वितीयपादाय नमः ॥ २ ॥

ॐ नृसिंहं भीषणं भद्रं सुषुप्तस्थानायैकीभूताय प्रज्ञानघनायानन्दमयायात्मानन्दभुजे चेतोमुखाय चतुरात्मने प्राज्ञायेश्वराय द्युसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयमकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने तृतीयपादाय नमः ॥ ३ ॥

ॐ मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सर्वेश्वराय सर्वज्ञाय सर्वशक्तये सर्वान्तर्यामिणे सर्वात्मने सर्वयोनये सर्वप्रभवाय सर्वाप्ययाय सोमलोकाथर्ववेदसंवर्तकाग्निमरुद्विराडेकर्ष्योङ्कारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने चतुर्थपादाय नमः ॥ ४ ॥

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् । नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् । नान्तःप्रज्ञायाबहिष्प्रज्ञायानुभयप्रज्ञायाप्रज्ञायनाप्रज्ञायाप्रज्ञानघनायादृष्टायाव्यवहार्यायाग्राह्यायालक्षणायाचिन्त्यायाव्यपदेश्यायैकात्म्यप्रत्ययसारायामात्राय प्रपञ्चोपशमाय शिवाय शान्तायाद्वैताय सर्वसंहारसमर्थाय परिभवासहाय प्रभवे व्याप्ताय सदोज्ज्वलायाविद्याकार्यहीनाय स्वात्मबन्धहराय सर्वदा द्वैतरहितायानन्तरूपाय सर्वाधिष्ठानसन्मात्राय निरस्ताविद्यातमोमोहायाकृत्रिमाहंविमर्शायोङ्काराय तुरीयतुरीयाय नमः ॥ ५ ॥

इसके बाद पुनः प्रणवसे एक बार व्यापक करके निम्नाङ्कितरूपसे अङ्गन्यास करे—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं पृथिव्यृग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्याकारभूरग्न्यात्मने सर्वज्ञानशक्त्यात्मने हृदयाय नमः । ॐ ज्वलन्तं सर्वतोमुखमन्तरिक्षयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्न्युकारभुवःप्रजापत्यात्मने नित्यतृप्त्यैश्वर्यशक्त्यात्मने शिरसे स्वाहा । ॐ नृसिंहं भीषणं भद्रं द्युसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयमकारस्वःसूर्यात्मनेऽनादिबोधशक्त्यात्मने शिखायै वषट् । ॐ मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सोमलोकाथर्ववेदसंवर्तकाग्निमरुद्विराडेकर्ष्योङ्कारभूर्भुवःस्वर्ब्रह्मात्मने स्वातन्त्र्यबलशक्त्यात्मने कवचाय हुम् । ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् । नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ओंकारभास्वत्यलुप्तवीर्यशक्त्यात्मने नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् । नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् । पृथिव्यकारर्ग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्यान्तरिक्षोङ्कारयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्निद्युमकारसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयसोमलोकोङ्काराथर्ववेदसंवर्तकाग्निमरुद्विराडेकर्षिभास्वतोसत्यात्मनेऽनन्ततेजःशक्त्यात्मनेऽस्त्राय फट् ।

३. चतुरात्मा होकर अर्थात् चतुर्मूर्तिरूपसे आत्माका ही पूजन करके, मूर्तिचतुष्टयमें व्यापक परमानन्दबोधके सिन्धु साक्षीका ध्यान करते हुए उन्हींमें मूर्ति-चतुष्टयके निमग्न होनेकी भावना करे । यही आत्मपूजा है ।

४. महापीठ बहिर्मुख, सदात्मक तथा गुणबीजस्वरूप है । मूलाधारपर स्थित क्रमशः द्वात्रिंशद्-दल, अष्टदल एवं चतुर्दल कमल—इस प्रकार उस महापीठकी आकृति है ।

५. पृथिव्यादि, अन्तरिक्षादि, द्युलोकादि और सोमलोकादि जो चतुर्विध अष्टक हैं, वे ही बत्तीस होकर बत्तीस दलोंमें स्थित हैं । अष्टदल कमलमें सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण, आत्मा, अद्वैत, प्रकाश और विमर्श—इनकी स्थिति है; तथा चतुर्दल कमलमें ब्रह्मसर्वेश्वर, विष्णुसर्वेश्वर, रुद्रसर्वेश्वर तथा सर्वेश्वर-सर्वेश्वर—इन चारोंका अवस्थान है । ये ही सब मिलकर परिवार कहे गये हैं ।

६. अकार, उकार, मकार तथा ओङ्कारसे सम्बद्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और सोमलोक हैं—इन चारोंके साथ वेद, देवता आदि सात-सातका समुदाय है; इसीको लक्ष्यमें रखकर 'चतुःसप्तात्मा' कहा गया है । यद्यपि ये आठ-आठ हैं, तथापि अकार आदिकी गणना न करनेसे सात-सात होते हैं ।

७. समष्टि-व्यष्टिगत स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चतुर्विध स्वरूपोंसे विशिष्ट होनेके कारण उन्हें चतुरात्मा बताया गया है ।

८. अग्निका अर्थ यहाँ चिन्मय प्रकाश समझना चाहिये । 'अग्निरूप' कहनेसे यह ध्वनित होता है कि प्रणवके ध्यानमें हाथ-पैर आदिसे युक्त विग्रहकी कल्पना न करके प्रलयकालीन अग्नि एवं सूर्यके सदृश प्रकाशमय स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये ।

* लोक, वेद, देवता, गण, छन्द, अग्नि और व्याहृतिरूपसे तो अकार सप्तात्मा है और स्थूल, सूक्ष्म, बीज एवं साक्षीरूपसे चतुरात्मा है । यही बात उकार आदिके सम्बन्धमें भी है । 'सप्तात्मा' के साथ भी पूर्ववत् 'परिवारसहित' इस विशेषणका सम्बन्ध है । इसी

द्वादशान्तमें चिन्तन करे।* सप्तात्मा, चतुरात्मा, चतुःसप्तात्मा, चतुरात्मा एवं आनन्दामृतरूप ओङ्कारका षोडशान्तमें चिन्तन करे।† तदनन्तर इन सबका पूर्वोक्त आनन्दामृतद्वारा चार प्रकारसे अर्थात् देवता, गुरु, मन्त्र और आत्मारूपमें पूजन करके और ब्रह्माका ही, विष्णुका ही, रुद्रका ही, पृथक्-पृथक् इन तीनोंका ही और एक साथ भी इन तीनोंका ही तथा ज्योतिर्मय लिङ्गरूपमें ही देवता, गुरु, मन्त्र और आत्मारूपसे चार बार भलीभाँति नाना प्रकारकी भेंट-सामग्रियोंसे पूजन करे। फिर प्रणवके उच्चारणद्वारा उन लिङ्गोंका उपसंहार कर सबको एकीभूत करके अमृतका अभिषेक करे और उस सर्वदेवमय तेजको बढ़ाये।‡

उक्त सर्वदेवतामय तेजसे त्रिविध—स्थूल, सूक्ष्म एवं

प्रकार आगेके वाक्योंमें भी समझना चाहिये। यहाँ अष्टदल कमलमें अकारके सम्बन्धरूपसे बताये गये जो अकारसहित पृथ्वी आदि आठ हैं, वे मानो 'अनुष्टुप्-मन्त्र' के प्रथम पादके आठ अक्षररूप हैं; उन्हींमें स्थित साङ्गोपाङ्ग वेदोंका और चतुर्दल कमलमें स्थित ब्रह्मब्रह्मा, ब्रह्मविष्णु, ब्रह्मरुद्र और ब्रह्मसर्वेश्वरका यहाँ परिवाररूपसे चिन्तन करना चाहिये। आठ दलोंके भीतर पूर्वादि दिशाओंके दलोंमें तो चारों वेदोंका चिन्तन करना चाहिये। और अग्निकोणमें व्याकरण आदि छः वेदाङ्गोंका, नैर्ऋत्यकोणमें मीमांसाका, वायव्यकोणमें न्यायका और ईशानकोणमें इतिहास, पुराण, आगम (तन्त्र), काव्य, नाटक आदिका चिन्तन करना चाहिये। इसी प्रकार चतुर्दल कमलके चार दलोंमेंसे पूर्वमें ब्रह्मसर्वेश्वर, दक्षिणमें ब्रह्मरुद्र, उत्तरमें ब्रह्मविष्णु और पश्चिममें ब्रह्मब्रह्माका चिन्तन करे। इसी प्रकार आगे भी चार मूर्तियोंकी स्थिति समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि प्रणवस्थ अकार जिनका स्वरूप है, ऐसे रजःप्रधान, चन्द्रमण्डलवर्ती श्रीब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मसर्वेश्वरका सरस्वती मूलप्रकृतिके सहित नाभिमें यानी तेजोमण्डलके मध्यभागमें—अष्टदल कमलके मध्यवर्ती चतुर्दल कमलकी कर्णिकामें ध्यान करे।

* इसी तरह उकारके सम्बन्धीरूपमें बताये हुए जो अन्तरिक्ष आदि सात हैं, उनकी दृष्टिसे सप्तात्मा और स्थूल आदि भेदसे चतुरात्मा उकार ही जिनका स्वरूप है, जो श्रीमूलप्रकृतिके साथ हैं, सत्त्वप्रधान हैं और सूर्यमण्डलके मध्यमें स्थित हैं, उन श्रीविष्णु-सर्वेश्वरका, हृदयके अष्टदल कमलमें ध्यान करे। उकारके सम्बन्धीरूपसे वर्णित अन्तरिक्ष आदि अष्टकरूप जो अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पादके आठ अक्षर हैं, वे प्रत्येक दलमें स्थित हैं और उनके भीतर क्रमशः वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण और कल्कि—ये आठ परिवार हैं। उस अष्टदल कमलके मध्यगत चतुर्दल कमलकी मध्य-कर्णिकामें श्रीविष्णुसर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार मकारसम्बन्धी जो द्युलोक आदि अष्टक हैं, वे ही मकारकी गणना न करनेसे सात होते हैं और उन्हींकी दृष्टिसे मकार सप्तात्मा है तथा पूर्ववत् स्थूल-सूक्ष्म आदि भेदसे वह चतुरात्मा है। तादृश मकारस्वरूप रुद्रसर्वेश्वरका भ्रूमध्यमें ध्यान करे। वे उमारूपा मूलप्रकृतिके साथ विराजमान हैं; उनमें तमोगुणकी प्रधानता है और वे अग्निमण्डलमें स्थित हैं। भ्रूमध्यगत अष्टदल कमलके आठ दलोंमें द्युलोकादिरूप अष्टक ही मानो अनुष्टुप्-मन्त्रके तृतीय पादके आठ अक्षररूपमें स्थित हैं और उनमें शर्व, भव, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव, रुद्र एवं उग्र ही परिवाररूपमें विराजमान हैं। इस अष्टदलके भीतर चतुर्दल कमलकी मध्यकर्णिकामें मकारस्वरूप रुद्र-सर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये।

† मकारसम्बन्धी अर्धमात्राके सम्बन्धसे बतायी हुई जो सोमलोक आदि आठ वस्तुएँ हैं, उनमें मात्राकी गणना न होनेसे वे सात होते हैं; उनकी दृष्टिसे ओंकार सप्तात्मा है और पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे चतुरात्मा है। इसके सिवा सम्पूर्ण ॐकारमें अ, उ, म् और अर्धमात्रा—ये चार मात्राएँ हैं; इनमें प्रत्येक मात्राके साथ एक-एक सप्तकका सम्बन्ध है। ओङ्कारमें वे सभी अन्तर्भूत हैं, अतः यह चतुःसप्तात्मा भी है। पहले अर्धमात्राकी दृष्टिसे स्थूलादि-भेदविशिष्ट ओङ्कारको चतुरात्मा कहा गया है; किंतु सम्पूर्ण ओङ्कार भी स्थूल-सूक्ष्म आदि चार भेदोंवाला है, अतः दुबारा उसके लिये 'चतुरात्मा' विशेषण दिया गया है। ऐसे तुरीय प्रणवस्वरूप ओङ्कारका, जो गुणोंकी साम्यावस्थारूप उपाधिसे युक्त एवं शक्ति-मण्डलमें स्थित और मूल-प्रकृतिरूपा मायाके सहित है, द्वादशान्तमें अर्थात् बत्तीस दलोंवाले कमलमें चिन्तन करे। मूलाधारस्थ बत्तीस दलोंमें बताये हुए पूर्वोक्त देवता ही यहाँ परिवार हैं। बत्तीस दलवाले कमलके भीतर सद् आदि अष्टविध मूर्तियोंसे युक्त अष्टदल-कमल है तथा उसकी भी कर्णिकामें व्याप्त चतुर्दल कमलके भीतर ब्रह्मसर्वेश्वर आदि चार मूर्तियाँ स्थित हैं; उसकी मध्यकर्णिकामें ॐकाररूप सर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये। पूर्वोक्त गुणोंवाले ओङ्कारका ही, जो तुरीय तथा आनन्दामृत-स्वरूप है, षोडशान्तमें चिन्तन करे। अधोमुख द्वात्रिंशद्दल, अष्टदल एवं चतुर्दल कमलोंसे तथा उनमें बताये हुए पूर्वोक्त देवतारूप परिवारोंसे युक्त पीठको ही यहाँ षोडशान्त कहा गया है। यह आनन्दामृतरूप तुरीय गुणबीजरूप उपाधिसे युक्त एवं शक्ति-मण्डलमें स्थित है।

‡ यहाँ चतुर्मूर्तियोग, ब्रह्मयोग, विष्णुयोग, रुद्रयोग, भेदयोग, अभेदयोग और लिङ्गयोगका क्रमशः उल्लेख हुआ है। प्रणवका

कारणरूप शरीरको व्याप्त करके उनके अधिष्ठानभूत आत्माको सब ओरसे प्रकाशित करे अर्थात् सर्वव्यापक आत्माका तेजोमय स्वरूपमें चिन्तन करे। फिर उस तेजका—आत्म-चैतन्यरूप बलका निरोध करके उसके गुणोंसे अर्थात् स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व, साक्षित्व आदि पूर्वोक्त गुणोंसे वाच्य-वाचक (परमात्मा एवं ओङ्कार) की पूर्ववत् एकता करे। तदनन्तर महास्थूलको महासूक्ष्ममें और महासूक्ष्मको महाकारणमें विलीन करके अकार, उकार और मकार—इन मात्राओंसे (जो क्रमशः विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर-रूपा हैं) एकका दूसरीमें लय करते हुए सबका तुरीय ओङ्कार-में लय करे। फिर पूर्ववत् ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पका चिन्तन करते हुए सबको अविकल्पमें लीन करके अविकल्परूप परमात्माका चिन्तन करे और उन्हींमें सबका उपसंहार कर दे।

उच्चारण करके अमृतका स्राव करे। अमृत-स्राव भावनाका विषय है। पूर्वोक्त ब्रह्मसर्वेश्वर आदि चारों मूर्तियोंकी, नाना प्रकारकी भेंट-सामग्रियोंसे, चतुर्विध पूजा करके उन मूर्तियोंको तेजसे प्रकट हुई मानकर उनका तेजोमय चार लिङ्गरूपसे चिन्तन करे तथा मन्त्रराज नारसिंहसहित प्रणवका उच्चारण करके भावनाद्वारा उक्त चारों लिङ्गोंको एक रूपमें परिणत करके उसपर अमृतका स्राव करे—यह चतुर्मूर्तियोग है। 'ब्रह्माका ही' इस वाक्यांशके द्वारा ब्रह्मयोग सूचित किया गया है। जिस प्रकार चतुर्मूर्ति-योगमें चार स्थानोंमें चार मूर्तियोंका चिन्तन, पूजन, उन तेजोमयी मूर्तियोंका उपसंहार, एकीकरण और अमृतस्राव आदि विधि बतायी गयी है, उसी प्रकार इस ब्रह्मयोगमें केवल सरस्वतीरूप मूलप्रकृतिसहित सपरिवार ब्रह्मसर्वेश्वरका ही चिन्तन और पूजन आदि करने चाहिये। 'विष्णुका ही' इस वाक्यांशसे विष्णुयोग सूचित किया गया है। पूर्वोक्त चारों मूर्तियोंकी जगह चारों स्थानोंमें विष्णुसर्वेश्वरका ही मूल-प्रकृति श्री तथा परिवारसहित चिन्तन करके पूजन आदि करना विष्णुयोग है। 'रुद्रका ही' इस वाक्यांशसे रुद्रयोगकी सूचना दी गयी है। यहाँ भी चार मूर्तियोंकी जगह चारों स्थानोंमें उमारूपा मूलप्रकृति और पूर्वोक्त परिवारसहित श्रीरुद्रसर्वेश्वरका ही ध्यान एवं पूजन आदि कर्तव्य है। 'विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् रूपमें इन तीनोंका ही' इस वाक्यांशसे भेदयोग सूचित किया गया है। यहाँ चारों स्थानोंमें तीनों प्रकृतियों तथा त्रिविध परिवारोंसहित उक्त ब्रह्मसर्वेश्वर आदि तीनों मूर्तियोंका ही चिन्तन और पूजन आदि करे। इस योगमें सर्वत्र द्वात्रिंशद्दल, अष्टदल और चतुर्दल कमलोंको पूर्वोक्त देवताओंसे विशिष्ट रूपमें ही चिन्तन करना चाहिये। इनमें ब्रह्मा पीतवर्ण और चार मुखोंवाले हैं। उनके चार भुजाएँ हैं और हाथोंमें क्रमशः स्रुक्-स्रुवा, अक्षमाला, दण्ड और कमण्डलु धारण किये हुए हैं। उनके साथ श्वेतवर्णा सरस्वती हैं, जिनके हाथोंमें अक्षमाला, पुस्तक, मुद्रा और कलश शोभा पाते हैं। भगवान् विष्णुका विग्रह विद्युत्के समान कान्तिमान् है; वे अपने चार हाथोंमें चक्र, शङ्ख, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। उनके साथ रक्तवर्णा लक्ष्मी हैं—जिनके हाथोंमें दो कमल, श्रीफल और अभयकी मुद्रा हैं। भगवान् शिवकी कान्ति श्वेत है। वे अपने चार हाथोंमें परशु, हरिण, शूल और कपाल धारण किये हुए हैं। उनके साथ श्यामवर्णा उमा हैं—जो पाश, अङ्कुश, अभय और वर धारण करती हैं। तीनों मूर्तियोंको एक ही पीठपर विराजमान समझना चाहिये। शक्तियोंको उनके अङ्कमें अथवा वाम ऊरुपर बैठी हुई ध्यानमें देखे। कमलके आठ दलोंमेंसे प्रत्येक दलमें वेदादि, वराहादि, शर्वादि तथा सद् आदि इन चतुर्विध अष्टावरणोंका चिन्तन करना चाहिये। 'एक रूपमें भी इनका ही' इस वाक्यांशके द्वारा अभेद-योगकी सूचना दी गयी है। ब्रह्मा आदि तीनोंको एक विग्रहमें ही देखकर अर्थात् इन्हें एकरूप ही मानकर चारों स्थानोंमें इनका चिन्तन और पूजन आदि करे। इनके साथ शक्तियोंकी अविभक्तरूप मूलप्रकृति माया और पूर्वोक्त परिवारोंका भी चिन्तन करना चाहिये। ब्रह्मा आदि तीनोंकी जहाँ एकता है, वही सर्वेश्वर-विग्रह है; अतः यहाँ सर्वेश्वर और मायाशक्तिका ही चिन्तन है। सर्वेश्वरके तीन मुख और छः बाहु हैं। वे अपनी भुजाओंमें हरिण, परशु, शङ्ख, चक्र, अक्षमाला और दण्ड धारण किये हुए हैं। उनके श्रीविग्रहका वर्ण अनिर्देश्य है, वाणीद्वारा उसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं हो सकता। उनकी शक्तिभूता जो माया प्रकृति है, वह भी तीन मुख और छः भुजाओंवाली है। उसके हाथोंमें पाश, अङ्कुश, कमल, कमल-मुद्रा और पुस्तक हैं। उसकी कान्ति भी अनिर्देश्य है। 'लिङ्गरूपमें ही' इस वाक्यांशके द्वारा लिङ्गयोग सूचित किया गया है; शक्ति और परिवारसहित ब्रह्मा आदिका सर्वत्र ज्योतिर्मय लिङ्गरूपसे चिन्तन और पूजनादि करे, यही लिङ्ग-योग है। इन सबके पूजनकी विधि और मन्त्रोंका उल्लेख श्रीविद्यारण्यमुनिद्वारा विरचित दीपिका नामक व्याख्यामें विस्तारके साथ हुआ है। जिज्ञासु साधक वहींसे उनका संग्रह कर सकते हैं। यहाँ अधिक विस्तारके भयसे उल्लेख नहीं किया जा सका है।

चतुर्थ खण्ड

अपने आत्माका पहले तुरीय-तुरीयरूपसे और पीछे भगवान् नृसिंहके रूपमें ध्यान करके ब्रह्मके साथ अपने-आपको एकीभूत करनेकी विधि

पूर्वोक्त इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारको, जो ओतादि-रूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके पूर्वभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशमान है, मन्त्रराज अनुष्टुप्‌का **'नमामि'** पदतक उच्चारण करके, उसके द्वारा नमस्कार करके प्रसन्न करे। प्रसन्न करके भावनाद्वारा संसारके उपसंहारकी शक्ति प्राप्त करे। फिर चार मात्राओंवाले ओङ्कारका उच्चारण करते हुए पहले बताये अनुसार विराट्, तैजस आदिका उत्तरोत्तरमें संहार करके अनुष्टुप्-मन्त्रके अवशिष्ट 'अहम्' पदका उच्चारण करते हुए अपने आत्माका तुरीय-तुरीयरूपसे ध्यान करे।

इसके अनन्तर इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारको ही, जो ओत-अनुज्ञातृ आदिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके पूर्व-भागमें साक्षीरूपसे प्रकाशित हो रहा है तथा जो उग्र, वीर आदि ग्यारह पदोंके गुणोंसे युक्त एकादशात्मा नारसिंह-मन्त्रस्वरूप हैं, उन्हें नमस्कार करके ओङ्कारका उच्चारण करते हुए ओतादिका अनुज्ञातृ आदिमें लय करे। फिर तुरीय-तुरीयको उपलब्ध करके **'उग्रम्'** आदि एक-एक पदसे उग्रत्व आदि गुणोंसे विशिष्टरूपमें भी उन्हींका चिन्तन करते हुए अपने आत्मारूपसे भगवान् नृसिंहका ध्यान करे।

तदनन्तर इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारका ही, जो ओत-अनुज्ञातृ आदिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओंकारके अग्रभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशित हो रहा है, प्रणवके द्वारा ही भलीभाँति चिन्तन करके अनुष्टुप्-मन्त्रके **'उग्रम्'** से लेकर **'मृत्युमृत्युम्'**तक नौ पदोंके साथ सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण और आत्मा—इन ब्रह्मके पाँचों स्वरूपोंमेंसे प्रत्येकका सम्बन्ध होनेसे जो पञ्चविध नवात्मक स्वरूपवाले हैं, ऐसे सच्चिदानन्द-पूर्णात्मस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्मका भलीभाँति ध्यान करे*। तत्पश्चात् अनुष्टुप्-मन्त्रके **'अहम्'** इस पदके द्वारा अपनेको ग्रहण कर **'नमामि'** इस पदके द्वारा नमस्कार करके ब्रह्मके साथ अपने आपको एकीभूत कर दे *।

अथवा केवल अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वारा ही भगवान्‌की सर्वात्मता और सर्वरूपताका चिन्तन करे। ये भगवान् ही 'नृ' (आत्मा) हैं; ये ही सर्वत्र सर्वदा सबके आत्मा हैं। ये ही सिंह (बन्धननाशक) हैं। वे ही श्रुति-स्मृति आदिमें प्रसिद्ध परमेश्वर हैं। क्योंकि वे सर्वत्र सर्वदा सबके आत्म-रूपसे विराजमान होकर सबके अज्ञान आदिको अपना ग्रास बनाते हैं—सभीका अज्ञान दूर करके उन्हें अपना स्वरूप बना लेते हैं। अतः सबके आत्मा (नृ) तथा 'सि' बन्धनका 'ह' अर्थात् नाशक होनेके कारण ये ही एकमात्र नृसिंह हैं। ये ही तुरीय हैं। ये ही उग्र हैं। ये ही वीर हैं। ये ही महान् हैं। ये ही विष्णु हैं। ये ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) हैं। ये ही सर्वतोमुख हैं। ये ही नृसिंह हैं। ये ही भीषण (वायु, सूर्य तथा मृत्युको भी भयभीत करनेवाले) हैं। वे ही भद्र (परम कल्याण एवं आनन्दके निकेतन) हैं तथा ये ही मृत्युके भी मृत्यु हैं। ये ही 'नमामि' (परिपूर्ण ज्ञानानन्द-स्वरूप आत्माको आच्छादित करनेवाले अज्ञानसे शून्य) हैं और ये ही **'अहम्'** पदके एकमात्र आश्रय हैं। इस प्रकार पहले बतायी हुई उपासनासे तथा यहाँ अनुष्टुप-पाद-मिश्रित उपासनासे प्रणवमय परमात्माके ध्यानयोगमें आरूढ हो ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारमें ही अनुष्टुप्-मन्त्रको अन्तर्भूत करके सब कुछ ओङ्कार ही है—इस प्रकार प्रणववाच्य परमात्माका चिन्तन करे।

इसी विषयमें दो मन्त्र हैं, जिनका अन्वय और अर्थ इस प्रकार है—**सिंहम्**=जो वस्तुतः समस्त बन्धनोंको काटने-वाला एवं अविचल होकर भी उपाधिवश या अविवेकके कारण चञ्चल-सा प्रतीत हो रहा है, ऐसे 'सिंह' नामसे कहे हुए आत्माको; **संस्तभ्य**=अपनी ही महिमामें स्थिर करके; **गुणर्धान्**=स्थूलत्व और स्थूलभोक्तृत्व आदि पूर्वोक्त गुणोंसे समृद्ध होकर जो वैश्वानर आदि स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं, ऐसे; **स्वसुतान्**=स्व अर्थात् आत्माके ही स्थूल विश्व आदि पुत्रोंको (जो परमात्माके प्रथम आदि पाद हैं); **ऋषभस्य**=

* ध्यानके समय उच्चारणके योग्य वाक्य इस प्रकार होगा—ॐ उग्रं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्म चिन्तयामि। ॐ वीरं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्म चिन्तयामि। इसी प्रकार 'मृत्युमृत्युम्' पदतक नौ वाक्य होंगे। इसके बाद फिर इसी क्रमसे 'सदात्मानम्' की जगह 'चिदात्मानम्' कर दिया जायगा; उसके भी नौ वाक्य होंगे। फिर 'आनन्दात्मानम्' कर देनेसे उसके भी नौ वाक्य होंगे। इसी प्रकार 'पूर्णात्मानम्' और 'प्रत्यगात्मानम्' का भी क्रमशः सन्निवेश करनेमें ९-९ वाक्य और भी होंगे।

* नमस्कार-वाक्य भी इसी प्रकार ४५ हो सकते हैं। उदाहरणके लिये एक लिख दिया जाता है—'ॐ उग्रं सच्चिदानन्दपूर्ण-प्रत्यक्सदात्मानं (चिदात्मानं इत्यादि.) नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि।' ब्रह्मके साथ आत्माको एकीभूत करना भावनाद्वारा ही होता है।

वेदोंमें प्रधान प्रणवकी; **अङ्गैः**=अकार आदि मात्राओंसे; **संयोज्य**=परस्पर समानताके कारण संयुक्त करके अर्थात् पहले बताये अनुसार ॐकारकी मात्राओं तथा परमात्माके प्रथम-द्वितीय आदि पादोंकी एकताका अनुभव करके; **हृत्वा**=स्थूलका सूक्ष्ममें और सूक्ष्मका कारणमें लय करते हुए इसी क्रमसे सबका तुरीयमें संहार करके; **वश्याम् (कृत्वा)**=वहाँ कारणरूपा मायाको पूर्वोक्त ओतंयोगके द्वारा अपने वशमें करके; **स्फुरन्तीम् (मत्वा)**=अनुज्ञातृ-योगके द्वारा 'आत्म-सत्ताके अधीन ही उसकी सत्ता और स्फूर्ति है' ऐसा अनुभव करके; **असतीम् (कृत्वा)**=अनुज्ञायोगके द्वारा उसकी पृथक् सत्ताका अभाव-सा करके; **निपीड्य**=उसे साक्षी चैतन्यमें निमग्न (विलीन) कर दे । यों करनेके पश्चात्; **सिंहेन संभक्ष्य**=अज्ञान आदिसे सर्वथा असम्पृक्त विशुद्ध बोधमय परमात्माके साक्षात्कारद्वारा उस मायाके आवरणको छिन्न-भिन्न करके अथवा मन्त्रराज नारसिंहके जपद्वारा तुरीय-तुरीय परमात्माका चिन्तन करते हुए भगवान् और उनके मन्त्रके प्रभावसे मायाका सर्वथा संहार करके; [**यः स्थितो भवति**=जो स्थित होता है;] **स एष वीरः**=वही यह उपासक वीर है—उसको कभी संसारसे पराभव नहीं प्राप्त होता ।

अङ्गप्रोतान्=प्रणवकी मात्राओंसे व्याप्त चतुः-सप्तात्मा विराट् आदि तथा ब्रह्मसर्वेश्वर आदिको; **पदा स्पृष्ट्वा**=अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रत्येक पादसे संयुक्त करके अर्थात् प्रणवकी मात्राओं तथा अनुष्टुप्के पादोंकी पूर्ववत् एकताका चिन्तन करके; **हृत्वा**=क्रमशः उनका पूर्वोक्त रीतिसे संहार करके; **ताम्**=उस कारणरूपा मायाको; (जिसने) **स्वयम् अग्रसन्**=स्वयं ग्रस लिया अर्थात् पूर्वोक्तरूपसे परमात्मतत्त्वके अनुभवसे मायाका सर्वथा संहार कर दिया; [**सः**=वह विद्वान् उपासक;] **नत्वा**=इसी खण्डमें बतायी हुई रीतिसे भगवान्-को नमस्कार करके; **च**=तथा; **बहुधा दृष्ट्वा**=मन्त्रराज नारसिंहके पदोंके अनुसार उग्र, वीर आदि बहुत-से रूपोंमें भगवान्का साक्षात्कार करके; **स्वयं नृसिंहः सन् उद्बभौ**=स्वयं नृसिंहस्वरूप होकर अथवा मनुष्योंमें श्रेष्ठ होकर उद्भासित होता है, अथवा उसके समक्ष स्वयं भगवान् नृसिंह तेजोमय स्वरूपसे प्रकट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार ये मन्त्र हैं । इन दो मन्त्रोंमें प्रथमसे लेकर चतुर्थ खण्डतकके अभिप्रायका संक्षेपतः संग्रह हो गया है ।

पञ्चम खण्ड

अनुष्टुप्-मन्त्रका ओंकारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माके चिन्तनकी विधि

(पहले बताया गया है कि अनुष्टुप्-मन्त्रका ओङ्कारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माका चिन्तन करे । अब प्रश्न होता है कि कैसे अनुष्टुप्का प्रणवमें अन्तर्भाव हो और किस प्रकार उसके द्वारा परमात्माका चिन्तन हो । इस जिज्ञासा-का समाधान करनेके लिये इस खण्डका आरम्भ हुआ है । 'अथ' शब्द प्रकरणके आरम्भका सूचक है ।) ओङ्कारकी प्रथम मात्रारूप यह अकार आप्ततम (अतिशय व्यापक) अर्थवाला ही है । अतः यह आप्ततम (अतिशय व्यापक) अर्थवाले आत्मामें ही संगत होता है; सबके आत्मा भगवान् नृसिंहमें—नृसिंह नामसे प्रसिद्ध परब्रह्ममें ही यह गतार्थ होता है; क्योंकि यह अकार ही आप्ततम (अतिशय व्यापक) है । यही साक्षी है । यही ईश्वर है । अतः यह सर्वगत है—सर्वत्र व्यापक है; इससे भिन्नरूपमें यह संपूर्ण जगत् कोई अस्तित्व नहीं रखता; क्योंकि यही व्याप्ततम—अतिशय व्यापक है । यह सब जो कुछ दिखायी देता है, यह आत्मा ही है । जो यह आत्मा है, वही यह सब कुछ है । जो कुछ प्रतीत होता है, सब मायामात्र है । आत्मा या अकारसे भिन्नरूपमें इसकी सत्ता नहीं है । यह अकार ही उग्र है; क्योंकि यही व्याप्ततम—अतिशय व्यापक है । यह अकार ही वीर है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही महान् है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही विष्णु है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही ज्वलन् (सब ओर देदीप्यमान) है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही नृसिंह है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही भीषण है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही भद्र है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही 'नमामि' (आत्मतत्त्वका आच्छादन करनेवाले अज्ञानसे शून्य) है; क्योंकि यही व्याप्ततम है । यह अकार ही 'अहम्' है; क्योंकि यही व्याप्ततम है ।

जो इस प्रकार जानता है, वह नित्यमुक्त आत्मा ही हो जाता है । वह नृसिंहस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है । वह कामनारहित होता है । उसके मनसे सब लौकिक कामनाएँ

निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। मृत्युके पश्चात् उसके प्राण उत्क्रमण (कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन) नहीं करते; यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहलेसे ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको ही प्राप्त होता है (केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)।

यह ॐकारकी दूसरी मात्रा जो उकार है, वह उत्कृष्टतम (अतिशय श्रेष्ठ) अर्थवाला ही है। अतः यह अतिशय श्रेष्ठ अर्थवाले आत्मामें अर्थात् नृसिंहदेवस्वरूप परब्रह्ममें ही गतार्थ होता है। इसलिये यह उकार सत्यस्वरूप है। इससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं है। असत् होनेके कारण वह सब अमेय है—उसमें मान-सम्बन्धकी योग्यताका अभाव है। वह अनात्मप्रकाश है—दूसरेसे प्रकाशित होनेवाली वस्तु है; उसमें स्वयं अपनेको प्रकाशित करनेकी क्षमता न होनेसे वह असत् है। यह उकारस्वरूप आत्मा स्वप्रकाश है—अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है। ('मैं हूँ' इस तथ्यको हृदयङ्गम करनेके लिये अन्य प्रकाश या प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती; इसका अनुभव स्वतः होता है।) असङ्ग है; अतः अपने सिवा दूसरी किसी अनात्म वस्तुको नहीं देखता। इसीलिये इसे अन्य किसी नामसे ख्याति नहीं प्राप्त हुई; यह केवल सर्वोत्कृष्ट आत्ममात्र है। यह आत्मस्वरूप उकार ही अनुष्टुप्-मन्त्रका अङ्गभूत उग्र है—उसके उग्रत्व-गुणसे विभूषित है; क्योंकि यही उत्कृष्ट (सर्वश्रेष्ठ) है। यह उकार ही वीर है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही महान् है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही विष्णु है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही नृसिंह है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही भीषण है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही भद्र है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही 'नमामि' है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही 'अहम्' है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। इसलिये आत्माको ही उकारके रूपमें जाने।

जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही होता है—श्रीनृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनासे रहित होता है। उसके मनसे सब लौकिक कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। मृत्युके पश्चात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते (कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन नहीं करते); यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहलेसे ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको प्राप्त होता है (केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)।

ओङ्कारकी यह तीसरी मात्रा जो मकार है, वह महाविभूति (असीम ऐश्वर्य) के अर्थमें है। यह महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न आत्मामें—श्रीनृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्ममें ही गतार्थ होता है। इसलिये यह मकाररूप आत्मा अनल्प (महान्) है, अभिन्न-रूप (अद्वितीय) है, स्वप्रकाश—अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है तथा यह मकारस्वरूप आत्मा ब्रह्म ही है। यही अतिशय व्यापक और अतिशय श्रेष्ठ है। यह ब्रह्म ही सर्वज्ञ, महामायावी तथा महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही उग्र है; क्योंकि यही महाविभूति (परमैश्वर्य) से सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही वीर है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही महत् है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही विष्णु है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकार-स्वरूप ब्रह्म ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही नृसिंह है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही भीषण है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही भद्र है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही 'नमामि' है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही 'अहम्' है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है।

इसलिये अकार और उकारके द्वारा इस अतिशय व्यापक, अतिशय उत्कृष्ट, चिन्मात्रस्वरूप, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सबको अपनेमें लीन करनेवाले, सबकी प्रीतिके एकमात्र आश्रय, केवल सच्चिदानन्दमय, एकरस आत्माका—जो इस सत्, चित् आदिके वाच्यभेदसे होनेवाली भेद-प्रतीतिके पूर्वसे ही सबके साक्षीरूपमें भलीभाँति प्रकाशित है—अनुसन्धान

(चिन्तन) करके मकारके द्वारा उसे अतिशय व्यापक, अतिशय उत्कृष्ट, चिन्मात्रस्वरूप, महामायायुक्त, महाविभूति-सम्पन्न केवल सच्चिदानन्दमय एकरस परब्रह्मरूपमें ही जाने। जो इस प्रकार जानता है; वह आत्मा ही होता है; वह श्रीनृसिंहदेव-स्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनासे रहित होता है। उसके मनसे समस्त कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। उस विद्वान् उपासकके प्राण कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन नहीं करते, यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहले ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको प्राप्त होता है (उसका ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)। इस प्रकार उन प्रसिद्ध प्रजापतिने देवताओंसे कहा।

षष्ठ खण्ड

अपने-आपको प्रणवके वाच्यार्थ परब्रह्ममें विलीन करनेकी विधि

(प्रजापतिके द्वारा पूर्वोक्त उपदेश सुननेके अनन्तर) उन देवताओंने परमात्मतत्त्वका अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करनेकी इच्छा की (अतः तदनुकूल साधन—ध्यान आदिमें लग गये)। इसी समय पापात्मा असुर-भावने (विषयासक्ति, अविवेक और अभिमान आदिके रूपमें वहाँ आकर) उन प्रसिद्ध देवताओंको सब ओरसे ग्रस लिया—उन्हें ध्यानसे हटाकर विषयोंकी ओर प्रवृत्त कर दिया। (किंतु कुछ साधन कर लेनेसे उनका विवेक जाग्रत् हो चुका था; अतः) वे देवता सोचने लगे—"अहो! इस पापात्मा असुर-भावको (जो हमारे पुरुषार्थ-साधनमें विघ्न डाल रहा है) हम ही क्यों न अपना ग्रास बना लें—परमात्म-चिन्तनमें लगकर इसे नष्ट क्यों न कर डालें। इस प्रकार विचार करके उन्होंने ओंकारके सम्मुख प्रकाशित होनेवाले इन्हीं तुरीय-तुरीय परमात्माको, जो उग्र भी हैं और अनुग्र (शान्त) भी, वीर भी हैं और अवीर भी, महान् भी हैं और अमहान् (लघु) भी, विष्णु (व्यापक) भी हैं और अविष्णु (अव्यापक) भी, 'ज्वलन्' (सब ओरसे प्रकाशमान) भी हैं और अज्वलन् (अप्रकाशमान) भी, सर्वतोमुख (सब ओर मुखोंवाले) भी हैं और असर्वतोमुख भी, नृसिंह (बन्धननाशक आत्मारूप) भी हैं और अनृसिंह भी; भीषण (भयानक) भी हैं और अभीषण (सौम्य) भी, भद्र भी हैं और अभद्र भी; मृत्युमृत्यु भी हैं और अमृत्यु-मृत्यु भी; 'नमामि' (अज्ञानशून्य) भी हैं और 'अनमामि' भी; 'अहम्' भी हैं और 'अनहम्' भी; उन्हें श्रीनृसिंहदेव-सम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जान लिया। तब उनके ऊपर आक्रमणके लिये आया हुआ वह पूर्वोक्त पापात्मा असुर-भाव तुरीय-तुरीय परमात्माके चिन्तनके प्रभावसे स्वयं भी सच्चिदानन्दघन ज्योतिःस्वरूप हो गया। इसलिये जिसके अन्तःकरणका मल अथवा वासना-जाल परिपक्व होकर नष्ट-प्राय नहीं हो गया है, वह इन्हीं ओंकारके सम्मुख प्रकाशमान तुरीय-तुरीय परमात्माको श्रीनृसिंहदेवसम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जान ले। इससे उसके अन्तःकरणमें प्रकट हुआ पापात्मा असुर-भाव सच्चिदानन्दघन ज्योतिःस्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार कारणात्मक ज्योतिःस्वरूपताको प्राप्त हुए वे देवगण (अन्तःकरणके अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण) उस ज्योतिसे भी ऊपर उठनेके इच्छुक हुए; क्योंकि द्वितीयसे वे भयको ही देख रहे थे। फिर तो उन्होंने ओंकारके सम्मुख प्रकाशित होनेवाले इन्हीं तुरीय-तुरीय परमात्माका श्रीनृसिंहदेवसम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रद्वारा अनुसन्धान करके प्रणवके द्वारा ही उनमें स्थिति प्राप्त की। उन्हें प्राप्त हुई वह कारणात्मक ज्योति इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित, प्रतीतिके अविषय, अद्वितीय, अचिन्त्य, अलिङ्ग, स्वप्रकाश, आनन्दघन, विशेषशून्य परब्रह्मस्वरूप ही हो गयी। इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् स्वप्रकाश परब्रह्म ही हो जाता है।

(इस प्रकार तुरीय-तुरीय परमात्मामें निष्ठाकी योग्यता प्राप्त हो जानेपर) वे देवता पुत्रैषणा (पुत्र-कामना), वित्तैषणा (धन-कामना) और लोकैषणा (लोकमें सम्मान, यश आदिकी कामना) से तथा उन्हें चरितार्थ करनेके साधनोंसे भी ऊपर उठकर—उन सबकी इच्छा और प्रयत्न-का सर्वथा त्याग करके, घरोंसे निकलकर अहंकाररहित एवं परिग्रहशून्य हो, शिखा और यज्ञोपवीतका भी त्याग करके—संन्यासी होकर अंधे, बहरे, भोले-भाले, नपुंसक, गूँगे और पागलोंकी भाँति इधर-उधर विचरते हुए, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान (और श्रद्धा)—इन छः साधन-सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होते हुए आत्मामें ही रमण, आत्मासे

ही क्रीडा, आत्मासे ही संयोग और आत्मामें ही आनन्दका अनुभव करते हुए तथा प्रणवको ही स्वप्रकाश, विशेषणशून्य, परब्रह्म जानते हुए उसीमें लीन हो गये। इसलिये देवताओंके व्रतका आचरण करते हुए प्रणवके वाच्यार्थभूत परब्रह्ममें विलीन हो जाय। इस प्रकार जानने और करनेवाला विद्वान् आत्मासे ही आत्माको परब्रह्मरूपमें देखता है। इस विषयमें यह श्लोक है—

शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत्।
शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबद्ध्य त्रयो देवा उपासते॥

शृङ्गेषु=प्रणवकी अकार, उकार और मकार—इन मात्राओंमें; **अशृङ्गम् संयोज्य**=अवयवशून्य तुरीय परमात्माका संयोग करके अर्थात् परमात्माको ही ओंकारका वाच्यार्थ जानकर; **सिंहम्**=नृसिंहदेवतासम्बन्धी मन्त्रराज अनुष्टुप्को; **शृङ्गेषु योजयेत्**=प्रणवकी अकारादि मात्राओंमें नियुक्त करे अर्थात् मन्त्रराज अनुष्टुप्को प्रणवमें ही अन्तर्भूत करे। तत्पश्चात्; **शृङ्गाभ्याम्**=प्रणवकी दो मात्राओं—अकार-उकारद्वारा; **शृङ्गम्**=प्रणवकी एक मात्रा—मकारको; **आबद्ध्य**=बाँधकर अर्थात् मकारमें उनके लयकी भावना करते हुए तीनों मात्राओंकी एकताका बोध एवं चिन्तन करके; **त्रयो देवा उपासते**=तीनों देवता (उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारी) ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेते हैं (इस प्रकार इस श्लोकमें पाँचवें-छठे खण्डोंका सारांश आ गया है)।

सप्तम खण्ड

परमात्मा तथा आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करनेका प्रकार

कहते हैं, देवताओंने प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! पुनः हमें ज्ञानोपदेश कीजिये।' यह सुनकर प्रजापति बोले—'तथास्तु।' फिर उन्होंने इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया—आत्मा अज (जन्मरहित), अमर (मृत्युरहित), अजर (जरारहित), अमृतस्वरूप, अभय, अशोक (शोकहीन), अमोह (मोहशून्य), अनशनाय (भूखरहित), अपिपास (प्याससे रहित) तथा अद्वैत है। और अकार इन सभी विशेषण-शब्दोंका आदिभूत है; अतः अकारके द्वारा इस अजत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट आत्माका अनुसन्धान (चिन्तन) करके*, फिर उदुत्कृष्ट[1] (अतिशय श्रेष्ठतम), उदुत्पादक (सबके स्रष्टा), उदुत्प्रवेष्टा (परमात्मारूपसे संसारकी सृष्टि करके जीवरूपसे प्रवेश करनेवाला), उदुत्थापयिता (नियन्तारूपसे सबको मर्यादामें स्थापित करनेवाला), उदुद्द्रष्टा (विष्णुरूपसे पालन करते समय सदा सबपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनेवाला), उदुत्कर्ता (सर्वोत्कृष्ट कर्ता), उदुत्पथवारक (स्वयं बुद्धि, विवेक और सहारा देकर सबको सदा कुमार्गसे निवृत्त करनेवाला), उदुद्ग्रासक (रुद्ररूपसे सबके परम संहारक), उदुद्भ्रान्त (कारणरूपसे सर्वत्र व्यापक) तथा उदुत्तीर्णविकृति (साक्षीरूप होनेसे सब विकारोंके ऊपर उठे हुए) होनेके कारण उकारके द्वारा परम-सिंह[1] (परब्रह्म) का अनुसन्धान (चिन्तन) करे। (सारांश यह कि ब्रह्म उत्कृष्टत्व आदि गुणोंसे युक्त है, अतः ये 'उदुत्कृष्ट' आदि शब्द उन-उन गुणोंसे विभूषित ब्रह्मके वाचक हैं; तथा 'उदुत्कृष्ट' आदि सभी विशेषणोंका आदि अक्षर उकार है; अतः यह उकार भी तत्तच्छब्दस्वरूप ही है। इस प्रकार समानाधिकरणता होनेसे उकारके द्वारा परब्रह्मका चिन्तन करना चाहिये।) तत्पश्चात् अकारस्वरूप इस आत्माको उकारके पूर्वार्धभागस्वरूप ब्रह्मके प्रति आकृष्ट करे—आत्माकी ब्रह्मके साथ एकता करे, अर्थात् आत्माको ब्रह्मस्वरूप जाने। फिर उकारके उत्तरार्धभाग अर्थात् उत्तर मात्राद्वारा पूर्वोक्त ब्रह्मको ग्रहण करके मकारके अर्थभूत इस आत्माके साथ एकीभूत करे—ब्रह्म और आत्माको एक जाने। प्रणवकी तीसरी मात्रा मकारके द्वारा आत्माका ग्रहण इसलिये किया जाता है कि मकार और आत्मा दोनों ही महत् (सर्वव्यापी), महस् (चिन्मय तेजसे युक्त), मान (सर्वसाधक प्रमाणस्वरूप), मुक्त (सब प्रकारके बन्धन और परतन्त्रतासे

* आगे आनेवाले 'आत्मना एकीकुर्यात्' (आत्मासे एकाकार करे) इस वाक्यके साथ सम्बन्ध होनेपर वाक्य पूरा होता है। यहाँ आत्माके दस विशेषण दिये गये हैं। उनमें चारके द्वारा उसमें देहधर्मका निराकरण किया गया है। फिर तीनके द्वारा बुद्धि-धर्मका, दोके द्वारा प्राण-धर्मका और एकके द्वारा सामान्यतः सभी प्रकारके धर्मोंका निषेध किया गया है।

१. उत्कृष्टत्वधर्मादुत्कृष्टत्वे सति उत्कृष्टत्वम् उदुत्कृष्टत्वम्=उत्कर्षसूचक धर्ममात्रसे उत्कृष्टता रखकर जो उत्कृष्टत्व होता है, वही 'उदुत्कृष्टत्व' है। सब प्रकारके सांसारिक धर्मोंसे रहित होते हुए सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट होना ही ब्रह्मकी उदुत्कृष्टता है।

१. बन्धनकारक अज्ञानका नाशक होनेसे 'सिंह' शब्द ब्रह्मका वाचक है।

सर्वथा शून्य), महादेव (परप्रकाशमय), महेश्वर (सर्व-नियन्ता), महासत्, महाचित्, महानन्द—अर्थात् असीम सच्चिदानन्दमय तथा महाप्रभु (संनिधि एवं सत्तामात्रसे सबके प्रवर्तक) रूप हैं। आत्मा महत्त्वादि गुणोंसे विशिष्ट है और मकार 'महत्' आदि शब्दोंका आदि होनेके कारण तत्तत्स्वरूप है। जो यों जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित, तम (मोह एवं अज्ञान) से रहित तथा शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप स्वराट् (स्वयम्प्रकाश ब्रह्म) हो जाता है।

जब कोई किसीसे पूछता है कि 'तुम कौन हो ?' तब वह 'अहम्' (मैं हूँ) ऐसा उत्तर देता है। इसी प्रकार यह समस्त प्राणिसमुदाय 'अहम्' कहकर ही अपनेको सूचित करता है। अतः 'अहम्' यह सबका वाचक है। इस 'अहम्'का आदि अक्षर यह प्रणवकी प्रथम मात्रारूप अकार है। अतः यह अकार भी सबका वाचक होनेसे सर्वरूप है; वह पूर्वोक्त प्रकारसे जाननेवाला विद्वान् वही (सर्वस्वरूप ही) हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् यह आत्मा ही है; क्योंकि यह सबका अन्तरात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् बिना आत्माके नहीं रह सकता। अतः आत्मा ही यह सब कुछ है। अतः सर्वात्मक अकारके साथ सर्वात्मक आत्माका अनुसंधान (चिन्तन) करे। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही यह सब जगत् है। यह सब कुछ सच्चिदानन्दस्वरूप है।

निश्चय ही यह सब कुछ सत्स्वरूप है; क्योंकि 'तत् सत् (वह है)' ऐसी प्रतीति सबको होती है। निश्चय ही यह सब कुछ चित् (चिन्मय) है; 'घट प्रकाशित होता है, पट प्रकाशित होता है' इत्यादि रूपमें सब कुछ प्रकाशस्वरूप (चिन्मय) ही प्रतीत होता है। देवताओ! क्या तुमने समझ लिया कि 'सत्' क्या है? (देवता बोले—) यह-यह सत् है अर्थात् 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाली घट-पट आदि सभी वस्तुएँ सत् हैं। (प्रजापतिने कहा—) नहीं। 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाला सम्पूर्ण जगत् ही असत् (नाशवान्) है; अतः वह सत् नहीं है। 'अनुभूति' ही सत् है। यदि पूछो कि 'यह अनुभूति क्या है ?' तो सुनो। 'इयम्-इयम्' (यह-यह अनुभूति है) यों कहनेसे अनुभूतिका ज्ञान नहीं होता। अनुभूति वाणीका विषय नहीं है, इसलिये प्रजापतिने बिना कुछ कहे ही स्वयं अनुभव करते हुए देवताओंको उसका स्वरूप बताया; स्वतःसिद्ध स्वरूप ही अनुभूति है—यह बात देवताओंको समझायी। इसी प्रकार 'चित्' और 'आनन्द'-को भी बिना कुछ कहे ही स्वयं अनुभव करते हुए प्रजापतिने देवताओंसे बताया। तात्पर्य यह कि स्वतःसिद्ध स्वरूप शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही चित् और आनन्द है, 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाला प्राकृत दृश्य प्रपञ्च नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मके अन्य सब लक्षण भी स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपके ही बोधक हैं। उनका वाणीद्वारा प्रकाशन नहीं हो सकता, वे सब अनुभवैक-गम्य हैं; परंतु केवल मौन हो जानेसे देवता ब्रह्मका स्वरूप अच्छी तरह समझ न सके, इसलिये प्रजापति 'आनन्द' शब्द-के द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका (लक्षणासे) परिचय कराते हैं—वह ब्रह्म परम आनन्द है। उस ब्रह्मका नाम है—'ब्रह्म'। इस 'ब्रह्म' शब्दमें अन्तिम अक्षर मकार है; अतः यह भी ब्रह्म शब्दस्वरूप ही है। इसलिये मकारके द्वारा परम ब्रह्मका अनुसंधान (चिन्तन) करे।

जब कोई किसीसे पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है ?' तब वह मनुष्य, यदि उसको पूछे हुए विषयमें संशय नहीं रहता, तो 'उ' (हाँ, ऐसी ही है) इस प्रकार दृढ़तापूर्वक उत्तर देता है। अतः 'उ' अवधारणार्थक (दृढ़ निश्चयका सूचक) है। इसलिये अ, उ, म्—इन तीन मात्राओंमेंसे अकारके द्वारा इस आत्माका अनुसन्धान (ग्रहण) करके मकारस्वरूप ब्रह्मके साथ उसकी एकता करे और उकारके द्वारा इस एकताके विषयमें निस्संदेह होकर अपना निश्चय प्रकट करे। अर्थात् अ (आत्मा) उ (निश्चय ही) म् (ब्रह्म है) इस प्रकार निश्चित रूपसे जान ले। जो इस प्रकार जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित एवं अज्ञानरहित, केवल सच्चिदानन्दमय स्वप्रकाश आत्मा हो जाता है।

'निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है; क्योंकि वह अत्ता (कारणरूपसे सबका संहर्ता), उग्र (संहारशक्तिसे विशिष्ट), वीर (पराभवको सहन न करनेवाला), महान्, विष्णु (व्यापक), ज्वलत् (सब ओरसे प्रकाशमान), सर्वतोमुख (सर्वव्यापी), नृसिंह (बन्धननाशक परमात्मा), भीषण (काल, वायु और सूर्य आदिको भी भयभीत करनेवाला), भद्र (परम कल्याणमय), मृत्युका भी मृत्यु, नमामि (अज्ञानशून्य) और 'अहम्' ('अहम्' इस नामका परम आश्रय) है।

निश्चय ही यह ब्रह्म सतत—देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित है; क्योंकि वह उग्र, वीर, महत्, विष्णु, ज्वलत्, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्युमृत्यु, नमामि

तथा अहम् है ।* इसलिये प्रणवस्थ अकारके द्वारा परम ब्रह्मका अनुसन्धान (चिन्तन) करके मकारके द्वारा मन आदिके रक्षक तथा मन आदिके साक्षी आत्माका अन्वेषण (चिन्तन) करे । वह साक्षी आत्मा जब सुषुप्ति-अवस्थामें इस कार्य-कारणमय सम्पूर्ण जगत्की उपेक्षा—इसके प्रति अहंता और ममताके भावका त्याग कर देता है, तब यह सब इस ब्रह्मस्वरूप आत्मामें प्रवेश कर जाता—लीन हो जाता है; इससे पृथक् जगत्की सत्ता नहीं रहती । और जब यह जागता है, तब यह सब जगत् फिर इसीसे प्रकट हो जाता है । यह आत्मा अपनेसे ही प्रकट हुए इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको कुछ काल-तक अपनेमें ही स्थापित करके रखता है । फिर अपनेमें ही इसका संहार करके इसको सब ओर व्याप्त कर लेता है । तत्पश्चात् इसे चिन्मय प्रकाशस्वरूपमें परिणत करके अपनेमें ही लीन कर लेता है । इस प्रकार इन समस्त पदार्थोंको ही यह आत्मस्वरूपता प्रदान करता है । (यह सब करनेकी इसमें पूर्ण शक्ति है; क्योंकि) यह अति-उग्र, अतिवीर, अति-महान्, अतिविष्णु (अतिशय व्यापक), अतिज्वलन् (अत्यन्त प्रकाशमय), अतिसर्वतोमुख, अतिनृसिंह, अति-भीषण, अतिभद्र, अतिमृत्युमृत्यु, अतिनमामि (अज्ञानसे अत्यन्त दूर) और अति-अहम् ('अहम्' पदका अन्तिम लक्ष्य) होकर सदा अपनी महिमामें ही स्थित रहता है । इसलिये इस आत्माको अकारके अर्थभूत परब्रह्मके साथ एकीभूत करे और उकारके द्वारा इस एकताके प्रति संदेह-रहित हो जाय । (फिर उस ब्रह्मका मकारके अर्थभूत आत्माके साथ भी एकताका अनुभव और चिन्तन करे ।) जो इस प्रकार जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित तथा अज्ञानरहित केवल सच्चिदानन्दमय स्वयंप्रकाश परमात्म-स्वरूप हो जाता है । इस विषयमें यह श्लोक है—

शृङ्गं शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत् ।
शृङ्गमेनं परे शृङ्गे तमनेनापि योजयेत् ॥

(इस श्लोकमें इस खण्डके भीतर कही हुई सभी बातें साररूपसे आ गयी हैं ।)

शृङ्गम्=प्रणवकी प्रथममात्रा अकारके अर्थभूत आत्माको; **शृङ्गार्धम् आकृष्य**=द्वितीय मात्रा उकारके पूर्वार्ध—ब्रह्मके प्रति आकृष्ट करके अर्थात् आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करके; **अनेन शृङ्गेण योजयेत्**=फिर मकारके अर्थभूत इस आत्माके साथ उकारके उत्तरार्धस्वरूप ब्रह्मको भी संयुक्त करे, अर्थात् ब्रह्मकी आत्माके साथ एकताका चिन्तन करे; **एनम् शृङ्गम्**= 'अहं' शब्दके आदिभूत प्रणवस्थ अकारके अर्थरूप आत्माको; **परे शृङ्गे**=ब्रह्मशब्दके अन्तिम अक्षर मकारसे अभिन्न जो प्रणवस्थ मकार है, उसके अर्थभूत ब्रह्मके साथ (उकारद्वारा एकीभूत करे); **तम्**=उस अन्तिममात्रारूप परमात्माको, जो प्रणवके अकारद्वारा प्रतिपाद्य है; **अनेन अपि योजयेत्**=इस मन आदिके रक्षक एवं साक्षी प्रणवस्थ मकारके अर्थभूत आत्माके साथ संयुक्त करे, अर्थात् परमात्मा और आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करे ।

अष्टम खण्ड

भयरहित ब्रह्मरूप हो जानेकी विधि

पिछले खण्डोंमें प्रणवकी विभक्त (पृथक्-पृथक् की हुई) मात्राओंद्वारा आत्मा एवं परमात्माका प्रतिपादन किया गया । अब तुरीयस्वरूप अविभक्त प्रणवके द्वारा 'ओत', 'अनुज्ञातृ', 'अनुज्ञा' और 'अविकल्प' रूपसे आत्मतत्त्वके बोधका प्रकार बतलाया जाता है । यह प्रसिद्ध है कि यह ब्रह्मस्वरूप† आत्मा सर्वत्र ओत और प्रोत है (सामान्यतः सत्रूपसे सबमें 'ओत' और चिदानन्दस्वरूपसे सबमें 'प्रोत' है । ओत-प्रोतका अर्थ है—पूर्णतः व्यापक) । इस ब्रह्ममय आत्मामें सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि यह सबका आत्मा है । इसीलिये यह सर्वस्वरूप है । (अतएव व्याप्य-व्यापकभाव भी नहीं बन सकता । जब कोई व्याप्य हो, तभी उसमें व्यापक रह सकता है । जब सब कुछ आत्मा ही है, तब व्याप्य कहाँसे आया । इसीलिये श्रुति कहती है—) वास्तवमें आत्मा ओत (व्यापक) नहीं है । निश्चय ही यह आत्मा अद्वितीय है । (अद्वितीय होनेके कारण ही इसे 'ओत' अर्थात् व्यापक भी कहा गया है ।) आत्मा एकमात्र ही है । इसीलिये इसे 'अद्वय' कहा गया है । (अद्वितीयता भी व्यवहारमात्र ही है और समस्त व्यवहार कल्पित हैं; किंतु आत्मा इन कल्पनाओंसे रहित है । अतः) यह अविकल्प है—निर्विशेष है । कोई भी वस्तु, जो आत्मासे भिन्न है, सत् नहीं है । अतएव यह आत्मा 'ओत' अर्थात्

* यहाँ भी उग्र आदि पदोंका भाव वैसा ही है, जैसा ऊपर बताया गया है ।

† सिंहका अर्थ है—ब्रह्मस्वरूप । 'सिं' अर्थात् बन्धनकारक अज्ञानको 'ह' अर्थात् नष्ट करनेवाला ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ।

व्यापकके तुल्य है—व्याप्यकी सत्ता न होनेके कारण यह आत्मा वस्तुतः व्यापक न होकर व्यापकके सदृश है। यह आत्मा 'सद्घनस्वरूप' है (घट-सत्ता पट-सत्ता आदि रूपसे जो सत्के भेद प्रतीत होते हैं, वे वास्तविक नहीं, औपाधिक हैं। घट-पटादि वस्तुओंमें भेद है, सत्तामें नहीं)। इसी प्रकार यह आत्मा चिद्घन और आनन्दघन भी है। (सत्-चित् और आनन्द—इन तीन नामोंसे प्रतिपादित होकर भी) यह वास्तवमें एकरस है। यह किसी भी एक शब्द या एक नामके द्वारा व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता; क्योंकि आत्मा एकमात्र—अद्वितीय है। (इसके समान दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे इसकी तुलना हो सके। अतएव यह वाणीका विषय नहीं है।)

(इस प्रकार आत्माको सर्वत्र ओत-प्रोत बतलाकर अब ॐकारकी सर्वव्यापकता बतलाते हैं—) यह ओङ्कार ओत और प्रोत (व्यापक) है; क्योंकि जब कोई किसी मनुष्यसे पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है ? क्या यह बात ऐसी नहीं है ?' तो उसके उत्तरमें वह ओम् (हाँ) का ही उच्चारण करता है। (अतः सबका वाचक होनेके कारण ओङ्कार सर्वत्र व्यापक है।) निश्चय ही वाणीमात्र ॐकार है। यह सब कुछ वाणीमात्र ही है। इस जगत्में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो बिना शब्दके—बिना नामके हो *। निश्चय ही यह ॐकार चिन्मय है (चित्का अर्थ है चेतना—बोध; ॐकार परमात्माका बोधक है, अतएव चिन्मय है)। यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, चिन्मय ही है। इसलिये परमात्माके लक्षणभूत चिन्मयत्वसे युक्त होनेके कारण यह ॐकार परमेश्वर ही है। इस प्रकार परमेश्वर और ॐकार दोनोंकी चिन्मयता एक ही है। यह ॐकार और परमेश्वररूप एकमात्र ब्रह्म अमृतस्वरूप और सर्वथा भयरहित है। निश्चय ही ब्रह्म अभय—भयसे अत्यन्त दूर है। जो इस प्रकार जानता है, वह भी अवश्य ही भयरहित ब्रह्म हो जाता है। यह इस प्रसङ्गका गूढ़ रहस्य है।

(इस प्रकार तुरीयस्वरूप ॐकार और आत्माकी ओत-रूपता (सर्वव्यापकता) तथा एकता बतलायी गयी। अब उन दोनोंकी अनुज्ञातृरूपता बतलायी जाती है—) निश्चय ही यह आत्मा अनुज्ञाता है; क्योंकि यही इस सम्पूर्ण जगत्को अपना स्वरूप प्रदान करता है। यह सब कुछ जडरूप होनेके कारण स्वतः आत्मवान् नहीं हो सकता—आत्मा ही इसे अपनेमें लीन करके आत्मस्वरूप बना सकता है। वास्तवमें तो यह आत्मा न ओत है न अनुज्ञाता ही; क्योंकि यह असङ्ग और अविकारी है तथा इससे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता भी नहीं है। इसी तरह यह ॐकार भी अनुज्ञाता है; क्योंकि जब कोई किसीसे कुछ माँगते हुए कहता है कि 'क्या मैं आपकी अमुक वस्तुका उपयोग कर लूँ ?' तो वह 'ओम्' (हाँ) यों कहकर ही अपनी अनुमति प्रदान करता है। निश्चय ही वाणीमात्र ओङ्कार है। वाणी ही इन सबके विषय-में अनुमति प्रदान करती है। निश्चय ही यह ओङ्कार चिन्मय है; क्योंकि यह चित्-शक्ति इस सम्पूर्ण अनात्म जगत्को आत्मसात् (अपनेमें लीन) कर लेती है। इसलिये ॐकार साक्षात् परमेश्वर ही है। वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भयरहित है। यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सर्वथा भयशून्य है। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

निश्चय ही यह आत्मा अनुज्ञैकरस (एकरस बोधस्वरूप) है; क्योंकि यह प्रज्ञानघन ही है। इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पूर्वसे ही यह भलीभाँति प्रकाशित है। अतएव घनीभूत चैतन्यस्वरूप ही है। वास्तवमें तो यह आत्मा न ओत है और न अनुज्ञाता ही; क्योंकि यह सब जगह आत्माकी ही अपेक्षा रखनेवाला है। स्वतः तो अनात्म होनेके कारण असत् ही है (इसलिये कौन किसमें व्यापक हो और कौन किसका अनुज्ञाता हो ?)। निश्चय ही यह ॐकार भी अनुज्ञैकरस है; क्योंकि 'ओम्' इस प्रकार कहकर ही मनुष्य किसी वस्तु-के लिये अपनी अनुमति प्रकट करता है। अवश्य ही वाणी-मात्र ॐकार है। क्योंकि वाणी ही अनुमति देती है। निश्चय ही यह ॐकार चिन्मय है, क्योंकि चित् ही अनुज्ञा है। अतः चिन्मय होनेके कारण ॐकार साक्षात् परमेश्वर ही है। इस प्रकार वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सदा भयशून्य है। ऐसी प्रसिद्धि है कि ब्रह्म सर्वथा भयसे रहित ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह भयरहित ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसा इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

अवश्य ही यह आत्मा अविकल्प (निर्विशेष) है; क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। निश्चय ही यह ॐकार भी अविकल्प है; क्योंकि वह भी अद्वितीय ही है। अवश्य ही यह ॐकार चिन्मय है। इसलिये परमेश्वरस्वरूप ही है। इस प्रकार वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं; क्योंकि वह

* वाणीके चार भेद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमेंसे किसी-न-किसीके द्वारा ही वस्तुओंकी प्रतीति होती है।

ब्रह्म विकल्पसे शून्य है। वास्तवमें परमात्मा अविकल्प भी नहीं है; क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है (भेदकी सत्ता होनेपर ही सविकल्प और अविकल्प आदि भेद हो सकते हैं)। इस परमात्मामें कोई भी भेद उपलब्ध नहीं होता। इसमें जो भेद-सा मानता है, वह सैकड़ों और सहस्रों प्रकारसे भेदको प्राप्त होकर—सहस्रों भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता रहता है। इसलिये यह अद्वितीय, स्वयंप्रकाश और महानन्दमय तत्त्व आत्मा ही है। यह ब्रह्म अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भयसे रहित है। ऐसी प्रसिद्धि है कि ब्रह्म भयसे शून्य ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह भयशून्य ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसा इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

नवम खण्ड

प्रणवके द्वारा आत्माको जानकर साक्षिरूपसे स्थित होनेकी विधि

निश्चय ही उन प्रसिद्ध देवताओंने प्रजापतिसे कहा—भगवन्! हमें इस ॐकारके लक्ष्यार्थभूत आत्माका ही उपदेश करें। 'तथास्तु' कहकर प्रजापति बोले—'उपद्रष्टा (समीप रहकर देखनेवाला साक्षी) और अनुमन्ता (अपनेमें ही अध्यस्त प्राण और बुद्धि आदिको संनिधानमात्रसे केवल अनुमति देनेवाला) यह आत्मा 'सिंह' अर्थात् बन्धननाशक परमात्मा ही है, चित्स्वरूप ही है, निर्विकार है और सर्वत्र साक्षिमात्र है। अतएव द्वैतकी सिद्धि नहीं होती; केवल आत्मा ही सिद्ध होता है—एकमात्र आत्माकी ही सत्ता प्रमाणित होती एवं अनुभवमें आती है आत्मा अद्वितीय है—उससे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता नहीं है। मायासे ही अन्य वस्तुकी प्रतीति-सी होती है। निश्चय ही वह उपद्रष्टा आदिके रूपमें बतलाया हुआ यह आत्मा साक्षात् परमात्मा ही है। यह माया ही सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्चके रूपमें भासित होती है। ठीक ऐसी ही बात है। वही यह माया प्राज्ञमें अविद्यारूपसे स्थित होकर उसके स्वरूपपर आवरण डालती है। वही सम्पूर्ण जगत्के रूपमें भासती है। आत्मा तो विशुद्ध परमात्मा ही है। यद्यपि यह स्वप्रकाश (अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला) एवं सर्वज्ञ है, तथापि यहाँ सुषुप्तावस्थामें जानते हुए भी अपने और दूसरेको पृथक्-पृथक् नहीं जानता; क्योंकि उस समय वह अविषयरूप है, सत्तामात्रसे भिन्न किसी भी विषयका उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार वह अज्ञानरूप भी है अर्थात् भेद-ज्ञानको ग्रहण करनेवाले अन्तःकरणके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। यह बात अनुभवसिद्ध है तथा यह तमोमयी (अज्ञानस्वरूपा) माया भी अनुभवसे ही जानी जाती है। इसलिये जड-मोहात्मक, प्रवाहरूपसे अनन्त और अत्यन्त तुच्छ यह दृश्यमान जगत् ही उसका स्वरूप है। यह माया ही इस पुरुषके समक्ष 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाले इस दृश्य-प्रपञ्चको अभिव्यक्त करनेवाली है। यद्यपि यह नित्य निवृत्त है, ढूँढ़नेपर कहीं भी इसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती, तथापि अविवेकी पुरुषोंको यह आत्माकी भाँति अपना स्वरूप ही दिखायी देती है। यह इस चेतन आत्माकी सत्ता और असत्ताका भी दर्शन कराती है (मायाद्वारा प्रकट हुए जगत्का कोई चेतन आत्मा साक्षी अवश्य होना चाहिये—इस युक्तिसे आत्माकी सत्ताका अनुभव होता है; तथा यह माया स्वयं ही आवरण बनकर आत्माके स्वरूपको छिपा देती है, इसलिये उसकी असत्ता-सी प्रतीत होती है)। सिद्धता और असिद्धता तथा स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रताके कारण भी यह आत्माकी सत्ता और असत्ताका भान कराती है।* वही यह प्रसिद्ध माया साधारण वट-बीजकी भाँति एक होकर भी अनेक वटवृक्षोंके समान असंख्य जीवोंके उत्पादनकी शक्तिका केन्द्र है। यह कैसे? सो बतलाते हैं। जैसे एक साधारण वट-बीज अपनेसे अभिन्न अनेकों वट-वृक्षोंको बीजसहित उत्पन्न करके उन सबमें अपनी पूरी शक्तिके साथ मौजूद रहता है, उसी प्रकार यह माया अपनेसे अभिन्न एवं परिपूर्ण क्षेत्रों (शरीरों)को दिखाकर आभासद्वारा चेतन आत्माको जीव और ईश्वरके भेदमें प्रतिष्ठित कर देती है। यह स्वयं ही माया और अविद्या बन जाती है। यह प्रसिद्ध माया अति विचित्र, अत्यन्त दृढ़, अनेक अङ्कुरोंवाली, स्वयं तीन गुणोंमें विभक्त होकर अङ्कुरों-

* अपनी महिमामें स्थित निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप आत्मा, अविद्यासे सम्बन्ध होनेपर, उसके साधकरूपसे प्रकट होता है। अतः उसके स्वरूपकी सिद्धि होनेसे उसको सत्ता प्रमाणित होती है। तथा प्रकृतिस्थ होनेपर आसक्तिवश जब वह जडप्रधान हो जाता है, तब उसके स्वरूपकी सिद्धि न होनेसे उसको सत्ता उपलब्ध नहीं होती। इसी प्रकार वह मायाका भी शासक और अधिष्ठाता होनेके कारण स्वतन्त्र है और अविद्यावश जब अपने स्वरूपको भूल जाता है, तब मायापरवश होनेके कारण अस्वतन्त्र हो जाता है; स्वतन्त्रता उसकी सत्ताका और अस्वतन्त्रता उसकी असत्ताका भान कराती है।

में भी त्रिगुणमय स्वरूपसे स्थित रहनेवाली, सर्वत्र ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपमें उपस्थित और आत्म-चैतन्यसे उद्दीप्त रहनेवाली है। इसलिये सर्वत्र जो गुण-भेदसे त्रिविध स्वरूपकी उपलब्धि होती है, वह आत्माका ही स्वरूप है। कारणरूपमें भी वही स्थित है। मायाके कारण ही जीव और ईश्वरका भेद है। शरीरमें अभिमान रखनेवाला चेतन जीव कहलाता है और उसपर नियन्त्रण रखनेवाला ईश्वर कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टि-शरीरमें अभिमान रखनेवाले जीवका नाम ही 'हिरण्यगर्भ' है। गुण-भेदसे उसके भी तीन रूप हैं। ईश्वरकी भाँति उसमें भी आत्म-चैतन्यका बोध स्वतः प्रकट होता है। यह हिरण्यगर्भ सर्वव्यापी ईश्वर है, क्रिया एवं ज्ञानस्वरूप हैं। सम्पूर्ण क्षेत्र-समुदाय सर्वमय है (क्योंकि वह सर्वात्मक मायासे उत्पन्न है)। सब अवस्थाओं में (छोटे-बड़े सभी रूपोंमें) प्रकट हुए सम्पूर्ण जीव भी सर्वमय हैं। तथापि अल्प शरीरमें अभिमान रखनेके कारण वे अल्प कहलाते हैं। वही यह परमात्मा सम्पूर्ण भूतों, इन्द्रियों, विराट् ब्रह्माण्ड, इन्द्रियाधिष्ठाता देवों तथा अन्नमय आदि पाँच कोशोंकी सृष्टि करके उनमें प्रवेश करता है और प्रवेश करके मूढ़ न होते हुए भी मूढ़की भाँति व्यवहार करता रहता है। यह सब कुछ मायासे ही होता है। (अतः मायाका कार्य होनेसे यह जगत् और तत्सम्बन्धी व्यवहार सब-के-सब मिथ्या ही हैं।) इसलिये यह आत्मा एकमात्र—अद्वितीय ही है। यह सन्मात्रस्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन (मायातीत), विभु (सर्वव्यापक), अद्वैत, आनन्दमय, पर (सर्वोत्कृष्ट) तथा प्रत्यगेकरस (आत्मामें ही एकमात्र रसकी उपलब्धि करनेवाला) है। इन प्रत्यक्ष आदि तथा सत्, चित्, आनन्दकी उपलब्धि आदि प्रमाणोंद्वारा इसका ज्ञान होता है। यह सब कुछ सत्तामात्र ही है। इस कार्य-कारणमय जगत्के पूर्वसे केवल सत्स्वरूप ब्रह्म ही स्वतःसिद्ध है (श्रुति भी कहती है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्')। इस ब्रह्ममें उससे भिन्न दूसरी किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता। ब्रह्ममें अविद्या भी नहीं है; क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप, स्वयम्प्रकाश, सबका साक्षी; निर्विकार और अद्वितीय है। यहाँ इस जगत्में भी देखो—जो कुछ भी है, वह सन्मात्र है। जो सत्से भिन्न है, वह असत् है। इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पनाओंके साक्षीरूपसे सत्यस्वरूप ब्रह्मकी ही पहलेसे उपलब्धि होती है। वास्तवमें कार्यकी सत्ता न होनेसे यह परमात्मा कारणरूप भी नहीं है। यह सत्-स्वरूप ब्रह्म अपने आत्मामें ही स्थित, आनन्दमय, चिद्घनस्वरूप एवं स्वतःसिद्ध है। निश्चय ही किन्हीं अन्य प्रमाणोंसे इसकी सिद्धि नहीं होती। वही विष्णु, वही शिव और वही ब्रह्मा है। अन्य सब रूपोंमें भी वही उपलब्ध होता है। वह सर्वग (सर्वत्र व्यापक) एवं सर्वस्वरूप है। अतएव नित्य-शुद्ध है। उसके स्वरूपका कभी बाध नहीं होता। वह बुद्ध (ज्ञानस्वरूप), सुखरूप आत्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् निरात्मक (आत्मासे शून्य) नहीं है, तथा निरपेक्ष आत्मा भी नहीं है; क्योंकि स्वतन्त्र आत्मा तो इस जगत्की उत्पत्तिके पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है। यह सब जगत् कदापि सत्य नहीं है। आत्मा अपनी ही महिमामें स्थित, सर्वथा निरपेक्ष, एकमात्र साक्षी और स्वयम्प्रकाश है।'

देवताओंने पूछा—'वह नित्य, शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मभूत तत्त्व क्या है?' प्रजापतिने कहा—'वही आत्मा है। उस ब्रह्मके आत्मा होनेमें किसी प्रकारका संशय नहीं करना चाहिये। यह आत्मस्वरूप ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है। यह द्रष्टाका भी द्रष्टा, निर्विकार, साक्षी, नित्य-सिद्ध और अविद्यारहित है; क्योंकि यह बाहर और भीतर है तथा कार्य और कारणका भी निरीक्षण करनेवाला है। यह पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा परे है।' इतना उपदेश देकर प्रजापतिने पूछा—देवताओ! बताओ तो सही, मेरे द्वारा उपदेश दिये हुए आत्माके स्वरूपका तुम्हें साक्षात्कार हुआ कि नहीं? देवता बोले—हमने आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार तो किया; किंतु वह अव्यवहार्य (व्यवहारमें न आनेयोग्य) तथा अल्प है। यह सुनकर प्रजापतिने कहा—'नहीं, आत्मा अल्प नहीं है। वह सबका साक्षी है, निर्विशेष है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। वह सुख और दुःख दोनोंसे रहित है। अद्वितीय परमात्मा है। सर्वज्ञ है, अनन्त है, अभिन्न है तथा द्वैतरहित है। मायाके कारण ही उसकी सदा सम्यक् प्रकारसे उपलब्धि नहीं होती। परंतु वास्तवमें वह प्रकाशित न होनेवाला नहीं है। कारण कि वह स्वयं-प्रकाश है। माया और अज्ञान भी आत्मामें ही कल्पित होनेके कारण आत्मासे भिन्न नहीं हैं। तुम्हीं सब लोग आत्मा हो।' इतना कहकर पुनः प्रश्न किया—'क्या अब भी तुम्हें आत्म-तत्त्वका दर्शन हुआ? यदि हुआ तो अद्वैतरूपसे या द्वैतरूपसे?' देवताओंने कहा—हमें तो द्वैतका ही दर्शन होता है। प्रजापतिने कहा—'नहीं, तुम्हें द्वैतरूपमें आत्माका दर्शन नहीं होता; क्योंकि आत्मा तो तुम्हीं हो। वह तुमसे

भिन्न नहीं है।' तब देवताओंने कहा—भगवन्! अभी पुनः उपदेश कीजिये। प्रजापतिने कहा—'तुम स्वयं ही आत्मा हो। तुमसे पृथक् द्वैतका कहीं दर्शन नहीं होता। यदि तुम्हें द्वैत दिखायी देता है तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो; क्योंकि यह आत्मा असङ्ग है। (जो असङ्ग है, उसका द्वैतके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण उसे द्वैतका दर्शन भी नहीं हो सकता।) तुम अपनेको—आत्माको द्वैतदर्शी मानते हो, इसलिये तुम्हें आत्माका ज्ञान नहीं है।'

अतः तुम्हीं लोग स्वप्रकाश आत्मा हो—तुम स्वयं ही द्वैतरूपमें भासित होते हो, वास्तवमें अद्वैत आत्मा ही हो। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब सत्स्वरूप आत्मा ही है; क्योंकि सब कुछ संवित् (ज्ञान)-स्वरूप है। इसलिये तुम्हीं सत् एवं संविद्रूप आत्मा हो (किंतु इस समय ससङ्ग हो रहे हो—मिथ्या द्वैतके प्रति तुम्हारे मनमें आसक्ति हो रही है)। यह सुनकर वे प्रसिद्ध देवता बोले—'नहीं, ऐसी बात नहीं है। अहो! हम तो असङ्ग ही हैं—हमारी कहीं भी आसक्ति नहीं है।' तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—'यदि तुम असङ्ग हो तो तुम्हें द्वैत कैसे दिखायी देता है?' देवता बोले—'हम नहीं जानते कैसे हमें द्वैत दिखायी देता है।' 'तब तो तुम स्वयं ही द्वैतरूपमें प्रकाशित हो रहे हो। (क्योंकि असङ्ग होनेके कारण आत्माको अपनेसे भिन्न किसी द्वैतका दर्शन नहीं हो सकता। जो कुछ दिखायी देता है, वह आत्मामें ही अध्यस्त है, अतः उससे भिन्न नहीं है)' —यों निश्चयपूर्वक प्रजापतिने कहा। (यदि आपने हमें ससङ्ग, सत्-संविद्रूप बताया है तो ससङ्ग, सत् और संवित् असङ्ग आत्माके लक्षण कैसे हो सकते हैं? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—)'तुम ससङ्ग, सत्संविद्रूप नहीं हो; (तब आपने हमें सत् और संवित्-स्वरूप बताया क्यों?' देवताओंके इस प्रश्नपर प्रजापति बोले—'हमने सत् और संवित्के लक्ष्यभूत आत्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिये ही तुम्हें सत् और संवित् बताया है।) सत् और संवित्—ये दोनों शब्द उसी आत्मतत्त्वको लक्ष्य कराते हैं, जो सृष्टिके पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है। वह अव्यवहार्य (व्यवहारमें न ला सकने योग्य) होता हुआ ही अद्वितीय है। देवताओ! क्या अब भी तुमने आत्माको समझा?' देवता बोले—''हाँ, भलीभाँति समझ लिया; आत्मा विदित और अविदित—दोनोंसे परे है। (मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण तो वह विदितसे परे है और स्वप्रकाश, चिन्मय होनेके कारण अविदितसे परे है।)' तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—वही यह अद्वय ब्रह्म है। वह बृहत् (महान्से भी महान्) होनेके कारण नित्य है; शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप है, सत्य, सूक्ष्म, सब ओरसे पूर्ण, द्वैतरहित, सत्स्वरूप, आनन्दरूप तथा चिन्मात्र आत्मा ही है। किसी भी दूसरेके द्वारा वह व्यवहार्य (वाच्य) नहीं है।

''यद्यपि आत्माको दृष्टि आदिका विषय न होनेके कारण तुम देख नहीं पाते, तथापि इस ब्रह्मको, जो प्रणवका वाच्यार्थ होनेके कारण प्रणवरूप ही है, अपने आत्मरूपमें देखो। वही यह सत्य है। आत्मा ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है। निश्चय ही इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये। हाँ, अवश्य ही यह सत्य है। इस सत्यको विवेकशील विद्वान् ही देख पाते हैं। यह ब्रह्म या आत्मतत्त्व न शब्द है न स्पर्श है, न रूप है न रस है, और न गन्ध ही है। न वाणीद्वारा बोलनेयोग्य है और न हाथसे ग्रहण करनेयोग्य; वह पैरोंसे पहुँचनेयोग्य स्थान भी नहीं है। गुदाद्वारा त्यागने अथवा उपस्थ-इन्द्रियद्वारा विषयानन्दके रूपमें अनुभव करनेयोग्य भी नहीं है। मनसे मनन करनेयोग्य और बुद्धिसे जाननेयोग्य भी नहीं है। अहङ्कारका और चित्तका भी विषय नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पाँचों प्राणोंका भी विषय नहीं है। वह न इन्द्रियरूप है न विषयरूप। उसके न करण है न लक्षण है। वह असङ्ग, निर्गुण, निर्विकार, अनिर्देश्य, सत्त्व, रज एवं तमोगुणसे रहित तथा मायासे शून्य है। वह उपनिषदोंके द्वारा ही लक्षणासे जाननेयोग्य है। भलीभाँति प्रकाशित है। सदा एकरस प्रकाशमय है। इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है। उस अद्वय तत्त्वको 'मैं वह हूँ और वह मेरा स्वरूप है' इस प्रकार देखो।'' यों कहकर वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—देवताओ! क्या इस आत्माको तुमने देखा अथवा नहीं देखा? देवताओंने कहा—'देखा, वह विदित और अविदितसे परे है। अहो! यह माया कहाँ चली गयी? और कैसे इस स्वप्रकाश आत्मामें पहले रह सकी?' प्रजापतिने कहा—उससे क्या? (क्या इस बातको न जाननेसे तुममें कोई न्यूनता आ जाती है?) नहीं, कुछ भी नहीं—देवताओंने कहा। प्रजापति बोले—'इस मायाके लिये आश्चर्य करनेकी आवश्यकता नहीं, तुम स्वयं ही आश्चर्यरूप हो। (क्योंकि तुम्हारे ही आश्रित रहकर माया विचित्र कार्य करनेकी शक्ति पाती है।) परंतु वास्तवमें तुम भी आश्चर्य-

रूप नहीं हो (क्योंकि स्वरूपभूत सत्तामात्रसे ही तुम माया-की आश्चर्यरूपतामें हेतु बनते हो, विकारको प्राप्त होकर नहीं; अतः सर्वदा एकरूप होनेके कारण तुम्हें आश्चर्यरूप भी नहीं कहा जा सकता)'—प्रजापतिने कहा। "जो कुछ बताया गया, इसे 'हाँ' कहकर 'अनुज्ञा' रूपसे स्वीकार करो और इस आत्माके विषयमें बताओ।" आत्मा ज्ञात भी है और अज्ञात भी, देवताओंने उत्तर दिया और कहा—वह ऐसा भी (ज्ञात-अज्ञात भी) नहीं है।

'फिर भी उसके आत्मसिद्ध स्वरूपको तो बताओ ही।' प्रजापतिने जब यों कहा, तब देवता बोले—'भगवन्! हम केवल देखते ही हैं, फिर भी नहीं देखते; हम उसे कहकर बता नहीं सकते। भगवन्! आपको नमस्कार है, हमपर प्रसन्न होइये।' देवताओंका यह कथन सुनकर प्रजापति बोले—डरो मत; पूछो, क्या जानना चाहते हो? देवता बोले—भगवन्! यह अनुज्ञा क्या है? 'यह आत्मा ही अनुज्ञा है,' प्रजापतिने कहा। तब देवता बोले—भगवन्! आपको नमस्कार है; हम आपके ही हैं।

इस प्रकार उन प्रसिद्ध प्रजापतिने देवताओंको उपदेश दिया, उपदेश दिया। इस विषयमें यह श्लोक है—

ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम्।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेत्।
उपद्रष्टारमाव्रजेत्॥

'ओत (व्यापक) आत्माको ओत (प्रणव) के द्वारा जाने। फिर अनुज्ञातारूप प्रणवके द्वारा अनुज्ञाता आत्माको जाने। तत्पश्चात् अनुज्ञा-प्रणवके द्वारा अनुज्ञारूप आत्माको जाने तथा अविकल्परूप प्रणवद्वारा अविकल्परूप आत्माको जानकर उपद्रष्टा-भावको प्राप्त हो—साक्षीरूपसे स्थित हो जाय।'

(इस श्लोकमें आठवें और नवें खण्डोंका संक्षेपसे सार आ गया है। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थ-समाप्ति सूचित करनेके लिये है।)

॥ नवम खण्ड समाप्त ॥ ९ ॥

॥ अथर्ववेदीय श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सत्यकी जय है

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

(मुण्डक० ३।१।६)

सत्यकी ही जय होती है, असत्यकी नहीं; वह देवयानमार्ग सत्यसे ही व्याप्त है, जिससे पूर्णकाम ऋषिगण गमन करते हैं, जहाँ उस सत्यस्वरूप परमात्माका परमधाम है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

महोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम अध्याय

सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन

अब यहाँसे महोपनिषद्का व्याख्यान किया जाता है। उस समय निश्चयपूर्वक एक नारायण थे; न ब्रह्मा थे न रुद्र; न जल था न अग्नि और न सोम थे; न ये द्युलोक और भूलोक थे; न नक्षत्र थे और न सूर्य थे; न चन्द्रमा ही थे। उन्होंने एकाकी रहना पसंद नहीं किया। उन परम पुरुषका अन्तःस्थ सङ्कल्परूपी ध्यान यज्ञस्तोम (महान् यज्ञ) कहलाया। उससे उत्पन्न हुए चौदह पुरुष और एक कन्या। दस इन्द्रिय, ग्यारहवाँ तेजस्वी मन, बारहवाँ अहङ्कार, तेरहवाँ प्राण तथा चौदहवाँ आत्मा—ये ही चौदह पुरुष हैं और पंद्रहवीं बुद्धि ही कन्या है। इनके अतिरिक्त पाँच सूक्ष्मभूतरूपी तन्मात्राएँ तथा पाँच महाभूत—इन पचीस तत्त्वोंका एक पुरुष (विराट् शरीर) बना। उसमें विराट् पुरुषने प्रवेश किया। इस पचीस तत्त्वोंवाले पुरुषसे प्रधान संवत्सर नहीं उत्पन्न होते। कालरूपी संवत्सरसे ही इस पुरुषके संवत्सर उत्पन्न हुए।

पश्चात् उन प्रसिद्ध नारायणने अन्य कामनासे मनमें ध्यान किया; उन अन्तःस्थ ध्यान करनेवालेके ललाटसे तीन नेत्रोंवाला, हाथमें त्रिशूल लिये हुए पुरुष उत्पन्न हुआ। उस श्रीसम्पन्न पुरुषके अङ्गमें यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, स्वाधीन मन, ऐश्वर्य और प्रणवके साथ व्याहृतियाँ, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा सारे छन्द समाश्रित थे। इसी हेतु वह महान् देवता 'ईशान' और 'महादेव' कहलाया।

पश्चात् पुनः नारायणने अन्य कामनासे मनमें ध्यान किया। उन अन्तःस्थ ध्यानीके ललाटसे स्वेद गिरा, वह पसीना फैलकर जल बन गया। उस जलसे हिरण्यमय तेजके रूपमें अण्ड उत्पन्न हुआ, उसमें चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने ध्यान किया। पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद एवं अग्नि देवताका ध्यान किया। पश्चिमकी ओर मुख करके भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद एवं वायु देवताका ध्यान किया। उत्तरकी ओर मुख करके स्वः व्याहृति, जगती छन्द, सामवेद एवं सूर्य देवताका ध्यान किया। दक्षिणकी ओर मुँह करके महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द, अथर्ववेद, तथा सोम देवताका ध्यान किया।

सहस्रों सिरवाले देवताका, जिनके सहस्रों नेत्र हैं, जो सब प्रकारके कल्याणके हेतु हैं, जो सर्वतः व्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सर्वरूप हैं—उन हरि नारायणका ब्रह्माने ध्यान किया। ये परम पुरुष ही विश्वरूप हैं, इन पुरुषपर ही विश्वका जीवन अवलम्बित है; उन विश्वके स्वामी, विश्वरूप, विश्वेश्वरको—क्षीरसागरमें शयन करनेवाले देवताको ब्रह्माने ध्यानमें देखा।

पद्मकोशके समान, सम्यक्रूपसे कोशके आकारमें लम्बायमान अधोमुख जो हृदय है, जिससे निरन्तर सीत्कार-शब्द निकल रहा है, उसके मध्यमें एक महान् ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, जो विश्वको प्रकाशित करनेवाली दीपशिखाके समान दसों दिशाओंमें प्रकाश वितरण करती है; उस ज्वालाके मध्यमें थोड़ी दूर ऊपर उठी हुई एक पतली वह्निशिखा व्यवस्थित है। उस शिखाके बीचमें परमात्माका निवास है; वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही ईशान हैं, वे ही इन्द्र हैं, वे ही अक्षर परम स्वराट् हैं।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

शुकदेवजीको आत्माके सम्बन्धमें जनकका उपदेश; जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका स्वरूप

शुक नामके एक महातेजस्वी मुनीश्वर थे, जो निरन्तर आत्मानन्दके आस्वादनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने उत्पन्न होते ही सत्यकी, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की। इसलिये उन महामना शुकदेवजीने अपने विवेकसे स्वयं—बिना किसी उपदेशके चिरकालतक विचारकर आत्मस्वरूपका निश्चय किया ॥१-२॥

अनिर्वचनीय होनेके कारण, अगम्य होनेके कारण और मनरूपी षष्ठ इन्द्रियमें स्थित होनेके कारण यह आत्मा अणु-परिमाण है, चिन्मात्र है, आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इस परम चिद्‌रूपी अणुके भीतर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डरूपी रेणुकाएँ शक्ति-क्रमसे उत्पन्न और स्थित होकर विलीन होती रहती हैं। बाह्यशून्यताके कारण आत्मा आकाशस्वरूप है और चिद्रूपताके कारण अनाकाशस्वरूप है; उसका निर्देश नहीं किया जा सकता, अतएव वह अवस्तुरूप है; उसकी सत्ता है, अतः वह वस्तुरूप है; प्रकाशात्मक होनेके कारण वह चेतन है और वेदनाका विषय न होनेके कारण वह शिलाके समान है; अपने अन्तःस्थ आत्माकाशमें वह चित्र-विचित्र—नाना प्रकारके जगत्‌का उन्मेष करता है। यह विश्व उसका आत्मप्रकाशमात्र है, अतएव उससे पृथक् नहीं है। जगद्भेद भी आत्मामें ही भासित हो रहा है, अतएव वह भेद भी आत्ममय ही है। वह सबसे सम्बद्ध है, इस दृष्टिसे उसकी सर्वत्र गति है; और उसमें गति न होनेके कारण वह कहीं जाता नहीं। उसका कोई आश्रय न होनेके कारण वह 'नास्ति' रूप है, तथा सत्स्वरूप होनेके कारण 'अस्ति'-रूप है। धनदाताकी परम गति है। जो ब्रह्म आनन्द और विज्ञानस्वरूप है, चित्तके द्वारा सारे सङ्कल्पोंका परित्याग ही जिसका ग्रहण है, जाग्रत् अवस्थाकी प्रतीतिके अभावको ही जिसकी प्रतीति बुद्धिमान् लोग बतलाते हैं, जिसके संकोच और विकाससे जगत्‌का प्रलय और सृजन होता है, वेदान्त-वाक्योंकी जो निष्ठा है तथा वाणीके लिये जो अगोचर है, वही सच्चित्-परमानन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, दूसरा नहीं हूँ—इस प्रकार अपनी ही सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा श्रीशुकदेव मुनिको सब कुछ ज्ञात हो गया। स्वयं प्राप्त हुए परतत्त्वमें वे अविश्रान्त—निरन्तर संलग्न मनसे स्थित हुए। 'यही वस्तु है, वह नहीं' इस प्रकारका विश्वास आत्मतत्त्वमें उनको प्राप्त हुआ और तब, जिस प्रकार जलदके धाराप्रपातसे तुष्ट हुए चातकका चापल्य दूर हो जाता है, उसी प्रकार नाना प्रकारके भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले विषय-चापल्यसे विरत होकर उनका चित्त कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो गया ॥ ३–१३ ॥

एक बार उन विमल प्रज्ञावान् शुकदेवजीने मेरु-पर्वतपर एकान्तमें स्थित हो अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिसे भक्तिपूर्वक प्रश्न किया—'मुनीश्वर! यह जगत्-प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ, किस प्रकार विलीन होता है? यह क्या है, किसका है, कब हुआ है? बतलाइये।' इस प्रकार पूछनेपर आत्मज्ञानी व्यासजी महाराजने शुकको यथावत् सारी बातें बतलायीं; किंतु 'ये सब बातें तो मुझे पहलेसे ही ज्ञात हैं' यों समझकर शुकदेवजीने पिताकी बातोंको अपनी बुद्धिसे वैसा आदर नहीं दिया। इस प्रकार शुकदेवजीके अभिप्रायको समझकर भगवान् व्यासजीने शुकदेव मुनिसे कहा, 'मैं तत्त्वतः इन बातोंको नहीं जानता। मिथिलापुरीमें जनक नामके एक राजा हैं, वे इन सब बातोंको भलीभाँति जानते हैं; पुत्र! तुम उनसे सब कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिताके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर श्रीशुकदेवजीने सुमेरु-पर्वतसे उतरकर भूतलकी ओर प्रयाण किया और वे जनकके द्वारा परिपालित विदेहनगरीमें जा पहुँचे ॥ १४–२० ॥

जब द्वारपालोंने महात्मा जनकको यह समाचार दिया कि 'राजन्! राजद्वारपर महर्षि व्यासके पुत्र श्रीशुकदेव मुनि उपस्थित हैं,' तब शुककी परीक्षाके लिये राजाने अवज्ञापूर्वक केवल इतना ही कहा कि 'वे वहीं ठहरें' इसके बाद राजा सात दिन चुप रहे। तदनन्तर राजा जनकने शुकदेवजीको राज-प्राङ्गणमें बुलवाया। वहाँ भी राजा सात दिनोंतक उसी प्रकार उदासीन रहे। तदनन्तर राजाने उनको अन्तःपुरके आँगनमें बुलवाया, और वहाँ भी सात दिनोंतक राजा शुकदेवजीके सामने नहीं आये। महाराज जनकने अन्तःपुरमें युवती स्त्रियों, नाना प्रकारके भोजन तथा भोग्य-पदार्थोंके द्वारा सौम्यवदन शुकदेवजीका आदर-सत्कार किया। वे भोग और भोज्य पदार्थ व्यास-पुत्र श्रीशुकदेवके मनको उसी प्रकार नहीं हर सके, जिस प्रकार मन्द पवन दृढ़तापूर्वक स्थित हुए पर्वतको चलायमान नहीं कर सकता। शुकदेवजी असङ्ग, समभावापन्न, निर्विकार, मौन और प्रसन्नचित्त होकर निर्मल पूर्णचन्द्रके समान स्थित रहे ॥ २१–२७ ॥

जब राजा जनकने इस प्रकार श्रीशुकदेवजीके स्वभावकी परीक्षा कर ली, तब उन्हें पास बुलाया और प्रसन्नचित्त देखकर उन्हें प्रणाम किया। उनका स्वागत करते हुए राजाने कहा—'आपने अपने सांसारिक कार्योंको निःशेष कर दिया है, आपको सारे मनोरथ प्राप्त हैं; ऐसी स्थितिमें आपकी क्या अभिलाषा है?' श्रीशुकदेव मुनि बोले—'गुरुवर! मुझे शीघ्र और ठीक-ठीक बतलाइये कि यह जागतिक प्रपञ्च कैसे उत्पन्न होता है और किस प्रकार विलीन होता है?' महात्मा जनकने श्रीशुकदेवजीसे सारी बातें यथावत् बतलायीं, इन्हीं बातोंको उनके परम ज्ञानी पिता पहले ही बतला चुके थे। (इसपर शुकदेवजीने कहा—) 'मैंने स्वयं ही विशेषरूपसे इसे जाना था, पूछनेपर मेरे पिताजीने भी यही बातें मुझको बतलायीं। ज्ञानिश्रेष्ठ! आपने भी यही बात बतलायी और यही विषय शास्त्रोंमें भी दिखलायी देता है। मनके विकल्पसे प्रपञ्च उत्पन्न होता है और उस विकल्पके नाश होनेपर इसका नाश हो जाता है। निन्दनीय संसार निःसार है, यह निश्चित है। तब हे महाभाग! यह है क्या वस्तु? मुझे सत्य बात बतलाइये। जगत्के सम्बन्धमें भ्रान्त हुआ मेरा चित्त आपके द्वारा ही शान्तिको प्राप्त कर सकता है' ॥ २८–३५ ॥

राजा जनकने कहा—'शुकदेवजी! तुम सुनो, मैं सारे ज्ञान-विस्तारको कहता हूँ—जो समस्त ज्ञानका सार तथा रहस्यों-का भी रहस्य है, एवं जिसके जाननेसे पुरुष शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। दृश्य जगत् है ही नहीं—यह बोध हो जानेपर मनकी दृश्य-विषयसे परिशुद्धि हो जाती है। जब यह बोध परिपक्व हो जाता है, तब उससे निर्वाणरूपी परमा शान्ति प्राप्त होती है। वासनाओंका जो निःशेष परित्याग होता है, वही श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्ध अवस्थाको साधुजनोंने मोक्ष कहा है। पुनः, जो शुद्ध वासनाओंसे युक्त हैं तथा जिनका जीवन अनर्थोंसे शून्य है एवं जिन्हें ज्ञेयतत्त्व ज्ञात है, महाबुद्धि-मान् शुकदेवजी! वे पुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं। पदार्थ-भावनाकी दृढ़ता ही बन्ध कहलाती है और ब्रह्मन्! वासनाओं-की क्षीणताको ही मोक्ष कहा जाता है ॥ ३६–४१ ॥

'बिना तपःसाधन आदिके, स्वभावतः ही जिसे जगत्के भोग अच्छे नहीं लगते, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यथासमय प्राप्त होनेवाले सुखों और दुःखोंमें अनासक्त हुआ जो न प्रसन्न होता है और न दुखी होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष (उद्वेग), भय, क्रोध, काम और कार्पण्य(शोक)की दृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अछूता रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहङ्कारमयी वासनाको सहज ही त्याग करके स्थित होता है, वह चित्तालम्बनका सम्यक् त्याग करनेवाला जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसकी दृष्टि सदा अन्तर्मुखी रहती है, जिसको न किसी पदार्थकी आकाङ्क्षा होती है और न उपेक्षा, जो सुषुप्तिके समान स्थितिमें विचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदा आत्मामें रत है, जिसका मन पूर्ण और पवित्र है, परमश्रेष्ठ शान्त अवस्थाको प्राप्तकर जो संसारमें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, जो किसीके प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन विचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदयाकाश संवेद्य पदार्थोंके द्वारा तनिक भी क्लिश्यमान नहीं होता, तथा चेतन संवित् ही जिसका स्वरूप है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, धर्माधर्म, फलाफलकी अपेक्षा न करके जो काम करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभावको छोड़कर, मान और मत्सर त्यागकर, निरुद्वेग और संकल्पहीन होकर कार्य करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सर्वत्र स्नेहरहित होकर साक्षीके समान अवस्थित रहता है, तथा बिना किसी इच्छाके कर्तव्यमें लगा रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म और अधर्मको, जगत्के चिन्तनको तथा सारी इच्छाओंको अन्तःकरणसे परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यह सारा दृश्य-प्रपञ्च, जो देखनेमें आता है—इसको जिसने भलीभाँति त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। चरपरे, खट्टे, नमकीन, कड़वे, स्वादिष्ट तथा स्वादहीनको जो एक समान समझकर खाता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। बुढ़ापा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य और दारिद्र्य—सबको रम्य मानकर जो उपभोग करता है, वह जीवन्मुक्त है। धर्म और अधर्म, सुख-दुःख, तथा जन्म और मरण—इनको जिसने हृदयसे पूर्णतः त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त है। जो समत्वपूर्ण तथा स्वच्छ बुद्धिसे, उद्वेग और आनन्दसे रहित होकर न शोक करता है न उत्साहित होता है, वह जीवन्मुक्त है। सारी इच्छाओं, सारी शङ्काओं, सारी कामनाओं और सारे निश्चयोंका जिसने मनसे परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जन्म, स्थिति और विनाशमें, उन्नति तथा अवनतिमें—सदा जिसका मन एक समान रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, जो प्रारब्धप्राप्त भोगोंका उपभोग करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने संसारका चिन्तन छोड़ दिया है, जो कलावान् होकर

भी निष्कल रहता है, चित्तके होते हुए भी निश्चित्त रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सम्पूर्ण अर्थ-जालके मध्य व्यवहार करता हुआ उनसे उसी प्रकार निःस्पृह रहता है, जैसे पराये धनके विषयमें मनुष्य निःस्पृह रहता है, तथा जो आत्मामें ही पूर्णताका अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त है ॥ ४२–६२ ॥

'शरीरके काल-कवलित होनेपर वह जीवन्मुक्त अवस्थाको छोड़कर गतिहीन पवनके समान विदेहमुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है। विदेहमुक्त अवस्थामें जीवकी न उन्नति होती है न अवनति होती है और न उसका लय ही होता है; वह अवस्था न सत् है, न असत् है और न दूरस्थ है। उसमें न अहंभाव है और न परायाभाव है। विदेहमुक्ति गम्भीर, स्तब्ध अवस्था होती है; उसमें न तेज व्याप्त होता है और न अन्धकार। उसमें अनिर्वचनीय, और अभिव्यक्त न होनेवाला एक प्रकारका सत् अवशिष्ट रहता है। वह न शून्य होता है न आकारयुक्त होता है, न दृश्य होता है और न दर्शन होता है। उसमें ये भूत और पदार्थोंके समूह नहीं होते—केवल सत् अनन्तरूपमें अवस्थित होता है। वह ऐसा अद्भुत तत्त्व होता है कि जिसके स्वरूपका निर्देश नहीं किया जा सकता। उसकी आकृति पूर्णसे भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है न असत्, और न सत्-असत् दोनों होता है; न भाव होता है और न भावना; वह चेतनामात्र होता है परंतु चित्तविहीन होता है, अनन्त होता है। अजर होता है परंतु शिवस्वरूप, कल्याणकारी होता है। उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं होता। वह अनादि तथा दोषहीन होता है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीमें वह केवल दर्शनस्वरूप माना जाता है। शुकदेव मुनि! इस विषयमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। तुमने इस तत्त्वको स्वयं ही जान लिया है तथा अपने पितासे भी सुना है कि जीव अपने सङ्कल्पसे ही बन्धनमें पड़ता है और सङ्कल्पहीन होनेपर मुक्त हो जाता है। अतएव तुमने स्वयं उस तत्त्वको जान लिया, जिसको जान लेनेपर इस संसारमें महात्माओंको समस्त दृश्योंसे अथवा भोगोंसे विरति उत्पन्न हो जाती है। तुमने पूर्ण चेतनामें स्थिति लाभकर समस्त प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर लिया है। तुम तपःस्वरूपमें स्थित हो। ब्रह्मन्! तुम मुक्त हो, भ्रान्तिको छोड़ो। शुकदेवजी! बाहर तथा अत्यन्त बाहर, अन्तःकरणमें तथा उसके भी भीतर देखते हुए भी तुम नहीं देखते; तुम पूर्ण कैवल्य-स्थितिमें साक्षिमात्र रहते हो' ॥ ६३—७३ ॥

तदुपरान्त श्रीशुकदेवजी शोक, भय और श्रमसे रहित होकर, संशयहीन और निष्काम हो, परतत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित होकर चुपचाप विश्रामको प्राप्त हुए। अखण्ड समाधिके लिये वे सुमेरु-पर्वतके शिखरकी ओर लौट गये। वहाँ सहस्रों वर्षोंतक, स्नेहहीन दीपकके समान उन्होंने आत्मदेशमें स्थित हो निर्विकल्प समाधिके द्वारा शान्तिलाभ किया। सङ्कल्परूपी दोषोंसे रहित, शुद्धस्वरूप, पवित्र और निर्मल आत्मपदमें वे महात्मा शुकदेवजी वासनाविहीन होकर उसी प्रकार एकत्वको प्राप्त हुए, जिस प्रकार सलिल-कण समुद्रमें विलीन होकर उसमें एकताको प्राप्त होता है ॥ ७४—७७ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥



ॐ

तृतीय अध्याय

निदाघके वैराग्यपूर्ण उद्गार

निदाघ नामके एक मुनीश्वर बालक अपने पितासे आज्ञा प्राप्तकर अकेले तीर्थयात्राके लिये निकले। साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नान करके अपने घर लौटे तथा घर लौटकर उन महायशस्वीने अपने पिता ऋभु मुनिसे अपना सब समाचार कह सुनाया। [उन्होंने कहा—] 'पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो पुण्य हुआ है, उसके फलस्वरूप मेरे मनमें इस प्रकारके विचार प्रकट हुए हैं। संसार उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है और नष्ट होता है पुनः उत्पन्न होनेके लिये। समस्त चर और अचर प्राणियोंकी चेष्टाके साथ यह प्रपञ्च अस्थिर है, क्षणस्थायी है। ऐश्वर्यकी भूमिमें (उत्पन्न होनेवाले) ये पदार्थ सारी आपदाओंके हेतु हैं। लोहेकी सलाईके समान एक दूसरेसे अलग रहते हुए ये पदार्थ केवल इस मानसिक कल्पनारूपी चुम्बकके द्वारा एकत्र होते हैं। जिस प्रकार पथिकको मरुस्थलमें चलते-चलते विरति हो जाती है, उसी प्रकार मेरी इन पदार्थोंमें अरति हो गयी है। ये जागतिक पदार्थ मुझे दुःखमय प्रतीत होने लगे हैं। अब इस दुःखका शमन कैसे होगा—यह सोच-सोचकर मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है। ये धन, जिनके पीछे चिन्ताओंके समूह चक्रके समान भ्रमण करते रहते हैं, मुझे आनन्द नहीं प्रदान करते। स्त्री-पुत्रादि मानो उग्र आपदाओंके निकेतन हैं। मुनीश्वर! संसारमें उदार रूपमें स्थित, अत्यन्त कोमलाङ्गी जो ये श्रीलक्ष्मीजी हैं, वे भी परम मोहकी ही हेतु हैं। निश्चय ही वे भी आनन्द प्रदान करनेवाली नहीं हैं। मनुष्यकी आयु पल्लवके कोणके अग्रभागमें लटकते हुए जलकणके समान क्षणभङ्गुर है। इस तुच्छ शरीरको असमय ही छोड़कर उन्मत्तके समान मुझे जाना ही पड़ेगा। विषयरूपी सर्पके सङ्गसे जिनका चित्त जर्जर हो गया है, तथा जिनको प्रौढ आत्मविवेक नहीं हुआ है, उनके लिये जीवन कष्टका ही हेतु बनता है। वायुको लपेटना बनता है, आकाशको खण्ड-खण्ड करना बनता है, लहरोंको गूँथना बनता है, परंतु जीवनमें आस्था रखना नहीं बनता। जिसके द्वारा प्राप्य वस्तुको सम्यक् रीतिसे प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण पुनः शोक नहीं करना पड़ता, जिसमें परा शान्ति प्राप्त कर ली जाती है, वही जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष भी जीते हैं, मृग और पक्षी भी जीते हैं; किंतु वस्तुतः वही जीता है, जिसका मन आत्मचिन्तनमें लगा हुआ है। इस संसारमें उत्पन्न हुए उन्हीं जीवोंका जीवन श्रेष्ठ है, जो पुनः आवागमनमें नहीं पड़ते; शेष तो बूढ़े गधेके समान हैं। ज्ञानी पुरुषके लिये शास्त्र भारस्वरूप हैं, रागी पुरुषके लिये ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त पुरुषका मन भारस्वरूप होता है; और जो आत्मज्ञ नहीं हैं, उनके लिये यह शरीर भाररूप है। अहङ्कारके कारण विपत्ति आती है, अहङ्कारके कारण दुष्ट मनोव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारके कारण कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। अहङ्कारके वश होकर चर और अचर-रूप जिन-जिन भोगोंको मैंने भोगा है, वे सब-के-सब अवस्तु अर्थात् मिथ्या भ्रमरूप थे। वस्तु तो केवल अहङ्कारशून्यता ही है। यह मन व्यग्र होकर इधर-उधर व्यर्थ ही दौड़ता है, व्यर्थ ही दूर-दूरतक जाता है; इसका ढंग गाँवमें घूमनेवाले कुत्तेके-जैसा है। तृष्णारूपी कुतियाके पीछे-पीछे भटकनेवाले कुत्तेके समान इस क्रूर मनके वशीभूत होकर मैं जड हो गया था। ब्रह्मन्! अब मैं उसकी दासतासे मुक्त हो गया हूँ। ब्रह्मन्! चित्तका निग्रह करना समुद्र-पानसे भी कठिन है, सुमेरु-पर्वतको उखाड़ फेंकनेसे भी दुष्कर है तथा अग्नि-भक्षणसे भी विषम कार्य है। बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयोंका हेतु चित्त है; उसके आधारपर ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों प्रकारके जगत्की स्थिति है। चित्तके क्षीण होनेपर संसार क्षीण हो जाता है। अतएव प्रयत्नपूर्वक चित्तकी ही चिकित्सा होनी चाहिये॥ १—२१॥

'मुनीश्वर! जिन-जिन श्रेष्ठ गुणोंका मैं आश्रय लेता हूँ, मेरी तृष्णा उन-उन गुणोंको उसी प्रकार काट डालती है, जैसे दुष्ट चुहिया वीणाके तारको काट डालती है। यह तृष्णा चञ्चल बंदरीके समान अलङ्घनीय स्थलमें भी अपना पैर जमाना चाहती है, तृप्त होनेपर भी विविध फलोंकी इच्छा करती है, एक स्थानपर चिरकालतक नहीं ठहरती। क्षणमात्रमें पाताल पहुँचती है और क्षणभरमें आकाशकी सैर करती है, क्षणभरमें दिशा-रूपी कुञ्जोंमें घूमने लगती है; यह तृष्णा हृदय-कमलमें विचरण करनेवाली भ्रमरी है। संसारके सारे दुःखोंमें यह तृष्णा ही दीर्घ दुःख देनेवाली है, जो अन्तःपुरमें रहनेवालोंको भी अत्यन्त सङ्कटमें डाल देती है। तृष्णारूपी महामारीका नाश

करनेवाला मन्त्र है—चिन्ताका त्याग करना । ब्राह्मण ! थोड़ा भी चिन्ताका त्याग करनेसे आनन्दकी प्राप्ति होती है और थोड़ी भी चिन्ता करनेसे दुःख प्राप्त होता है । शरीरके समान गुणहीन, नीच तथा शोचनीय वस्तु कोई नहीं है । अहङ्काररूपी गृहस्थका यह शरीर महागृह है । पिताजी ! यह नष्ट हो जाय या चिरकालतक रहे—इससे मुझे क्या ? इन्द्रियरूपी पशु जिसमें पंक्तिमें बँधे हुए हैं, जिस घरके प्राङ्गणमें तृष्णा चलती-फिरती है, चित्तवृत्तिरूपी भृत्यजनोंसे जो समाकीर्ण है—ऐसा यह शरीररूपी गृह मुझे इष्ट नहीं, प्रिय नहीं । यह मुखरूपी द्वार जिह्वारूपी बंदरीसे आक्रान्त होकर भयानक बन रहा है । जिसके द्वारपर दाँतरूपी हड्डीके टुकड़े दिखलायी पड़ रहे हैं—ऐसा यह शरीररूपी गृह मुझे इष्ट नहीं, प्रिय नहीं । हे मुनीश्वर ! भीतर और बाहर रक्त और मांससे व्याप्त, केवल विनाशशील इस शरीरमें रम्यता कहाँ है, बतलाइये तो ? शरत्कालीन बादलोंकी बिजलीमें तथा गन्धर्वनगरीमें यदि किसीने स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस शरीरकी स्थिरतामें विश्वास कर सकता है । बाल्यावस्थामें गुरुसे, माता-पितासे, बड़े लड़कोंसे तथा अन्य लोगोंसे डर लगता है; अतएव शैशव भयका घर है । (युवावस्थामें) अपने चित्तरूपी गुफामें रहनेवाले, नाना प्रकारके भ्रमोंमें डालनेवाले इस कामरूपी पिशाचसे बलात् विवश होकर मनुष्य पराजित हो जाता है । बुढ़ापेमें उन्मत्तके समान काँपते हुए मनुष्यको देखकर दास, पुत्र और स्त्रियाँ, बन्धु तथा मित्रगण हँसा करते हैं । बुढ़ापेमें असमर्थताके कारण लालसा बहुत अधिक बढ़ जाती है । यह बुढ़ापा हृदयमें दाह प्रदान करनेवाली सारी आपदाओंकी प्रिय सहेली है । संसारमें जिस सुखकी भावना की जाती है, वह कहाँ है ? आयुको तृणके समान पाकर काल उसे काटता ही जा रहा है । छोटेसे तृण तथा रजःकणको महेन्द्र तथा स्वर्णमय सुमेरु पर्वतको सर्षप (सरसों) बना देनेवाला यह सर्वसंहारी काल अपना पेट भरनेके लिये सबको आत्मसात् करनेको उद्यत है । तीनों लोक कालके द्वारा आक्रान्त हैं ॥ २२–३८ ॥

'यन्त्रके समान चञ्चल अङ्गरूपी पिंजरेमें मांसकी पुतलीके समान, स्नायु तथा अस्थिकी ग्रन्थियोंसे निर्मित स्त्रीके शरीरमें कौन-सी वस्तु है, जिसे सुन्दर कहा जाय ? नेत्रमें स्थित त्वचा, मांस, रक्त, आँसू—इनको अलग-अलग करके देखो; इनमें कौन-सी वस्तु रम्य है ? फिर व्यर्थ ही क्यों मोहको प्राप्त हो रहे हो । मेरु-पर्वतके शिखरोंके तटसे समुल्लसित होनेवाली गङ्गाजीकी चञ्चल गतिके समान, हे मुनि ! मुक्ताहारका सम्यक् उल्लास जिसमें देखा गया है, काल आनेपर उस ललनाके स्तनको श्मशानके कोनेमें मांसके छोटे पिण्डके रूपमें कुत्ते खाया करते हैं ! केश और काजल धारण करनेवाली तथा देखनेमें प्रिय लगनेवाली होनेपर भी जिनका स्पर्श दुःखदायी होता है, वे दुष्कृतिरूप अग्निकी शिखाके समान नारियाँ पुरुषको तृणके सदृश जला डालती हैं । स्त्रियाँ बहुत दूरपर जलनेवाली नरकाग्नियोंकी सुन्दर और दारुण इन्धनस्वरूपा हैं; वे सरस प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः नीरस हैं । काम नामके किरातने पुरुषरूपी मृगोंके अङ्गोंको बन्धनमें बाँधनेके लिये स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खा है । पुरुष जो जीवनरूपी तलैयाके मत्स्य हैं और चित्तरूपी कीचड़में विचरण करते हैं; उनको फँसानेके लिये नारी दुर्वासनारूपी रज्जुमें बँधी बंसीमें पिण्डिका (चारे)-के समान है । यह सारे दोषरूपी रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला समुद्र ही है । यह दुःखोंकी श्रृङ्खला हमसे सदा दूर ही रहे । जिसके स्त्री है, उसे भोगेच्छा उत्पन्न होती है । जिसे स्त्री नहीं, उसके लिये भोगका हेतु क्या हो सकता है ? जिसने स्त्रीको छोड़ दिया, उसका संसार छूट गया और संसारको छोड़कर ही मनुष्य सुखी बन सकता है ॥ ३९–४८ ॥

'दिशाएँ भी नहीं दीख पड़तीं, देश भी दूसरेके लिये उपदेशप्रद बन जाते हैं, अर्थात् काल-कवलित हो जाते हैं, पर्वत भी चूर-चूर हो जाते हैं, तारे भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं । समुद्र भी सूख जाते हैं, ध्रुव नक्षत्रका जीवन भी अस्थायी होता है । सिद्ध पुरुष भी नाशको प्राप्त होते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त हो जाते हैं । चिरकालस्थायी ब्रह्मा तथा अजन्मा विष्णुभगवान् भी अन्तर्धान हो जाते हैं । सारे भाव अभावको प्राप्त होते हैं, दिशाओंके अधिपति भी जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं । बड़े-बड़े देवता तथा सारे प्राणिवर्ग, जैसे जल बडवानलकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार विनाशकी ओर दौड़ते हैं । क्षणभरमें आपदाएँ आ घेरती हैं और क्षणमें सम्पदाएँ आ जाती हैं । क्षणभरमें जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु हो जाती है । यह समस्त प्रपञ्च नश्वर है । इस विश्वमें कायर पुरुषके द्वारा शूरवीर मारे जाते हैं । एकके द्वारा सैकड़ोंका विनाश होता है । विषय-वासनाके कारण चित्तकी विषमता ही विष है, विष विष नहीं कहलाता; क्योंकि विष एक जन्मका विनाश करता है और विषय जन्म-जन्मान्तरको नष्ट कर देते हैं । इस समय इस दोषरूपी दावानलसे दग्ध मेरे चित्तमें ऐसा भान हो रहा है । मृगतृष्णाके सरोवरमें खड़े होनेपर भी मुझमें भोगाशाकी स्फुरणा नहीं होती । अतएव हे गुरुवर ! आप तत्त्वज्ञानके द्वारा मुझे शीघ्र ही बोध प्रदान कीजिये । नहीं तो मान और मत्सरको छोड़कर, चित्तमें भगवान् विष्णुका स्मरण करते हुए मैं चित्रलिखितकी भाँति रहकर मौन धारण कर लूँगा' ॥ ४९–५७ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

निदाघके प्रति उनके पिता ऋभुका उपदेश

निदाघ मुनिकी बात सुनकर उनके पिता ऋभु मुनि बोले—'ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ निदाघ मुनि ! तुम्हारे लिये अब कुछ अन्य ज्ञातव्य नहीं रह गया है। तुम ईश्वरकी कृपासे अपनी प्रज्ञासे ही सब कुछ जान गये हो। तथापि चित्तकी मलिनतासे उत्पन्न तुम्हारे भ्रमको, हे मुनि ! मैं दूर करूँगा। मोक्षद्वारके चार द्वारपाल बतलाये गये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सत्सङ्ग। पूर्ण यत्नपूर्वक सब कुछ छोड़कर इनमें एकका भी आश्रय पकड़ ले। एकको वशमें करनेसे शेष तीनों वशमें हो जाते हैं। पहले संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये शास्त्रोंके द्वारा, तप और दमके द्वारा तथा सत्सङ्गके द्वारा अपनी प्रज्ञाको बढ़ाये। आत्मानुभव, शास्त्र तथा गुरुके वचनोंकी एकवाक्यताके अभ्याससे निरन्तर आत्मचिन्तन किया जाता है। यदि निरन्तर तुम सङ्कल्प और आशाके अनुसन्धानका त्याग करते हो तो तुम्हें वह पवित्र अचित्तत्व—कैवल्य प्राप्त ही है। चित्तका जो अकर्तृत्व है, वही चित्तकी वृत्तियोंका निरोध अर्थात् समाधि कहलाता है। यही केवल-अवस्था है और यही परम कल्याणरूपा परा शान्ति कहलाती है। संसारके समस्त पदार्थोंमें आत्मभावनाका भलीभाँति मनसे परित्याग करके तुम संसारमें गूँगे, अंधे और बहिरे-से होकर रहो। 'सब कुछ प्रशान्त है, एक है, अजन्मा है, आदि-मध्य-हीन है, सब ओर प्रकाशयुक्त है, केवल अनुभवरूप है, अचित्त है, सब कुछ प्रशान्त है'—इत्यादि जो शब्दमयी दृष्टि है, वह व्यर्थ है। आत्मबोधमें बाधक ही है। जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च है, तत्त्वतः सब प्रणवरूप है। जो कुछ भी दृश्य यहाँ दिखलायी देता है, वह चिद्-जगत्में दिखलायी देता है। वह चित्के निष्पन्दका एक अंशमात्र है। अतएव चित्से अतिरिक्त कुछ नहीं है—ऐसी भावना करो। तुम नित्य प्रबुद्धचित्त होकर सांसारिक कार्योंको करते हुए भी आत्माके एकत्वको जानकर प्रशान्त महासिन्धुके समान निश्चल बने रहो ॥१–११॥

'वासनारूपी तृणको दग्ध करनेवाला अग्नि यह आत्म-ज्ञान ही है। इसे ही 'समाधि' शब्दसे लक्षित करते हैं। चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं है। जिस प्रकार रत्नके इच्छारहित होकर पड़े रहनेपर भी लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार सत्तामात्र परतत्त्वकी ओर सारा जगत् आकर्षित होता है। अतएव हे मुनि ! आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हैं। इच्छारहित होनेके कारण आत्मा अकर्ता है और सन्निधिमात्रसे वह कर्ता है। मुनि ! कर्तृत्व और अकर्तृत्व—ये दोनों ब्रह्ममें पाये जाते हैं। जिसमें यह चमत्कार है, उसका आश्रय लेकर स्थिर हो जाओ। अतएव 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ' इस प्रकारकी प्रबल भावनासे युक्त होनेपर केवल परम अमृता नामकी समता ही अवशिष्ट रहती है। निदाघ ! सुनो; जो सत्त्वमें स्थित होकर इस लोकमें जन्मे हैं, वे महान् गुणी हैं। उनकी सदा ही उन्नति होती है तथा वे आकाशमें चन्द्रमाओंके समान सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ १२–१७ ॥

'सत्त्वस्थ पुरुष रात्रिमें स्वर्णकमलकी भाँति विपत्तिमें कुम्हलाते नहीं। वे प्राप्त भोगके सिवा अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करते और शास्त्रोक्त मार्गमें विचरण करते हैं। वे स्वभावतः ही मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा प्रभृति गुणोंसे सुशोभित रहते हैं। सौम्य ! वे समभावमें रहते हुए निरन्तर साधुवृत्तिमें एकरस बने रहते हैं। समुद्रके समान मर्यादाको छोड़कर वे विशालहृदय हो जाते हैं। वे महात्मा सूर्यनारायण-के समान नियति-पथपर (नियमानुकूल) चलते रहते हैं। 'मैं कौन हूँ, यह विस्तृत जगत्प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ'—संतजनोंके साथ प्राज्ञपुरुष यत्नपूर्वक इन प्रश्नोंपर विचार करे। वह अकार्यमें न लगे, तथा अनार्य पुरुषका सङ्ग न करे; सबका संहार करनेवाले मृत्युको उपेक्षाकी दृष्टिसे न देखे। शरीर, अस्थि, मांस तथा रक्त आदिको घृणास्पद समझकर उनकी उपेक्षा करे तथा प्राणिसमुदायरूपी मोतियोंकी लड़ियोंमें सूत्रके समान पिरोये हुए चिदात्मापर ही दृष्टि रक्खे। उपादेय वस्तुकी ओर दौड़ना तथा हेयवस्तुका सर्वथा त्याग कर देना—यह जो मनका स्वरूप है, वह बाह्य है, आभ्यन्तर नहीं; इसको जान ले। चिद्घनके विषयमें गुरु और शास्त्रके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे तथा अपनी अनुभूतिसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—यों जानकर मुनि शोकविहीन हो जाय। इस अवस्थामें शतशः तीक्ष्ण कृपाणके आघात कमलके कोमल आघातके समान सह्य हो जाते हैं, अग्निके द्वारा दाह हिम-

स्नानके समान सह्य हो जाता है, अँगारोंपर लोटना चन्दनके लेपके समान शीतल लगता है, निरन्तर बाणोंके समूहका शरीरपर गिरना गर्मीको शान्त करनेवाले धारागृह (फव्वारे) के जलकणोंकी वर्षाके समान मनोरञ्जक बन जाता है, अपने सिरका काटा जाना सुखप्रद निद्राके समान, (जीभ आदि काटकर) गूँगा कर दिया जाना मुखके मूँद दिये जानेके समान तथा बधिरता महान् उन्नतिके समान लगती है; पर यह अवस्था उपेक्षासे नहीं प्राप्त होती। दृढ़ वैराग्यजन्य आत्मज्ञानसे यह प्राप्त होती है। गुरुके उपदेशानुसार स्वानुभूति आदिके द्वारा जो अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, उसके अभ्यासद्वारा निरन्तर आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। जिस प्रकार दिग्भ्रमके नष्ट हो जानेपर पहलेके समान ही दिशाका बोध होने लगता है, उसी प्रकार विज्ञानके द्वारा विध्वस्त हो जानेपर जगत् नहीं रहता—इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये। न धनसे पुरुषका उपकार होता है, न मित्रोंसे और न बान्धवोंसे। न शारीरिक क्लेशके दूर होनेपर और न तीर्थस्थानमें वास करनेसे पुरुष उपकृत होता है। केवल चिन्मात्रमें विलीन होनेपर ही परम पद प्राप्त हो सकता है॥ १८—२८॥

'जितने दुःख हैं, जितनी तृष्णाएँ हैं तथा जितनी दुःसह दुश्चिन्ताएँ हैं, शान्तचित्त पुरुषोंमें वे सब उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार रवि-किरणोंमें अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस संसारमें शमसे युक्त पुरुषका कठोर और मृदु—सभी प्राणी उसी प्रकार विश्वास करते हैं जैसे माताका पुत्र विश्वास करते हैं। अमृतके पान करनेसे तथा लक्ष्मीके आलिङ्गनसे वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख मनुष्य मनकी शान्तिसे पाता है। शुभाशुभको सुनकर, स्पर्श करके, भोजन करके, देखकर तथा जानकर जिसे न हर्ष होता है और न दुःख होता है, वह शान्त कहलाता है। चन्द्रमण्डलके समान जिसका मन स्वच्छ है तथा मृत्यु, उत्सव तथा युद्धमें जिसका मन अधीर नहीं होता, वह शान्त कहलाता है। तपस्वियोंमें, बहुश्रुतोंमें, यज्ञ करनेवालोंमें, राजाओंमें, वनवासियोंमें तथा गुणीजनोंमें शमशील ही सुशोभित होता है। सन्तोषरूपी अमृतका पान करके जो शान्त एवं तृप्त हो जाते हैं, वे ही आत्मामें रमण करनेवाले महात्मा परमपदको प्राप्त होते हैं। जो अप्राप्त वस्तुके लिये चिन्ता नहीं करता तथा सम्प्राप्त वस्तुमें सम रहता है, जिसने दुःख और सुखको नहीं देखा है—वही सन्तुष्ट कहलाता है। जो अप्राप्त वस्तुकी कामना नहीं करता, और प्राप्त वस्तुका ही यथेच्छ भोग करता है, वह सौम्य और समान भावसे आचरण करनेवाला पुरुष सन्तुष्ट कहलाता है। अन्तःपुरके आँगनमें ही जिस प्रकार साध्वी स्त्री प्रसन्न रहती है, उसी प्रकार यथाप्राप्तमें ही जब बुद्धि रमने लगती है, तब वह स्वरूपानन्द प्रदान करनेवाली जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है। समयानुसार, शास्त्रानुसार, देशानुसार, सुखपूर्वक, जहाँतक हो सके सत्सङ्गमें विचरण करते हुए इस मोक्षपथके क्रमका तबतक बुद्धिमान् पुरुष विचार करे, जबतक उसे आत्मविश्रान्ति प्राप्त न हो जाय। गृहस्थ हो या संन्यासी, जो तुरीयावस्थाकी विश्रान्तिसे युक्त है तथा संसार-सागरसे निवृत्त हो चुका है, वह चाहे जागतिक जीवनमें रहे या न रहे, उसे करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं। श्रुति-स्मृतिके भ्रमजालसे उसे कोई मतलब नहीं। मन्दराचलसे विहीन (क्षोभरहित) समुद्रके समान वह आत्मस्थ होकर स्थित रहता है॥ २९—४१॥

'जब त्वमात्मक दृश्यको आत्मरूप देखनेवाली शुद्ध सर्वात्मवेदना उदय होती है, तब दिशा और कालमें फैला हुआ सारा बाह्य जगत् चिद्रूपात्मक प्रतीत होता है। इस प्रकार जहाँ जिस रूपमें आत्मा समुल्लसित होता है, वहाँ शीघ्र उसी रूपमें वह स्थित हो जाता है और तद्रूपमें ही विराजमान होता है। जो कुछ यह समस्त स्थावर और जङ्गमात्मक जगत् दिखलायी देता है, वह प्रलयकालमें उसी प्रकार विनाशको प्राप्त हो जाता है, जैसे सुषुप्तिमें स्वप्न विलीन हो जाता है। आत्मा ऋत (यज्ञ)-स्वरूप है, परब्रह्म है, सत्यस्वरूप है—इत्यादि संज्ञाएँ महात्माओं तथा ज्ञानीजनोंने व्यवहारके लिये कल्पित की हैं। जिस प्रकार 'कङ्कण' शब्द और उसका अर्थ स्वर्णसे पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता, तथा कङ्कणमें स्थित स्वर्ण कङ्कणसे पृथक् सत्ता नहीं रखता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्दका अर्थ परब्रह्म ही है। उस परब्रह्मने जगत्के रूपमें यह इन्द्रजाल फैलाया है। द्रष्टाका दृश्यके अन्तर्भूत होकर रहना ही बन्धन कहलाता है। दृश्यके वशमें होनेसे द्रष्टा बद्ध होता है और दृश्यके अभावमें वह मुक्ति प्राप्त करता है। जगत् और मैं-तू इत्यादिरूप जो सृष्टि है, वह दृश्य कहलाती है। संसारमें सारा प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मनके द्वारा ही फैलता है; जबतक मनकी यह कल्पना चलती रहती है, तबतक मोक्षके दर्शन नहीं होते। यह विश्व स्वयंभू ब्रह्माकी मानसिक सृष्टि है, अतएव यावत् परिदृश्यमान जगत् मनोमय ही है। बाहर अथवा हृदयके भीतर, कहीं भी मन सद्रूपमें अवस्थित नहीं है। जो विषयोंका भान होना है, वही मन कहलाता है। सङ्कल्प करना ही मनका लक्षण है, मन सङ्कल्परूपमें ही रहता

है; अतएव जो सङ्कल्प है, वही मन है—यह जान लेना चाहिये। किसीने कभी सङ्कल्प और मनको पृथक् नहीं किया, सारे सङ्कल्पोंके गल जानेपर केवल आत्मस्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। मैं, तू और जगत् इत्यादि दृश्य-प्रपञ्चके प्रशान्त हो जानेपर, दृश्य जब सत्ताको (परतत्त्वको) प्राप्त होता है, तभी वैसा कैवल्य प्राप्त होता है। जब महाप्रलयके समय समस्त दृश्य सत्ताहीन हो जाता है, उस समय सृष्टिके पूर्वकालमें केवल शान्त आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। जो आत्मसूर्य कभी अस्त नहीं होते, जो जन्मरहित तथा सर्वदोषविवर्जित देव हैं, सर्वदा सर्वकर्ता तथा सर्वस्वरूप हैं, जहाँ वाणी जाकर लौट आती है, जिन्हें मुक्त पुरुष ही जानते हैं, तथा जिनकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पित हैं, स्वाभाविक नहीं, वे ही परमात्मा कहलाते हैं ॥ ४२—५७ ॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा (भौतिक) आकाश है। हे मुनि! आकाश और चित्ताकाशसे भी सूक्ष्मतर चिदाकाशको जानो। मुनिपुङ्गव! एक देशसे दूसरे देशमें जानेपर जो बीचमें चित्तका व्यवधान है, उस (बाध) का निमेष होनेपर चिदाकाश ही अवशिष्ट रहता है, यह जानना चाहिये। उस चिदाकाशमें यदि समस्त सङ्कल्पोंको निरस्त करके स्थित होते हो तो निःसन्देह सर्वात्मक शान्त पदको प्राप्त होओगे। चिदाकाशमें स्थित होनेपर जो सुन्दर औदार्य और वैराग्य-रससे युक्त आनन्दमयी अवस्था प्राप्त होती है, उसे समाधि कहते हैं। दृश्य पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है—जब इस प्रकारका बोध होता है तथा राग-द्वेषादि दोष क्षीण हो जाते हैं, उस समय अभ्यास-बलसे जो एकाग्र-रति उत्पन्न होती है, उसे समाधि कहते हैं। दृश्यकी सत्ताका अभाव जब बोधमें आता है, तब वही निश्चय-पूर्वक ज्ञानका स्वरूप है। वही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही केवलीभाव अर्थात् आत्मकैवल्य है; उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है। जिस प्रकार उन्मत्त ऐरावत हाथीका सरसोंके एक कोनेके छिद्रमें बाँधा जाना संभव नहीं, सिंहोंके साथ एक धूलिकणके कोटरमें मच्छरोंका युद्ध करना असंभव है तथा कमलकी पंखड़ीमें स्थापित सुमेरु-पर्वतका भ्रमरशिशुके द्वारा निगला जाना असम्भव कथा है, उसी प्रकार निदाघ! इस जगत्का अस्तित्वमें आना सम्भव नहीं; इसे तुम केवल भ्रमात्मक जानो। राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे दूषित चित्त ही संसार है; वही चित्त जब दोषोंसे विनिर्मुक्त हो जाता है, तब इसे संसारका अन्त अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति कहते हैं। मनसे शरीरकी भावना करनेपर ही आत्मा शरीरी बनता है; जब वह देहवासनासे मुक्त होता है, तब देहके धर्मोंसे लिप्यमान नहीं होता। मन कल्पको क्षण बना देता है और क्षणमें कल्पको आभासित करता है। यह संसार केवल मनोविलास मात्र है—यह मेरी निश्चित मति है ॥ ५८—६८ ॥

'जो दुश्चरितसे विरत नहीं हुआ है, जो अशान्त है, समाहित (एकाग्रचित्त) नहीं है तथा जिसका चित्त शान्त नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यको आत्मबोध नहीं होता। प्रकृष्ट कैवल्यज्ञानके द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। उस आनन्दमय, द्वन्द्वातीत, निर्गुण, सत्स्वरूप, चिद्घन ब्रह्मको अपना स्वरूप समझ लेनेपर पुरुष कदापि भयको नहीं प्राप्त होता। जो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठतर, महान्‌से भी महान्, तेजोमय स्वरूपवाला, शाश्वत, शिव-स्वरूप (कल्याणकारी), सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर, एवं सब देवताओंके द्वारा उपास्य है, वह ब्रह्म मैं हूँ—इस प्रकारका निश्चय महात्माओंके लिये मोक्षका हेतु बनता है। बन्ध और मोक्षके दो ही कारण बनते हैं, ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है। जीव और ईश्वररूपसे, ईक्षण (ब्रह्मके संकल्प)से लेकर संकल्पके त्यागतक, सारी जड तथा चेतनात्मक सृष्टि ईश्वरके द्वारा कल्पित हुई है। जाग्रदवस्थासे लेकर मोक्षकी प्राप्तितक समस्त संसार जीवके द्वारा कल्पित है। कठोपनिषद्के त्रिणाचिकेताग्निसे लेकर श्वेताश्वतरके योगतक-के ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्तिके आश्रित हैं। लोकायत अर्थात् चार्वाक-सिद्धान्तसे लेकर कपिलके सांख्यसिद्धान्ततकका दार्शनिक ज्ञान जीवभ्रान्तिके आश्रित हैं। अतएव मुमुक्षु पुरुषको जीव और ईश्वरके वाद-विवादमें बुद्धि नहीं लगानी चाहिये, बल्कि दृढ़ होकर ब्रह्मतत्त्वका विचार करना चाहिये। जो पुरुष समस्त दृश्य-जगत्‌को निर्विशेष चित्स्वरूप समझता है, वही अपरोक्ष ज्ञानवान् है। वही शिव है, वही ब्रह्मा है, वही विष्णु है। विषयोंका त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरुकी कृपाके बिना सहजावस्थाकी प्राप्ति दुर्लभ है। जिसकी बोधात्मिका शक्ति जाग्रत् हो गयी है, जिसने सारे कर्मोंका त्याग कर दिया है, ऐसे योगीको सहजावस्था स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। जबतक पुरुषको इसमें तनिक भी अन्तर जान पड़ता है, तबतक उसके लिये भय है—इसमें संशय नहीं। सर्वमय सच्चिदानन्द-को ज्ञानचक्षुसे देखा जाता है; जिसे ज्ञानचक्षु नहीं, वह परब्रह्म-को उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे अंधेको प्रकाशमान

सूर्यनारायण नहीं दीखते। वह ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप ही है, सत्य ही प्रज्ञानका लक्षण है। अतएव ब्रह्मके परिज्ञानसे ही मर्त्य जीव अमरत्वको प्राप्त होता है। उस कार्य-कारणरूप ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर पुरुषके हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय दूर हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ६९—८२ ॥

'अनात्मताको त्यागकर, जागतिक स्थितिमें निर्विकार होकर, अनन्यनिष्ठासे अन्तःस्थ संवित् अर्थात् आत्मचैतन्यमें ही लीन रहो। मरुभूमिमें भ्रमसे दीखनेवाला सारा जल जैसे मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप यह समस्त जगत् आत्मविचारसे चिन्मय ही है। जो लक्ष्य-बुद्धि तथा अलक्ष्य-बुद्धिका त्याग करके केवल आत्मनिष्ठ होकर रहता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी स्वयं साक्षात् शिव है। जगत्का अधिष्ठान अनुपम है, वाणी और मनकी पहुँचके परे है; नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अव्ययस्वरूप है। यह संसार सर्वशक्तिमान् महेश्वरका मनोविलास मात्र है। संयम और असंयमके द्वारा जागतिक प्रपञ्च शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ८३—८७ ॥

'मनोव्याधिकी चिकित्साके लिये तुमको मैं उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन वस्तुओंकी ओर मन जाता है, उन-उनका त्याग करता हुआ मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है। आत्माधीन होना, एकान्तप्रियता तथा अभिलषित जागतिक वस्तुके त्यागकी भावना जिसके लिये दुष्कर हो जाती है, उस पुरुष-कीटको धिक्कार है। केवल अपने प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाले अपनी अभिलषित वस्तुके त्यागरूप मनःशान्तिके अतिरिक्त दूसरी शुभ गति नहीं है। सङ्कल्पहीनताके शस्त्रसे जब इस चित्तको काट दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप, सर्वान्तर्यामी, शान्त परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। प्रपञ्चकी भावनासे मुक्त होकर, महान् बुद्धिसे युक्त होकर, चित्तका निरोध करके स्थिरभावसे अपनेको चिन्मात्रमें स्थित करो। श्रेष्ठ पौरुष अर्थात् अभ्यास और वैराग्यका आश्रय लेकर, तथा चित्तको अचित्तावस्था अर्थात् निरुद्धावस्थामें ले जाकर हृदयाकाशमें ध्यान करते हुए बारंबार चेतनमें लगे हुए चित्त-रूपी चक्रकी धारसे मनको मार दो। तब तुम निःशङ्क हो जाओगे और कामादिरूपी शत्रु तुम्हें बाँध न सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे पदार्थ मेरे हैं—यह भावना ही मन है; इन भावनाओंके त्यागरूपी दावसे मनका नाश किया जाता है। जिस प्रकार शरद्के आकाशमें छिन्न-भिन्न बादलोंके समूह वायुके वेगसे विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार विचारके द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयकालीन उनचास पवन बहें, अथवा सारे समुद्र मिलकर एकार्णवरूप हो जायँ, बारहों आदित्य तपने लगें, तथापि मनोविहीन पुरुषकी कोई क्षति नहीं हो सकती। केवल सङ्कल्पहीनतारूपी एक साध्यसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तत्पदका आश्रय लेकर सङ्कल्प-हीनताके विस्तृत साम्राज्यमें स्थित हो जाओ। कहीं भी अचञ्चल मन नहीं दिखलायी देता। चञ्चलता मनका धर्म है, जैसे अग्निका धर्म उष्णता है। यही चञ्चला स्पन्दन-शक्ति चित्तत्वमें स्थित है अर्थात् चित्तका धर्म है; इसी मानसिक शक्तिको जगत्-प्रपञ्चका स्वरूप समझना चाहिये। जो मन चञ्चलताहीन हो जाता है, वह अमृतरूप कहलाता है; वही तप है। उसे ही शास्त्रीय सिद्धान्तमें मोक्ष कहते हैं। मनकी जो चञ्चलता है, वह अविद्या है; वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपिणी उस वासनाको विचारके द्वारा नष्ट करना चाहिये ॥ ८८—१०२ ॥

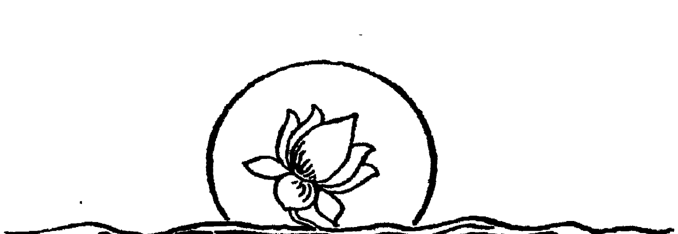
'निष्पाप मुनि! पुरुषार्थके द्वारा जिस लक्ष्यमें मनको लगाओ, उसे प्राप्तकर अर्थात् सविकल्प समाधिमें स्थित हो निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करो। अतएव प्रयत्नपूर्वक चित्तको चित्तके द्वारा वशमें करके, शोकहीन अवस्थाके आश्रयसे, आतङ्कसे मुक्त होकर शान्ति लाभ करे। मनका पूर्ण निरोध करनेमें विषयविहीन मन ही समर्थ होता है। राजाको पराजित करनेके कार्यमें राज्यविहीन राजा ही समर्थ होता है। जिन्हें तृष्णारूपी ग्राहने पकड़ रक्खा है, जो संसार-समुद्रमें गिरे हुए हैं, भँवरोंके जालमें पड़कर लक्ष्यसे दूर भटक रहे हैं, उनको बचानेके लिये अपना विषयविहीन मन ही नौकारूप है। ऐसे मनके द्वारा इस भारी बन्धनरूप मनके जालको काट डालो, और स्वयं संसारसागरके पार हो जाओ; दूसरेके द्वारा यह समुद्र पार नहीं किया जाता। अन्तःकरणको वासित (आच्छादित) करनेवाली मन-नामकी वासना जब-जब उदित हो, तब-तब प्राज्ञ (बुद्धिमान्) पुरुष उसका त्याग करे। इससे अविद्याका नाश होता है। एक भोगवासनाका पहले त्याग करो, उसके बाद भेद-वासनाका त्याग करो, उसके बाद भावाभाव दोनोंका त्याग करके विकल्पहीन होकर सुखी हो जाओ। इस मनका नाश ही अविद्यानाश कहलाता है। मनके द्वारा जो कुछ भी अनुभवमें आता हो, उस-उसमें आस्था न होने दो। आस्थाका त्याग कर देना ही निर्वाण है, और आस्थाको पकड़े रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञाविहीन हैं, उन्हींमें अविद्या विद्यमान रहती

है। सम्यक् प्रज्ञावान् पुरुष नाममात्रके लिये भी कहीं अविद्याको अङ्गीकार नहीं करते। इस दुःख-कण्टकसे आकीर्ण संसाररूपी भ्रमजालमें तभीतक अविद्या अपने साथ शरीरीको निरन्तर भ्रमाती है, जबतक इसको नष्ट करनेवाली मोहनाशिका आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा स्वयं उत्पन्न नहीं होती। अविद्या जब परतत्त्वकी ओर अवलोकन करती है, तब इसका अपने-आप विनाश हो जाता है। सर्वात्मबोध दृष्टिगत होनेपर अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है। इच्छामात्र अविद्याका स्वरूप है, इच्छाके पूर्णतः नाशको ही मोक्ष कहते हैं और मुनि! इच्छाका नाश सङ्कल्पहीन होनेपर ही सिद्ध होता है ॥ १०३—११६ ॥

'चित्ताकाशमें वासनारूपी रजनीके तनिक भी क्षीण होनेपर, चेतनारूपी सूर्यके प्रकाशसे कलिरूपी तम क्षीणताको प्राप्त हो जाता है। चित्त जब विषयोंके पीछे नहीं पड़ता तथा सामान्यतः सर्वगामी बन जाता है, तब चित्तकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा और परमेश्वरनामसे अभिहित होती है। यह सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है। वह नित्य और चिद्घनस्वरूप है। वह अव्यय है। इसके सिवा जो दूसरी मन नामकी कल्पना है, वह कहीं है ही नहीं। केवल भ्रममात्र है। इस त्रिलोकीमें न कोई जन्मता है न मरता है। ये जो भावविकार दीख पड़ते हैं, इनका कहीं अस्तित्व नहीं है। एकमात्र, केवल आभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय और चित्तके विषयोंके पीछे न दौड़नेवाले केवल चिन्मात्रकी ही सत्ता यहाँ है। उस नित्य, व्यापक, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रवशून्य, शान्त, शमस्वरूपमें स्थित निर्विकार चिदात्मामें स्वयं चित् ही जो स्वभावानुसार सङ्कल्प करके दौड़ता है, वह चैत्य अर्थात् चित्की सङ्कल्पावस्था स्वयं दोषरहित होते हुए भी मनन करनेके कारण मन कहलाती है। अतएव सङ्कल्पके द्वारा सिद्ध मन सङ्कल्पके द्वारा ही विनाशको प्राप्त होता है ॥ ११७—१२३ ॥

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ, इस सङ्कल्पके सुदृढ़ हो जानेसे मन बन्धनमें पड़ता है; तथा 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस सङ्कल्पके सुदृढ़ होनेपर मन मुक्त हो जाता है। 'मैं दुबला हूँ, दुःखग्रस्त हूँ, मैं हाथ-पैरवाला हूँ'—इस भावके अनुकूल व्यवहारसे जीव बन्धनमें पड़ता है। 'मैं दुःखी नहीं हूँ; मेरा शरीर नहीं; आत्मतत्त्वमें स्थित मुझको बन्ध कहाँ!'—इस प्रकारके व्यवहारमें लीन मन मुक्त हो जाता है। 'मैं मांस नहीं, मैं अस्थि नहीं, मैं देहसे परे दूसरा ही तत्त्व हूँ'—इस प्रकारका निश्चय कर लेनेपर जिसके अन्तःकरणसे अविद्या क्षीण हो गयी है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है। अनात्म पदार्थमें आत्मभावना होनेसे यह अविद्या कल्पनामात्र है। परम पुरुषार्थ अर्थात् अभ्यास और वैराग्यका आश्रय लेकर बहुत बुद्धिमत्तापूर्वक, यत्नसे भोगकी इच्छाका दूरसे ही त्याग करके निर्विकल्प होकर सुखी हो जाओ। 'मेरा पुत्र, मेरा धन, मैं वह हूँ, यह हूँ, यह मेरा है'—यह सब वासना ही इन्द्रजाल फैलाकर विविध खेल कर रही है। तुम अज्ञ मत बनो, तुम ज्ञानी बनो; सांसारिक भावनाको नष्ट कर दो। अनात्म पदार्थमें आत्मभावना करके क्यों मूर्खकी भाँति रो रहे हो। यह मांसका पिण्ड, अपवित्र, मूक, जड शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिये बलात् दुःख-सुखसे अभिभूत हो रहे हो? अहा! कितने आश्चर्यकी बात है कि जो ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्योंने भुला दिया है। तुम कर्तव्य-कर्मोंमें रत रहते हुए मनको कभी उनके प्रति रागानुरञ्जित मत होने दो। अहा! कैसी आश्चर्यकी बात है कि कमलनालके तन्तुओंसे पर्वत बाँध दिये गये हैं! जो अविद्या है ही नहीं, उसीके द्वारा यह विश्व अभिभूत हो रहा है। उस अविद्याके कारण तृणके समान तुच्छ जाग्रत् आदि तीनों जगत् वज्रवत् हो रहे हैं' ॥ १२४—१३४ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥



ॐ

पञ्चम अध्याय

ऋभुका उपदेश चालू

अज्ञान एवं ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

महर्षि ऋभु बोले—'तात ! इसके आगे मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ठीक-ठीक सुनो । अज्ञानकी सात भूमिकाएँ होती हैं, और ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ होती हैं । इनके बीच असंख्य दूसरी भूमिकाएँ उत्पन्न होती हैं । स्वरूपमें अवस्थित होना मुक्ति है । अहं-भावना ही स्वरूपसे च्युत होना है । शुद्ध सत्तामात्र संवित् ही आत्माका स्वरूप है; उससे जो विचलित नहीं होते, उनमें अज्ञानसे उत्पन्न राग-द्वेष आदि दूषित भाव नहीं होते । स्वरूपसे च्युत होकर वासनार्थ जो चित्में डूबना है, उससे बढ़कर कोई दूसरा मोह न हुआ है और न होगा । एक विषयसे दूसरे विषयको जाते समय जो मध्यमें स्थिति होती है, वह ध्वस्तमननके आकारवाली स्वरूपस्थिति कहलाती है । सारे सङ्कल्पोंकी सम्यक् शान्तिसे शिलाके समान जो निश्चेष्ट स्थिति होती है, जो जाग्रत्-अवस्था तथा स्वप्नावस्थासे विनिर्मुक्त होती है, वह परा स्वरूपस्थिति कहलाती है । अहंताके क्षीण हो जानेपर, शान्त, चेतन तथा भेदभावसे शून्य जो चित्तकी अवस्था होती है, वह स्वरूपस्थिति कहलाती है ॥ १–७ ॥

'मोह सात प्रकारका होता है—प्रथम बीज-जाग्रत् अवस्था, दूसरा जाग्रत् अवस्था, तीसरा महाजाग्रत् अवस्था, चौथा जाग्रत्स्वप्न अवस्था, पाँचवाँ स्वप्नावस्था, छठा स्वप्नजाग्रत् अवस्था और सातवाँ सुषुप्ति अवस्था । फिर, ये एक दूसरेसे श्लिष्ट होकर अनेक रूप धारण करते हैं । अब इनके पृथक्-पृथक् लक्षण सुनो । प्रथम, जो नामरहित निर्मल चेतनमें चित्की आगे होनेवाली चित्त, जीव आदि नाम, शब्द तथा अर्थकी पात्रतासे युक्त अवस्था होती है, वह बीजरूपमें स्थित जाग्रत्-अवस्था बीजजाग्रत् कहलाती है । यह ज्ञाताकी नवीन अवस्था होती है; अब तुम जाग्रत्की सम्यक् स्थितिकी बात सुनो । बीज-जाग्रत् अवस्थाके बाद 'यह मैं हूँ, यह मेरा है'—अपने भीतर जो ऐसी प्रतीति होती है, वह अतिरिक्त भावनाओंसे पहले होनेवाली मोहकी दूसरी जाग्रत् अवस्था कहलाती है । 'यह वह पुरुष है, मैं यह हूँ, वह मेरी वस्तु है' यह पूर्वजन्मोंका उदित हुआ पुष्ट प्रत्यय महाजाग्रत् कहलाता है । अरूढ़ अथवा रूढ़, सर्वथा मनोमय, जो मनकी काल्पनिक सृष्टि जाग्रदवस्थामें होती है, उसे जाग्रत्स्वप्न कहते हैं । एक चन्द्रमें दो चन्द्रोंका भान होना, शुक्ति (सीप) में रजतका भान होना, मृगतृष्णामें जलका भान होना—इत्यादि भेदसे अभ्यासको प्राप्त हुआ जाग्रत्स्वप्न अनेक प्रकारका होता है । थोड़ी देरतक मैंने देखा, अब यह दृष्टिगत नहीं हो रहा है—जिस अवस्थासे जागनेपर मनुष्यको इस प्रकारका परामर्श (स्मृति) होता है, वह स्वप्न कहलाता है । चिरकालतक साक्षात्कार न होनेके कारण जो पूर्ण विकासको नहीं प्राप्त हुआ, बड़ी-बड़ी बातोंवाला, देरतक टिकनेवाला स्वप्न जाग्रत्के समान ही उदित होता है, वह जाग्रत् अवस्थामें भी परिस्फुरित होनेवाला स्वप्न स्वप्नजाग्रत् कहलाता है । इन छः अवस्थाओंका परित्याग कर जीवकी जो जडात्मक अवस्थिति होती है, वह आनेवाले दुःखबोधसे युक्त अवस्था सुषुप्ति कहलाती है । उस अवस्थामें जगत् अन्तस्तममें लीन हो जाता है । ब्रह्मन् ! मैंने अज्ञानकी इन सात भूमिकाओंको बतलाया । इनमें एक-एक सैकड़ों प्रकारकी विविध ऐश्वर्योंसे युक्त अवस्थाओंका रूप धारण करती है । अब हे निष्पाप पुत्र ! ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ हैं, उनको सुनो, जिनको जान लेनेपर पुरुष पुनः मोह-पङ्कमें नहीं पड़ता ॥ ८—२१ ॥

'सिद्धान्तवादी लोग योग-भूमिकाओंके बहुतेरे भेद बतलाते हैं, परंतु मुझे तो ये ही कल्याणप्रद सात भूमिकाएँ अभीष्ट हैं । इस प्रकार इन सात भूमिकाओंमें होनेवाले अवबोधको 'ज्ञान' कहते हैं; और इन भूमियोंके पश्चात् होनेवाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है । शुभेच्छा नामकी पहली ज्ञानभूमि कहलाती है । दूसरी विचारणा कहलाती है । तीसरी तनुमानसी, चौथी सत्त्वापत्ति, उसके बाद पाँचवीं असंसक्ति, षष्ठी पदार्थाभावना तथा सप्तमी तुर्यगा है । इनके अन्तर्गत वह मुक्ति है, जिसे प्राप्तकर पुनः शोक नहीं करना पड़ता । अब तुम इन भूमिकाओंकी परिभाषा सुनो । 'मैं मूढ़ बनकर क्यों बैठा हूँ ? शास्त्र तथा संतजनोंसे मैं जिज्ञासा करूँगा'—इस प्रकारकी वैराग्य-

से पूर्व जो इच्छा होती है, उसे ज्ञानीजन शुभेच्छा कहते हैं। शास्त्र तथा संतजनोंके सम्पर्कके कारण अभ्यास और वैराग्यके साथ-साथ जो सदाचरणकी प्रवृत्ति है, वह विचारणा कहलाती है। विचारणा और शुभेच्छाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें अनुरक्ति जब क्षीणताको प्राप्त होती है, तब वह तनुमानसी अवस्था कहलाती है। इन तीनों भूमियोंके अभ्याससे वैराग्यके वशीभूत हो जब चित्त शुद्ध सत्त्वस्वरूपमें स्थित होता है, तब उसे सत्त्वापत्ति कहते हैं। इन चारों भूमियोंके अभ्याससे सत्त्वारूढ़ होकर चमकनेवाली जो संसर्गहीन कला है, वह असंसक्ति कहलाती। इन पाँचों भूमियोंके अभ्यासके फलस्वरूप दृढ़तापूर्वक अपने आत्मामें ही रमण करते रहनेसे तथा आन्तर और बाह्य पदार्थोंकी भावना नष्ट हो जानेसे जिसमें दूसरोंके द्वारा चिरकालतक प्रयत्न करनेपर बाह्यज्ञान होता है; वह पदार्थाभावना नामकी षष्ठ भूमिका है। इन छः भूमियोंमें चिरकालतक अभ्यास करनेके बाद भेदबुद्धिका अभाव हो जानेके कारण जो आत्मभावमें एकनिष्ठा हो जाती है, वह तुर्यगा स्थिति कहलाती है। यही तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषकी होती है। इसके पश्चात् जो तुर्यातीत अवस्था है, वह विदेहमुक्तिका विषय है। निदाघ! जो महाभाग्यवान् पुरुष सप्तमी भूमिकाका आश्रय ले चुके हैं, वे आत्मामें रमण करनेवाले महात्मा महान् पदको प्राप्त हो गये हैं। जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखके अनुभवकी स्थितिमें नहीं पड़ते। वे कभी कर्तव्य-कर्मोंमें लगे रहते हैं और कभी उनसे अलग हो जाते हैं। अपने पासके लोगोंके द्वारा चेताये जानेपर सोकर जगे हुएके समान उठकर, सनातन आचारोंका आचरण करने लगते हैं। ये सात भूमिकाएँ बुद्धिमान् पुरुषोंको ही ज्ञात होती हैं। इन ज्ञानावस्थाओंको प्राप्तकर जो पशु, म्लेच्छ आदि हैं, वे भी देह रहते या देह त्यागनेके बाद मुक्तिको प्राप्त करते हैं—इसमें सन्देह नहीं है। हृदयकी गाँठोंका खुल जाना ही ज्ञान है, और ज्ञान होनेपर ही मुक्ति होती है॥ २२—४०॥

'मृगतृष्णामें जलकी भ्रान्तिके समान अनात्ममें आत्मबुद्धि आदि अविद्याकी शान्ति ही मुक्ति है; जो मोहसागरसे पार हो गये हैं, उन्होंने ही परम पदको प्राप्त किया है। वे आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिमें लगे हुए पुरुष इन भूमिकाओंमें स्थित होते हैं। मनकी पूर्णतः शान्तिके उपायको योग कहते हैं। उस योगकी सात भूमिकाएँ हैं और उन भूमिकाओंको ऊपर बतला आये हैं। इन भूमिकाओंका लक्ष्य है ब्रह्मपदकी प्राप्ति—जहाँ तू, मैं, अपने और परायेका कोई भाव नहीं रहता, न कोई भावात्मक बुद्धि होती है और न भावाभावका चिन्तन होता है। सब शान्त, आलम्बनशून्य, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान न होनेवाला, अनिर्वचनीय, कारणहीन, न सत् न असत्, न मध्य न अन्त, सम्पूर्ण नहीं और सम्पूर्ण भी, मन और वाणीके द्वारा अग्राह्य, पूर्णसे पूर्ण, सुखसे सुखतरस्वरूप, संवेदनमें न आनेवाला, पूर्ण शान्त, आत्मसाक्षात्कारस्वरूप तथा व्यापक ब्रह्मका स्वरूप है। समस्त जागतिक पदार्थोंकी सत्ता आत्मसंवेदनके अतिरिक्त दूसरी कुछ नहीं है॥ ४१—४७॥

'द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध होनेपर बीचमें दृष्टिका जो स्वरूप होता है, वह द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शनकी त्रिपुटीसे वर्जित साक्षात्काररूप स्थिति होती है। चित्त जब एक देशसे दूसरे देशको जाता है, तब बीचमें जो चित्तकी स्थिति होती है, उस जाड्यविहीन संविद्रूप मननमें सदा तन्मय रहो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे परे जो तुम्हारा सनातन स्वरूप है, उस जड-चेतनरहित स्थितिमें सदा तन्मय रहो। एक जडताको छोड़कर—क्योंकि वह पत्थरका हृदय है, पाषाणरूपताकी प्राप्ति है—उससे रहित जो अमनस्क स्थिति है; सदा उसमें तन्मय रहो। चित्तको दूरसे त्यागकर जिस किसी स्थितिमें हो, उसीमें स्थिर रहो। परमात्मतत्त्वसे पहले मन निकला। तत्पश्चात् मनसे ही विकल्पजालसे पूर्ण यह जगत् विस्तृत हुआ। हे विप्र! शून्यसे भी शून्य उत्पन्न होता है, जैसे आकाश शून्य है और उससे सुन्दर लगनेवाली नीलिमा उल्लसित होती है। सङ्कल्पके नाश हो जानेके कारण जब चित्त गलित हो जाता है, तब संसारके मोहका कुहासा भी गल जाता है। तब शरद्के आनेपर स्वच्छ आकाशके सदृश वह अजन्मा, सबका आदि और अनन्त एक चिन्मात्र विभासित हो उठता है। बिना कर्ताके और बिना रंगके आकाशमें चित्र उठ आया। बिना द्रष्टाके, स्वानुभव, निद्राविहीन स्वप्नदर्शन हो रहा है। साक्षिस्वरूप, समानरूपसे स्वच्छ, निर्विकल्प, दर्पण-जैसे चिदात्मामें बिना इच्छाके तीनों जगत् प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ब्रह्म एक है, चिदाकाशरूप है, सर्वस्वरूप है और अखण्डित है—चित्त-चाञ्चल्यकी शान्तिके लिये यत्नपूर्वक यह भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार एक मोटी शिलापर रेखाएँ और उपरेखाएँ खिंची होती हैं, उसी प्रकार त्रैलोक्यसे खचित एक ब्रह्मको देखना चाहिये। किसी दूसरे कारणके न होनेपर यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ। अब मैंने जो जानना था, उसे जान लिया; जो अद्भुत देखना था, उसे देख लिया। चिरकालका

थका मैं विश्रामको प्राप्त हुआ। चिन्मात्रके अतिरिक्त और कुछ है नहीं, इस प्रकार समझो। इस समस्त जागतिक लीलासे विरत होकर तथा असन्दिग्ध भावसे चिन्मात्रको देखो ॥ ४८—५९ ॥

'जिन्होंने सङ्कल्प-जालको निरस्त कर दिया है, जो चित्तत्व-हीन परम पदको प्राप्त हैं, वे ही समस्त दोषोंसे निवृत्त हो ब्रह्मको प्राप्त करते हैं; जो विमनस्कताको प्राप्त हो चुके हैं, वे शान्त चित्तवाले महाबुद्धिमान् हैं। वेदान्तविचारशील प्राणी, जिनके चित्तकी वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं, मनश्चिन्तनके त्यागका अभ्यास करते-करते जिनका मन कुछ परिपक्व हो गया है, जो मोक्षका उपाय खोजनेवाले पुरुष हेय तथा उपादेय—दोनों प्रकारके दृश्योंका त्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मतत्त्वके साक्षात्कारमें लगे हैं तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्चको नहीं देखते, जो विशेषरूपसे ज्ञातव्य परम तत्त्वमें जागरूक होकर जीवन धारण कर रहे हैं, जो रसमय तथा रस-हीन पदार्थोंमें अत्यन्त परिपक्व वैराग्यके कारण घने मोहसे युक्त संसार-पथमें सोये हुए हैं, वैराग्यकी तीव्रताके कारण पक्षीके जालके समान जिनका संसार-वासनाका जाल टूट गया है तथा हृदयकी ग्रन्थि शिथिल हो गयी है, ऐसे साधकोंका स्वभाव विज्ञानके द्वारा उसी प्रकार संशुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फलके द्वारा जल स्वच्छ हो जाता है। मन जब रागविहीन, अनासक्त, द्वन्द्वातीत तथा निरालम्ब हो जाता है, तब वह पिंजड़ेसे छूटे हुए पक्षीके समान मोहजालसे बाहर निकल जाता है। सन्देहरूप दुरात्मापन जिनका शान्त हो गया है, जो प्रपञ्चात्मक कुतूहलसे विरत हैं, उनका चित्त सब प्रकारसे पूर्ण होकर पूर्णचन्द्रके समान सुशोभित होता है ॥ ६०—६८ ॥

'न मैं हूँ और न यहाँ दूसरा कुछ है; मैं सब दोषोंसे रहित ब्रह्मस्वरूप हूँ—जो इस प्रकार सत् और असत्के मध्यसे देखता है, वही वस्तुतः देखता है। जिस प्रकार सहज ही प्राप्त हुए दर्शन, द्रष्टा तथा दृश्योंमें मन बिना रागके ही जाता है, उसी प्रकार धीर बुद्धिवाले कर्तव्य-कर्मोंमें बिना आसक्तिके ही लगे रहते हैं। भलीभाँति जानकर भोगा गया भोग उसी प्रकार तुष्टिका कारण बनता है, जिस प्रकार जानकर सेवा किया गया चोर चोरी छोड़कर मैत्रीका ही निर्वाह करता है। जिसकी मनमें शङ्का भी नहीं थी, ऐसे गाँवके मार्गमें आ जानेपर पथिक जिस दृष्टिसे उसे देखता है, उसी दृष्टिसे ज्ञानी पुरुष भोगके ऐश्वर्योंको देखते हैं। निग्रह किया हुआ मन अनायास प्राप्त हुए थोड़े-से भी भोगको, जो विस्तारको नहीं प्राप्त हुआ है, क्लेशदायक होनेके कारण, बहुत अधिक समझता है। बन्धनसे मुक्त हुआ राजा भोजनके एक ग्रासमात्रसे सन्तुष्ट हो जाता है; परंतु वह यदि शत्रुके द्वारा आबद्ध न हो तथा आक्रान्त न हो तो राष्ट्र भी उसके लिये उपेक्षणीय हो जाता है। हाथसे हाथको संमर्दितकर, दाँत-से-दाँत पीसकर तथा अङ्गोंसे अङ्गोंको दबाकर, अर्थात् अपने सम्पूर्ण पराक्रम और उत्साहसे, पहले मनपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस संसार-समुद्रमें मनपर विजय करनेके अतिरिक्त कोई दूसरी गति नहीं है। इस महानरकके साम्राज्यमें दुष्कृतरूपी मतवाले हाथी घूम रहे हैं। आशारूपी बाणों और बरछोंसे सजे-धजे इन्द्रियरूपी शत्रुओंका जीतना दुष्कर है। जिन्होंने चित्तके दर्पको नष्ट कर दिया है तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओंको वशमें कर लिया है, उनकी भोग-वासना उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे हेमन्त ऋतुमें कमलका पौधा नष्ट हो जाता है। रात्रिमें वेतालके समान हृदयमें वासनाका तभीतक निवास है, जबतक एकाग्रताके अभ्यासद्वारा मनको जीत नहीं लिया जाता। विवेकी पुरुषका मन अभीष्ट कार्य करनेके कारण भृत्यके समान है, सारे प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके कारण मन्त्रीरूप है और मेरे विचारसे समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण सामन्तरूप है। मेरे विचारसे मनीषी पुरुषका मन लालन करनेके कारण स्नेहशील ललनास्वरूप है तथा पालन करनेके कारण पालन करनेवाला पिता है। मनरूपी पिता शास्त्रदृष्टिसे तथा आत्मप्रकाश, आत्मबुद्धि एवं आत्मानुभवके द्वारा परम सिद्धिको प्रदान करता है। अत्यन्त दृष्ट, अत्यन्त दृढ़, स्वच्छ, भलीभाँति वशमें किया हुआ, भलीभाँति जाग्रत्, आत्मगुणोंसे तेजस्वी बनाया हुआ मनोरम मनरूपी मणि हृदयमें सुशोभित होता है। ब्रह्मन्! भाँति-भाँतिके पङ्कोंसे मलिन इस मनरूपी मणिको सिद्धिके लिये विवेकरूपी जलसे धोकर आलोकवान् बनो। श्रेष्ठ विवेकका आश्रय लेकर बुद्धिसे सत्यका साक्षात् (निश्चय) करके, इन्द्रियरूपी शत्रुओंको पूर्णतः छिन्नकर संसार-सागरसे पार हो जाओ ॥ ६९—८४ ॥

'केवल आस्थाको—संसारकी आशाको ही अनन्त दुःखोंका कारण जानो, और सर्वत्र केवल अनास्थाको सुखका घर समझो। वासनाके सूत्रसे बँधा हुआ यह संसार बारंबार होता है। वह प्रसिद्ध वासना अत्यन्त दुःखका कारण बनती है और सुखका

उन्मूलन करनेके लिये आती है। जीव चाहे धीर हो, अत्यन्त बहुश्रुत हो, कुलीन हो, महान् हो, फिर भी वह तृष्णासे उसी प्रकार बँध जाता है, जैसे शृङ्खलासे सिंह बँध जाता है। परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर और भलीभाँति उद्यम करते हुए शास्त्रानुसार शान्तिपूर्वक आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिको नहीं प्राप्त करता। 'मैं ही अखिल विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे सिवा और कुछ नहीं है'—इस प्रकारके ज्ञानद्वारा होनेवाला अहंभाव ही श्रेष्ठ है। 'मैं समस्त प्रपञ्चसे अतीत हूँ, बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म हूँ'— ब्रह्मन्! इस प्रकारके ज्ञानसे जो अहंकार होता है, वह दूसरा शुभप्रद अहंभाव है और वह मोक्षका कारण बनता है, बन्धनका नहीं। ऐसा अहंभाव जीवन्मुक्त पुरुषोंको ही होता है। 'हाथ-पैर आदिसे युक्त यह शरीरमात्र मैं हूँ'—इस प्रकारका निश्चय तीसरा लौकिक अहङ्कार है और यह अत्यन्त तुच्छ है। यह अहंकारात्मक दुरात्मा जीव ही संसाररूपी दुःखद वृक्षका मूल है। इससे मारा गया प्राणी अधःपतनकी ओर ही दौड़ता है। इस दुःखद अहङ्कारको त्यागकर और चिरकालतक शुभ अहङ्कारकी भावनामें लगा हुआ प्राणी शमयुक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है। पहले कहे गये दो अलौकिक अहङ्कारोंको अङ्गीकार करके तीसरे दुःखद लौकिक अहङ्कारको त्याग देना चाहिये। पश्चात् उनको भी छोड़कर जो सब प्रकारके अहङ्कारोंसे रहित होकर स्थित है, वही उच्च पदको प्राप्त होता है॥ ८५—९६॥

'भोगकी इच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। मनकी उन्नति उसके विनाशमें है। मनोनाश महाभाग्यवान्‌का लक्षण है। ज्ञानी पुरुषके मनका नाश हो जाता है। अज्ञानीके लिये मन बन्धनरूप है। ज्ञानीका मन न आनन्दरूप है न आनन्दरहित है; न चल है, न अचल और न स्थिर ही है; वह न सत्‌रूप है, न असत्‌रूप ही और न इनके बीचकी ही स्थितिमें रहता है। जैसे चित्‌में प्रकाशित होनेवाला आकाश सूक्ष्मताके कारण दिखलायी नहीं देता, उसी प्रकार अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापी होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सारे सङ्कल्पोंसे रहित, सारी संज्ञाओंसे शून्य यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामोंसे व्यक्त किया जाता है। जो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें आकाशसे भी सौगुनी स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कल-रूप (अवयवरहित) है, एवं जो सकल एवं निर्मल संसारके रूपमें एकमात्र अपना ही दर्शन कराती है—इस प्रकारकी चित्, चेतनसत्ता न अस्त होती है न उदय होती है; न उठती है न स्थिर रहती है; न जाती है न आती है; न यहाँ है और न यहाँ नहीं है। वह चित् अर्थात् चेतनसत्ता विकल्परहित; निरालम्ब और निर्मल स्वरूपवाली है। गुरुको चाहिये कि प्रारम्भमें शम-दम आदि गुणोंके द्वारा शिष्यके अन्तःकरणको शुद्ध करे। पश्चात् 'यह सब कुछ ब्रह्मरूप है और तुम शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हो' ऐसा बोध प्रदान करे। अज्ञानी पुरुषको तथा जो अर्द्ध-जाग्रत् है, उसे जो कहता है कि 'सब ब्रह्म ही है', वह उसे महानरकजालमें ढकेल देता है। जिसकी बुद्धि जाग्रत् हो गयी है, भोगकी इच्छा नष्ट हो गयी है, तथा जो सर्वथा आकाङ्क्षारहित हो गया है—ऐसे पुरुषको प्राज्ञ गुरु वेदान्तका यह उपदेश दे कि अविद्यारूप मल है ही नहीं। जिस प्रकार दीपकके होनेपर ही प्रकाश होता है, सूर्यनारायणके होनेपर ही दिन होता है, पुष्पके होनेपर ही सुगन्ध होती है, उसी प्रकार चित्–चेतनके ऊपर ही जगत्‌की स्थिति है। यह जगत् वास्तवमें है नहीं, केवल भासता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि निर्मल—आवरणशून्य हो जायगी, ज्ञानका सब ओर प्रकाश हो जायगा तथा तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे, तभी तुम मेरे उपदेशके बलाबलको ठीक-ठीक जान सकोगे॥ ९७—१०७॥

'स्वार्थनाशके लिये उद्यम करना ही जिसका एकमात्र प्रयोजन है, ऐसी श्रेष्ठ अविद्याके द्वारा ही, ब्रह्मन्! सब दोषोंको हर लेनेवाली विद्याकी प्राप्ति होती है। अस्त्रके द्वारा अस्त्रका शमन होता है तथा मलके द्वारा मल धोया जाता है; विषके द्वारा विषका शमन होता है, शत्रुके द्वारा शत्रु मारा जाता है। इसी प्रकारकी यह भूतमाया है, जो अपने नाशसे ही हर्ष प्रदान करती है। इसका स्वरूप दिखलायी नहीं देता, दिखलायी देते ही यह नष्ट हो जाती है। परमार्थतः यह माया है ही नहीं—इस प्रकारकी दृढ़ भावनाके साथ 'सब ब्रह्म ही है'—ऐसी जो अन्तर्भावना होती है, वही मुक्ति प्रदान करती है। यह भेददृष्टि ही अविद्या है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये॥ १०८—११३॥

मुने! (मायाके द्वारा) जो नहीं प्राप्त होता है, वह अक्षयपद कहलाता है। द्विज! यह माया किससे उत्पन्न हुई—यह तुम्हें नहीं विचारना है। 'मैं इसे किस प्रकार नष्ट करूँ'—यही तुम्हें विचार करना है। इसके क्षीण होकर नष्ट हो जानेपर तुम उस अक्षयपदको जान सकोगे। जहाँसे यह प्रकट होती है, जैसा इसका स्वरूप है, जिस प्रकार यह नष्ट होगी—अर्थात् निदान, लक्षण और शमनके

उपायका विचार करते हुए, इस रोगके घर अर्थात् अविद्याकी चिकित्साके लिये पूरा प्रयत्न करो, जिससे यह जन्म अर्थात् आवागमनके कष्टोंमें तुम्हें बारंबार न डाले, और चित्‌रूपी समुद्र अपने-आपमें स्वच्छ आत्मपरिस्पन्दनके द्वारा विभासित हो उठे। 'वह चित्-सत्ता एक अखण्ड स्वरूपवाली है'—इस प्रकार अपने भीतर दृढ़ भावना करनी चाहिये। वह चित्-शक्ति चिन्मय समुद्रमें किञ्चित् क्षुभित हो रही है। समुद्रमें लहरोंके समान वहाँ स्वच्छ चिन्मय तरङ्ग ही उठ रहे हैं। अपने-आप आकाश-सरोवरमें जैसे वायु लहराता है, उसी प्रकार स्वात्मामें ही आत्मशक्तिसे आत्मा तरङ्गायमान होता है। सर्व-शक्तिमत्ताके कारण इस प्रकारकी दैवी स्फुरणा क्षणमात्रके लिये होती है। देश, काल और क्रियाकी शक्ति जिसको चलायमान करनेमें समर्थ नहीं होती, वह आत्मशक्ति अपने स्वभावको जानकर उच्च अनन्त पदमें स्थित है। यह चित्-शक्ति जाननेमें न आनेके कारण परिमित-सी होकर रूपकी भावना करती है। उस परम आकर्षक-शक्तिके द्वारा जब इस प्रकार रूपकी भावना होती है, उसी समय उसके पीछे नाम और संख्या आदि दृष्टियाँ लग जाती हैं। ब्रह्मन्! विकल्पके रूपको धारण करनेवाला तथा देश, काल और क्रियाका आधारभूत जो चित्-शक्तिका रूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वह भी वासनाओंकी कल्पना करता हुआ अहङ्कारका रूप धारण करता है। अहङ्कार जब निश्चयात्मक एवं दोषयुक्त हो जाता है, तब वह बुद्धि कहलाता है। और बुद्धि जब सङ्कल्पका रूप ग्रहण करती है, तब मननास्पद मन बनती है। मन जब घने विकल्पमें पड़ता है, तब शनैः-शनैः इन्द्रियरूप ग्रहण करता है। हाथ-पैरयुक्त शरीरको बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार जीव सङ्कल्प और वासनाकी रज्जुओंसे बँधकर दुःखजालमें फँसा हुआ क्रमशः अधोगतिको प्राप्त होता है। इस तरह शक्तिमय चित् घने अहङ्कारको प्राप्त होकर रेशम बनानेवाले कीड़ेके समान स्वेच्छासे बन्धनमें पड़ता है। अपने ही द्वारा कल्पित तन्मात्ररूपी जालके भीतर रहकर, शृङ्खलामें बँधे हुए सिंहके समान, चित्-शक्ति अत्यन्त विवशताको प्राप्त हो जाती है। आत्मा ही कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहङ्कार और कहीं चित्तके नामसे जाना जाता है। कहीं इसे प्रकृति कहते हैं, और कहीं 'माया है' ऐसी कल्पना करते हैं। कहीं यह बन्धनके नामसे प्रसिद्ध है और कहीं पुर्यष्टक कहलाता है। कहीं इसे अविद्या कहते हैं और कहीं 'इच्छा' माना जाता है। यह आशा-पाशका निर्माण करनेवाले अखिल विश्वको उसी प्रकार धारण करता है, जैसे भीतर फलविहीन वटबीज वटको धारण करता है॥ ११४—१३३॥

'चिन्तारूपी अग्निशिखासे दग्ध, क्रोधरूपी अजगरके द्वारा चबाये हुए, कामरूपी समुद्रके कल्लोलमें स्थित तथा अपने पितामह आत्माको भूले हुए इस मनका, ब्रह्मन्! कीचड़से फँसे हाथीके समान उद्धार करो। प्रपञ्चकी भावनासे व्याप्त इस प्रकारके जीवाश्रित भाव ब्रह्मके द्वारा लाखों, करोड़ों तथा असंख्य रूपोंमें कल्पित होकर पहले उत्पन्न हो चुके हैं, और आज भी चारों ओर उत्पन्न हो रहे हैं, तथा निर्झरसे उत्पन्न जलकणोंके समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ तो प्रथम ही उत्पन्न हो रहे हैं और कुछ भाव सौसे अधिक बार उत्पन्न हो चुके हैं; कोई असंख्य जन्म ग्रहण कर चुके हैं और किन्हींके दो-ही-तीन जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूपमें प्रकट हैं; कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, शिव, हरि एवं ब्रह्मारूप बन रहे हैं। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्ररूपमें स्थित हैं। कोई तृण, ओषधि, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्रके रूपमें हैं। कोई कदम्ब, नीबू, आम, ताड़ तथा तमाल वृक्ष बन रहे हैं। कोई महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतोंका आकार धारण किये हुए हैं। कोई खारे समुद्र, तथा कोई दूध, घृत, ईखके रस तथा जलकी राशिके रूपमें अवस्थित हैं। कोई विशाल दिशाओंका रूप धारण किये हुए हैं। कोई महान् वेगशाली नदियोंके रूपमें हैं। कोई हाथसे फेंके जानेवाले गेंदके समान मृत्युके द्वारा बारंबार ताड़ित होकर आकाशमें ऊपर उठते और नीचे गिरते रहते हैं। कोई-कोई मूर्ख मनुष्य विवेकको प्राप्त करके भी सहस्रों जन्म भोगकर पुनः संसाररूपी सङ्कटमें पड़ते हैं। दिशा और कालके द्वारा अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व अपनी शक्तिसे सहज ही दिशा और कालके द्वारा आकलित जो शरीर ग्रहण करता है, वही जीवके पर्यायभूत वासनाके आवेशसे संकल्पोन्मुख चञ्चल मनका रूप धारण करता है। वह सङ्कल्पात्मिका मनःशक्ति क्षणमात्रमें निर्मल आकाशकी भावना करती है, उसमें शब्दबीज अङ्कुरोन्मुख रहता है। तत्पश्चात् वही मन और भी घनीभूत होनेपर घने स्पन्दनके क्रमसे वायुके स्पन्दनकी भावना करता है। उसमें स्पर्श-बीज अङ्कुरोन्मुख रहता है। उसके बाद दृढ़ अभ्यासके द्वारा शब्द और स्पर्शरूप आकाश और वायुके संघर्षसे अग्नि उत्पन्न होती है। वह रूप-तन्मात्राके साथ मिलकर तीन गुणोंसे युक्त होती है। उन तीनों गुणोंके साथ संयुक्त हुआ मन रस-तन्मात्राका अनुभव करता हुआ क्षणमात्रमें जलकी शीतलताका चिन्तन करता है। इससे उसे जलका अनुभव होता है। पश्चात् उन चार गुणोंसे युक्त होकर मन दूसरे ही क्षण गन्ध-तन्मात्राकी भावना करता है, इससे उसे पृथ्वीका अनुभव होता है। इस प्रकार पाँचों तन्मात्राओंसे घिरकर सूक्ष्मताका त्याग करता हुआ वह आकाशमें अग्निकणोंके आकारमें स्फुरित शरीरको देखता है।

वही अहङ्कारकी कलाओंसे युक्त और बुद्धि-बीजसे समन्वित पुर्यष्टक कहलाता है, जो प्राणियोंके हृत्कमलमें मँडरानेवाले षट्पदके समान है। उसमें तीव्रसंवेगके द्वारा तेजस्वी शरीरकी भावना करता हुआ मन उसी प्रकार स्थूलताको प्राप्त होता है, जैसे पाकके द्वारा बिल्वफल। स्वच्छ आकाशमें, मूषा (सोना गलानेके पात्र) में पिघले सोनेके समान स्फुरित होकर वह तेज अपने स्वभावके द्वारा ही गठित होने लगता है। उसका ऊपरी भाग सिरके पिण्डके समान तथा अधोभाग पैरके समान हो जाता है तथा दोनों पार्श्वोंमें बाहुकी आकृतियाँ एवं मध्यमें उदरका आकार समयानुसार व्यक्त होकर शुद्ध शरीररूप धारण करते हैं। वे ही बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्यसे युक्त होकर सब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्मा बनते हैं ॥ १३४—१५७ ॥

'भूत, भविष्य और वर्तमानको स्पष्ट देखनेवाले भगवान् ब्रह्माजी अपने उत्तम और सुन्दर शरीरको देखकर सोचने लगे कि इस चिन्मात्र आत्मस्वरूपी परमाकाशमें, जिसका ओर-छोर नहीं दिखायी देता, पहले क्या होना चाहिये। इस प्रकार चिन्तन करते ही तत्काल उन्हें निर्मल आत्म-दृष्टि प्राप्त हुई। उन्होंने अतीत कालके अनेकों सर्गोंको देखा तो समस्त धर्मों और गुणोंके सारे क्रम उन्हें स्मरण हो आये। उन्होंने लीलासे ही नाना प्रकारके आचारोंसे युक्त भाँति-भाँतिकी प्रजाको आकाशमें गन्धर्व-नगरके समान सङ्कल्पसे उत्पन्न कर दिया। उनके स्वर्ग और अपवर्गके लिये तथा धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये अनन्त चित्र-विचित्र शास्त्रोंकी कल्पना की। ब्रह्मारूपी मनकी कल्पनासे जगत्की स्थिति होनेके कारण ब्रह्माके जीवनके साथ ही इसकी स्थिति है, उनके नाशके साथ यह भी नाशको प्राप्त होता है। द्विजवर! वास्तवमें कहीं कोई न उत्पन्न होता है और न मरता है। सब कुछ मिथ्या दीख पड़ता है। यह विश्व-प्रपञ्च आशारूपी सर्पिणियोंकी पिटारी है। इसका त्याग करो। 'यह असत् है' यों जानकर मातृभावमें स्थित हो। अर्थात् मैं ही इसका उत्पादक हूँ, ऐसी भावना करो। गन्धर्वनगर भूषित हो या अभूषित—वह जिस प्रकार तुच्छ है, उसी प्रकार अविद्याके अंशस्वरूप सुत-दारा आदिकी स्थिति है। फिर इनके लिये सुख-दुःख क्या करना। धन-दारा आदि प्रपञ्चका बढ़ना दुःखमय है। इसमें संतुष्ट होनेकी कोई बात नहीं है। मोह-मायाके बढ़नेपर, भला, इस लोकमें किसको शान्ति मिली है। जिन वस्तुओंकी अधिकतासे मूर्खको अनुराग होता है, उन्हींकी प्राप्तिसे प्राज्ञ पुरुषको वैराग्य उत्पन्न होता है। अतएव, तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहारोंमें जो-जो नष्ट होता जाय, उसकी उपेक्षा करते चलो और जो-जो प्राप्त होता जाय, उसे ग्रहण करते जाओ। जो भोग प्राप्त नहीं हैं, स्वभावतः उनकी इच्छा न करना तथा जो प्राप्त हैं, उनका उपभोग करना—यही पण्डितका लक्षण है। सत् और असत्के मध्यमें शुद्ध पदको जानकर तथा उसका अवलम्बन करके आभ्यन्तर तथा बाह्य दृश्योंको न तो ग्रहण करो और न त्याग करो। कर्ममें स्थित जिस ज्ञानी पुरुषको इच्छा और अनिच्छा समान हैं, उसकी बुद्धि जलमें पद्मपत्रके समान लिपायमान नहीं होती। ब्राह्मण! यदि ऐन्द्रिय विषयोंका विभव तुम्हारे हृदयमें स्पन्दित नहीं होता, तो तुम ज्ञातव्य पदार्थको जानकर संसार-सागरसे समुत्तीर्ण हो गये। उच्चपदकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक वासनारूपी पुष्पोंसे गन्ध लेकर उससे शीघ्र ही अपनी चित्तवृत्तिको दूर हटा लो ॥ १५८—१७५ ॥

'वासनारूपी जलसे पूर्ण, इस संसार-सागरमें जो प्रज्ञारूपी नौकापर आरूढ़ हैं, वे विद्वान् दूसरे पार पहुँच गये हैं। संसाररूपी समुद्रको जाननेवाले पुरुष सांसारिक व्यवहारका न तो त्याग करते हैं न उसकी आकाङ्क्षा ही करते हैं। वे सारे व्यवहारोंका अनासक्तरूपसे निर्वाह करते हैं। सत्तासामान्य अनन्त आत्मतत्त्व-रूप चेतनका जो विषयोन्मुख होना है, उसीको विज्ञ पुरुष सङ्कल्पका अङ्कुर मानते हैं। वह सङ्कल्प थोड़ी-सी सत्ता प्राप्त करके जब शनैः-शनैः घनीभूत होता है, तब वह बादलके समान दृढ़ होकर चित्ताकाशको आच्छन्न करके जडताका कारण बनता है। चेतन विषयोंको अपनेसे पृथक्की भाँति समझता हुआ, जिस प्रकार बीज अङ्कुरावस्थाको प्राप्त होता है, वैसे ही सङ्कल्पावस्थाको प्राप्त होता है। सङ्कल्पसे सङ्कल्प-क्रिया स्वयं ही उत्पन्न होती है और स्वयं ही शीघ्र-शीघ्र बढ़ती है। वह दुःखका ही कारण बनती है, सुख प्रदान नहीं करती। चित्तमें सङ्कल्पकी क्रियाको रोको। स्थितिमें पदार्थोंकी भावना मत करो; क्योंकि सङ्कल्पका नाश करनेके लिये जिसने कमर कस ली है, वह पुनः उनका अनुगमन नहीं करेगा। भावनाका केवल अभाव हो जानेपर सङ्कल्प स्वयं ही नष्ट हो जाता है। मुनि! सङ्कल्पके द्वारा ही सङ्कल्पको और मनके द्वारा मनको छिन्न करके तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाओ; इसमें दुष्कर ही क्या है? क्योंकि जिस प्रकार यह आकाश शून्य है, उसी प्रकार यह जगत् शून्य है। जिस प्रकार धानका छिलका तथा ताँबेकी कालिमा क्रियासे नष्ट हो जाती है, विप्र! उसी प्रकार पुरुषका मलरूपी दोष क्रियासे दूर हो जाता है। धानके छिलकेकी भाँति जीवका मल-उसके स्वभावगत है, तथापि वह नष्ट अवश्य हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं है। अतएव उद्योगी बनो' ॥ १७६—१८६ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ

षष्ठ अध्याय

ऋभुका उपदेश चालू

'अन्तरकी आस्थारूप एवं भावनामय भावोंकी सम्पत्तिका त्याग करके, हे निष्पाप! तुम जो हो, उसी स्थितिमें इस जगत्में सुखसे विचरण करो। 'मैं सर्वत्र अकर्ता हूँ'—इस भावनाकी दृढ़तासे वह परम अमृता नामकी समता ही शेष रहती है। खेद तथा उल्लासके विलास अपने ही किये हुए हैं—इस भावनासे अपने सङ्कल्पके क्षीण होनेपर समता ही अवशिष्ट रह जाती है। समस्त पदार्थोंमें समताकी जो सत्यनिष्ठ स्थिति है, उसमें चित्तके भलीभाँति स्थित होनेपर वह पुनः आवागमनका कारण नहीं बनता। अथवा मुनि! समस्त कर्तृत्व तथा अकर्तृत्वका त्याग करके, मनको पीकर, तुम जो हो, उसी स्थितिमें स्थिर हो जाओ। अन्तमें समाधिस्थ होकर जिससे तुम त्याग करते हो, उसका भी त्याग कर दो। चेतनने ही मनःसंकल्पका आकार धारण कर रक्खा है तथा वही प्रकाश एवं अन्धकार बना हुआ है। अतः वासना करनेवालेका प्राणस्पन्दनके साथ-साथ समूल त्याग करके आकाशके समान निर्लेप एवं प्रशान्तचित्त हो जाओ। हृदयसे सारी वासनाओंका त्याग करके जो निराकुल होकर रहता है, वह मुक्त है; वह परमेश्वर है। उसने दसों दिशाओंमें भ्रान्तिके वश होकर घूमते हुए समस्त द्रष्टव्य पदार्थोंको देख लिया। युक्तिपूर्वक आचरण करनेवाले ज्ञानी पुरुषके लिये यह संसार गोष्पदके समान सहज ही तरनेयोग्य हो जाता है। शरीरके बाहर तथा भीतर, नीचे-ऊपर तथा दिशाओंमें—इधर-उधर, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। उसके लिये जगत् अनात्ममय नहीं होता॥ १—१०॥

'वह स्थान नहीं है, जहाँ मैं नहीं हूँ, और वह वस्तु नहीं है, जो आत्ममय न हो। मैं दूसरी किस वस्तुकी इच्छा करूँ, सब कुछ सत् और चिन्मय होकर व्याप्त है। यह सब कुछ निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है, यह सब आत्मा ही व्याप्त हो रहा है। हे निष्पाप! मैं और हूँ, यह और है—इस प्रकारकी भ्रान्तिको छोड़ दो। व्यापी और नित्य घनब्रह्ममें कल्पित भावोंकी सम्भावना नहीं है। इसमें न शोक है न मोह है, न जरा है न जन्म है। जो आत्मतत्त्वमें है, वही है; अतएव सर्वदा सर्वत्र किसी वस्तुकी इच्छा न करते हुए तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीको अनासक्त होकर भोगते हुए सन्तापहीन होकर रहो। त्याग और ग्रहणका परित्याग करके सर्वदा विगतज्वर होकर रहो। हे महामतिमान्! जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसमें शीघ्र ही, वंशमें श्रेष्ठ मुक्ताके समान, निर्मल विद्या प्रवेश करती है। विरक्त चित्तवालोंकी, सम्यक्‌रूपसे, स्वानुभूतिसे प्रकट की गयी यह बात है कि द्रष्टाको दृश्यके सम्बन्धसे जो निश्चयात्मिका आनन्द-प्रतीति होती है, उस अपने आत्मतत्त्वसे उत्पन्न स्पन्दनकी हम सम्यक् रीतिसे उपासना करते हैं। वासनाओंके साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इन तीनोंका त्याग करके साक्षात्कारके रूपमें भासमान आत्माकी हम सम्यक् उपासना करते हैं। अस्ति और नास्ति—इन दोनों पक्षोंके बीचमें स्थित, प्रकाशोंको भी प्रकाशित करनेवाले, शाश्वत आत्माकी हम सम्यक् उपासना करते हैं। अपने हृदयमें स्थित महेश्वरको छोड़कर जो अन्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे अपने हाथमें स्थित कौस्तुभमणिका त्याग करके दूसरे रत्नकी इच्छा करते हैं। इन इन्द्रियरूपी शत्रुओंको—चाहे ये उठे हुए हों या न हों—बारंबार विवेकरूपी दण्डसे उसी प्रकार मारना चाहिये, जैसे इन्द्र वज्रसे पहाड़ोंको मार गिराते हैं॥ ११—२१॥

'संसाररूपी रात्रिके दुःस्वप्नरूप एवं सर्वथा शून्य इस देहमय भ्रममें जो कुछ प्रपञ्चका प्रसार देखा, सब ही अपवित्र देखा। बाल्यजीवनमें अज्ञानसे आबद्ध रहा, यौवनमें वनिताद्वारा मारा गया; अब अन्तमें यह नराधम स्त्री-पुत्रकी चिन्तामें दुखी होकर क्या कर सकता है। सत्‌के सिरपर असत् स्थित है। रमणीय भावोंके ऊपर अरमणीयता सवार है। सुखोंके सिरपर दुःख स्थित हैं। मैं किस एकका आश्रय लूँ? जिनके निमेष और उन्मेषसे जगत्‌का संहार और सृष्टि होती है, इस प्रकारके पुरुष भी जब कालके गालमें चले जाते हैं, तब मुझ-जैसोंकी तो गणना ही क्या है। संसार ही दुःखोंकी अन्तिम सीमा कही गयी है, उसमें शरीरके पड़े रहनेपर सुखास्वादन कैसे हो सकता है? मैं जाग गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्माको चुरानेवाला दुष्ट चोर यह मन ही है। मनने मुझको चिरकालसे चुरा लिया है। मैं इसको मार डालूँगा। हेय पदार्थोंके लिये खेद न करो, उपादेय पदार्थोंमें अनुरक्त मत होओ। हेय और उपादेयसम्बन्धी दृष्टिका त्यागकर शेषमें स्थित होकर सुस्थिर हो जाओ। संसारकी ओरसे निराशा, निर्भयता, नित्यता,

समता, अभिज्ञता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धृति, मैत्री, संतोष, मृदुता तथा मृदुभाषिता प्रभृति गुण वासनासे विहीन तथा हेयोपादेयसे मुक्त ज्ञानी पुरुषमें रहते हैं। तृष्णारूपी भीलनीके फैलाये हुए वासनारूपी जालमें तुम फँस गये हो; चिन्तारूपी रश्मियोंके द्वारा संसाररूपी मृगजल चारों ओर फैला हुआ है। तात! जिस प्रकार बवंडरसे मेघजाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानरूपी तेज बर्छीसे उसे काटकर अपने व्यापक स्वरूपमें स्थित हो जाओ ॥ २२—३२ ॥

'कुल्हाड़ीके द्वारा वृक्षके समान, मनसे ही मनको काटकर पावन पदको शीघ्र ही प्राप्तकर स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, सोते, जागते, निवास करते, उठते और गिरते समय भी 'ये सब असत् ही हैं' ऐसा निश्चय करके दृश्यमें आस्थाको छोड़ दो। यदि इस दृश्यका आश्रय लेते हो तो चित्तयुक्त होकर बन्धनमें पड़ते हो; और यदि इस दृश्यका सम्यक् त्याग करते हो तो चित्तशून्य होकर मोक्षके भागी बनते हो। न मैं हूँ, न जगत् है—इस प्रकार चिन्तन करते हुए तुम पर्वतके समान अचल होकर रहो। आत्मा और जगत्के मध्य, द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों अवस्थाओंके बीच अपनेको सर्वदा दर्शनस्वरूप आत्मा ही समझते रहो। आस्वादनके पदार्थ तथा आस्वादनकर्तासे भिन्न तथा इन दोनोंके मध्यमें अवस्थित केवल आस्वादनका ध्यान करते हुए परमात्ममय हो जाओ। बीच-बीचमें निरालम्ब-अवस्थाका अवलम्बन कर स्थिर हो जाओ। रज्जुसे बँधे हुए तो मुक्त हो जाते हैं, परंतु तृष्णासे बँधे हुए जीव किसीके द्वारा भी मुक्त नहीं किये जा सकते। अतएव निदाघ! तुम सङ्कल्पको छोड़ते हुए तृष्णाका त्याग करो। अहंभावशून्यतारूपी बर्छीके द्वारा इस अहंभावमयी, स्वभावतः उत्पन्न हुई पापिनी तृष्णाको काटकर समस्त प्राणियोंको उत्पन्न होनेवाले भयसे अभय होकर सुन्दर परमार्थलोकमें विचरण करो। मैं इन पदार्थोंका हूँ और ये मेरे जीवन हैं, इनके बिना मैं कुछ नहीं हूँ और न ये मेरे बिना कुछ हैं—अन्तःकरणके इस निश्चयका त्याग करके तथा मनसे विचारकर 'मैं पदार्थोंका नहीं हूँ तथा पदार्थ मेरे नहीं हैं'—ऐसी भावना करो। शान्तचित्तसे विचार-पूर्वक कर्मोंको सहज भावसे करते हुए जो वासनाका त्याग है, ब्रह्मन्! वही ध्येय कहा गया है ॥ ३३—४३ ॥

'समता रखनेवाली बुद्धिसे जो वासनाका सर्वथा क्षय करके ममतारहित हो जाता है, उसीसे शरीर-बन्धन छोड़ा जाता है। ऐसा वासनाक्षय अवश्यकर्त्तव्य है। जो अहंकारमयी वासनाको सहजमें ही छोड़कर ध्येय वस्तुका सम्यक् त्याग करके स्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सङ्कल्परूपी वासनाका मूलसहित त्याग करके शान्तिको प्राप्त होता है, उसीका वह त्याग जानने योग्य है। और उसीको मुक्त एवं ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ जानो। ये ही दोनों ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं, ये ही दो संसारतापसे मुक्त हैं। शम-दमसम्पन्न संन्यासी और योगी; हे मुनीश्वर! यथासमय आ पड़नेवाले सुखों और दुःखोंमें रत नहीं होते। जिसकी अन्तर्दृष्टिमें इच्छा-अनिच्छा दोनों ही नहीं हैं तथा जो सुषुप्तके समान आचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो वासनाशून्य है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कार्पण्यदृष्टिसे न प्रसन्न होता है; न दुखी होता है। जो तृष्णा बाह्य विषयोंकी वासनासे उत्पन्न होती है, वह बन्धनकारक होती है; और जो तृष्णा सब प्रकारके विषयोंकी वासनासे मुक्त होती है, वह मोक्षकारक होती है। 'मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो'—इस प्रकारकी प्रार्थनासे युक्त इच्छा दुःख, जन्म और भय प्रदान करनेवाली होती है। उसे दृढ़ बन्धनस्वरूप जानो। महात्मालोग सत् और असत्रूप सभी पदार्थोंकी इच्छाका सर्वदा एवं सम्यक् त्याग करके परम उदार पदको प्राप्त होते हैं। बन्धकी आस्था (बन्धनकी सत्तामें विश्वास) तथा मोक्षकी आस्था एवं सुख-दुःख-स्वरूपवाली सत् और असत्की आस्थाका सर्वथा त्याग करके तुम प्रशान्त महासागरकी भाँति स्थिर हो जाओ ॥ ४४—५३ ॥

'महात्मन्! पुरुषको चार प्रकारके निश्चय होते हैं। 'पैरसे लेकर सिरतक मेरी सृष्टि माता-पिताके द्वारा हुई है'—यह पहला निश्चय है। ब्रह्मन्! बन्धनमें दुःख देखकर 'मैं सब प्रकारके सांसारिक भावोंसे परे बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म आत्मा हूँ'—इस प्रकारका दूसरा निश्चय संतजनोंको मुक्ति प्रदानके लिये होता है। विप्रवर! तीसरा निश्चय यह है कि 'मैं समस्त जगत्के पदार्थोंका आत्मा हूँ, सर्वस्वरूप और अक्षय हूँ।' यह निश्चय मोक्षका कारण बनता है। 'मैं अथवा जगत् सब आकाशवत् शून्य है'—इस प्रकारका चौथा निश्चय मोक्षसिद्धि प्रदान करता है। इनमेंसे पहला निश्चय बन्धनमें डालनेवाली तृष्णासे युक्त होता है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णासे युक्त होते हैं और इन त्रिविध निश्चयोंवाले पुरुष जीवन्मुक्त तथा आत्मतत्त्वमें विलास करनेवाले होते हैं। परम बुद्धिमान्! सब कुछ मैं ही हूँ—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसको ग्रहण करके बुद्धि पुनः विषादको प्राप्त नहीं होती ॥ ५४—६० ॥

'शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान तथा नित्य आत्माके नामसे पुकारा जाता है। परमात्ममयी अद्वैतशक्ति ही द्वैत एवं अद्वैतसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे जगत्के निर्माणकी लीला करके विकसित होती है। जो समस्त प्रपञ्चसे परे आत्मपदका आश्रय लेकर एक परिपूर्ण चिन्मय स्थितिमें रहकर न उद्वेग करते हैं न सन्तुष्ट होते हैं, संसारमें वे शोकको

नहीं प्राप्त होते। जो नित्य प्राप्त कर्मको करता है, शत्रु-मित्रको समान दृष्टिसे देखता है तथा इच्छा और अनिच्छासे मुक्त है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, सबसे प्रिय बोलता है, पूछे जानेपर मृदु भाषण करता है, और प्राणियोंके आशयको जानता है, वह संसारमें शोकको नहीं प्राप्त होता। ध्येय वस्तुके त्यागसे विलसित होनेवाली पूर्व दृष्टिका अवलम्बनकर, संसार-तापसे रहित एवं आत्मस्थ होकर जीवन्मुक्तकी भाँति जगत्‌में विचरण करो। सारी आशाओंको हृदयसे त्यागकर, वीतराग एवं वासनाशून्य होकर, बाहरसे समस्त जागतिक व्यवहारोंको भलीभाँति करते हुए संसारमें ताप-रहित होकर विचरण करो। बाहरसे कृत्रिम क्रोधका नाट्य करते हुए तथा हृदयसे क्रोधशून्य, बाहरसे कर्ता तथा हृदयसे अकर्ता बनकर शुद्धचित्तसे लोकमें विचरण करो। अहङ्कारको छोड़कर, शान्तचित्त होकर, कलङ्क-कालिमासे सर्वथा मुक्त हो, आकाश-सा स्वच्छ जीवन ले शुद्ध मनसे लोकमें विचरण करो॥ ६१–६९॥

'उदार एवं श्रेष्ठ आचरणसे युक्त, समस्त सदाचारोंका अनुगमन करता हुआ, भीतरसे अनासक्त होकर बाहरसे यत्नशील-सा रहे। अन्तःकरणमें वैराग्यवान् होकर बाहरसे आशान्वित व्यवहार करे। यह मेरा बन्धु है और वह नहीं है, यह तुच्छ बुद्धिवालोंकी बात है। उदार चरित्रवालोंके लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब होता है। जो भाव और अभावसे मुक्त है, जरा-मरणसे वर्जित है, जहाँ सारे सङ्कल्प पूर्णतः शान्त हो जाते हैं, ऐसे रागरहित एवं सुरम्य पदका आश्रय लो। यह स्वच्छ, निष्काम, दोषविहीन ब्राह्मी स्थिति है। इसको ग्रहण करके विहार करता हुआ पुरुष सङ्कटकालमें मोहको नहीं प्राप्त होता। वैराग्यसे अथवा शास्त्रज्ञानसे तथा महत्त्वादि गुणोंके द्वारा जो सङ्कल्पका नाश किया जाता है, उससे मन स्वयं ही उन्नत अवस्थाको प्राप्त होता है। निराशाके वशीभूत हुआ मन वैराग्यके द्वारा पूर्णताको प्राप्त होता है। वही आशायुक्त होनेपर शरद्‌में स्वच्छ सरोवरके समान रागको प्राप्त होता है। उसी भोगसे विरक्त मनको पुनः-पुनः प्रतिदिन व्यापारोंमें डालते हुए प्राज्ञ पुरुषको लज्जा क्यों नहीं आती। चित् और विषयके योगको बन्धन कहते हैं। उस योगसे मुक्त होना ही मुक्ति कहलाता है। निश्चयपूर्वक विषयविहीन चित् ही आत्मा है, यह समस्त वेदान्त-सिद्धान्तका सार है। इस निश्चयको ग्रहणकर प्रदीप्त अन्तःकरणसे स्वयं ही अपने आपको देखो। इससे आनन्दपदकी प्राप्ति होगी। मैं चित् हूँ। ये लोक चित् हैं, दिशाएँ चित् हैं। ये जीवमात्र चित् हैं। दृश्य और दर्शनसे मुक्त होकर, केवल स्वच्छ रूपवाला साक्षी चिदात्मा निराभास और नित्य उदित होकर द्रष्टा बन रहा है। विषयोंसे मुक्त, पूर्ण ज्योतिःस्वरूप, समस्त संवेदनसे पूर्णतया मुक्त चित्स्वरूप तथा महान् संवित् मात्र मैं हूँ। मुनीश्वर! सारे सङ्कल्पोंको पूर्णतः शान्त करके समस्त एषणाओंका परित्यागकर निर्विकल्पपदमें जाकर आत्मस्थ हो जाओ॥ ७०–८२॥

'जो ब्राह्मण इस महोपनिषद्‌का नित्य अध्ययन करता है, वह अश्रोत्रिय हो तो श्रोत्रिय हो जाता है। उपनीत न हो तो उपनीत हो जाता है। वह अग्निपूत होता है, वह वायुपूत होता है, वह सोमपूत होता है, सत्यपूत होता है। वह सर्वथा पवित्र हो जाता है। वह सब देवताओंका परिचित हो जाता है। उसको सारे तीर्थस्नानोंका फल प्राप्त होता है। उसे सब देवताओंके ध्यानका फल मिल जाता है। वह सब यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है। सहस्रों गायत्रीके जपका फल उसे प्राप्त होता है। सहस्रों इतिहास-पुराणके पाठका फल उसे मिल जाता है। दस हजार प्रणवजपका फल उसे मिलता है। जहाँतक उसकी दृष्टि जाती है, वह पंक्तिको पवित्र करता है। सात पहले और सात आगेकी पीढ़ियोंको पवित्र करता है। यों भगवान् हिरण्यगर्भ—ब्रह्माजीने कहा। इसका जप करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, यह उपनिषद्—रहस्य है।'

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ सामवेदीय महोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

शुक्लयजुर्वेदीय

मुक्तिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम अध्याय

श्रीराम और हनुमान्‌का संवाद; वेदान्तकी महिमा; मुक्तिके भेद; १०८ उपनिषदोंकी नामावली तथा वेदोंके अनुसार विभाग; उपनिषदोंके पाठका माहात्म्य तथा उनके श्रवणके अधिकारी

ॐश्रीरामचन्द्रजी अयोध्यापुरीमें रमणीय रत्नमण्डपके बीच सीता, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न आदिसे समन्वित होकर रत्नसिंहासनपर आसीन थे । सनक-सनन्दनादि मुनिगण, वशिष्ठ आदि गुरुजन तथा शुकादि अन्यान्य भागवत रात-दिन उनका स्तवन करते रहते थे । सर्वान्तर्यामी एवं निर्विकार श्रीरामचन्द्रजी एक समय अपने स्वरूप-ध्यानमें रत होकर समाधिस्थ हो रहे थे । उनकी समाधि टूटनेपर श्रीहनुमान्‌जीने भक्तिपूर्वक सुननेकी इच्छासे स्तवन करते हुए श्रीरामचन्द्रजीसे पूछा—'रामजी ! आप परमात्मा हैं, सत्-चित् और आनन्दस्वरूप परब्रह्मके अवतार हैं । रघुवर ! इस अवसरपर मैं आपको बारंवार प्रणाम करता हूँ । श्रीरामजी, मैं आपके यथार्थ स्वरूपको जानना चाहता हूँ, जो मुक्ति प्रदान करनेवाला है, जिससे मैं अनायास—सहजमें ही इस संसार-बन्धनसे छूट जाऊँ । रामजी ! कृपा करके मुझसे उसका वर्णन कीजिये, जिससे मैं मुक्त हो जाऊँ' ॥ १–६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'महाबलशाली हनूमान् ! तुमने अच्छा प्रश्न किया । मैं तत्त्वकी बात कहता हूँ, सुनो । मेरा स्वरूप वेदान्तमें अच्छी प्रकारसे वर्णित है, अतएव तुम वेदान्त-शास्त्रका आश्रय लो ।' श्रीहनूमान्‌जीने पूछा—'रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी ! वेदान्त किसे कहते हैं, और उसकी स्थिति कहाँ है—मुझे बतलायें ।' श्रीरामजीने कहा—'हनूमान्‌जी ! सुनो, मैं तुम्हें अविलम्ब वेदान्तकी स्थिति बतलाऊँगा । मुझ विष्णुके निःश्वाससे सुविस्तृत चारों वेद उत्पन्न हुए । तिलोंमें तेलकी भाँति वेदोंमें वेदान्त सुप्रतिष्ठित है ।' श्रीहनूमान्‌जीने पूछा—'श्रीरामजी ! वेद कितने प्रकारके हैं, और राघव ! उनकी शाखाएँ कितनी हैं तथा उनमें उपनिषद् कौन-कौन-से हैं, यह कृपा करके तत्त्वतः—यथार्थरूपसे समझाइये' ॥ ७–१० ॥

श्रीरामजीने कहा—वेद चार कहे गये हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । उन चारोंकी अनेकों शाखाएँ हैं, और उन शाखाओंके उपनिषद् भी अनेकों हैं । ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ हैं । पवनतनय ! यजुर्वेदकी एक सौ नौ शाखाएँ हैं । और शत्रुतापन ! सामवेदसे सहस्र शाखाएँ निकली हैं । कपीश्वर ! अथर्ववेदकी शाखाओंके पचास भेद हैं । एक-एक शाखाकी एक-एक उपनिषद् मानी गयी है । जो व्यक्ति उन उपनिषदोंके एक भी मन्त्रका भक्तिपूर्वक पाठ करता है, वह व्यक्ति मुनियोंके लिये भी दुर्लभ मेरी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करता है ॥ ११–१४ ॥

हनूमान्‌जीने कहा—श्रीरामजी ! कोई-कोई मुनिश्रेष्ठ कहते हैं कि मुक्ति एक ही प्रकारकी होती है । और कुछ मुनिगण कहते हैं कि तुम्हारा नामस्मरण करनेसे मुक्ति होती है तथा काशीमें मरनेवालेको भगवान् शंकर तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे प्राणी मुक्त हो जाता है । दूसरे मुनियोंका कथन है कि सांख्ययोगसे मुक्ति होती है, और कुछ मुनियोंके मतसे भक्तियोग ही मुक्तिका कारण है । अन्य महर्षियोंके कथनानुसार वेदान्त-वाक्योंके अर्थका विचार करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है । और किसी-किसीके मतमें सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य और कैवल्यरूपसे मुक्ति चार प्रकारकी कही गयी है' ॥ १५-१६ ॥

श्रीरामने कहा—'कपिवर ! कैवल्य-मुक्ति तो एक ही प्रकारकी है, वह परमार्थरूप है । इसके अतिरिक्त भक्तिपूर्वक मेरा नाम-स्मरण करते रहनेसे दुराचारमें लगा हुआ मनुष्य भी सालोक्यमुक्तिको प्राप्त होता है, वहाँसे वह अन्य

लोकोंमें नहीं जाता। जिसकी काशीक्षेत्रमें ब्रह्मनाल नामक प्रदेशके अन्तर्गत मृत्यु होती है, वह मेरे तारक-मन्त्रको प्राप्त करता है, और उसे वह मुक्ति मिलती है, जिससे उसे आवागमनमें नहीं आना पड़ता। काशीक्षेत्रमें चाहे कहीं भी मृत्यु हो, शङ्करजी प्राणीके दाहिने कानमें मेरे तारक-मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे उसके सारे पापोंके समूह झड़ जाते हैं, तथा वह मेरे सारूप्यको—समान रूपको प्राप्त हो जाता है। वही सालोक्य-सारूप्य मुक्ति कहलाती है। जो द्विज सदाचार-रत होकर नित्य एकमात्र मेरा ध्यान करता है और मुझे सर्वात्मस्वरूप चिन्तन करता है, वह मेरे सामीप्यको प्राप्त होता है—सदा मेरे समीप निवास करता है। वही सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य मुक्ति कहलाती है। जब गुरुके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे मेरे अव्यय, निर्विकार स्वरूपका ध्यान करता है, तब वह द्विज भ्रमरकीटके समान सम्यक् रूपसे मेरे सायुज्यको प्राप्त करता है। वही कल्याणमयी, ब्रह्मानन्दको प्रदान करनेवाली सायुज्य-मुक्ति है। मेरी उपासनासे जो चार प्रकारकी मुक्तियाँ होती हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य एवं कैवल्य, उनमें यह कैवल्यमुक्ति किस उपायका अवलम्बन करनेसे सिद्ध होती है, सो सुनो ॥ १७–२३ ॥

अकेली माण्डूक्योपनिषद् मुमुक्षुजनोंको मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ है। यदि उससे भी ज्ञानमें परिपक्वता न आये तो दस उपनिषदोंका पाठ करो। उससे ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही मुझे अद्वैत धाम अर्थात् तेजके रूपमें प्राप्त करोगे। अञ्जनीकुमार! यदि उससे भी ज्ञानकी दृढ़ता न हो तो बत्तीस उपनिषदोंका सम्यक्रूपसे अभ्यास करके संसारसे निवृत्त हो जाओ। यदि विदेहमुक्त—शरीर छोड़नेके बाद मुक्त होना चाहते हो तो एक सौ आठ उपनिषदोंका पाठ करो। उन उपनिषदोंके नाम, क्रम और शान्तिपाठ यथार्थतः कहता हूँ; सुनो। ईश[१], केन[२], कठ[३], प्रश्न[४], मुण्डक[५], माण्डूक्य[६], तैत्तिरीय[७], ऐतरेय[८], छान्दोग्य[९], बृहदारण्यक[१०], ब्रह्म[११], कैवल्य[१२], जाबाल[१३], श्वेताश्वतर[१४], हंस[१५], आरुणिक[१६], गर्भ[१७], नारायण[१८], परमहंस[१९], अमृतबिन्दु[२०], अमृतनाद[२१], अथर्वशिरस्[२२], अथर्वशिखा[२३], मैत्रायणी[२४], कौषीतकिब्राह्मण[२५], बृहज्जाबाल[२६], नृसिंहतापनीय[२७], कालाग्निरुद्र[२८], मैत्रेयी[२९], सुबाल[३०], क्षुरिका[३१], मन्त्रिका[३२], सर्वसार[३३], निरालम्ब[३४], शुकरहस्य[३५], वज्रसूचिका[३६], तेजोबिन्दु[३७], नादबिन्दु[३८], ध्यानबिन्दु[३९], ब्रह्मविद्या[४०], योगतत्त्व[४१], आत्मप्रबोध[४२], नारद-परिव्राजक[४३], त्रिशिखिब्राह्मण[४४], सीता[४५], योगचूडामणि[४६], निर्वाण[४७], मण्डलब्राह्मण[४८], दक्षिणामूर्ति[४९], शरभ[५०], स्कन्द[५१], त्रिपाद्विभूति-महानारायण[५२], अद्वयतारक[५३], रामरहस्य[५४], रामतापनीय[५५], वासुदेव[५६], मुद्गल[५७], शाण्डिल्य[५८], पैङ्गल[५९], भिक्षुक[६०], महत्[६१], शारीरक[६२], योगशिखा[६३], तुरीयातीत[६४], संन्यास[६५], परमहंसपरिव्राजक[६६], अक्षमाला[६७], अव्यक्त[६८], एकाक्षर[६९], अन्नपूर्णा[७०], सूर्य[७१], अक्षि[७२], अध्यात्म[७३], कुण्डिका[७४], सावित्री[७५], आत्मा[७६], पाशुपत[७७], परब्रह्म[७८], अवधूत[७९], त्रिपुरातापनीय[८०], देवी[८१], त्रिपुरा[८२], कठरुद्र[८३], भावना[८४], रुद्रहृदय[८५], योगकुण्डली[८६], भस्मजाबाल[८७], रुद्राक्षजाबाल[८८], गणपति[८९], जाबालदर्शन[९०], तारसार[९१], महावाक्य[९२], पञ्चब्रह्म[९३], प्राणाग्निहोत्र[९४], गोपालतापनीय[९५], कृष्ण[९६], याज्ञवल्क्य[९७], वराह[९८], शाट्यायनीय[९९], हयग्रीव[१००], दत्तात्रेय[१०१], गरुड[१०२], कलिसंतरण[१०३], जाबालि[१०४], सौभाग्यलक्ष्मी[१०५], सरस्वतीरहस्य[१०६], बह्वृच[१०७] और मुक्तिकोपनिषद्[१०८] ॥ २४–३९ ॥

ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं। इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोक-वासना, शास्त्र-वासना एवं देह-वासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है। पूर्व और पश्चात् विहित प्रत्येक उपनिषद्की शान्तिका पाठ करते हुए, वेदविद्याविशारद, व्रतपरायण, स्नान किये हुए, स्वयं आत्मतत्त्वोपदेष्टाके मुखसे—ग्रहण अर्थात् श्रवण करके जो द्विजश्रेष्ठ अष्टोत्तरशत उपनिषदोंका पाठ करते हैं, वे जबतक प्रारब्धकर्मोंका नाश नहीं हो जाता, तबतक जीवन्मुक्त बने रहते हैं। उसके पश्चात् कालक्रमसे जब प्रारब्धका नाश हो जाता है, तब वे मेरी विदेह-मुक्तिको प्राप्त करते हैं। समस्त उपनिषदोंके बीच एक सौ आठ उपनिषद् सारस्वरूप हैं। इनका एक बार भी श्रवण करनेसे सारे पापोंके समूह नष्ट हो जाते हैं। पवनकुमार! तुम मेरे शिष्य हो, अतएव मैंने तुम्हारे लिये इस शास्त्रका वर्णन किया है। मेरे द्वारा वर्णित यह अष्टोत्तरशत उपनिषद्रूप शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। ज्ञानसे, अज्ञानसे अथवा प्रसङ्गवश भी इनका पाठ करनेसे संसाररूप बन्धनसे मुक्ति मिल जाती है। जो तुमसे राज्य अथवा धन माँगे, उसे उसकी कामना-पूर्तिके लिये राज्य अथवा धन दे सकते हो; परंतु इन एक सौ आठ उपनिषदोंको जिस-किसीको देना ठीक नहीं। निश्चयपूर्वक जो नास्तिक हैं, कृतघ्न हैं, दुराचारी हैं, मेरी भक्तिसे मुँह मोड़े हुए हैं तथा शास्त्ररूप गड्ढोंमें गिरकर मोहित हो रहे हैं अर्थात् जो केवल शास्त्र-चर्चामें ही लगे हुए हैं, उन्हें तो कभी नहीं देना चाहिये। मारुति! सेवापरायण शिष्यको, अनुकूल (आज्ञाकारी) पुत्रको अथवा जो कोई भी मेरा भक्त हो, अच्छे कुलमें उत्पन्न हो, सुशील और सद्बुद्धिसम्पन्न हो, उसे भलीभाँति परीक्षा करके अष्टोत्तरशत उपनिषदों-

को प्रदान करना चाहिये। इस प्रकारका जो व्यक्ति इन उपनिषदोंको पढ़ता या सुनता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ३७-४७ ॥

यही बात ऋचामें भी कही गयी है। कहते हैं, वेद-विद्या—उपनिषद् ब्राह्मणके पास गयी और बोली—'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि हूँ। याद रहे—मुझे निन्दकों, मिथ्याचारी और दुष्ट प्रकृतिवालोंको मत सुनाना, कभी मत सुनाना; तभी मैं वीर्यवती—सामर्थ्ययुक्त अथवा सफल होऊँगी।' जिसे गुरु श्रुतशील (शास्त्राभ्यासी), प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचर्यसे युक्त समझे, उसीके समीप आनेपर उसकी सम्यक् परीक्षा करके इस आत्मविषयक वैष्णवी विद्याको प्रदान करे ॥ ४८-४९ ॥

पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीसे श्रीहनूमान्‌जीने पूछा—भगवन्! ऋग्वेदादिके अनुसार उपनिषदोंका अलग-अलग विभाग करके शान्ति-मन्त्रोंको मुझपर अनुग्रह करके कहिये ॥ ५० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ऐतरेय, कौषीतकिब्राह्मण, नादबिन्दु, आत्मप्रबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी और बह्वृच—ये दस उपनिषद् ऋग्वेदीय हैं और इनका शान्ति-मन्त्र है **'वाङ् मे मनसि'** इत्यादि ॥ ५१ ॥

ईशावास्य, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मन्त्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखिब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैङ्गल, भिक्षुक, तुरीयातीत, अध्यात्म, तारसार, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी और मुक्तिका—ये शुक्लयजुर्वेदके उन्नीस उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** इत्यादि ॥५२॥

कठवल्ली, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, नारायण, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, कालाग्निरुद्र, क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक, योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठरुद्र, रुद्रहृदय, योगकुण्डली, पञ्चब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण और सरस्वतीरहस्य—ये कृष्णयजुर्वेदके बत्तीस उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है—**'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु'** इत्यादि ॥५३॥

केन, छान्दोग्य, आरुणिक, मैत्रायणी, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूडामणि, वासुदेव, महत्, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजाबाल, जाबालदर्शन और जाबालि—ये सामवेदके सोलह उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है **'आप्यायन्तु ममाङ्गानि०'** इत्यादि ॥ ५४ ॥

प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिरस्, अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापनीय, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापनीय, शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपत, परब्रह्म, त्रिपुरातापनीय, देवी, भावना, भस्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापनीय, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय और गरुड—ये अथर्ववेदके इकतीस उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम०'** इत्यादि ॥ ५५ ॥

जो लोग मुक्तिके अभिलाषी हैं, जो नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इस लोक एवं परलोकके भोगोंसे वैराग्य, शम-दम आदि षट्सम्पत्ति तथा मोक्षाभिलाषरूप साधनचतुष्टयसे सम्पन्न हैं, वे श्रद्धावान् पुरुष सत्कुलमें उत्पन्न, श्रोत्रिय (वेदज्ञान-सम्पन्न), शास्त्रानुरागी, गुणवान्, सरलहृदय, समस्त प्राणियोंकी भलाईमें रत तथा दयाके समुद्र सद्गुरुके निकट विधिपूर्वक भेंट लेकर जाते हैं और उनसे १०८ उपनिषदोंको विधिपूर्वक पढ़कर निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासनका अभ्यास करते हैं। फिर प्रारब्धका क्षय होनेपर जब उनके स्थूल, सूक्ष्म तथा आतिवाहिक—तीनों शरीर नष्ट हो जाते हैं, तब वे उपाधिमुक्त घटाकाशके समान परिपूर्णताको प्राप्त करते हैं, अर्थात् ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। यही विदेहमुक्ति कहलाती है, इसीको कैवल्यमुक्ति भी कहते हैं। अतएव ब्रह्मलोकमें रहनेवाले भी ब्रह्माजीके मुखसे वेदान्तका श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके उन्हींके साथ कैवल्यको प्राप्त करते हैं। अतः सबके लिये केवल ज्ञानद्वारा ही कैवल्यमुक्ति कही गयी है—कर्मयोग, सांख्ययोग तथा उपासनादिके द्वारा नहीं। यह उपनिषद् है ॥५६॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्तिका स्वरूप, उनके होनेमें प्रमाण, उनकी सिद्धिका उपाय तथा प्रयोजन

तत्पश्चात् श्रीहनूमान्‌जीने श्रीरामजीसे पूछा—'भगवन्! जीवन्मुक्ति क्या है, विदेह-मुक्ति क्या है और इनके होनेमें प्रमाण क्या है? तथा उनकी सिद्धि कैसे होती है और उस सिद्धिका प्रयोजन क्या है?' ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"हनूमान्! जीवको 'मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं सुखी हूँ और मैं दुखी हूँ'—इत्यादि जो ज्ञान होता है, वह चित्तका धर्म है। यही ज्ञान क्लेशरूप होनेके कारण उसके लिये बन्धनका कारण हो जाता है। इस प्रकारके ज्ञानका निरोध ही जीवन्मुक्ति है। घटरूप उपाधिसे मुक्त घटाकाशकी भाँति प्रारब्धरूप उपाधिके नष्ट होनेपर यह जीव विदेहमुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिके होनेमें अष्टोत्तरशत-उपनिषद् ही प्रमाण हैं। कर्तापन और भोक्तापन आदि दुःखोंकी निवृत्तिके द्वारा नित्यानन्दकी प्राप्ति ही इनका प्रयोजन है। वह आनन्द-प्राप्ति पुरुषके प्रयत्नसे—पुरुषार्थसे सिद्ध होती है। जैसे पुत्रेष्टि-यज्ञके द्वारा पुत्रकी, वाणिज्य-व्यापारके द्वारा धनकी एवं ज्योतिष्टोम यज्ञके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषके प्रयत्नसे होनेवाले वेदान्तके श्रवण-मनन और निदिध्यासनसे उत्पन्न हुई समाधिसे जीवन्मुक्ति आदिकी सिद्धि होती है और वह सारी वासनाओंके नाश होनेपर प्राप्त होती है ॥ २ ॥

"पुरुषका प्रयत्न या पुरुषार्थ दो प्रकारका होता है—शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रानुकूल। उनमें शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ अनर्थका कारण होता है और शास्त्रानुकूल पुरुषार्थ परमार्थको सिद्ध करनेवाला होता है। लोक-वासना, शास्त्र-वासना तथा देह-वासनाके कारण प्राणीको यथार्थज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् ये तीन प्रकारकी वासनाएँ ही ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधक हैं। वासनाएँ पुनः दो प्रकारकी होती हैं—शुभ और अशुभ। शुभ वासनाओंके द्वारा, हनूमान्! यदि तुम ज्ञानका अनुशीलन करते हो तो क्रमशः उसके द्वारा मेरे पदको प्राप्त करोगे; और यदि अशुभ भावोंसे युक्त रहते हो तो वे तुम्हें महान् संकटमें डाल देंगे। कपीश्वर! पूर्वके संस्कारोंको तुम्हें यत्नपूर्वक जीतना चाहिये। शुभाशुभ मार्गोंसे बहती हुई वासनारूपी नदीको अपने पुरुषार्थके द्वारा शुभ-मार्गमें लगाना चाहिये। अशुभ मार्गोंमें जाते हुए वासना-प्रवाहको शुभ मार्गोंमें उतारना चाहिये; क्योंकि मनका यह स्वभाव है कि अशुभसे हटानेपर वह शुभकी ओर जाता है और शुभसे हटाये जानेपर अशुभमें प्रवृत्त होता है। मनुष्यको चाहिये कि पुरुषार्थके द्वारा यत्नपूर्वक चित्तरूपी बालकको फुसलाकर—थपथपाकर शुभमें ही लगाये। अभ्यासके द्वारा जब तुम्हारी दोनों प्रकारकी वासनाएँ जल्दी ही क्षीण होने लगें, तब शत्रुओंका मर्दन करनेवाले हनूमान्! तुम जान लेना कि अभ्यास परिपक्वताको प्राप्त हो गया। पवनकुमार! जहाँ वासनाके अस्तित्वका संदेह भी हो, वहाँ शुभ वासनाओंमें ही बारंबार चित्तको लगाये। शुभ वासनाओंकी वृद्धि होनेपर कभी दोष नहीं उत्पन्न हो सकता ॥ ३—१० ॥

"महामति हनूमान्! वासनाक्षय, विज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ चिरकालतक अभ्यास करनेपर ये फल प्रदान करते हैं। जबतक इन तीनोंका बारंबार एक साथ अभ्यास न किया जाय, तबतक सैकड़ों वर्ष बीतनेपर भी कैवल्य-पदकी प्राप्ति नहीं होती। यदि अलग-अलग इनका चिरकालतक भी खूब अभ्यास किया जाय तो, जिस प्रकार टुकड़े-टुकड़े करके जपे हुए मन्त्र सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार इनसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। यदि इन तीनोंका चिरकालतक अभ्यास किया जाय तो हृदयकी दृढ़ ग्रन्थियाँ भी निःसंदेह उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कमलकी नालको तोड़नेपर उसके रेशे टूट जाते हैं। जिस झूठी संसार-वासनाका सैकड़ों जन्मोंसे अभ्यास हो रहा है, वह चिरकालतक साधना किये बिना कदापि क्षीण नहीं होती। इसलिये, प्यारे हनूमान्! पुरुषार्थके द्वारा प्रयत्न करते हुए विवेकपूर्वक भोगकी इच्छाओंको दूरसे ही नमस्कार करके इन तीनोंका सम्यक्‌रूपसे अवलम्बन करो ॥ ११—१६ ॥

"वासनासे युक्त मनको ज्ञानियोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सम्यक्‌तया मुक्त हो गया है, वह मुक्त कहलाता है। महाकपि! मनको वासनाविहीन स्थितिमें शीघ्र ले आओ। भलीभाँति विचार करनेसे और सत्यके अभ्याससे वासनाओंका नाश हो जाता है। वासनाओंके नाशसे चित्त उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है। वासनाओंका भलीभाँति त्याग

करके मुझ चैतन्यस्वरूपमें जो निवात दीपशिखाके समान निश्चल होकर स्थित रहता है, वह मुझ सच्चिदानन्दस्वरूपको एकीभावसे प्राप्त होता है। समाधि अथवा कर्मानुष्ठान वह करे या न करे। जिसके हृदयमें वासनाका सर्वथा अभाव हो गया है, वही मुक्त है, वही उत्तमाशय है ॥ १७–२० ॥

''जिसके मनसे वासनाएँ दूर हो गयी हैं, उसे न नैष्कर्म्यसे—कर्मोंके त्यागसे मतलब है और न कर्मानुष्ठानसे। उसे समाधान अर्थात् षट्सम्पत्ति और जपकी भी आवश्यकता नहीं है। सारी वासनाओंका त्याग करके मनका मौन धारण करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा परम पद नहीं है। किसी प्रकारकी प्रत्यक्ष वासना न होनेपर भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो स्वतः अपने-अपने बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, इसमें कोई-न-कोई सूक्ष्म वासना ही कारण है। अनायास सामने आये हुए दृश्य विषयोंमें जैसे चक्षु-इन्द्रियकी बारंबार प्रवृत्ति रागरहित ही होती है, उसी प्रकार धीर पुरुष कार्योंमें अनासक्तभावसे ही प्रवृत्त होते हैं। पवनतनय ! जो सत्ताबुद्धिसे प्रकट होती है और उसीके अनुकूल होती है तथा जिसमें चित्तका उदय और लय भी होता है, मुनिलोग उसी वृत्तिको वासनाके नामसे पुकारते हैं। चिर-परिचित पदार्थोंके अनन्य चिन्तनके द्वारा जो चित्तमें अत्यन्त चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है, वही चित्त-चाञ्चल्य जन्म, जरा और मृत्युका एकमात्र कारण होता है। वासनाके कारण प्राणोंमें स्पन्दन होता है और उस स्पन्दनसे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है; इस प्रकार चित्तरूपी बीजमें अङ्कुर लगते रहते हैं ॥ २१—२६ ॥

''चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—प्राण-स्पन्दन (प्राणोंकी गति) और वासना। इन दोनोंमेंसे एकके भी क्षीण होनेसे दोनों नष्ट हो जाते हैं। अनासक्त होकर व्यवहार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़ देनेसे और शरीरकी विनश्वरताका दर्शन करते रहनेसे वासना उत्पन्न नहीं होती। और वासनाका भलीभाँति त्याग हो जानेपर चित्त अचित्तताको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी वासनात्मिका प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। वासनाके नष्ट हो जानेपर जब मन मनन करना छोड़ देता है, तब मनके निराकृत होनेपर परम शान्तिप्रद विवेककी उत्पत्ति होती है। जबतक तुम्हारे अंदर ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो जाती, जबतक तुम्हें परमपद अज्ञात है, तबतक गुरु तथा शास्त्र-प्रमाणके द्वारा निर्णीत मार्गका आचरण करो। तदनन्तर कषायोंका परिपाक होनेपर जब निश्चयपूर्वक तुम्हें तत्त्वका ज्ञान हो जाय, तब तुम्हें निश्चिन्त होकर समस्त शुभ वासनाओंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २७–३१ ॥

''चित्तनाश दो प्रकारका होता है—सरूप और अरूप। जीवन्मुक्तका चित्तनाश सरूप होता है और विदेहमुक्तका अरूप होता है। अर्थात् जीवन्मुक्तका चित्त स्वरूपसे रहता तो है, पर वह अचित्त हुआ रहता है; विदेहमुक्त होनेपर उसका स्वरूपतः नाश हो जाता है। पवनसुत ! अब एकाग्र-चित्तसे मनोनाशके विषयमें सुनो। जब तुम्हारा मन चित्तनाशकी स्थितिको प्राप्त हो जायगा अर्थात् उसकी अनुसंधानात्मिका वृत्ति शान्त हो जायगी, तब मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा प्रभृति गुणोंसे युक्त होकर वह परमशान्तिको प्राप्त कर लेगा—इसमें कोई संशय नहीं है। जीवन्मुक्तका मन आवागमनसे मुक्त हो जाता है, अतः उसका वह मनोनाश सरूप कहलाता है। विदेह-मुक्ति मिल जानेपर जो मनोनाश होता है, वह अरूप कहलाता है। अतएव सहस्रों अङ्कुर, त्वचा, पत्ते, शाखा एवं फल-फूलसे युक्त इस संसार-वृक्षका यह मन ही मूल है—यह निश्चित हुआ। और वह मन सङ्कल्परूप है। सङ्कल्पको निवृत्त करके उस मनस्तत्त्वको सुखा डालो, जिससे यह संसार-वृक्ष भी नीरस होकर सूख जाय। अपने मनके निग्रहका एक ही उपाय है; वह है यह निश्चय करना कि मनका अभ्युदय—उसका स्फीत होना ही उसका विनाश—पतन है, और उसके नाशमें ही उसका महान् अभ्युदय—उसकी उन्नति है। ज्ञानसे मनोनाश होता है। अज्ञानीका मन उसके लिये शृङ्खलारूप—बन्धनका कारण होता है। रात्रिमें वेतालोंकी भाँति हृदयमें वासनाओंका वेग तभीतक रहता है, जबतक एक तत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनपर विजय नहीं कर ली जाती। जिनका चित्त और अभिमान क्षीण हो गये हैं और इन्द्रियरूपी शत्रु वशमें हो गये हैं, उनकी भोगवासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुके आनेपर कमलिनी—कमलका पौधा स्वयमेव नष्ट हो जाता है। हाथसे हाथको मलकर, दाँतसे दाँत पीसकर तथा अङ्गोंको अङ्गोंसे दबाकर—अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाकर पहले अपने मनको जीतना चाहिये। बारंबार एकाग्रचित्त होकर बैठने तथा सद्युक्तिके द्वारा आत्म-चिन्तन करनेके अतिरिक्त मनको जीतनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ३२–४१ ॥

''जिस प्रकार मदमत्त हाथी अङ्कुशके बिना वशमें नहीं आता, उसी प्रकार चित्तको वशमें करनेके लिये अध्यात्म-विद्याका ज्ञान, सत्सङ्गति, वासनाओंका भलीभाँति परित्याग

तथा प्राणवायुका निरोध अर्थात् प्राणायाम—ये प्रबल उपाय हैं। इन श्रेष्ठ युक्तियोंके रहते हुए जो हठपूर्वक चित्तको निरुद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, वे दीपकको छोड़कर अन्धकारमें भटकते हैं। जो मूढ़ पुरुष हठसे चित्तको वशमें करनेका उद्योग करते हैं, वे उन्मत्त हाथीको कमल-नालके तन्तुओंसे बाँधनेकी चेष्टा करते हैं। वृत्तिरूप लताओंके आश्रयभूत चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—एक है प्राणोंका स्पन्दन (गति), दूसरी दृढ़ भावना। प्राण-वायुके सञ्चालनसे घट-घट-व्यापक संवित्—समष्टि-चेतना चलायमान हो उठती है। चित्तकी एकाग्रतासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उससे मुक्ति-लाभ होता है। अतएव चित्तकी एकाग्रताके साधनोंमें ध्यान-की यथोचित विधि बतलायी जाती है—॥ ४२–४७ ॥

''चित्त सर्वथा विकारहीन न हो, तो भी यशके आविर्भाव और अरिष्टके तिरोभावके क्रमसे केवल चैतन्य—चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करो। जिस क्षण चित्त चिदानन्दमें आरूढ़ होता है, वह यशकी स्थिति है; और जिस क्षण उससे अलग होता है, वह अरिष्टकी स्थिति है। चित्तकी चाञ्चल्यके कारण यह स्वाभाविक स्थिति होती है, अतएव अरिष्टकी स्थितिसे पुनः-पुनः यशकी स्थितिमें चित्तको स्थापितकर परब्रह्मके चिन्तनमें लगो। अपानवायुके भीतर रोक दिये जानेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका उदय नहीं होता, तबतक वह कुम्भकावस्था रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं। और प्राण-वायुके बाहर रोक दिये जानेपर जबतक अपान-वायुका उदय नहीं होता, तबतक जो पूर्ण समावस्था रहती है, उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं॥ ४८–५० ॥

''चिरकालतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेपर जब अहङ्कार विलुप्त हो जाता है और मनोवृत्ति ब्रह्माकारमें प्रवाहित होने लगती है, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब चित्त-की सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, उस समय परमानन्द प्रदान करनेवाली असम्प्रज्ञात नामकी समाधि होती है, जो योगियोंको प्रिय है। इस समाधिकी अवस्थामें कुछ भी भान नहीं होता। हो कैसे; उस स्थितिमें मन और बुद्धिका अस्तित्वतक नहीं रहता, केवल चित्स्वरूपकी अवस्थिति होती है। इस समाधिमें चित्त निरालम्ब होकर कैवल्य-स्थिति-में रहता है; मुनिलोग इस समाधिकी भावना करते हैं। इस समाधिमें ऊपर, नीचे और बीचमें—सर्वत्र शिवस्वरूप पूर्ण ब्रह्म ही अनुभूत होते हैं; यह समाधि परमार्थ अर्थात् मोक्ष-स्वरूप है तथा साक्षात् ब्रह्माके मुखसे उपदिष्ट हुई है॥५१–५४॥

''दृढ़ भावनाके द्वारा पूर्वापरका विचार छोड़कर चित्त जो पदार्थके स्वरूपको ग्रहण करता है, उस चित्तविकारको वासना कहते हैं। कपिश्रेष्ठ! आत्मा चित्तके तीव्र संवेगसे जैसी भावना करता है, इतर वासनाओंसे मुक्त होकर वह शीघ्र वैसा ही बन जाता है। इस प्रकारका पुरुष वासनाके वशीभूत होकर जो कुछ देखता है, उसीको सद्वस्तु—यथार्थ मानकर मोहको प्राप्त होता है। वासनाके वेगकी विभिन्नताके कारण चित्त अपने वासनात्मक स्वरूपको नहीं छोड़ता। एक वासनाके छोड़ते-छोड़ते दूसरी वासनामें रमने लगता है। जिस प्रकार नशेके कारण पुरुषकी विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वह दुर्बुद्धि भ्रान्त होकर सब कुछ देखता है। वासना दो प्रकारकी होती है—शुद्ध और मलिन। मलिन वासना आवागमनमें डालती है और शुद्ध वासना मनुष्यको जन्म-मृत्युसे छुड़ाती है। ज्ञानीजन कहते हैं कि मलिन वासना निबिड़ अहङ्कार और घन अज्ञानस्वरूप होती है, वह पुनर्जन्म प्रदान करती है॥ ५५–६० ॥

''जिस प्रकार बीजके अच्छी प्रकार भुन जानेपर उससे अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार संसार-वासनाके नष्ट हो जानेपर पुनर्जन्म नहीं होता। अतएव दग्ध-बीजके समान स्थिति होनी चाहिये। वायुनन्दन! चबाये हुएको चबानेके समान नाना शास्त्रोंकी व्यर्थ आलोचनासे क्या लाभ; प्रयत्न होना चाहिये भीतरी प्रकाशको खोजनेके लिये। कपिशार्दूल! दर्शन और अदर्शन अर्थात् सत्-ख्याति और असत्-ख्याति दोनों-को छोड़कर जो स्वयं कैवल्यरूपमें स्थित रहता है, वह ब्रह्मविद् नहीं, स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है। चारों वेदोंका और अनेकों शास्त्रोंका अध्ययन करके भी जो ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता, वह परमानन्दसे उसी प्रकार वञ्चित रहता है, जैसे कलछुल भोजनके पदार्थोंमें रहती हुई भी उनके रसको नहीं जानती। जिसका अपने शरीरकी अपवित्र गन्धको प्रत्यक्ष करके भी उससे विराग नहीं होता, उसको विराग पैदा करनेवाला दूसरा कौन-सा उपदेश दिया जा सकता है॥ ६१–६४ ॥

''शरीर अत्यन्त मलयुक्त है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है; दोनोंके भेदको जानकर किसकी शुचिताका उपदेश किया जाय। जो वासनासे बँधा है, वही बद्ध है; और वासनाओंका नाश ही मोक्ष है। अतएव वासनाओंका सम्यक्रूपसे परित्याग करके मोक्ष-प्राप्तिकी वासनाका भी त्याग करो। पहले मानसी वासनाओंका त्याग करके विषय-वासनाओंका भी त्याग करो; और मोक्षादिकी शुद्ध—निर्दोष वासनाओंको ग्रहण करो।

इसके बाद उनको भी छोड़कर, अथवा उन भव्य वासनाओं-को व्यवहारमें रखते हुए भी भीतरसे शान्त अर्थात् सब प्रकारकी वासनाओंसे मुक्त रहकर सबके प्रति समान स्नेह रखते हुए एकमात्र चित्स्वरूपमें अपनी वासना लगाओ। मारुति! फिर उस चिद्वासनाको भी मन और बुद्धिके साथ परित्याग करके अन्ततोगत्वा तुम मुझमें पूर्णतया समाहित हो जाओ। जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है, जो कभी विकारको नहीं प्राप्त होता, जिसका न कोई नाम है और न कोई गोत्र है तथा जो सब प्रकारके दुःखोंको हरनेवाला है—पवनतनय! इस प्रकारके मेरे स्वरूपका तुम भजन करो॥ ६५—७०॥

"हनूमान्! जो साक्षिस्वरूप है, आकाशके समान अनन्त है, जिसे एक बार जान लेनेपर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; जो अजन्मा, एक—अद्वितीय, निर्लेप, सर्वव्यापी एवं सर्वश्रेष्ठ है; जो अकार-उकार-मकाररूप तीन कलाओंसे युक्त तथा सम्पूर्ण कलाओंसे विमुक्त अद्वय-तत्त्व है, वह ओङ्काररूप अक्षर—अविनाशी ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं द्रष्टा हूँ, शुद्धस्वरूप हूँ, कभी विकारको प्राप्त नहीं होता और मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जो मेरा विषय बने। अर्थात् मेरा द्रष्टापन भी कहनेके लिये ही है। मैं आगे-पीछे, ऊपर-नीचे—सर्वत्र परिपूर्ण हूँ। मैं भूमा हूँ, मुझमें किसी प्रकारकी कमी नहीं है। हे हनूमान्! तुम मेरे इस स्वरूपका चिन्तन करो। मैं अज हूँ, अमर हूँ, अजर हूँ, अमृत हूँ, स्वयंप्रकाश हूँ, सर्वव्यापी हूँ, अव्यय—अविनाशी हूँ, मेरा कोई कारण नहीं—मैं स्वयम्भू हूँ, समस्त कार्य-कलापसे परे मैं शुद्धस्वरूप हूँ, नित्यतृप्त हूँ—इस प्रकार तुम चिन्तन करो। इस प्रकार चिन्तन करते-करते जब कालवश शरीरपात होगा, तब वायुके स्पन्दनके समान तुम जीवन्मुक्त-पदका भी परित्याग करके निर्वाण मुक्ति—विदेह-मुक्तिकी अवस्थामें पहुँच जाओगे। यही बात ऋचामें भी कही गयी है—'जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परमव्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परमधामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं। साधनामें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परमपद कहते हैं। वह परमपद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है।' जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है। यह महा-उपनिषद् है"॥ ७१—७६॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदीय मुक्तिकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

मन ही बन्ध-मोक्षका कारण है

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥

(ब्रह्मबिन्दु० २। ३)

मनुष्योंके बन्ध और मोक्षमें मन ही कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है और निर्विषय मन ही मुक्त माना जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

गर्भोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गर्भकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके प्रकार

ॐ शरीर पञ्चात्मक, पाँचोंमें वर्तमान, छः आश्रयोंवाला, छः गुणोंके योगसे युक्त, सात धातुओंसे निर्मित, तीन मलोंसे दूषित, दो योनियोंसे युक्त तथा चार प्रकारके आहारसे पोषित होता है । पञ्चात्मक कैसे है ? पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (—इनसे रचा हुआ होनेके कारण) शरीर पञ्चात्मक है । इस शरीरमें पृथिवी क्या है ? जल क्या है ? तेज क्या है ? वायु क्या है ? और आकाश क्या है ? इस शरीरमें जो कठिन तत्त्व है, वह पृथिवी है; जो द्रव है, वह जल है; जो उष्ण है, वह तेज है; जो सञ्चार करता है, वह वायु है; जो छिद्र है, वह आकाश कहलाता है । इनमें पृथिवी धारण करती है, जल एकत्रित करता है, तेज प्रकाशित करता है, वायु अवयवोंको यथास्थान रखता है, आकाश अवकाश प्रदान करता है । इसके अतिरिक्त श्रोत्र शब्दको ग्रहण करनेमें, त्वचा स्पर्श करनेमें, नेत्र रूप ग्रहण करनेमें, जिह्वा रसका आस्वादन करनेमें, नासिका सूँघनेमें, उपस्थ आनन्द लेनेमें तथा पायु मलोत्सर्गके कार्यमें लगा रहता है । जीव बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, मनके द्वारा सङ्कल्प करता है, वाक्-इन्द्रियसे बोलता है ।

शरीर छः आश्रयोंवाला कैसे है ? इसलिये कि वह मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय—इन छः रसोंका आस्वादन करता है । षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सप्त स्वर तथा इष्ट, अनिष्ट और प्रणिधानकारक (प्रणवादि) शब्द मिलाकर दस प्रकारके शब्द (स्वर) होते हैं । शुक्ल, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत, कपिल और पाण्डुर—ये सप्त रूप (रंग) हैं ॥ १ ॥

सात धातुओंसे निर्मित कैसे है ? जब देवदत्तनामक व्यक्तिको द्रव्य आदि भोग्य-विषय जुड़ते हैं, तब उनके परस्पर अनुकूल होनेके कारण षट्रस पदार्थ प्राप्त होते हैं—जिनसे रस बनता है । रससे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे मेद, मेदसे स्नायु, स्नायुसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्र—ये सात धातुएँ उत्पन्न होती हैं । पुरुषके शुक्र और स्त्रीके रक्तके संयोगसे गर्भका निर्माण होता है । ये सब धातुएँ हृदयमें रहती हैं, हृदयमें अन्तराग्नि उत्पन्न होती है, अग्निस्थानमें पित्त, पित्तके स्थानमें वायु और वायुसे हृदयका निर्माण सृजन-क्रमसे होता है ॥ २ ॥

ऋतुकालमें सम्यक् प्रकारसे गर्भाधान होनेपर एक रात्रिमें शुक्र-शोणितके संयोगसे कलल बनता है । सात रातमें बुद्बुद बनता है । एक पक्षमें उसका पिण्ड (स्थूल आकार) बनता है । वह एक मासमें कठिन होता है । दो महीनोंमें वह सिरसे युक्त होता है, तीन महीनोंमें पैर बनते हैं, पश्चात् चौथे महीने गुल्फ (पैरकी घुट्टियाँ), पेट तथा कटि-प्रदेश तैयार हो जाते हैं । पाँचवें महीने पीठकी रीढ़ तैयार होती है । छठे महीने मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र बन जाते हैं । सातवें महीने जीवसे युक्त होता है । आठवें महीने सब लक्षणोंसे पूर्ण हो जाता है । पिताके शुक्रकी अधिकतासे पुत्र, माताके रुधिरकी अधिकतासे पुत्री तथा शुक्र और शोणित दोनोंके तुल्य होनेसे नपुंसक संतान उत्पन्न होती है । व्याकुल-चित्त होकर समागम करनेसे अंधी, कुबड़ी, खोड़ी तथा बौनी संतान उत्पन्न होती है । परस्पर वायुके संघर्षसे शुक्र दो भागोंमें बँटकर सूक्ष्म हो जाता है, उससे युग्म

(जुड़वाँ) संतान उत्पन्न होती है। पञ्चभूतात्मक शरीरके समर्थ—स्वस्थ होनेपर चेतनामें पञ्च ज्ञानेन्द्रियात्मक बुद्धि होती है; उससे गन्ध, रस आदिके ज्ञान होते हैं। वह अविनाशी अक्षर ॐकारका चिन्तन करता है, तब इस एकाक्षरको जानकर उसी चेतनके शरीरमें आठ प्रकृतियाँ (प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ) तथा सोलह विकार (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच स्थूल भूत तथा मन) होते हैं। पश्चात् माताका खाया हुआ अन्न एवं पिया हुआ जल नाड़ियोंके सूत्रोंद्वारा पहुँचाया जाकर गर्भस्थ शिशुके प्राणोंको तृप्त करता है। तदनन्तर नवें महीने वह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणोंसे पूर्ण हो जाता है। तब वह पूर्व-जन्मका स्मरण करता है। उसके शुभ-अशुभ कर्म भी उसके सामने आ जाते हैं॥ ३॥

तब जीव सोचने लगता है—'मैंने सहस्रों पूर्व-जन्मोंको देखा, उनमें नाना प्रकारके भोजन किये, नाना प्रकारके—नाना योनियोंके स्तनोंका पान किया। मैं बारंबार उत्पन्न हुआ, मृत्युको प्राप्त हुआ। अपने परिवारवालोंके लिये जो मैंने शुभाशुभ कर्म किये, उनको सोचकर मैं आज यहाँ अकेला दग्ध हो रहा हूँ। उनके भोगोंको भोगनेवाले तो चले गये, मैं यहाँ दुःखके समुद्रमें पड़ा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ। यदि इस योनिसे मैं छूट जाऊँगा—इस गर्भके बाहर निकल गया तो अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाले तथा मुक्तिरूप फलको प्रदान करनेवाले महेश्वरके चरणोंका आश्रय लूँगा। यदि मैं योनिसे छूट जाऊँगा तो अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाले और मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले भगवान् नारायणकी शरण ग्रहण करूँगा। यदि मैं योनिसे छूट जाऊँगा तो अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाले और मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले सांख्य और योगका अभ्यास करूँगा। यदि मैं इस बार योनिसे छूट गया तो मैं ब्रह्मका ध्यान करूँगा।' पश्चात् वह योनिद्वारको प्राप्त होकर योनिरूप यन्त्रमें दबाया जाकर बड़े कष्टसे जन्म ग्रहण करता है। बाहर निकलते ही वैष्णवी वायु (माया) के स्पर्शसे वह अपने पिछले जन्म और मृत्युओंको भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म भी उसके सामनेसे हट जाते हैं॥ ४॥

देह-पिण्डका 'शरीर' नाम कैसे होता है? इसलिये कि ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि तथा जठराग्निके रूपमें अग्नि इसमें आश्रय लेता है। इनमें जठराग्नि वह है, जो खाये, पिये, चाटे और चूसे हुए पदार्थोंको पचाता है। दर्शनाग्नि वह है, जो रूपोंको दिखलाता है; ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मोंको सामने खड़ा कर देता है। अग्निके शरीरमें तीन स्थान होते हैं—आहवनीय अग्नि मुखमें रहता है, गार्हपत्य अग्नि उदरमें रहता है, और दक्षिणाग्नि हृदयमें रहता है। आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा है, लोभादि पशु हैं, धैर्य और संतोष दीक्षाएँ हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञके पात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि (होम करनेकी सामग्री) हैं, सिर कपाल है, केश दर्भ हैं, मुख अन्तर्वेदिका है, सिर चतुष्कपाल है, पार्श्वकी दन्तपंक्तियाँ षोडश कपाल हैं, एक सौ सात मर्मस्थान हैं, एक सौ अस्सी संधियाँ हैं, एक सौ नौ स्नायु हैं, सात सौ शिराएँ हैं, पाँच सौ मज्जाएँ हैं, तीन सौ साठ अस्थियाँ हैं, साढ़े चार करोड़ रोम हैं, आठ पल (तोले) हृदय है, द्वादश पल (बारह तोला) जिह्वा है, प्रस्थमात्र (एक सेर) पित्त, आढकमात्र (ढाई सेर) कफ, कुडवमात्र (पावभर) शुक्र तथा दो प्रस्थ (दो सेर) मेद है; इसके अतिरिक्त शरीरमें आहारके परिमाणसे मल-मूत्रका परिमाण अनियमित होता है। यह पिप्पलाद ऋषिके द्वारा प्रकटित मोक्षशास्त्र है, पैप्पलाद मोक्षशास्त्र है॥ ५॥

॥ गर्भोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

कैवल्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आत्माका स्वरूप तथा उसे जाननेका उपाय

महर्षि आश्वलायन भगवान् प्रजापति ब्रह्माजीके पास विधिपूर्वक समिधा हाथमें लेकर गये और बोले, 'भगवन् ! सदा संतजनोंके द्वारा परिसेवित, अत्यन्त गोप्य तथा अतिशय श्रेष्ठ उस ब्रह्मविद्याका मुझे उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा विद्वान्लोग शीघ्र ही सारे पापोंको नष्ट करके परात्पर पुरुष—परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।' ब्रह्माजीने उन महर्षिसे कहा—'आश्वलायन ! तुम उस परात्पर तत्त्वको श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योगके द्वारा जाननेका यत्न करो। उसकी प्राप्ति न कर्मके द्वारा होती है, न संतान अथवा धनके द्वारा। ब्रह्मज्ञानियोंने केवल त्यागके द्वारा अमृतत्वको प्राप्त किया है। स्वर्गलोकसे भी ऊपर गुहामें अर्थात् बुद्धिके गह्वरमें स्थित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाशित है, उसमें यति—संयमशील योगीजन प्रवेश करते हैं। जिन्होंने वेदान्तके सविशेष ज्ञानसे तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा परम तत्त्वका निश्चय कर लिया है, वे शुद्ध अन्तःकरणवाले योगीजन संन्यास-योगके द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर कल्पके अन्तमें अमृतस्वरूप होकर मुक्त हो जाते हैं। स्नानादिसे शुद्ध होनेके अनन्तर निर्जन स्थानमें सुखसे बैठकर, ग्रीवा, सिर और शरीरको सीधे रखकर सारी इन्द्रियोंका निरोध करके भक्तिपूर्वक अपने गुरुको प्रणाम करके संन्यास-आश्रममें स्थित योगीलोग अपने हृदय-कमलमें रजोगुणरहित, विशुद्ध, दुःख-शोकातीत आत्मतत्त्वका विशदरूपसे चिन्तन करते हैं। इस प्रकार जो अचिन्त्य है, अव्यक्त और अनन्तस्वरूप है, कल्याणमय है, प्रशान्त है, अमृत है; जो ब्रह्म अर्थात् निखिल ब्रह्माण्डका मूल कारण है; जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं; जो एक अर्थात् अद्वितीय है, विभु और चिदानन्द है, रूपरहित और अद्भुत है, उस उमासहित अर्थात् ब्रह्मविद्याके साथ परमेश्वरको, समस्त चराचरके स्वामीको, प्रशान्तस्वरूप, त्रिलोचन, नीलकण्ठ महादेव अर्थात् परात्पर परब्रह्मको—जो सब भूतोंका मूल कारण है, सबका साक्षी है तथा अविद्यासे परे प्रकाशमान हो रहा है, उसको मुनिलोग ध्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं ॥ १–७ ॥

'वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर—अविनाशी परमात्मा है, वही विष्णु है; वह प्राण है, वह काल है, अग्नि है, वह चन्द्रमा है। जो कुछ हो चुका है और जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सब वही है; उस सनातन तत्त्वको जानकर प्राणी मृत्युके परे चला जाता है। इसके अतिरिक्त मुक्तिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जो आत्माको सब भूतोंमें देखता है तथा सब भूतोंको आत्मामें देखता है, वह परब्रह्मको प्राप्त करता है; दूसरे किसी उपायसे नहीं। आत्मा—अन्तःकरणको नीचेकी अरणि तथा प्रणवको ऊपरकी अरणि बनाकर ज्ञानीजन ज्ञानरूपी मन्थनके अभ्यासद्वारा संसार-बन्धनको नष्ट कर देते हैं—ज्ञानाग्निमें जला डालते हैं। वही प्राणी मायाके वशी अत्यन्त मोहग्रस्त होकर शरीरको ही अपना स्वरूप मान सब प्रकारके कर्मोंको करता है। वही जाग्रत् अवस्थामें स्त्री, अन्न-पान आदि नाना प्रकारके

भोगोंको भोगता हुआ परितृप्ति लाभ करता है। वही जीव स्वप्नावस्थामें अपनी मायासे कल्पित जीवलोकमें सुख-दुःखका भोक्ता बनता है और सुषुप्तिकालमें सारे मायिक प्रपञ्चके विलीन होनेपर वह तमोगुणसे अभिभूत होकर सुख-स्वरूपको प्राप्त होता है। पुनः जन्मान्तरोंके कर्मोंकी प्रेरणासे वह जीव सुषुप्तिसे स्वप्न-जगत्में उतरता है और उसके बाद जाग्रत्-अवस्थामें आता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीररूपी तीन पुरोंमें जो जीव क्रीडा करता है, उसीसे यह सारा प्रपञ्च-वैचित्र्य उत्पन्न होता है ॥ ८–१४ ॥

'इस समस्त प्रपञ्चका आधार आनन्दस्वरूप अखण्ड बोध है—जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीररूपी तीनों पुर लयको प्राप्त होते हैं। इसीसे प्राण उत्पन्न होता है, मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; आकाश, वायु, अग्नि, जल और सारे विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। जो परब्रह्म सबका आत्मा है, समस्त कार्य-कारणरूप विश्वका महान् आयतन अर्थात् आधार है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है, अविनाशी है, वह तुम्हीं हो, तुम वही हो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि जो प्रपञ्च भासमान है, वह ब्रह्म-स्वरूप है और वही मैं हूँ—यों जानकर जीव सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। तीनों धाम अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें जो कुछ भोक्ता, भोग्य और भोग हैं, उनसे विलक्षण साक्षी, चिन्मात्रस्वरूप, सदाशिव मैं हूँ। मुझमें ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, मुझमें ही सब लयको प्राप्त होता है; वह अद्वय ब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ। मैं अणुसे भी अणु हूँ, इसी प्रकार मैं महान्से भी महान् हूँ; यह विचित्र विश्व मेरा ही स्वरूप है। मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं हिरण्यमय पुरुष ब्रह्मा हूँ, मैं शिवस्वरूप हूँ। वह पाणि-पाद-विहीन, अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म मैं हूँ। मैं नेत्रोंके बिना देखता हूँ, कानोंके बिना सुनता हूँ, बुद्धि आदिसे पृथक् होकर मैं ही जानता हूँ; मुझको जाननेवाला कोई नहीं है; मैं सदा चित्स्वरूप हूँ। समस्त वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं, मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ, वेदवेत्ता भी मैं ही हूँ। मुझे पुण्य-पाप नहीं लगते, मेरा कभी नाश नहीं होता और न जन्म ही होता है। और न मेरे शरीर, मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ ही हैं। मेरे लिये न भूमि है न जल है, न अग्नि है, न वायु और न आकाश ही है।' जो इस प्रकार गुहा—बुद्धिके गह्वरमें स्थित, निष्कल (अवयवहीन) और अद्वितीय, सदसत्से परे सबके साक्षी मेरे परमात्मस्वरूपको जानता है, वह शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त होता है। जो शतरुद्रियका पाठ करता है, वह अग्निपूत होता है, वायुपूत होता है, आत्मपूत होता है, सुरापानके दोषसे छूट जाता है, ब्रह्महत्याके दोषसे मुक्त हो जाता है; वह स्वर्णकी चोरीके पापसे छूट जाता है, वह शुभाशुभ कर्मोंसे उद्धार पाता है, भगवान् सदाशिवके आश्रित हो जाता है तथा अविमुक्तस्वरूप हो जाता है। अतएव जो आश्रमसे अतीत हो गये हैं, उन परमहंसोंको सदा-सर्वदा अथवा कम-से-कम एक बार इसका पाठ अवश्य करना चाहिये। इससे उस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जो भवसागरका नाश कर देता है। इसलिये इसको इस प्रकार जानकर मनुष्य कैवल्यरूप मुक्तिको प्राप्त होता है, कैवल्य-पदको प्राप्त होता है ॥ १५–२५ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कैवल्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ज्ञानमयी दृष्टि

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।'

'दृष्टिको ज्ञान (ब्रह्म) मयी करके जगत्को ब्रह्ममय देखे।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

कठरुद्रोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

संन्यासकी विधि और आत्मतत्त्वका वर्णन

हरिः ॐ एक समय देवगण भगवान् प्रजापतिके पास गये और बोले—भगवन् ! हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये । भगवान् प्रजापति बोले—"शिखासहित केशोंका मुण्डन करा और यज्ञोपवीतका त्याग करके, पुत्रको देखकर यों कहे—'तुम ब्रह्मा हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम ॐकार हो, तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता हो, तुम विधाता हो, तुम प्रतिष्ठा हो ।' तब पुत्र कहे, 'मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं वषट्कार हूँ, मैं ॐकार हूँ, मैं स्वाहा हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं धाता हूँ, मैं विधाता हूँ, मैं त्वष्टा हूँ, मैं प्रतिष्ठा हूँ ।' परिव्राजक (संन्यासी) होकर घरसे निकलनेपर जब पुत्र-कलत्रादि पीछे-पीछे चलें तो उनको देखकर अश्रुपात न करे । यदि अश्रुपात करेगा तो सन्तानका नाश हो जायगा । फिर वे सब लोग संन्यासीकी प्रदक्षिणा करके इधर-उधर बिना देखे लौट जाते हैं । ऐसा संन्यासी देवलोकका अधिकारी होता है ।

"ब्रह्मचारीके रूपमें वेदोंका अध्ययन करने एवं वेद-शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्यका पालन करनेके पश्चात् विवाहपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके, उनको सुसंस्कृत बना, यथाशक्ति यज्ञ-हवन करके अपने बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनोंसे अनुज्ञा प्राप्तकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है । इस प्रकार संन्यास ग्रहण करनेवाला वनमें जाकर बारह रात्रियोंतक दुग्धसे अग्निहोत्र करे, बारह रात्रियोंतक केवल दुग्धाहारपर रहे । बारह रात्रियोंके अन्तमें विष्णुसम्बन्धी तथा प्रजापतिसम्बन्धी चरुको, जो तीन मिट्टीकी ठीकरियोंपर सिद्ध किया गया हो, वैश्वानर अग्नि तथा प्रजापतिके उद्देश्यसे हवनकर अग्निहोत्रमें प्रयुक्त दारुपात्रोंको भी अग्निमें होम दे । मिट्टीके पात्रोंका जलमें विसर्जन कर दे और तैजस—स्वर्णादिके बने पदार्थोंको अपने गुरुको प्रदान कर दे । उस समय यों कहे—'तू मुझे छोड़कर दूर न जाना, और मैं तुम्हें छोड़कर दूर नहीं जाऊँगा ।' कुछ शास्त्रोंके मतसे, इसके पश्चात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय—इन तीनों प्रकारकी यज्ञाग्नियोंसे अरणियोंके पाससे भस्मकी मुष्टि लेकर पान करे । शिखासहित केशोंका वपन कराके और यज्ञोपवीत उतारकर **'ॐ भूः स्वाहा'** इस मन्त्रसे जलमें डाल दे । इसके बाद अनशन, जलप्रवेश, अग्नि-प्रवेश, वीरोंके मार्गका ग्रहण करके (पाण्डवोंकी भाँति) महा-प्रस्थान करे, अथवा किसी वृद्ध संन्यासीके आश्रममें चला जाय । दुग्ध अथवा जलके साथ जो कुछ वह भोजन करे, वही उसका सायंकालीन हवन है; प्रातःकाल जो भोजन करे, वही प्रातः-कालीन हवन है । अमावास्याको जो भोजन करता है, वही दर्श-यज्ञ है । पूर्णिमाको जो भोजन करता है, वह उसका पौर्णमास्य यज्ञ है । वसन्त ऋतुमें जो वह केश, दाढ़ी, मूँछ, शरीर-रोएँ, नख आदि कटवाता है, वह उसका अग्निष्टोम है । संन्यास लेनेके बाद पुनः अग्न्याधान न करे, **'मृत्युर्जयमावहम्'** इत्यादिक आध्यात्मिक मन्त्रोंका पाठ करे । **'स्वस्ति सर्वजीवेभ्यः'**—सब जीवोंका कल्याण हो, यह कहकर केवल आत्मतत्त्वका ध्यान करता हुआ, ऊपर हाथ उठाये प्रपञ्चातीत पथमें विचरण करे, गृहहीन होकर विचरण करे । भिक्षान्नके सिवा और कुछ ग्रहण न करे । थोड़ी देर भी एक जगह न

ठहरे, जीव-हिंसासे बचनेके लिये केवल वर्षाकालमें भ्रमण न करे ।

"इस विषयमें दूसरे श्लोक भी हैं, जिनका भाव इस प्रकार है—'संन्यासीको चाहिये कि वह कुण्डिका, चमस तथा शिक्य (झोली) आदिको, तथा तिपाई, जूते, शीतको दूर करनेवाली कन्था (कथरी), कौपीनके ऊपर अङ्ग ढकनेवाला वस्त्र, कुशका बना पवित्र, स्नानके अनन्तर धारण करनेका वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र, यज्ञोपवीत एवं वेदाध्ययन—सबका त्याग कर दे । वह अपना स्नान, पान तथा शौच पवित्र जलके द्वारा सम्पादन करे । नदीके किनारे जाकर सोये या देवमन्दिरमें सोये । अत्यधिक आराम न करे अथवा आयासके द्वारा शरीरको व्यर्थ कष्ट न दे, दूसरोंके द्वारा अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न न हो और निन्दा सुनकर गाली या शाप न दे । संन्यासी प्रमादरहित होकर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताये । स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, केलि—क्रीडा, चर्चा, गुह्य (कामसम्बन्धी) विषयोंकी बातचीत, काम-सङ्कल्प, सम्भोगके लिये प्रयत्न तथा सम्भोगकी क्रिया—ये आठ प्रकारके मैथुन विचारवान् पुरुषोंने गिनाये हैं। उपर्युक्त अष्टविध मैथुनके त्यागरूप ब्रह्मचर्यका पालन मुमुक्षुजनोंको करना चाहिये ॥ १—६ ॥

"जो जगत्‌का प्रकाशक है, नित्य प्रकाशके रूपमें अपनेद्वारा ही प्रकाशित है, वही जगत्‌का साक्षी है, निर्मल आकृतिवाला सबका आत्मा है । वह प्रज्ञानघनस्वरूप है, सब प्राणी उसीमें प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य न कर्मके द्वारा, न संतानके द्वारा और न अन्य किसी साधनके द्वारा—बल्कि ब्रह्मानुभवके द्वारा ही ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है । वह सत्य-ज्ञान-आनन्दरूप अद्वितीय ब्रह्म इस माया, अज्ञान, गुहा आदि नामोंसे कहे जानेवाले संसारमें व्याप्त है तथा केवल विद्याके द्वारा जाना जाता है । जो परम व्योम नामक नित्य धाममें विराजमान इस ब्रह्मको जानता है, वह द्विजश्रेष्ठ क्रमशः सभी कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—पूर्णकाम हो जाता है । अज्ञान और मायाशक्तिके साक्षी प्रत्यगात्माको जो 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूँ' यों जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है ॥ ७—१२ ॥

"पूर्वोक्त शक्तियुक्त इस ब्रह्मस्वरूप आत्मासे उसी प्रकार अपञ्चीकृत आकाश अर्थात् शब्द-तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जैसे रज्जुमें सर्पका भान होता है । पुनः आकाशसे वायुसंज्ञक अपञ्चीकृत स्पर्श-तन्मात्र उत्पन्न हुआ । वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई । उन सूक्ष्म भूतोंको शिवरूप ईश्वरने पञ्चीकृत करके उन्हींसे ब्रह्माण्ड आदिकी सृष्टि की । ब्रह्माण्डके भीतर प्राणियोंके पुराकृत कर्मोंके अनुसार देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंकी सृष्टि हुई तथा अस्थि, स्नायु आदिसे निर्मित यह प्राणियोंका शरीर भी कर्मानुसार ही प्रकाशित हो रहा है । समस्त शरीरधारियोंका यह जो अन्नमय आत्मा—स्थूल शरीर प्रकाशित हो रहा है, उससे भिन्न एक प्राणमय आत्मा और है, जो इस अन्नमय आत्माके भीतर स्थित है । उससे भी सूक्ष्म दूसरा विज्ञानमय आत्मा है, जो प्राणमय आत्माके भी भीतर स्थित है । उससे भी सूक्ष्म आनन्दमय आत्मा है, जो विज्ञानमय आत्माके भी भीतर है । अन्नमय आत्मा प्राणमयसे भरा है, उसी प्रकार प्राणमय आत्मा स्वभावतः मनोमय आत्मासे पूर्ण है । मनोमय आत्मा विज्ञानमयसे पूर्ण है । सदा सुखस्वरूप विज्ञानमय आत्मा आनन्दसे पूर्ण रहता है । उसी प्रकार आनन्दमय आत्मा अपनेसे भिन्न साक्षिरूप सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी ब्रह्मके द्वारा पूर्ण है । वह ब्रह्म किसी दूसरेके द्वारा नहीं, बल्कि स्वतः सब ओरसे पूर्ण है । जो यह सत्य एवं ज्ञानस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, वही सबका पुच्छ—आधार है । वह सबका सार एवं रसमय (आनन्दस्वरूप) है । उस सनातन तत्त्वको प्राप्तकर यह देही सर्वत्र सुखी होता है । इसके सिवा अन्यत्र सुखता कहाँ है ? अखिल प्राणियोंके आत्मस्वरूप इस परानन्द ब्रह्मके न होनेपर कौन मानव जीता रह सकता है अथवा कौन प्राणी नित्य चेष्टा करता है ? अतएव सर्वान्तर्यामीरूपसे जो चित्तमें भासित होता है, वही परमपुरुष दुःखोंसे घिरे हुए जीवात्माको सदा आनन्द प्रदान करता है ॥ १३—२५ ॥

"जो अदृश्यत्व आदि लक्षणोंसे युक्त इस परतत्त्वसे अभेदरूप परमाद्वैतको प्राप्त कर लेता है, वही महासंन्यासी है । सद्रूप परब्रह्म जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, वही अभयपद है, परम कल्याणस्वरूप है, परम अमृत है । जबतक मनुष्यको इससे थोड़ा भी अन्तर—व्यवधान दीख पड़ता है, तबतक उसे (जन्म-मृत्युका) भय है—इसमें संदेह नहीं । भगवान् विष्णुसे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृणपर्यन्त सभी तारतम्यके अनुसार नित्य इसी आनन्दकोषसे आनन्द प्राप्त करते हैं । इस लोक तथा परलोकके भोगोंसे विरक्त, प्रसन्न चित्तवाले श्रोत्रियको यह स्वरूपभूत आनन्द स्वयं ही अनुभूत होता है—उसी प्रकार जैसे स्वयं परमात्माके अंदर होता है । शब्दकी प्रवृत्ति किसी निमित्तको लेकर होती है । परतत्त्वमें निमित्तका अभाव होनेसे वाणी वहाँसे लौट आती

है। जो सब विशेषोंसे रहित परानन्दरूप तत्त्व है, वहाँ शब्दकी प्रवृत्ति कैसे हो। इस कारण यह मन सूक्ष्म और व्यावृत अर्थात् सीमित शक्ति-सम्पन्न होकर सर्वत्र गमन करता है। क्योंकि श्रोत्र, त्वक्, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श आदि उनके विषय एवं वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ सीमित शक्तिसम्पन्न हैं। अतएव परतत्त्वको प्राप्त करनेमें ये समर्थ नहीं हैं। जो साधक उस द्वन्द्वरहित, निर्गुण, सत्य-स्वरूप और विज्ञानघन ब्रह्मानन्दको 'यह मेरा ही स्वरूप है'—इस प्रकार जान लेता है, उसे कहीं भी भय नहीं होता। इस प्रकार जो अपने इन्द्रियोंका स्वामी अपने गुरुके उपदेशसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा ब्रह्मानन्दको जानता है, वह साधु-असाधु कर्मोंके द्वारा कभी संतप्त नहीं होता। विषय तापक हैं और चित्त ताप्य है; चित्त और उसके विषयोंसे यह अखिल जगत् विभासित हो रहा है। परन्तु वेदान्त-शास्त्रके वाक्योंके ज्ञानसे यह प्रत्यगात्माके रूपमें अनुभूत होता है। शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म, ईश्वर-चैतन्य, जीव-चैतन्य, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल—ये सप्तविध तत्त्व कहे गये हैं, जिनमें व्यवहारको लेकर भेद है। मायाकृत उपाधियोंसे अत्यन्त मुक्त ब्रह्म—शुद्ध चैतन्य कहलाता है। मायाके सम्बन्धसे वह ईश है, अविद्याके वशीभूत वही जीव है, तथा अन्तःकरणके सम्बन्धसे वही प्रमाता—ज्ञाता कहलाता है। उस अन्तःकरणकी वृत्तिके सम्बन्धसे वह प्रमाण-संज्ञाको प्राप्त होता है। वह चैतन्य जबतक अज्ञात है, तबतक प्रमेय-कोटिमें आता है और वही ज्ञात हो जानेपर फल कहलाता है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष अपने-आपको 'मैं सब उपाधियोंसे मुक्त हूँ'—इस प्रकार चिन्तन करे। इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेयोग्य हो जाता है। मैंने समस्त वेदान्तके सिद्धान्तोंका सार यथार्थतः कहा है। जीव स्वयं—अपने ही कर्मोंसे उत्पन्न होता है, स्वयं ही मरता है और स्वयं ही अवशिष्ट रहता है। यह सब आत्माकी क्रीडा है, आत्माके सिवा कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। यही उपनिषद्—रहस्य है" ॥ २६–४३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कठरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

देहनाशसे आत्माका नाश नहीं

घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति॥ (आत्मप्रबोध० १८)

'जैसे घड़ेका प्रकाशक सूर्य घड़ेके नाश हो जानेपर नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहका प्रकाशक साक्षी (आत्मा) देहके नाशसे नाशको नहीं प्राप्त होता।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

रुद्रहृदयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् रुद्रकी सर्वश्रेष्ठता, सर्वस्वरूपता और ब्रह्मस्वरूपता

हरिः ॐ रुद्रहृदय, योगकुण्डली, भस्मजाबाल, रुद्राक्षजाबाल और गणपति—ये पाँच उपनिषद् प्रणवके मूल तत्त्वको बतलाते हैं । ये श्रुतिके महावाक्य हैं, ब्रह्मज्ञानात्मक अग्निहोत्रके ये पाँच महामन्त्र हैं, अथवा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये पाँच ब्रह्म अर्थात् मन्त्रात्मक अग्निहोत्र हैं ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने व्यासजीके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया और बोले, 'भगवन् ! बतलाइये, सब वेदोंमें किस एक देवताका प्रतिपादन हुआ है और किसमें सारे देवता वास करते हैं ? किसकी सेवा-पूजा करनेसे सर्वदा सब देवता मुझपर प्रसन्न रहेंगे ?' श्रीशुकदेवजीकी इस बातको सुनकर उनके पिता उनसे बोले—''शुक ! सुनो—भगवान् रुद्र सर्वदेवस्वरूप हैं, और सब देवता रुद्रस्वरूप हैं । रुद्रके दक्षिण पार्श्वमें सूर्यभगवान्, ब्रह्माजी तथा गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय—ये तीन प्रकारके अग्निदेव स्थित हैं । वामपार्श्वमें भगवती उमा, विष्णुभगवान् और सोम—ये तीन हैं । जो भगवती उमा हैं, वही विष्णुभगवान् हैं और जो विष्णुभगवान् हैं, वही चन्द्रमा हैं । जो गोविन्दको नमस्कार करते हैं, वे शङ्करजीको नमस्कार करते हैं । और जो भक्तिपूर्वक विष्णुभगवान्की अर्चना करते हैं, वे वृषभध्वज अर्थात् शङ्करजीकी ही पूजा करते हैं । जो विरूपाक्ष अर्थात् भगवान् आशुतोषसे द्वेष करते हैं, वे जनार्दनसे ही द्वेष करते हैं । जो रुद्रको नहीं जानते, वे केशवको भी नहीं जानते । रुद्रसे बीज उत्पन्न होता है और उस बीजकी योनि (अर्थात् क्षेत्र) विष्णुभगवान् हैं । जो रुद्र हैं, वे स्वयं ब्रह्मा हैं और जो ब्रह्मा हैं, वे अग्निदेव हैं । रुद्र ब्रह्मा और विष्णुस्वरूप हैं । और अग्नि-सोमात्मक समस्त जगत् भी रुद्र ही है । सृष्टिमें जितने पुँल्लिङ्ग प्राणी हैं, सब महेश्वर हैं और जितने स्त्रीलिङ्ग प्राणी हैं, सब भगवती उमा हैं । सारी स्थावर और जङ्गमस्वरूप सृष्टि उमा-महेश्वररूप है । समस्त व्यक्त जगत् उमाका स्वरूप है । और अव्यक्त जगत् महेश्वरका स्वरूप है । उमा और शङ्करका योग ही विष्णु कहलाता है । जो उन विष्णुभगवान्को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं; वे आत्मा, परमात्मा और अन्तरात्मा—इस त्रिविध आत्माको जानकर परमात्माको प्राप्त होते हैं । अन्तरात्मा ब्रह्मा हैं और परमात्मा महेश्वर हैं । और सभी प्राणियोंके सनातन आत्मा विष्णुभगवान् हैं । इस त्रिलोकीरूप वृक्षके, जिसके तने और शाखाएँ भूमिपर फैली हुई हैं, अग्रभाग विष्णु हैं । मध्य (तना) ब्रह्मा हैं और मूलभाग भगवान् महेश्वर हैं । विष्णु कार्यरूप हैं, ब्रह्मा क्रियारूप हैं और महेश्वर कारण-स्वरूप हैं । प्रयोजनके अनुसार रुद्रने अपनी एक ही मूर्तिको तीन प्रकारसे व्यवस्थित किया है । धर्म रुद्रस्वरूप है, जगत् विष्णुस्वरूप है और समस्त ज्ञान ब्रह्मास्वरूप हैं । 'श्रीरुद्र रुद्र रुद्र' इस प्रकारसे जो बुद्धिमान् जपता है, इससे समस्त देवोंका कीर्तन हो जानेके कारण वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २–१६ ॥

''पुरुष रुद्रस्वरूप हैं और स्त्रियाँ उमास्वरूपा हैं—इन दोनों प्रकारके रूपोंमें भगवान् रुद्र और भगवती उमाको

नमस्कार है। रुद्र ब्रह्मा हैं और उमा वाणी हैं। इन दोनों रूपोंमें रुद्र और उमाको नमस्कार। रुद्र विष्णु हैं और उमा लक्ष्मी हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र सूर्य हैं और उमा छाया हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र चन्द्रमा हैं और उमा तारा हैं, उनको और उनको नमस्कार। रुद्र दिवस हैं और उमा रात्रि हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र यज्ञ हैं और उमा वेदी हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र अग्निदेव हैं और उमा स्वाहा हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र वेद हैं और उमा शास्त्र हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र वृक्ष हैं और उमा लता हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र गन्ध हैं और उमा पुष्प हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र अर्थ हैं और उमा अक्षर हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र लिङ्ग हैं और उमा पीठ हैं। उनको और उनको नमस्कार। इस प्रकार सर्वदेवात्मक रुद्रको पृथक्-पृथक् नमस्कार करे। मैं भी इन्हीं मन्त्रपदोंके द्वारा महेश्वर और पार्वतीको नमस्कार करता हूँ। मनुष्य जहाँ-जहाँ रहे, इस अर्धालीसहित मन्त्रका उच्चारण करता रहे। ब्रह्महत्यारा भी यदि जलमें प्रविष्ट होकर इस मन्त्रका जाप करे तो सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ १७—२५॥

"जो सबका अधिष्ठान है, द्वन्द्वातीत है, सच्चिदानन्दस्वरूप, सनातन परम ब्रह्म है, मन और वाणीके अगोचर है, शुक! उसके भलीभाँति जान लेनेपर यह सब ज्ञात हो जाता है; क्योंकि सब कुछ उसका ही स्वरूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—वे हैं परा और अपरा। उनमें अपरा विद्या यह है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष; तथा मुनीश्वर! इस अपरा विद्यामें आत्मविषयके अतिरिक्त सब प्रकारके बौद्धिक ज्ञानका समावेश हो जाता है। अब परा विद्या वह है, जिसके द्वारा आत्मविषयका ज्ञान होता है। वह आत्मतत्त्व परम अविनाशी है। वह देखनेमें नहीं आता, ग्रहण नहीं किया जाता। नाम-रूप और गोत्रसे वर्जित है। उसके चक्षु और श्रोत्र नहीं हैं। वह विषयातीत है, उसके हाथ-पैर नहीं हैं; वह नित्य है, विभु है, सर्वगत है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म है तथा वह कभी विकारको प्राप्त नहीं होता। वह सब भूतोंका प्रभव-स्थान है, उस परमात्माको धीर पुरुष अपने आत्मामें देखते हैं॥ २६—३२॥

"जो सर्वज्ञ है—जिसे भूत-भविष्य-वर्तमानका ज्ञान है, जो सम्पूर्ण विद्याओंका आश्रय है, ज्ञान ही जिसका तप है, उसीसे भोक्ता एवं अन्नरूपमें यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है। जो जगत् सत्यकी तरह प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्ममें उसी प्रकार स्थित है, जैसे रज्जुमें सर्प। वही यह अविनाशी ब्रह्म सत्य है; जो इसको जानता है, वह मुक्त हो जाता है। ज्ञानसे ही संसार-बन्धनका नाश होता है, कर्मसे नहीं। अतएव मुमुक्षुको विधिपूर्वक श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ अपने गुरुके पास जाना चाहिये। तब गुरु उसे ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ज्ञान करानेवाली पराविद्या प्रदान करे। यदि पुरुष गुहामें निहित उस अक्षरब्रह्मको साक्षात् कर लेता है तो अविद्यारूपी महाग्रन्थिको काटकर वह सनातन शिवके पास पहुँच जाता है। यही वह अमृतरूप सत्य है, जो मुमुक्षुओंको जानना चाहिये॥ ३३—३७॥

"प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म वह लक्ष्य कहलाता है। उसको प्रमादरहित होकर बींधना (चिन्तन करना) चाहिये तथा लक्ष्यमें घुसे हुए बाणकी भाँति ही उस ब्रह्ममें तन्मय हो जाना चाहिये। लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म सर्वगत है। शर अर्थात् आत्मा सब ओर मुखवाला है और वेद्धा अर्थात् साधक यदि सर्वगत हो तो शिवरूप लक्ष्यकी प्राप्तिमें संशय नहीं रह जाता। जहाँ चन्द्रमा और सूर्यका विग्रह प्रकाशित नहीं होता, जहाँ वायु तथा सम्पूर्ण देवताओंकी भी गति नहीं है, वे ही ये तेजोमय परमात्मा साधकके द्वारा चिन्तन करनेपर अपने विशुद्ध एवं रजोगुणरहित स्वरूपसे प्रकाशित होते हैं। इस शरीररूपी वृक्षमें जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी निवास करते हैं। उनमें जीव कर्मोंका फल भोगता है, महेश्वर नहीं। महेश्वर कर्मफलका भोग न करते हुए केवल साक्षीरूपमें प्रकाशित हो रहा है, उसमें जीव और ईश्वरका भेद मायाके द्वारा कल्पित है। जिस प्रकार घटाकाश और महाकाश आकाशके ही कल्पित भेद हैं, उसी प्रकार परमात्माके जीव और ईश्वररूप भेद भी कल्पित हैं। वस्तुतः तो चिन्मय जीवात्मा सदा स्वतः साक्षात् शिव है। जीव और ईश्वरमें जो चित् है, वह चित्के औपाधिक आकार-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, स्वरूपतः भिन्न नहीं है; क्योंकि स्वरूपतः भेद होनेपर तो दोनोंकी चित्स्वरूपताकी ही हानि हो जायगी। (जड वस्तुमें ही स्वरूपगत भेद होता है, चित्में नहीं।) चित्से जो चित्का भेद कहा जाता है, वह चिदाकारता (चिन्मयता) से

नहीं, अपितु जडरूप उपाधिके ही कारण है। यदि भेद है तो वह भेद जडरूप ही है। चित् तो सर्वत्र एक ही होती है। युक्ति और प्रमाणसे चित्की एकता ही निश्चित होती है; इसलिये जब पुरुषको चित्के एकत्वका परिज्ञान हो जाता है, तब वह न शोकको प्राप्त होता है न मोहको। वह केवल अद्वैत परमानन्दस्वरूप शिव-भावको प्राप्त हो जाता है। समस्त जगत्का अधिष्ठान वह सत्यस्वरूप चिद्घन परमात्मा है। मुनिलोग उसे 'अहम् अस्मि' (वह परमात्मा मैं ही हूँ) ऐसा निश्चय करके शोकरहित हो जाते हैं। अपने अन्तःकरणमें स्वयंज्योतिः-स्वरूप सर्वसाक्षी परमात्माको वे ही पुरुष देखते हैं; जिनके दोष क्षीण हो गये हैं; जो मायासे आवृत हैं, वे इतर प्राणी नहीं देख सकते। जिस महायोगीको इस प्रकार स्वरूप-ज्ञान हो गया है, उस पूर्णस्वरूपताको प्राप्त हुए सिद्ध महात्माका कहीं आना-जाना नहीं होता। जिस प्रकार एक और पूर्ण आकाश कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार अपने आत्मतत्त्वका अनुभव करनेवाला ज्ञानी महात्मा कहीं नहीं जाता। जो मुनि निश्चयपूर्वक उस परम ब्रह्मको जानता है, वह अपने स्वरूपमें स्थित हो, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है" ॥ ३८–५२ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय रुद्रहृदयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आठ गुणोंसे युक्त आत्माको जाननेका फल

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच। (छान्दोग्य० ८ । ७ । १)

प्रजापतिने कहा—जो आत्मा पापरहित, जरा (बुढ़ापा) रहित, मृत्युरहित, शोकहीन, भूखसे रहित, प्याससे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प (इन आठ स्वभावगत गुणोंसे युक्त) है, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये। जो उसको खोजकर जान लेता है, वह सब लोकोंको और समस्त कामनाओंको प्राप्त हो जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

नीलरुद्रोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा्ँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

भगवान् नीलरुद्रकी महिमा और शिव-विष्णुकी एकता

भगवान् नीलकण्ठ! आपको हम अपने दिव्यधामसे नीचे पृथिवीपर अवतीर्ण होते देखते हैं। हम देखते हैं कि आप दुष्टोंका विनाश करते हुए अपने उग्र रुद्ररूपसे मयूर-पिच्छके समान गगनको ही मुकुट बनाये पृथिवीपर अवतीर्ण होते हैं और पृथिवीमें प्रतिष्ठित होते हैं; क्योंकि आप ही भूमिके अधीश्वर हैं। (तात्पर्य यह कि नीलकण्ठ भगवान् रुद्र अपने गगनव्यापी स्वरूपसे दिव्यधामसे पृथिवीपर अवतीर्ण होकर दुष्टोंका नाश करके पृथिवीकी रक्षा करते हैं। वे पृथिवीके अधिदेवता हैं। उनकी अष्टविध मूर्तियोंमें पृथिवी भी एक मूर्ति है। इस मन्त्रमें भगवान् शिवकी भूमिमयी मूर्तिका निर्देश है।)

लोगो! इन भगवान् नीलकण्ठको देखो, जिनका वर्ण अत्यन्त लाल है। ये प्राणियोंके जीवनस्वरूप हैं। ये भगवान् रुद्र जलमें निक्षिप्त ओषधियोंमें पधारकर पापोंका विनाश करते हैं। (जलमें ओषधियाँ डालकर उसके द्वारा अभिषेक करनेसे पापनाश होता है।) निश्चय ही तुम्हारे अकल्याणको नष्ट करनेके लिये और तुम्हारे अप्राप्त अभीष्टको प्राप्त करानेके लिये वे (योगक्षेमकारी ओषधियुक्त जलरूप भगवान् रुद्र) तुम्हारे समीप आयें। (इस मन्त्रमें भगवान् रुद्रकी जलमयी मूर्तिका निर्देश है।)

क्रोधस्वरूप भगवान् रुद्र! आपको नमस्कार। मन्यु (क्रोधावेश)-स्वरूप भगवान् भव! आपको नमस्कार। भगवान् नीलकण्ठ! आपकी दोनों भुजाओंको नमस्कार और आपके बाणको भी नमस्कार। कैलसवासी! आप पर्वतपर (संसारसे अलग) रहकर सबका मङ्गल करते हैं। भगवन्! जिस बाणको दुष्टोंपर फेंकनेके लिये आपने अपने हाथमें धारण किया है, गिरित्राता! उस बाणको हमारे लिये कल्याणकारी बनाइये। उसके द्वारा पुरुषों (हमारे स्वजनों) का वध मत कीजिये।

कैलासवासिन्! (अपनी) कल्याणमयी (पवित्र) वाणीके द्वारा हम आपके निर्मल गुणोंका वर्णन करते हैं। क्योंकि यों करनेसे हमारे लिये यह समस्त जगत् दुःख-रहित तथा अनुकूल हो जायगा। आपके जो बाण हैं, वे कल्याणमय हैं। आपका धनुष कल्याणकारी होता है। आपके धनुषकी प्रत्यञ्चा भी कल्याणरूपिणी है। हे मृड! हे मङ्गल-स्वरूप! इन सबके द्वारा आप हमें जीवन प्रदान करते हैं। (तात्पर्य यह कि भगवान् रुद्रका विनाशक रूप एवं विनाशके समस्त साधन भगवद्भक्तोंके लिये तथा जगत्के लिये नव-जीवनका विधान करनेके लिये हैं और वास्तविक रूपमें कल्याणस्वरूप हैं।)

भगवान् रुद्र! आप पर्वतपर रहकर सबका कल्याण करनेवाले हैं। आपका जो पापहारी अघोर (सौम्य) स्वरूप है, आप अपने उस कल्याणकारी स्वरूपके द्वारा हमें सब ओरसे प्रकाशित करें। अर्थात् हमारे सम्मुख सदा सब ओर आपका सौम्य मङ्गलमय स्वरूप ही रहे। ये जो आपकी ताम्रवर्ण, हल्की लाल, भूरी, अत्यन्त लाल तथा और भी सहस्रों रुद्रमूर्तियाँ (किरणें) चारों ओर दिशाओंमें व्याप्त हैं, निश्चय ही हम स्तुतिके लिये उनकी कामना करते हैं। (यहाँ अन्तमें भगवान् रुद्रके सूर्यस्वरूपका निर्देश है) ॥१॥

विलोहित (अधिक रक्तवर्ण) नीलकण्ठ भगवान्! हमने अवतार ग्रहण करते हुए आपको देखा है। आपको (उस अवताररूपमें) या तो गोपोंने देखा है या जल भरनेवाली गोपसुन्दरियोंने देखा है। योगियोंके लिये भी दुर्दर्श आपको (उस श्यामसुन्दर-स्वरूपमें) विश्वके समस्त प्राणियोंने देखा है। उस देखे हुए श्रीकृष्णस्वरूपधारी आपको नमस्कार। (यहाँ श्रुति भगवान् रुद्र एवं अवतार-विग्रहोंके एकत्वका निर्देश करती है।) मयूरपिच्छधारी (मयूर-मुकुटी)! आपको हम नमस्कार करते हैं। आप ही महान्

शक्तिशाली इन्द्र हैं। (देवराज इन्द्र नहीं, जो असुरोंसे पराजित होते हैं। यहाँ गोविन्दसे तात्पर्य है।) अथवा आप अपने भक्तोंके सामने हजारों (असंख्य) नेत्रोंसे सम्पन्न विराट्स्वरूपमें भी प्रकट होते हैं। और आपके इस (श्रीकृष्ण) स्वरूपके जो सत्त्वात्मक सहचर (गोपाल, गोपिकाएँ आदि) हैं, उन्हें हम नमस्कार करते हैं।

भगवन्! आपके शक्तिशाली किंतु इस समय प्रयुक्त न होनेवाले आयुधोंको अनेक नमस्कार! दोनों हाथ जोड़कर मैं आपके धनुषको नमस्कार करता हूँ। अपने और शत्रुके— इन दोनों पक्षोंके राजाओंके लिये आप अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाको उतार दीजिये। अर्थात् आप शान्तस्वरूप धारण कर लें और युद्धकी आशङ्का ही मिटा दें। भगवन्! आपके हाथमें जो बाण हैं, उन्हें लौटा लें—तूणीरमें रख लें। अर्थात् अपनी संहार-मूर्तिका त्याग करके अपने परम सौम्य शिवरूपमें मुझे दर्शन दें।

सहस्राक्ष, शिखण्डी, शत बाणोंके युगपत्संधानकर्ता! आप अपने धनुषको चढ़ाकर, अपने बाणोंके मुखोंको तीक्ष्ण करके हमारे कल्याण एवं सुखके लिये उन्हें धनुषपर चढ़ायें। (हमारे शत्रुओंके नष्ट होनेपर) आपका धनुष प्रत्यञ्चा-रहित हो। क्लेश देनेकी क्रिया छोड़कर बाण तूणीरमें रक्खे जायँ। आपके बाण, जो पर्वतोंको भी चूर्ण करनेवाले हैं, इस आपके निषङ्ग (तरकस) में प्रवेश करके कल्याणमय हों। आपके धनुषमें संधान किया हुआ बाण विश्वमें चारों ओरसे हमारी रक्षा करे। इस रक्षणके अनन्तर आप अपने उस बाणको अपने तूणीरमें रख दें। भक्तोंपर अत्यधिक कृपाकी वर्षा करनेवाले! आपके समीप जो अमोघ बाण है और आपके हाथमें जो धनुष है, उनके द्वारा आप चारों ओरसे हमारा परिपालन करें।

उन सर्पों (डसनेवाले जीवों) को नमस्कार, जो पृथिवीपर रहते हैं। जो आकाशमें रहते हैं और जो स्वर्गमें रहते हैं, उन सर्पों (कष्ट देनेवाली शक्तियों) को नमस्कार। जो प्रकाशमय लोकोंमें (ग्रहोंमें) रहते हैं तथा जो सूर्यकी किरणोंमें रहते हैं, जो इस जलमें रहनेवाले हैं, उन सब सर्पों (क्लेशदायिका शक्तियों) को नमस्कार। जो राक्षसोंके बाणके रूपमें हैं, जो वनस्पतियोंमें रहते हैं और जो गड्ढोंमें पड़े हैं, उन सब सर्पोंको नमस्कार। (इस मन्त्रमें सर्वत्र व्यापक भगवान् रुद्रके कालस्वरूपका निर्देश है।)

जो भगवान् शङ्कर अपने भक्तोंके लिये नीलकण्ठ स्वरूप धारण करते हैं, अर्थात् भक्तोंके कल्याणके लिये ही जिन्होंने हालाहल पान करके उसे चिह्नरूपमें अपने गलेमें धारण किया है, जो भगवान् अपने निज जनोंके लिये हरितवर्ण श्रीहरि रूप बन जाते हैं (यहाँ भगवान् शिव एवं भगवान् विष्णुका एकत्व प्रतिपादित है); हे ओषधियो! उन काली पूँछवाले (महिषरूपधारी भगवान् केदारेश्वर) के लिये शीघ्र अमोघ शक्तिसम्पन्न बनो; क्योंकि इससे तुम उन्हें संतुष्ट कर सकोगी।

वे पिङ्गलवर्ण एवं पिङ्गल कानोंवाले, नीलकण्ठधारी भगवान् शिव वही हैं, जिन सर्वस्वरूप, नीलशिखण्डधारी (सर्वव्यापक) भगवान् विरूपाक्ष भव (शङ्कर) के द्वारा देवताओंके ही नहीं, अपितु वाणीका प्रयोग करनेवाले— चेतन प्राणिमात्रके पिता ब्रह्माजी मारे गये। हे वीर! सर्वव्यापक स्वरूपसे उन्हें ही प्रत्येक कर्ममें (व्यापक एवं कर्मरूप) देखो। यह उन (भगवान् शङ्कर) के सम्बन्धमें पूछनेकी इच्छा (शङ्का) को छोड़ दो, जिसके द्वारा हम इस विश्वको उनसे विभक्त कर देते हैं—उनसे अलग भोग्य मान लेते हैं। अर्थात् इस विश्वको उन्हींका रूप मानना चाहिये। जगत्कारणस्वरूप भगवान् भवको नमस्कार, संहारकर्ता रुद्रको नमस्कार, जगत्का नाश करनेके लिये शत्रुरूप बने हुए प्रभुको नमस्कार, उन नीलशिखण्डधारी (गगनमुकुटी) को अथवा काले सींगोंवाले (महिषरूप केदारेश्वर नीलरुद्र) को नमस्कार तथा उन (दक्षकी) सभा (विवाहमण्डप) को सुशोभित करनेवाले कुमाररूप प्रभुको नमस्कार।

जिनसे घोड़े उत्पन्न हुए, खच्चर हुए तथा चारों ओर दौड़नेवाले गधे हुए, उन नीलशिखण्डधारी (महिषरूप केदारेश्वर नीलरुद्र) को नमस्कार। सभामण्डपकी शोभा बढ़ानेवाले उन भगवान्को नमस्कार, नमस्कार ॥ ३ ॥

॥ अथर्ववेदीय नीलरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

सरस्वतीरहस्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

दस बीजमन्त्रोंसे युक्त ऋग्वेदके मन्त्रोंसे सरस्वतीदेवीकी स्तुति, उसका फल; नाम-रूपके सम्बन्धसे ब्रह्मकी जगत्-स्वरूपता और समाधिका वर्णन

हरिः ॐ । कथा है कि एक समय ऋषियोंने भगवान् आश्वलायनकी विधिपूर्वक पूजा करके पूछा—"भगवन्! जिससे 'तत्' पदके अर्थभूत परमात्माका स्पष्ट बोध होता है, वह ज्ञान किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ? जिस देवताकी उपासनासे आपको तत्त्वका ज्ञान हुआ है, उसे बतलाइये ।" भगवान् आश्वलायन बोले—'मुनिवरो ! बीजमन्त्रसे युक्त दस ऋचाओंसहित सरस्वती-दशश्लोकीके द्वारा स्तुति और जप करके मैंने परासिद्धि प्राप्त की है ।' ऋषियोंने पूछा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर ! किस प्रकार और किस ध्यानसे आपको सारस्वत-मन्त्रकी प्राप्ति हुई है तथा जिससे भगवती महासरस्वती प्रसन्न हुई हैं, वह उपाय बतलाइये ।' तब वे प्रसिद्ध आश्वलायन मुनि बोले, 'इस श्री-सरस्वती-दशश्लोकी महामन्त्रका मैं आश्वलायन ही ऋषि हूँ, अनुष्टुप् छन्द है, श्रीवागीश्वरी देवता हैं, 'यद्वाग्' यह बीज है, 'देवीं वाचं' यह शक्ति है, 'प्र णो देवी' यह कीलक है, श्रीवागीश्वरी देवताके प्रीत्यर्थ इसका विनियोग है । श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, वाग्देवता तथा महासरस्वती—इन नाम-मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास किया जाता है । (जैसे, **ॐ श्रद्धायै नमो हृदयाय नमः, ॐ मेधायै नमः शिरसे स्वाहा, ॐ प्रज्ञायै नमः शिखायै वषट्, ॐ धारणायै नमः कवचाय हुम्, ॐ वाग्देवतायै नमो नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ महासरस्वत्यै नम अस्त्राय फट्** ।)

ध्यान

हिम, मुक्ताहार, कपूर तथा चन्द्रमाकी आभाके समान शुभ्र कान्तिवाली, कल्याण प्रदान करनेवाली, सुवर्णसदृश पीत चम्पक पुष्पोंकी मालासे विभूषित, उठे हुए सुपुष्ट कुचकुम्भोंसे मनोहर अङ्गवाली वाणी अर्थात् सरस्वतीदेवीको मैं, विभूति (अष्टविध ऐश्वर्य एवं निःश्रेयस)के लिये, मन और वाणी-द्वारा नमस्कार करता हूँ ।

'ॐ प्र णो देवी' इस मन्त्रके भरद्वाज ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, श्रीसरस्वती देवता हैं । **ॐ नमः**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग है । मन्त्रके द्वारा अङ्गन्यास होता है ।

'वस्तुतः वेदान्त-शास्त्रका अर्थभूत ब्रह्मतत्त्व ही एकमात्र जिनका स्वरूप है और जो नाना प्रकारके नाम-रूपोंमें व्यक्त हो रही हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें ।'

ॐ प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती धीनामविन्र्यवतु ॥ १ ॥

ॐ—दानसे शोभा पानेवाली, अन्नसे सम्पन्न तथा स्तुति करनेवाले उपासकोंकी रक्षा करनेवाली सरस्वतीदेवी हमें अन्नसे सुरक्षित करें (अर्थात् हमें अधिक अन्न प्रदान करें) ॥ १ ॥

'आ नो दिवः०' इस मन्त्रके अत्रि ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, ह्रीं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है।

अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग है। इसी मन्त्रके द्वारा अङ्गन्यास करे।

'अङ्गों और उपाङ्गोंके सहित चारों वेदोंमें जिन एक ही देवताका स्तुति-गान होता है, जो ब्रह्मकी अद्वैत-शक्ति हैं; वे सरस्वतीदेवी हमारी रक्षा करें।'

'ह्रीं' आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा
सरस्वती यजता. गन्तु यज्ञम्।
हवं देवो जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु॥ २॥

ह्रीं–हम लोगोंके द्वारा यष्टव्य सरस्वती देवी प्रकाशमय द्युलोकसे उतरकर महान् पर्वताकार मेघोंके बीचमें होती हुई हमारे यज्ञमें आगमन करें। हमारी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वे देवी स्वेच्छापूर्वक हमारे सम्पूर्ण सुखकर स्तोत्रोंको सुनें॥२॥

'पावका नः' इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं; 'श्रीं' यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। इष्टार्थसिद्धिके लिये इस मन्त्रका विनियोग है। मन्त्रके द्वारा ही अङ्गन्यास करे।

'जो वस्तुतः वर्ण, पद, वाक्य—तथा इनके अर्थोंके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं; जिनका आदि और अन्त नहीं है, जो अनन्त स्वरूपवाली हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'श्रीं' पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः॥ ३॥

श्रीं–जो सबको पवित्र करनेवाली, अन्नसे सम्पन्न तथा कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाली धनकी उपलब्धिमें कारण हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारे यज्ञमें पधारनेकी कामना करें (अर्थात् यज्ञमें पधारकर उसे पूर्ण करनेमें सहायक बनें॥ ३॥

'चोदयित्री०' इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं। **'ब्लूं'**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है; अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये विनियोग है। मन्त्रके द्वारा ही न्यास करे।

'जो अध्यात्म और अधिदैवरूपा हैं तथा जो देवताओंकी सम्यक् ईश्वरी अर्थात् प्रेरणात्मिका शक्ति हैं, जो हमारे भीतर मध्यमा वाणीके रूपमें स्थित हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ब्लूं' चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां यज्ञं दधे सरस्वती॥ ४॥

ब्लूं—जो प्रिय एवं सत्य वचन बोलनेके लिये प्रेरणा देनेवाली तथा उत्तम बुद्धिवाले क्रियापरायण पुरुषोंको उनका कर्तव्य सुझाती हुई सचेत करनेवाली हैं; उन सरस्वतीदेवीने इस यज्ञको धारण किया है॥ ४॥

'महो अर्णः'—इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है; सरस्वती देवता हैं, 'सौः'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो अन्तर्यामीरूपसे समस्त त्रिलोकीका नियन्त्रण करती हैं, जो रुद्र-आदित्य आदि देवताओंके रूपमें स्थित हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारी रक्षा करें।'

'सौः' महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति॥ ५॥

सौः—(इस मन्त्रमें नदीरूपा सरस्वतीका स्तवन किया गया है) नदीरूपमें प्रकट हुई सरस्वतीदेवी अपने प्रवाहरूप कर्मके द्वारा अपनी अगाध जलराशिका परिचय देती हैं। और ये ही अपने देवतारूपसे सब प्रकारकी कर्तव्यविषयक बुद्धिको उद्दीप्त (जाग्रत्) करती हैं॥ ५॥

'चत्वारि वाक्०'—इस मन्त्रके उचथ्यपुत्र दीर्घतमा ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, ऐं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। (इष्टसिद्धिके लिये विनियोग है।) मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो अन्तर्दृष्टिवाले प्राणियोंके लिये नाना प्रकारके रूपोंमें व्यक्त होकर अनुभूत हो रही हैं। जो सर्वत्र एकमात्र ज्ञप्ति—बोधरूपसे व्याप्त हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ऐं' चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ६॥

ऐं—वाणीके चार पद हैं अर्थात् समस्त वाणी चार भागोंमें विभक्त है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इन सबको मनीषी—विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। इनमेंसे तीन—परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो हृदयगुहामें स्थित हैं; अतः वे बाहर प्रकट नहीं होतीं। परंतु जो चौथी वाणी वैखरी है, उसे ही मनुष्य बोलते हैं। (इस प्रकार यहाँ वाणीरूपमें सरस्वतीदेवीकी स्तुति है)॥ ६॥

'यद्वाग्वदन्ति०' इस मन्त्रके भार्गव ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं। **क्लीं**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो नाम-जाति आदि भेदोंसे अष्टधा विकल्पित हो रही हैं तथा साथ ही निर्विकल्पस्वरूपमें भी व्यक्त हो रही हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'क्लीं' यद् वाग्वदन्त्यविचेतनानि
राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि
क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥ ७॥

क्लीं—राष्ट्री अर्थात् दिव्यभावको प्रकाशित करनेवाली तथा देवताओंको आनन्दमग्न कर देनेवाली देवी वाणी जिस समय अज्ञानियोंको ज्ञान देती हुई यज्ञमें आसीन (विराजमान) होती हैं, उस समय वे चारों दिशाओंके लिये अन्न और जलका दोहन करती हैं। इन मध्यमा वाक्में जो श्रेष्ठ है, वह कहाँ जाता है ?॥ ७॥

'देवीं वाचं' इस मन्त्रके भार्गव ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं; 'सौः'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'व्यक्त और अव्यक्त वाणीवाले देवादि समस्त प्राणी जिनका उच्चारण करते हैं, जो सब अभीष्ट वस्तुओंको दुग्धके रूपमें प्रदान करनेवाली कामधेनु हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'सौः' देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां
विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ८॥

सौः—प्राणरूप देवोंने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणीको उत्पन्न किया, उसको अनेक प्रकारके प्राणी बोलते हैं। वे कामधेनुतुल्य आनन्ददायक तथा अन्न और बल देनेवाली वाग्रूपिणी भगवती उत्तम स्तुतियोंसे सन्तुष्ट होकर हमारे समीप आयें॥ ८॥

'उत त्वः०' इस मन्त्रके बृहस्पति ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं; 'सं'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। (विनियोग पूर्ववत् है) मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जिनको ब्रह्मविद्यारूपसे जानकर योगी सारे बन्धनोंको नष्ट कर डालते और पूर्ण मार्गके द्वारा परम पदको प्राप्त होते हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'सं' उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ९॥

सं—कोई-कोई वाणीको देखते हुए भी नहीं देखता (समझकर भी नहीं समझ पाता), कोई इन्हें सुनकर भी नहीं सुन पाता; किंतु किसी-किसीके लिये तो ये वाग्देवी अपने स्वरूपको उसी प्रकार प्रकट कर देती हैं, जैसे पतिकी कामना करनेवाली सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित भार्या अपनेको पतिके समक्ष अनावृतरूपमें उपस्थित करती है॥ ९॥

अम्बितमे—इस मन्त्रके गृत्समद ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं; ऐं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'ब्रह्मज्ञानीलोग इस नाम-रूपात्मक अखिल प्रपञ्चको जिनमें आविष्टकर पुनः उनका ध्यान करते हैं, वे एकमात्र ब्रह्मस्वरूपा सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ऐं' अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥ १०॥

ऐं—(परम कल्याणमयी)—माताओंमें सर्वश्रेष्ठ, नदियोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा देवियोंमें सर्वश्रेष्ठ हे सरस्वती देवी! धनाभावके कारण हम अप्रशस्त (निन्दित)-से हो रहे हैं, मा! हमें प्रशस्ति (धन-समृद्धि) प्रदान करो॥ १०॥

जो ब्रह्माजीके मुखरूपी कमलोंके वनमें विचरनेवाली राजहंसी हैं, वे सब ओरसे श्वेत कान्तिवाली सरस्वतीदेवी हमारे मनरूपी मानसमें नित्य विहार करें। हे काश्मीरपुरमें निवास करनेवाली शारदादेवी! तुम्हें नमस्कार है। मैं नित्य तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। मुझे विद्या (ज्ञान) प्रदान करो। अपने चार हाथोंमें अक्षसूत्र, अङ्कुश, पाश और पुस्तक धारण करनेवाली तथा मुक्ताहारसे सुशोभित सरस्वती देवी मेरी वाणीमें सदा निवास करें। शङ्खके समान सुन्दर कण्ठ एवं सुन्दर लाल ओठोंवाली, सब प्रकारके भूषणोंसे विभूषिता महासरस्वती देवी मेरी जिह्वाके अग्रभागमें सुखपूर्वक विराजमान हों। जो ब्रह्माजीकी प्रियतमा सरस्वतीदेवी श्रद्धा, धारणा और मेधा-स्वरूपा हैं, वे भक्तोंके जिह्वाग्रमें निवासकर शम-दमादि गुणोंको प्रदान करती हैं। जिनके केश-पाश चन्द्रकलासे अलङ्कृत हैं तथा जो भव-संतापको शमन करनेवाली सुधा-नदी हैं, उन सरस्वतीरूपा भवानीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिसको कवित्व, निर्भयता, भोग और मुक्तिकी इच्छा हो, वह इन दस मन्त्रोंके द्वारा सरस्वतीदेवीकी भक्तिपूर्वक अर्चना करके स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धापूर्वक सरस्वतीदेवीकी विधिपूर्वक अर्चना करके नित्य स्तवन करनेवाले भक्तको छः महीनेके भीतर ही उनकी कृपाकी प्रतीति हो जाती है। तदनन्तर उसके मुखसे अनुपम अप्रमेय गद्य-पद्यात्मक शब्दोंके रूपमें ललित अक्षरोंवाली वाणी स्वयमेव निकलने लगती है। प्रायः सरस्वतीका भक्त कवि बिना दूसरोंसे सुने हुए ही ग्रन्थोंके अभिप्रायको समझ लेता है। ब्राह्मणो! इस प्रकारका निश्चय सरस्वती देवीने अपने श्रीमुखसे ही प्रकट किया था। ब्रह्माके

द्वारा ही मैंने सनातनी आत्मविद्याको प्राप्त किया और सत्-चित्-आनन्दरूपसे मुझे नित्य ब्रह्मत्व प्राप्त है ॥ १-११ ॥

तदनन्तर सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साम्यसे प्रकृतिकी सृष्टि हुई । दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान प्रकृतिमें पड़ी चेतनकी छाया ही सत्यवत् प्रतीत होती है । उस चेतनकी छायासे प्रकृति तीन प्रकारकी प्रतीत होती है; प्रकृतिके द्वारा अवच्छिन्न होनेके कारण ही तुम्हें जीवत्व प्राप्त हुआ है । शुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति माया कहलाती है । उस शुद्ध सत्त्वप्रधाना मायामें प्रतिबिम्बित चेतन ही अज (ब्रह्मा) कहा गया है । वह माया सर्वज्ञ ईश्वरकी अपने अधीन रहनेवाली उपाधि है । मायाको वशमें रखना, एक (अद्वितीय) होना और सर्वज्ञत्व—ये उन ईश्वरके लक्षण हैं । सात्त्विक, समष्टिरूप तथा सब लोकोंके साक्षी होनेके कारण वे ईश्वर जगत्की सृष्टि करने, न करने तथा अन्यथा करनेमें समर्थ हैं । इस प्रकार सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त वह चेतन ईश्वर कहलाता है । मायाकी दो शक्तियाँ हैं—विक्षेप और आवरण । विक्षेप-शक्ति लिङ्ग-शरीरसे लेकर ब्रह्माण्डतकके जगत्की सृष्टि करती है । दूसरी आवरण-शक्ति है, जो भीतर द्रष्टा और दृश्यके भेदको तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत करती है । वही संसार-बन्धनका कारण है, साक्षीको वह अपने सामने लिङ्ग-शरीरसे युक्त प्रतीत होती है । कारणरूपा प्रकृतिमें चेतनकी छायाका समावेश होनेसे व्यावहारिक जगत्‌में कार्य करनेवाला जीव प्रकट होता है । उसका यह जीवत्व आरोपवश साक्षीमें भी आभासित होता है । आवरण-शक्तिके नष्ट होनेपर भेदकी स्पष्ट प्रतीति होने लगती है (इससे चेतनका जडमें आत्मभाव नहीं रहता, अतः) जीवत्व चला जाता है । तथा जो शक्ति सृष्टि और ब्रह्मके भेदको आवृत करके स्थित होती है, उसके वशीभूत हुआ ब्रह्म विकारको प्राप्त हुआ-सा भासित होता है; वहाँ भी आवरणके नष्ट होनेपर ब्रह्म और सृष्टिका भेद स्पष्टरूपसे प्रतीत होने लगता है । उन दोनोंमेंसे सृष्टिमें ही विकारकी स्थिति होती है, ब्रह्ममें नहीं । अस्ति (है), भाति (प्रतीत होता है), प्रिय (आनन्दमय), रूप और नाम—ये पाँच अंश हैं । इनमें अस्ति, भाति और प्रिय—ये तीनों ब्रह्मके स्वरूप हैं तथा नाम और रूप—ये दोनों जगत्के स्वरूप हैं । इन दोनों—नाम-रूपोंके सम्बन्धसे ही सच्चिदानन्द परब्रह्म जगत्-रूप बनता है ॥ १२—२४ ॥

साधकको हृदयमें अथवा बाहर सर्वदा समाधि-साधन करना चाहिये । हृदयमें दो प्रकारकी समाधि होती है—सविकल्प और निर्विकल्परूप । सविकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—एक दृश्यानुविद्ध और दूसरी शब्दानुविद्ध । चित्तमें उत्पन्न होने-वाले कामादि विकार दृश्य हैं तथा चेतन आत्मा उनका साक्षी है—इस प्रकार ध्यान करना चाहिये । यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है । मैं असङ्ग, सच्चिदानन्द, स्वयम्प्रकाश, अद्वैतस्वरूप हूँ—इस प्रकारकी सविकल्प समाधि शब्दानुविद्ध कहलाती है । आत्मानुभूति-रसके आवेशवश दृश्य और शब्दादिकी उपेक्षा करनेवाले साधकके हृदयमें निर्विकल्प समाधि होती है । उस समय योगीकी स्थिति वायुशून्य प्रदेशमें रक्खे हुए दीपककी भाँति अविचल होती है । यह हृदयमें होनेवाली निर्विकल्प और सविकल्प समाधि है । इसी तरह बाह्य-देशमें भी जिस-किसी वस्तुको लक्ष्य करके चित्त एकाग्र हो जाता है, उसमें समाधि लग जाती है । पहली समाधि द्रष्टा और दृश्यके विवेकसे होती है; दूसरी प्रकारकी समाधि वह है, जिसमें प्रत्येक वस्तुसे उसके नाम और रूपको पृथक् करके उसके अधिष्ठानभूत चेतनका चिन्तन होता है । और तीसरी समाधि पूर्ववत् है, जिसमें सर्वत्र व्यापक चैतन्य-रसानुभूतिजनित आवेशसे स्तब्धता छा जाती है । इन छः प्रकारकी समाधियोंके साधनमें ही निरन्तर अपना समय व्यतीत करे । देहाभिमानके नष्ट हो जाने और परमात्म-ज्ञान होनेपर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं परम अमृतत्वका अनुभव होता है । हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उस निष्कल और सकल ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर विद्वान् पुरुषके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं । 'मुझमें जीवत्व और ईश्वरत्व कल्पित हैं, वास्तविक नहीं' इस प्रकार जो जानता है, वह मुक्त है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २५—३३ ॥

॥ ऋग्वेदीय सरस्वतीरहस्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

देव्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवीकी ब्रह्मस्वरूपता; देवताओंद्वारा देवीकी स्तुति; देवी-महिमा और इसके पाठका फल

सभी देवता, देवीके समीप जाकर, प्रार्थना करने लगे—'महादेवि ! तुम कौन हो ?' ॥ १ ॥

उन्होंने कहा—'मैं ब्रह्मस्वरूपा हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक कारणरूप और कार्यरूप जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द और अनानन्दरूपा हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। अवश्य जाननेयोग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ। वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं, अजा और अनजा (प्रकृति और उससे भिन्न) भी मैं हूँ; नीचे-ऊपर, अगल-बगल भी मैं ही हूँ। मैं रुद्रों और वसुओंके रूपमें सञ्चार करती हूँ। मैं आदित्यों और विश्वेदेवोंके रूपोंमें फिरा करती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनोंका, इन्द्र एवं अग्निका और दोनों अश्विनीकुमारोंका भरण-पोषण करती हूँ। मैं सोम, त्वष्टा, पूषा और भगको धारण करती हूँ। त्रैलोक्यको आक्रान्त करनेके लिये विस्तीर्ण पादक्षेप करनेवाले विष्णु, ब्रह्मदेव और प्रजापतिको मैं ही धारण करती हूँ। देवोंको हवि पहुँचानेवाले और सावधानीसे सोमरस निकालनेवाले यजमानके लिये हविर्द्रव्योंसे युक्त धनको धारण करती हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी, उपासकोंको धन देनेवाली, ज्ञानवती और यज्ञार्होंमें (यजन करने योग्य देवोंमें) मुख्य हूँ। मैं ही इस जगत्के पितारूप आकाशको सर्वाधिष्ठानस्वरूप परमात्माके ऊपर उत्पन्न करती हूँ। मेरा स्थान आत्मस्वरूपको धारण करनेवाली बुद्धिवृत्तिमें है। जो इस प्रकार जानता है, वह दैवी-सम्पत्ति लाभ करता है' ॥ २—७ ॥

तब उन देवोंने कहा—'देवीको नमस्कार है। बड़े-बड़ोंको अपने-अपने कर्तव्यमें प्रवृत्त करनेवाली कल्याणकर्त्री महादेवीको सदा नमस्कार है। गुण-साम्यावस्थारूपिणी मङ्गलमयी देवीको नमस्कार है। नियमयुक्त होकर हम उन्हें प्रणाम करते हैं। उन अग्निके-से वर्णवाली, ज्ञानसे जगमगानेवाली, दीप्तिमती, कर्मफलप्राप्तिके हेतु सेवन की जानेवाली दुर्गा-देवीकी हम शरणमें हैं। असुरोंका नाश करनेवाली देवि ! तुम्हें नमस्कार है। प्राणरूप देवोंने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणीको उत्पन्न किया, उसको अनेक प्रकारके प्राणी बोलते हैं। वे कामधेनु-तुल्य आनन्ददायक और अन्न तथा बल देनेवाली वाग्रूपिणी भगवती उत्तम स्तुतिसे संतुष्ट होकर हमारे समीप आयें। कालका भी नाश करनेवाली, वेदोंद्वारा स्तुत विष्णुशक्ति, स्कन्दमाता (शिवशक्ति), सरस्वती (ब्रह्मशक्ति), देवमाता अदिति और दक्ष-कन्या (सती), पापनाशिनी एवं कल्याणकारिणी भगवतीको हम प्रणाम करते हैं। हम महालक्ष्मीको जानते हैं और उन सर्वशक्तिरूपिणीका ही ध्यान करते हैं। वे देवी हमें उस विषयमें (ज्ञान-ध्यानमें) प्रवृत्त करें। हे दक्ष ! आपकी जो कन्या अदिति हैं, वे प्रसूता हुई और

उनके स्तुत्यर्ह और मृत्युरहित देवता उत्पन्न हुए। काम (क), योनि (ए), कमला (ई), वज्रपाणि—इन्द्र (ल), गुहा (ह्रीं)। ह, स—वर्ण, मातरिश्वा—वायु (क), अभ्र (ह), इन्द्र (ल), पुनः गुहा (ह्रीं)। स, क, ल—वर्ण, और माया (ह्रीं), यह सर्वात्मिका जगन्माताकी मूल विद्या है और यह ब्रह्मरूपिणी है। (शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा, अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली, सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी—यही इस मन्त्रका भावार्थ है। यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मुकुटमणि है और मन्त्रशास्त्रमें पञ्चदशी कादि श्रीविद्याके नामसे प्रसिद्ध है। इसके छः प्रकारके अर्थ अर्थात् भावार्थ, वाच्यार्थ, सम्प्रदायार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और तत्त्वार्थ 'नित्या-षोडशिकार्णव' ग्रन्थमें बताये गये हैं। इसी प्रकार 'वरिवस्यारहस्य' आदि ग्रन्थोंमें इसके और भी अनेक अर्थ दरसाये हैं। श्रुतिमें भी ये मन्त्र इस प्रकारसे अर्थात् क्वचित् स्वरूपोच्चार, क्वचित् लक्षणा और लक्षित लक्षणासे और कहीं वर्णके पृथक्-पृथक् अवयव दरसाकर जान-बूझकर विशृङ्खलरूपसे कहे गये हैं। इससे यह मालूम होगा कि ये मन्त्र कितने गोपनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।) ये परमात्माकी शक्ति हैं। ये विश्वमोहिनी हैं। पाश, अङ्कुश, धनुष और बाण धारण करनेवाली हैं। ये 'श्रीमहाविद्या' हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह शोकको पार कर जाता है। भगवती ! तुम्हें नमस्कार है। माता ! सब प्रकारसे हमारी रक्षा करो ॥ ८—१६ ॥

(मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—) वही ये अष्ट वसु हैं; वही ये एकादश रुद्र हैं; वही ये द्वादश आदित्य हैं; वही ये सोमपान करनेवाले और न करनेवाले विश्वेदेव हैं; वही ये यातुधान (एक प्रकारके राक्षस), असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं; वही ये सत्त्व-रज-तम हैं; वही ये ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूपिणी हैं; वही ये प्रजापति-इन्द्र-मनु हैं; वही ये ग्रह, नक्षत्र और तारे हैं; वही कला-काष्ठादि कालरूपिणी हैं; पापका नाश करनेवाली, भोग-मोक्ष देनेवाली, अन्तरहित, विजयाधिष्ठात्री, निर्दोष, शरण लेने योग्य, कल्याणदात्री और मङ्गलरूपिणी उन देवीको हम सदा प्रणाम करते हैं। वियत्—आकाश (ह) तथा 'ई' कारसे युक्त, वीतिहोत्र—अग्नि (र) सहित, अर्धचन्द्र (ँ) से अलंकृत जो देवीका बीज (ह्रीं) है, वह सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है। इस एकाक्षर ब्रह्मका ऐसे यति ध्यान करते हैं, जिनका चित्त शुद्ध है, जो निरतिशयानन्दपूर्ण हैं और जो ज्ञानके सागर हैं। (यह मन्त्र देवीप्रणव माना जाता है। ॐकारके समान ही यह प्रणव भी व्यापक अर्थसे भरा है। संक्षेपमें इसका अर्थ इच्छा-ज्ञान-क्रियाधार, अद्वैत, अखण्ड, सच्चिदानन्द समरसीभूत शिव-शक्ति-स्फुरण है।) वाणी (ऐं), माया (ह्रीं), ब्रह्मसू—काम (क्लीं), इसके आगे वक्त्र अर्थात् आकारसे युक्त छठा व्यञ्जन (चा), 'अवाम श्रोत्र'—दक्षिण कर्ण (उ) और विन्दु अर्थात् अनुस्वारसे युक्त सूर्य (मुं), नारायण अर्थात् 'आ'से युक्त टकारसे तीसरा वर्ण (डा), अधर अर्थात् 'ऐ'से युक्त वायु (यै) और 'विच्चे'—यह नवार्णमन्त्र उपासकोंको आनन्द और ब्रह्मसायुज्य देनेवाला है। (इस मन्त्रका अर्थ—हे चित्स्वरूपिणी महासरस्वती! हे सद्रूपिणी महालक्ष्मी! हे आनन्दरूपिणी महाकाली! ब्रह्मविद्या पानेके लिये हम सब समय तुम्हारा ध्यान करते हैं। हे महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वतीस्वरूपिणी चण्डिके ! तुम्हें नमस्कार है। अविद्यारूप रज्जुकी दृढ़ ग्रन्थिको खोलकर मुझे मुक्त करो।) जो हृदयरूप कमलके मध्यमें रहती हैं, प्रातःकालीन सूर्यके समान जिनकी प्रभा है, जो पाश और अङ्कुश धारण किये रहती हैं, जिनका मनोहर रूप है, जिनके हाथ वरद और अभय मुद्राओंसे युक्त हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो लाल वस्त्र पहने रहती हैं और भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करती हैं, उन देवीको मैं भजता हूँ। महाभयका नाश करनेवाली, महासङ्कटको शान्त करनेवाली और महान् करुणाकी साक्षात् मूर्ति तुम महादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका स्वरूप ब्रह्मादिक भी नहीं जानते—इसलिये जिन्हें अज्ञेया कहते हैं, जिनका अन्त नहीं मिलता—इसलिये जिन्हें अनन्ता कहते हैं, जिनका स्वरूप देख नहीं पड़ता—इसलिये जिन्हें अलक्ष्या कहते हैं, जिनका जन्म समझमें नहीं आता—इसलिये जिन्हें अजा कहते हैं, जो अकेली ही सर्वत्र हैं—इसलिये जिन्हें एका कहते हैं, जो अकेली ही विश्वरूपमें सजी हुई हैं—इसलिये जिन्हें नैका कहते हैं, वे इसीलिये अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और नैका कहाती हैं। सब मन्त्रोंमें 'मातृका'—मूलाक्षररूपसे रहनेवाली, शब्दोंमें अर्थरूपसे रहनेवाली ज्ञानोंमें 'चिन्मयातीता', शून्योंमें 'शून्यसाक्षिणी' तथा जिनसे और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, वे दुर्गा नामसे प्रसिद्ध हैं। उन दुर्विज्ञेया, दुराचारनाशिनी और संसार-सागरसे तारनेवाली दुर्गादेवीको संसारसे डरा हुआ मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७—२५ ॥

इस अथर्वशीर्षका जो अध्ययन करता है, उसे पाँचों अथर्वशीर्षोंके जपका फल प्राप्त होता है। इस अथर्वशीर्षको न जानकर जो प्रतिमास्थापन करता है, वह सैकड़ों लाख जप करके भी अर्चासिद्धि नहीं प्राप्त करता। अष्टोत्तरशत (१०८ बार) जप (इत्यादि) इसकी पुरश्चरणविधि है। जो इसका दस बार पाठ करता है, वह उसी क्षण पापोंसे मुक्त हो जाता है और महादेवीके प्रसादसे बड़े दुस्तर संकटोंको पार कर जाता है। इसका सायंकालमें अध्ययन करनेवाला दिनमें किये हुए पापोंका नाश करता है, प्रातःकालमें अध्ययन करनेवाला रात्रिमें किये हुए पापोंका नाश करता है, दोनों समय अध्ययन करनेवाला पहलेका पापी भी निष्पाप होता है। मध्यरात्रिमें तुरीय* सन्ध्याके समय जप करनेसे वाक्सिद्धि प्राप्त होती है। नयी प्रतिमापर जप करनेसे देवताका सान्निध्य प्राप्त होता है। भौमाश्विनी (अमृतसिद्धि) योगमें महादेवीकी सन्निधिमें जप करनेसे महामृत्युसे तर जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह महामृत्युसे तर जाता है। इस प्रकार यह अविद्यानाशिनी ब्रह्मविद्या है॥ २६॥

॥ अथर्ववेदीय देव्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सब ब्रह्म है

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।

(छान्दोग्य ३।१४।१)

यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्मसे ही जगत् उत्पन्न होता है, ब्रह्ममें ही विलीन होता है और ब्रह्ममें ही चेष्टा करता है। शान्त (संयत) होकर ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। पुरुष कर्ममय है। इस लोकमें जैसा कुछ कर्म करता है, मरनेके बाद परलोकमें वह वैसा ही होता है। इसलिये सत्कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये।

* श्रीविद्याके उपासकोंके लिये चार सन्ध्याएँ आवश्यक हैं। इनमें तुरीय-सन्ध्या मध्यरात्रिमें होती है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय
बह्वृचोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवीसे सबकी उत्पत्ति और देवीकी ब्रह्मरूपता

हरिः ॐ । एकमात्र देवी ही सृष्टिसे पूर्व थीं, उन्होंने ब्रह्माण्डकी सृष्टि की । वे कामकलाके नामसे विख्यात हैं; वे ही शृङ्गारकला कहलाती हैं । उन्हींसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए । उन्हींसे समस्त मरुद्गण उत्पन्न हुए । उन्हींसे गानेवाले गन्धर्व, नाचनेवाली अप्सराएँ और वाद्य बजानेवाले किन्नर सब ओर उत्पन्न हुए । उन्हींसे भोग-सामग्री उत्पन्न हुई, सब कुछ उत्पन्न हुआ, सब कुछ शक्तिसे ही उत्पन्न हुआ । अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज तथा जरायुज—जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उनकी तथा मनुष्यकी सृष्टि भी उन्हींसे हुई । वे ही अपरा शक्ति हैं, वे ही ये शाम्भवी विद्या, कादि विद्या, हादि विद्या या सादि विद्या कहलाती हैं; वे ही रहस्यरूपा हैं । वे ही प्रणववाच्य अक्षर तत्त्व हैं, ॐ अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूपा वे वाणीमात्रमें प्रतिष्ठित हैं । वे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों पुरों तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंको व्याप्तकर बाहर और भीतर प्रकाश फैला रही हैं । देश, काल और वस्तुके भीतर असङ्ग होकर रहती हुई वे महात्रिपुरसुन्दरी प्रत्यक्चेतना हैं । वे ही आत्मा हैं; उनके अतिरिक्त सब असत्य है, अनात्मा है । ये ब्रह्मविद्या हैं, भावाभाव-कलासे विनिर्मुक्त चिन्मयी विद्या-शक्ति हैं तथा अद्वितीय ब्रह्मका बोध करानेवाली हैं । वे सत्, चित् और आनन्दरूप लहरोंवाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाहर और भीतर प्रविष्ट होकर स्वयं अकेली ही विराजमान हो रही हैं । उनके अस्ति, भाति और प्रिय—इन तीन रूपोंमें जो अस्ति है, वह सन्मात्रका बोधक है । जो भाति है, वह चिन्मात्र है और जो प्रिय है, वह आनन्द है । इस प्रकार सब आकारोंमें श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विराजमान हैं; तुम और मैं, सारा विश्व और सारे देवता तथा अन्य सब कुछ श्रीमहात्रिपुर-सुन्दरी ही हैं । ललिता नामकी वस्तु ही एकमात्र सत्य है; वही अद्वितीय, अखण्ड परब्रह्म-तत्त्व है । पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूपके परित्यागसे तथा अपने स्वरूपके अपरित्यागसे अधिष्ठानरूप जो एक सत्ता बच रहती है, वही महान् परम तत्त्व है ॥ १ ॥

उसीको 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है' अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि वाक्योंसे प्रकट किया जाता है । 'वह तू है' इत्यादि वाक्योंसे उसीका कथन किया जाता है । 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'ब्रह्म ही मैं हूँ', 'जो मैं हूँ', 'वह मैं हूँ', 'जो वह है, सो मैं हूँ'—इत्यादि श्रुतिवाक्योंके द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे यही षोडशी श्रीविद्या हैं । वही पञ्चदशाक्षर मन्त्रवाली श्रीमहात्रिपुर-सुन्दरी, बाला, अम्बिका, बगला, मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, तिरस्करिणी, राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्मानन्दकला इत्यादि नामोंसे अभिहित होती हैं । ऋचाएँ एक अविनाशी परम आकाशमें प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सारे देवता भलीभाँति निवास करते हैं; उसको जानने-का प्रयत्न जिसने नहीं किया, वह ऋचाओंके अध्ययनसे क्या कर सकता है । निश्चय ही उसको जो जान लेते हैं, वे ही उसमें सदाके लिये स्थित हो जाते हैं ।

॥ ऋग्वेदीय बह्वृचोपनिषद् समाप्त ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

श्रीमहालक्ष्मीका श्रीसूक्तके अनुसार ध्यान, न्यास, पूजन और यन्त्रकी विधि

हरिः ॐ। एक समय देवताओंने भगवान् आदिनारायणसे कहा—'भगवन् ! हमारे लिये सौभाग्यलक्ष्मी-विद्याका उपदेश कीजिये।' भगवान्ने कहा—'बहुत अच्छा, आप सब देवगण एकाग्रचित्त होकर सुनें। जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीयस्वरूपा हैं—नहीं-नहीं, तुरीयसे भी अतीत अर्थात् निर्गुणस्वरूपा हैं, सबसे बढ़कर उत्कट अर्थात् भयङ्कर रूपवाली हैं, तथा जो सभी मन्त्रोंको आसन बनाकर उनपर विराजमान हैं, पीठों और उपपीठोंमें प्रतिष्ठित देवताओंसे आवृत हैं, चार भुजाओंसे युक्त हैं—उन श्री अर्थात् लक्ष्मीदेवीका **'हिरण्यवर्णाम्०'** इत्यादि श्रीसूक्तकी पञ्चदश ऋचाओंके द्वारा ध्यान करें।

उक्त पञ्चदश ऋचाओंवाले श्रीसूक्तके इन्दिरा, आनन्द, कर्दम और चिक्लीत ऋषि हैं। श्री अर्थात् इन्दिरा प्रथम मन्त्रकी ऋषि हैं तथा आनन्द, कर्दम और चिक्लीत शेष चतुर्दश मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। ये तीनों इन्दिरा (लक्ष्मी) के पुत्र हैं। **'हिरण्यवर्णाम्०'** आदि प्रथम तीन ऋचाओंका अनुष्टुप् छन्द है, **'कां सोस्मि०'** इस ऋचाका बृहती छन्द है, उसके आगेकी दो ऋचाओंका त्रिष्टुप् छन्द है, उनसे अगले आठ मन्त्रोंका अनुष्टुप् छन्द है। शेष मन्त्रोंका छन्द है प्रस्तारपङ्क्ति। श्री और अग्नि इन ऋचाओंके देवता हैं, **'हिरण्यवर्णाम्'** यह बीज है, **'कां सोस्मि'** यह शक्ति है। हिरण्मयी, चन्द्रा, रजतस्रजा, हिरण्यस्रजा, हिरण्या, हिरण्यवर्णा—इन नामोंको चतुर्थी विभक्तिमें रखकर आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः बोलकर अङ्गन्यास करे। जैसे—

ॐ हिरण्मय्यै नमः हृदयाय नमः। ॐ चन्द्रायै नमः शिरसे स्वाहा। ॐ रजतस्रजायै नमः शिखायै वषट्। ॐ हिरण्यस्रजायै नमः कवचाय हुम्। ॐ हिरण्यायै नमः नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ हिरण्यवर्णायै नमः अस्त्राय फट्।

—पश्चात् श्रीसूक्तके मन्त्रोंसे अङ्गन्यास करे। सिर, नेत्र, कर्ण, नासिका, मुख, कण्ठ, दोनों भुजाएँ, हृदय, नाभि, लिङ्ग, गुदा, ऊरु (जाँघ), जानु, जङ्घा (पिंडली)—इन स्थानोंमें श्रीसूक्तके मन्त्रोंसे क्रमशः न्यास करे। इसके बाद निम्नलिखित मन्त्रके अनुसार ध्यान करे—

अरुणकमलसंस्था तद्रजःपुञ्जवर्णा
करकमलधृतेष्टाभीतियुग्माम्बुजा च ।
मणिकटकविचित्राऽऽलङ्कृताऽऽकल्पजालैः
सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै नः ॥

अर्थात् हल्के लाल (गुलाबी) रंगके कमलदलपर बैठी हुई, कमल-परागकी राशिके समान पीत वर्णवाली, चारों हाथोंमें क्रमशः वर-मुद्रा, अभय-मुद्रा और दो कमल-पुष्प धारण किये हुए, मणिमय कड़ोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाली और अलङ्कारसमूहोंसे अलङ्कृत, समस्त लोकोंकी जननी श्रीमहालक्ष्मीदेवी निरन्तर हमें श्रीसम्पन्न करें ॥ १ ॥

(तत्पश्चात् यन्त्र लिखकर उसकी पूजा करे। यन्त्रके कर्णिकावृत्तके ऊपर अष्टदल, उसपर द्वादशदल तथा द्वादशदलके ऊपर षोडशदल बनाकर तीनोंको एक-एक वृत्तसे घेर दे।) पीठकर्णिका अर्थात् बीजकोषके भीतर साध्य-कार्यसहित श्रीबीज (श्रीं) को लिखे। उसके बाद अष्टदल, द्वादशदल और

षोडशदल पद्मोंके ऊपर और भूवृत्तोंके बीचमें श्रीसूक्तकी आधी-आधी ऋचा लिखे। (अर्थात् अष्टदलके ऊपर और पहले भूवृत्तके अंदर **'अश्वपूर्वां रथमध्यां'** इत्यादि ऋचाको, द्वादशदलके ऊपर तथा द्वितीय भूवृत्तके भीतर **'कां सोस्मितां हिरण्यप्राकाराम्'** इत्यादि तथा षोडशारके ऊपर तथा तृतीय भूवृत्तके भीतर **'गन्धद्वारां दुराधर्षां'** इत्यादि ऋचा लिखे।) उसके बाहर निर्भूवृत्तमें **'यः शुचिः प्रयतो भूत्वा'** इत्यादि फलश्रुतिरूप ऋचाको लिखकर षोडशारके मध्य और ऊपर अकारसे सकारतक मातृका-वर्णोंको लिखे। (क्रम यह है कि प्रत्येक सकार-पर्यन्त दलमें दो-दो व्यञ्जन-वर्ण तथा प्रत्येक दलके ऊपर भूवृत्तके नीचे क्रमशः अकारादि सोलह स्वर-वर्णोंको लिखे। इसी प्रकार द्वादशदलके दो-दो दलोंके पार्श्वमें क्रमशः **'ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं स्त्रौं जगत्प्रसूत्यै नमः'** ये अक्षर लिखे तथा द्वादशदलके दलोंमें **'ह्रीं श्रीं क्लीं'** इन बीजोंको दो-दो करके लिखे। फिर भूवृत्तके नीचे अष्टदल कमलके दो-दो दलोंके पार्श्वमें क्रमशः 'ह' और 'क्ष' लिखे। अष्टदलके दलोंमें आ, ई, ऊ और ॠ अनुस्वारसहित लिखकर षट्कोणके कोणोंमें **'श्रीं ह्रीं क्लीं'** बीजोंको क्रमशः दो-दो बार लिखे और प्रणवद्वारा षट्कोणको घेर दे।) सबके ऊपर निर्भूवृत्तमें वषड्युक्त त्वरिता-बीजके साथ श्रीबीजको लिखे। इस प्रकार दस अङ्गोंवाला श्रीचक्र अर्थात् प्रणव, षट्कोण, भूवृत्त एवं अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, षोडशदल, भूवृत्त एवं निर्भूवृत्त बनाये।

'श्रां हृदयाय नमः' इत्यादि अङ्गमन्त्रोंसे प्रथम आवरण-पूजा होती है। पद्म आदि निधियोंसे द्वितीय आवरण-पूजा होती है। लोकपालों अर्थात् इन्द्र आदि देवताओंसे तृतीय आवरण-पूजा होती है। उनके वज्रादि आयुधोंसे चतुर्थ आवरण-पूजा होती है। श्रीसूक्तके अन्तर्गत ऋचाओंद्वारा आवाहनादि अर्थात् आवाहन, संनिधापन, सम्बोधन, सम्मुखीकरण आदि कार्य होते हैं। (फैली हुई अञ्जलिमें दोनों अनामिकाओंके मूलमें अङ्गुष्ठके सिरोंको रखनेसे आवाहनी मुद्रा होती है। दोनों अङ्गुष्ठोंको ऊपर उठा दोनों मुष्टियोंको संयुक्त करनेसे संनिधापनी मुद्रा होती है। इन दोनों अङ्गुष्ठोंको मुष्टियोंमें प्रवेश करानेसे सम्बोधनी मुद्रा होती है। दोनों मुष्टियोंको उत्तान करके मिलाये रखनेसे सम्मुखीकरणी मुद्रा होती है और आवाहनी मुद्राको अधोमुख करनेसे स्थापनी मुद्रा होती है।) इसके पश्चात् (देवीकी षोडशोपचार पूजा करके) पुरश्चरणके लिये षोडश सहस्र मन्त्र-जप करे। (यहाँतक श्रीमहालक्ष्मी-पूजाका क्रम बताया गया।)

(इसके बाद सौभाग्यलक्ष्मी-पूजाका क्रम लिखा जाता है—) एकाक्षर सौभाग्यलक्ष्मी-मन्त्र **'श्रीः'** के भृगु ऋषि हैं, **'नीचृद्गायत्री'** छन्द है और श्री देवता हैं। **'श्रीं'** बीज है। **'श्रां'** इत्यादिके द्वारा अङ्गन्यास करे। जैसे—

श्रां हृदयाय नमः। श्रीं शिरसे स्वाहा। श्रूं शिखायै वषट्। श्रैं कवचाय हुम्। श्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। श्रः अस्त्राय फट्।

इसके पश्चात् नीचे लिखे अनुसार ध्यान करे—

भूयाद्भूयो द्विपद्माभयवरदकरा तप्तकार्तस्वराभा
शुभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरधृतकुम्भाद्भिरासिच्यमाना।
रक्तौघाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाढ्या
पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै नः॥

'जिन्होंने अपने दोनों हाथोंमें दो पद्म तथा शेष दोमें वर और अभय मुद्राएँ धारण कर रक्खी हैं, तप्त काञ्चनके समान जिनके शरीरकी कान्ति है, शुभ्र मेघकी-सी आभासे युक्त दो हाथियोंकी सूँड़ोंमें धारण किये हुए कलशोंके जलसे जिनका अभिषेक हो रहा है, रक्तवर्णके माणिक्यादि रत्नोंका मुकुट जिनके सिरपर सुशोभित है, जिनके वस्त्र अत्यन्त स्वच्छ हैं, ऋतुके अनुकूल चन्दनादि आलेपनके द्वारा जिनके अङ्ग लिप्त हैं, पद्मके समान जिनके नेत्र हैं, पद्मनाभ अर्थात् क्षीरशायी विष्णुभगवान्‌के उरःस्थलमें जिनका निवास है, वे कमलके आसनपर विराजमान श्रीदेवी हमारे लिये परम ऐश्वर्यका विधान करें।'

(इस प्रकार ध्यान करके एक पीठयन्त्र अङ्कित करे।) वह पीठयन्त्र तीन वृत्तोंसे युक्त अष्टदल पद्म, द्वादश राशिखण्ड तथा चतुष्कोण—इस आकारका रमापीठ होता है। अष्टदलकी कर्णिका अर्थात् बीजकोषमें साध्यसहित श्रीबीज **(श्रीं)** लिखना चाहिये—जैसे **'श्रीं श्रीर्मा देवी जुषताम्।'** (इसके पश्चात् प्रातःकृत्य, पीठन्यास एवं ऋष्यादिन्यास करके) आदिमें प्रणव और अन्तमें 'नमः' जोड़कर प्रत्येक नामके साथ चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग करते हुए (जैसे—**'ॐ विभूत्यै नमः'** इत्यादि) विभूति, उन्नति, कान्ति, सृष्टि, कीर्ति, संनति, व्युष्टि, सत्कृष्टि एवं ऋद्धि—इन नौ शक्तियोंकी पूजा करे। (इसके बाद **'श्रीकमलासनाय नमः'** कहकर आसनका न्यास करे, और) अङ्गन्यासके द्वारा प्रथम आवरणकी पूजा करे। (**'श्रां हृदयाय नमः'** इत्यादिके द्वारा अग्नि आदि कोणमें स्थित केशरोंमें तथा दिशाओंमें पूजा करके पूर्वादि दिशाओंमें) क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको पूजे (तथा

अग्नि आदि कोणोंमें क्रमशः मदक—नव शाक-विशेष, सलिल, गुग्गुल एवं कुरुण्टक—पुष्पविशेषकी पूजा करे। देवीके दक्षिणमें शङ्खनामक निधि और वसुधाकी तथा वाममें पद्म-नामक निधि और वसुमतीकी पूजा करे।) इस प्रकार द्वितीय आवरणकी पूजा होती है। फिर बालकी आदि अर्थात् बालकी, विमला, कमला, वनमालिका, विभीषिका, मालिका, शाङ्करी और वसुमालिकाकी पूजा करे। इस प्रकार तृतीय आवरणकी पूजा होती है। इसके पश्चात् इन्द्र आदि देवताओं तथा उनके वज्र आदि आयुधोंकी पूजासे चतुर्थ आवरणकी पूजा होती है। पुरश्चरणके लिये बारह लाख मन्त्र-जप करना चाहिये। (इस प्रकार एकाक्षरी सौभाग्यलक्ष्मीकी पूजा-विधि समाप्त हुई।)

(अब '**श्रीं ह्रीं श्रीं**' रूप त्र्यक्षरी विद्याकी पूजा-विधि बतायी जाती है। इसका पूजा-क्रम एकाक्षरीके पूजा-क्रमके समान ही है। केवल तृतीय आवरणकी पूजामें कुछ विशेषता है।) यहाँ आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः लगाकर प्रत्येक नामका चतुर्थी विभक्तिसहित प्रयोग करते हुए (जैसे, '**ॐ श्रियै नमः** इत्यादि) श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा, हिरण्यरूपा, स्वर्णमालिनी, रजतस्रजा, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्राकारा, पद्मवासिनी, पद्महस्ता, पद्मप्रिया, मुक्तालङ्कारा, चन्द्रसूर्या, बिल्वप्रिया, ईश्वरी, भुक्ति, मुक्ति, विभूति, ऋद्धि, समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, भोगिनी, भोगदा, सावित्री, धात्री, विधात्री प्रभृति नाम-मन्त्रोंके द्वारा शक्तिकी पूजा करे। एकाक्षर मन्त्रके समान ही अङ्गादिके द्वारा पीठ-पूजा करे। पुरश्चरणके लिये एक लाख मन्त्र-जप करे। जपका दशांश तर्पण, तर्पणका दशांश हवन और हवनका दशांश ब्राह्मणभोजन कराये (तथा ब्राह्मण-भोजनका दशांश अभिषेक अर्थात् मार्जन करे)। निष्काम उपासना करनेवालोंको ही श्रीविद्याकी सिद्धि होती है। सकाम उपासना करनेवालोंको कदापि सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद्का श्रीक्रम नामक प्रथम खण्ड समाप्त हुआ॥ १॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

योगसम्बन्धी उपदेश

इसके बाद आदिनारायणसे देवताओंने कहा—भगवन्! तुरीया मायाके द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वके विषयमें हमसे कहिये। 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् आदिनारायणने उपदेश आरम्भ किया—

'योगसे योगको जानना चाहिये, योगसे योग बढ़ता है। जो योगी योगमें सदा सावधान रहता है, वह योगी चिरकालतक—अनन्तकालतक आनन्दोपभोग करता है। मितभोगी अर्थात् शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक अन्न-वस्त्रादिका उपभोग करनेवाला साधक राग-द्वेष-मोहरूपी कषाय—मलके परिपक्व हो जानेपर, निद्रा—आलस्य त्यागकर, प्रपञ्चके ब्रह्मत्वकी प्राप्तिमें बाधक होनेके कारण एकान्त स्थानमें (संसारके कोलाहलसे रहित प्रदेशमें) जाकर साधन करता है—आत्माको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करता है। वह या तो शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेके लिये राजयोगमें प्रवृत्त होता है अथवा गुरूपदिष्ट मार्गपर चलता हुआ प्राणायामके द्वारा हठयोगका अवलम्बन करता है। तात्पर्य यह कि राजयोग और हठयोगके भेदसे योग द्विविध है। प्राणायामका अभ्यास करनेवाले पहले मुखसे वायुको खींचकर भीतर भरते हैं और नाभि-प्रदेशसे अपानवायुको जठराग्निके कोष्ठमें खींचकर मुखके द्वारा खींची हुई वायुके साथ उसका संयोग कराते हैं; पश्चात् अँगूठे, अँगुलियों तथा दोनों हथेलियोंके द्वारा दोनों कान, नेत्र तथा नासा-पुटोंको बंद करके प्राणायामके अभ्यास-द्वारा तथा प्रणवका नाना प्रकारसे ध्यान करके उसीमें तल्लीन हुए योगीजन चैतन्यस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करते हैं॥ १—३॥

'अभ्यासकी एक और विधि है—जो कान, मुख, नेत्र और नासाछिद्रोंको बंद करके ही की जाती है। वह है शुद्ध सुषुम्णा नाडीमें प्रणवके विशुद्ध अनाहत नामक नादको स्पष्ट सुनना। अनाहतचक्रमें ध्वनिको सुननेपर नाना प्रकारके विचित्र घोष सुने जाते हैं, और इस साधनाके द्वारा साधक तेजस्वी हो जाता है, उसके शरीरमें दिव्य गन्ध आने लगती है और स्वस्थ होकर वह दिव्यदेह प्राप्त करता है। शून्य-में अर्थात् सुषुम्णा नाडीमें पूरे मनोयोगके साथ ध्वनि सुनते रहनेसे आरम्भमें ही—जहाँसे वह सुषुम्णा नाडी आरम्भ होती है, उस मूलाधारचक्रमें ही साधक योगवान् हो जाता है अर्थात् दीपशिखाके आकारके जीवात्माको हृदय-पुण्डरीकसे मूलाधारचक्रमें लाकर सुषुम्णा नाडीसे संयुक्त कर देता है। इस प्रकार इच्छाशक्तिकी प्रेरणासे जब जीवात्मा सुषुम्णा-मार्गपर चलने लगता है, तब द्वितीय अर्थात् स्वाधिष्ठान-

चक्रको विघटित करके—भेदकर उसीके मध्यस्थित छिद्रमेंसे होकर प्राणवायु मध्यगा होती है अर्थात् सुषुम्णामें प्रवेश कर जाती है ॥ ४–६ ॥

पद्मासनादिपर स्थित हुए योगीका आसन दृढ़ होता है। उसके बाद विष्णुग्रन्थि अर्थात् मायाको, जो तृतीय मणिपूरक नामक चक्रमें रहकर अनेक कामनाओंका विस्तार करती रहती है, विच्छिन्न कर देनेपर परमानन्दकी प्राप्ति सम्भव हो जाती है। शून्य अर्थात् मायाको लाँघकर उठता हुआ प्राणवायु जब नाड़ीके साथ संघर्षणको प्राप्त होता है, तब उससे भेरीके समान ध्वनि सुन पड़ती है और तृतीय मणिपूरक चक्रको भेदकर चलनेपर प्राणवायुसे मर्द्दल-ध्वनि अर्थात् मृदङ्ग-जैसी ध्वनि होती है। इसके आगे अन्य चक्रोंको भेदता हुआ वह महाशून्य अर्थात् आकाश-चक्रमें जाता है, जहाँ सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उसके बाद प्राणवायु तालुचक्रसे चित्तको जयकर नालुचक्रको भेदता है, जहाँ चित्तगत सम्पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति होती है ॥ ७–९ ॥

इस साधनाकी समाप्तिमें वैष्णवशब्द—प्रणव शब्दायमान होता है, शब्दके रूपमें स्वयं प्रकट होता है। उस प्रणव-ध्वनिमें चित्त विलीन हो जाता है, इस प्रकार सनकादि मुनियोंने कहा है। उस महाशून्य चक्रमें स्थित होकर साधक अन्त अर्थात् जीवमें अनन्त—परमात्माका समारोप करता है, मायाग्रस्त स्वरूप—अंशरूप आत्मामें निरंश परमात्माको समर्पितकर तथा आत्माकी सर्वव्यापक प्रकृतिका ध्यान करके कृतकृत्य हो जाता है, अमृतस्वरूप हो जाता है। संप्रज्ञात योगको असंप्रज्ञात योगसे जीने और भाव अर्थात् सविचार समाधिका निरोध अभाव—निर्विचार समाधिसे करे; उसके बाद निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करके साधक परमतत्त्व—कैवल्यमें स्थित होता है। निर्विकल्प समाधिमें स्थित साधकका अहंभाव छूट जाता है और आत्म-तत्त्वमें अध्यस्त मायात्मक जगत्का भी लोप हो जाता है। ऐसा विद्वान् पुनः 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' इत्यादि चिन्तामें नहीं पड़ता ॥ १०–१३ ॥

'जिस प्रकार पानीमें नमक मिलानेसे वह उसमें घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार मनका आत्मामें विलीन हो जाना समाधि कहलाता है। जब प्राणायामके अभ्याससे प्राणवायु सम्यक्‌रूपसे क्षीण होकर कुम्भकमें स्थिर हो जाता है, और मानसिक वृत्तियाँ अत्यन्त विलीन हो जाती हैं, उस समय तैलधारावत् चित्तका आत्माके साथ एकीभाव समाधि कहलाता है। जीवात्मा और परमात्माका समत्व होनेपर जब सारे सङ्कल्प नष्ट हो जाते हैं, उस स्थितिको समाधि कहते हैं। प्रभा अर्थात् जागतिक बोधसे शून्य जिस स्थितिमें मन और बुद्धि पूर्णतः विलीन हो जाते हैं; जिसमें कुछ आभासित नहीं होता—सब शून्याकार प्रतीत होता है, वह निरामय—भवरोगकी निवृत्तिकी अवस्था समाधि कहलाती है। शरीरके इधर-उधर चलनेपर भी देही अर्थात् जीवात्मा जब निश्चल, नित्य स्वयम्प्रकाश स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे समाधि कहना चाहिये। उस समय साधकका मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ परम-पदकी प्राप्ति होती है। उसके लिये सर्वत्र परब्रह्म समवस्थित होता है। सर्वत्र परमब्रह्म समवस्थित होता है' ॥ १४–१९ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

नवचक्र-विवेक

पश्चात् भगवान् आदिनारायणसे देवताओंने निवेदन किया—'भगवन्! आप कृपया हमारे लिये नवचक्रविवेकके विषयमें उपदेश कीजिये।' 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान्ने उपदेश आरम्भ किया—

'मूलाधारमें ब्रह्मचक्र है, वह योनिके आकारमें तीन घेरोंसे युक्त है; वहाँ कर्णिकाके मूलमें कुण्डलिनी-शक्ति सोये हुए सर्पके आकारमें स्थित है। तप्त अग्निके रूपमें उसका तबतक ध्यान करना चाहिये, जबतक वह जाग्रत् न हो जाय। वहीं भगवती त्रिपुराका स्थान कामरूप नामक पीठ है, जिसकी उपासना करनेसे सारे भोगोंकी प्राप्ति होती है। इतना आधारनामक प्रथम चक्रके विषयमें हुआ ॥ १ ॥

'दूसरा छः दलोंका स्वाधिष्ठान-चक्र है। उस षट्दल पद्मके कर्णिकापीठमें पश्चिमाभिमुख एक शिवलिङ्गका, जो मूँगेके अङ्कुरके समान लाल वर्णका है, ध्यान करे। वहाँ उड्याणपीठ है, उसकी उपासना करनेसे जगत्को आकर्षित करनेकी सिद्धि प्राप्त होती है। तीसरा नाभिचक्र सर्पके समान कुटिल आकारका और पाँच घेरोंसे आवृत है। उस चक्रमें कोटि-कोटि बालसूर्योंकी-सी प्रभासे युक्त तथा तडित्के समान क्षीण

अङ्गोंवाली कुण्डलिनी-शक्तिका ध्यान करे। यह शक्ति जाग्रत् होनेपर सामर्थ्यवती होती है और सब प्रकारकी सिद्धियों-को प्रदान करती है। मणिपूरक-चक्र हृदयचक्र है। वह अष्टदल पद्मके आकारका नीचेकी ओर मुख किये रहता है। उस चक्रमें ज्योतिर्मय लिङ्गका ध्यान करना चाहिये। वही ज्योतिर्मय लिङ्ग हंसकलाके नामसे विख्यात है, जो सर्वप्रिय है; उसके जाग्रत् होनेपर समस्त लोकोंको वशमें करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। कण्ठमें जो चक्र है, वह चार अङ्गुल प्रमाणका है; उसमें बायीं ओर इडा अर्थात् चन्द्रनाड़ी और दाहिनी ओर पिङ्गला अर्थात् सूर्यनाड़ी है। इन दोनोंके बीचमें श्वेतवर्णकी सुषुम्णा नाड़ीका ध्यान करे। जो इसको जानता है, उसका अनाहत-चक्र सिद्धि प्रदान करता है। इसके आगे तालुचक्र है, जहाँ निरन्तर अमृतकी धार प्रवाहित होती रहती है। तालुचक्रमें दस अथवा बारह दल होते हैं। घाँटीके चिह्नकी जड़में तथा आगेके दाँतोंकी जड़तक फैला हुआ जो चक्रके आकारका रन्ध्र—छिद्र है, उसीमें तालु-चक्र स्थित है। उस चक्रमें शून्यका ध्यान करे। इससे चित्त शून्यमें विलीन हो जाता है। सातवाँ भ्रूचक्र अँगूठेके परिमाणका है, उस द्विदल पद्ममें निवातदीपशिखाके आकारमें ज्ञान-नेत्रका ध्यान करे। इस चक्रके जाग्रत् होनेपर कपालकन्द अर्थात् अदृष्टके कारणभूत कर्मोंकी वाक्-सिद्धि अर्थात् उनके विषयका सारा ज्ञान हो जाता है। आठवाँ आज्ञाचक्र है, उसे ब्रह्मरन्ध्र अथवा निर्वाणचक्र भी कहते हैं। वह रन्ध्र सूईकी नोकके परिमाणका है। वहाँ गतिशील धूम्रशिखाके आकारका ध्यान करे। वहाँ जालन्धर पीठ है। उसकी उपासना करनेसे मुक्तिलाभ होता है। अतएव इसे परब्रह्म-चक्र भी कहते हैं। नवाँ आकाशचक्र है। वहाँ षोडशदल पद्म ऊपरकी ओर मुख किये स्थित है। उसके बीचकी कर्णिका त्रिगुणोंकी जननी होनेके कारण तीन शिखरोंवाले पर्वतके आकारकी कही गयी है। उसके बीचमें ऊपरकी ओर झुकी हुई शक्ति है। उसको देखते हुए ध्यान करे। वहाँ ही पूर्णगिरि पीठ है, जिसकी उपासना करनेसे सब प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धि होती है ॥ २—९ ॥

'इस सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद्को जो नित्य पढ़ता है, वह अग्निपूत होता है, वह वायुपूत होता है। वह सब प्रकारके धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, हाथी-घोड़े, गाय-भैंस, दास-दासीसे युक्त योगी और ज्ञानी होता है। अन्तमें वह परमपदको प्राप्त करता है—जहाँसे फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता ॥ १० ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' (कठोपनिषद् १ । १ । २७)

'धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।'

(सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद्में वर्णित श्रीसूक्त)

अथ श्रीसूक्तप्रारम्भः

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥ १ ॥

हे जातवेदा (सर्वज्ञ) अग्निदेव ! सुवर्णके-से रंगवाली, किञ्चित् हरितवर्णविशिष्टा, सोने और चाँदीके हार पहननेवाली, चन्द्रवत् प्रसन्नकान्ति, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीको मेरे लिये आवाहन करो ॥ १ ॥

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ॥ २ ॥

अग्ने ! उन लक्ष्मीदेवीको, जिनका कभी विनाश नहीं होता तथा जिनके आगमनसे मैं सोना, गौ, घोड़े तथा पुत्रादिको प्राप्त करूँगा, मेरे लिये आवाहन करो ॥ २ ॥

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रियं देवीमुप ह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥ ३ ॥

जिन देवीके आगे घोड़े तथा उनके पीछे रथ रहते हैं तथा जो हस्तिनादको सुनकर प्रमुदित होती हैं, उन्हीं श्रीदेवीका मैं आवाहन करता हूँ; लक्ष्मीदेवी मुझे प्राप्त हों ॥ ३ ॥

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मेस्थितां पद्मवर्णां
तामिहोप ह्वये श्रियम् ॥ ४ ॥

जो साक्षात् ब्रह्मरूपा, मन्द-मन्द मुसकरानेवाली, सोनेके आवरणसे आवृत, दयार्द्र, तेजोमयी, पूर्णकामा, भक्तानुग्रहकारिणी, कमलके आसनपर विराजमान तथा पद्मवर्णा हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ आवाहन करता हूँ ॥ ४ ॥

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं
श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्र पद्ये-
ऽलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे ॥ ५ ॥

मैं चन्द्रके समान शुभ्र कान्तिवाली, सुन्दर द्युतिशालिनी, यशसे दीप्तिमती, स्वर्गलोकमें देवगणोंके द्वारा पूजिता, उदारशीला, पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरा दारिद्र्य दूर हो जाय। मैं आपको शरण्यके रूपमें वरण करता हूँ ॥ ५ ॥

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मीः ॥ ६ ॥

हे सूर्यके समान प्रकाशस्वरूपे ! तुम्हारे ही तपसे वृक्षोंमें श्रेष्ठ मङ्गलमय बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। उसके फल हमारे बाहरी और भीतरी दारिद्र्यको दूर करें ॥ ६ ॥

उपैतु मां देवसखः
कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्
कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ॥ ७ ॥

देवि ! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हों। अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमें—देशमें उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करें ॥ ७ ॥

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥ ८ ॥

लक्ष्मीकी ज्येष्ठ बहिन अलक्ष्मी (दरिद्रताकी अधिष्ठात्री देवी) का, जो क्षुधा और पिपासासे मलिन—क्षीणकाय रहती हैं, मैं नाश चाहता हूँ। देवि ! मेरे घरसे सब प्रकारके दारिद्र्य और अमङ्गलको दूर करो ॥ ८ ॥

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥ ९ ॥

जो दुराधर्षा तथा नित्यपुष्टा हैं, तथा गोबरसे (पशुओंसे) युक्त गन्धगुणवती पृथिवी ही जिनका स्वरूप है, सब भूतोंकी स्वामिनी उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ—अपने घरमें आवाहन करता हूँ ॥ ९ ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥ १० ॥

मनकी कामनाओं और संकल्पकी सिद्धि एवं वाणीकी सत्यता मुझे प्राप्त हों; गौ आदि पशुओं एवं विभिन्न अन्नों—भोग्य पदार्थोंके रूपमें तथा यशके रूपमें श्रीदेवी हमारे यहाँ आगमन करें ॥ १० ॥

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ॥११॥

लक्ष्मीके पुत्र कर्दमकी हम संतान हैं । कर्दम ऋषि ! आप हमारे यहाँ उत्पन्न हों तथा पद्मोंकी माला धारण करनेवाली माता लक्ष्मीदेवीको हमारे कुलमें स्थापित करें ॥ ११ ॥

आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ॥१२॥

जल स्निग्ध पदार्थोंकी सृष्टि करे। लक्ष्मीपुत्र चिक्लीत ! आप भी मेरे घरमें वास करें और माता लक्ष्मीदेवीका मेरे कुलमें निवास करायें ॥ १२ ॥

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥१३॥

अग्ने! आर्द्रस्वभावा, कमलहस्ता, पुष्टिरूपा, पीतवर्णा, पद्मोंकी माला धारण करनेवाली, चन्द्रमाके समान शुभ्र कान्तिसे युक्त, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीका मेरे यहाँ आवाहन करें ॥ १३ ॥

आर्द्रां यःकरिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम्।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥१४॥

अग्ने ! जो दुष्टोंका निग्रह करनेवाली होनेपर भी कोमल-स्वभावकी हैं, जो मङ्गलदायिनी, अवलम्बन प्रदान करनेवाली यष्टिरूपा, सुन्दर वर्णवाली, सुवर्णमालाधारिणी, सूर्यस्वरूपा तथा हिरण्यमयी हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें ॥१४॥

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो
दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् ॥१५॥

अग्ने ! कभी नष्ट न होनेवाली उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें, जिनके आगमनसे बहुत-सा धन, गौएँ, दासियाँ, अश्व और पुत्रादिको हम प्राप्त करें ॥ १५ ॥

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्।
सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् ॥१६॥

जिसे लक्ष्मीकी कामना हो, वह प्रतिदिन पवित्र और संयमशील होकर अग्निमें घीकी आहुतियाँ दे तथा इन पंद्रह ऋचाओंवाले श्रीसूक्तका निरन्तर पाठ करे ॥ १६ ॥

॥ श्रीसूक्त समाप्त ॥

सङ्गका त्याग ही मोक्ष है

भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥
दुःखैर्न ग्लानिमायासि हृदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य निदाघासङ्गतां व्रज ॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता ।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवानघ ॥

(अन्नपूर्णोपनिषद्)

पदार्थोंके होनेमें हर्ष और न होनेमें शोकरूपी विकार उत्पन्न करनेवाली जो मलिना वासना है, उसे सङ्ग कहते हैं । निदाघ ! तुम दुःखोंमें ग्लानिका अनुभव मत करो और सुखोंसे हृदयमें हर्षित मत होओ । यों आशाओंकी परवशताको छोड़कर असंगावस्थाको प्राप्त करो । हे निष्पाप ! सङ्गके त्यागको ही मोक्ष कहते हैं, सङ्गके त्यागसे जन्म-(मरण) से छुटकारा मिलता है । अतएव समस्त पदार्थोंमें सङ्गका त्याग करके जीते ही मुक्त हो जाओ ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

सीतोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीसीताजीके स्वरूपका तात्त्विक वर्णन

एक बार देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे पूछा कि 'श्रीसीताजी कौन हैं ? उनका क्या स्वरूप है ?' तब उन प्रजापतिने बतलाया कि "वे शक्तिरूपा ही श्रीसीताजी हैं । मूल प्रकृतिस्वरूपा होनेके कारण वे सीताजी ही प्रकृति कहलाती हैं । वे श्रीसीताजी प्रणवकी प्रकृतिस्वरूपा होनेसे भी प्रकृति कही जाती हैं । 'सीता' यह उनका नामात्मक रूप तीन वर्णोंका है और वे साक्षात् योगमायास्वरूपा हैं । सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्चके भगवान् विष्णु बीज हैं और उनकी योगमाया 'ईकार' रूपा हैं । 'सकार' सत्य, अमृत, प्राप्ति* नामक ऐश्वर्य अथवा सिद्धि एवं चन्द्रका वाचक कहा गया है । दीर्घरूप-मात्रायुक्त 'तकार' महालक्ष्मीका स्वरूप, प्रकाशमय एवं विस्तारकारी (जगत्स्रष्टा) कहा गया है । वे 'ईकार'रूपिणी अव्यक्तरूपा महामाया अपने चन्द्रसन्निभ अमृतमय अवयवों एवं दिव्य अलंकार, माला, मुक्तामालादि आभूषणोंसे अलंकृत स्वरूपमें व्यक्त होती हैं । उनके तीन स्वरूप हैं, जिनमें अपने प्रथम स्वरूपसे वे शब्दब्रह्ममयी हैं । वे बुद्धिस्वरूपा स्वाध्यायकालमें प्रसन्न होनेपर बोधको प्रकट करती हैं । अपने दूसरे स्वरूपमें वे पृथ्वीपर महाराज सीरध्वज जनककी यज्ञभूमिमें हलाग्रसे उत्पन्न हुई । अपने तीसरे स्वरूपमें वे 'ईकार' रूपिणी अव्यक्तस्वरूपा रहती हैं । इन्हीं तीनों रूपोंको सीता कहा जाता है । शौनकीय तन्त्रमें निम्नलिखित भावके श्लोक मिलते हैं—

"श्रीसीताजी श्रीरामकी नित्य सन्निधिके कारण जगदानन्दकारिणी हैं । समस्त शरीरधारियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली हैं । श्रीसीताजीको मूलप्रकृति कही जानेवाली षडैश्वर्यसम्पन्ना भगवती जानना चाहिये । प्रणवस्वरूपा होनेके कारण ब्रह्मवादी उन्हें प्रकृति बतलाते हैं । ब्रह्मसूत्रके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें उन्हींका प्रतिपादन है । वे श्रीसीताजी सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सबकी आधारभूता, कार्य एवं कारणरूपा, चेतन एवं जड दोनोंकी स्वरूपभूता, ब्रह्माजीसे लेकर जड पदार्थोंतककी आत्मभूता, इन सबके गुण एवं कर्मके भेदसे सबकी शरीररूपा; देवता, ऋषि, मनुष्य एवं गन्धर्वोंकी स्वरूपभूता; असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच प्रभृति प्राणियोंकी शरीररूपा; पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ, मन एवं प्राणरूपा अर्थात् समस्त विश्वरूपा महालक्ष्मी देवताओंके भी स्वामी भगवान्से भिन्न एवं अभिन्नस्वरूपा जानी जाती हैं ।

"वे श्रीसीताजी शक्त्यासना—शक्तिस्वरूपा होकर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति एवं साक्षात् शक्ति—इन तीन रूपोंमें प्रकट होती हैं । इच्छाशक्तिमय उनका स्वरूप भी त्रिविध होता है—श्रीदेवी, भूमिदेवी एवं नीलादेवीके रूपमें कल्याणरूपा, प्रभाव-

* अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यमें 'प्राप्ति' नामक सिद्धिका भी वर्णन आता है । प्राप्ति कहते हैं सर्वत्र गमनकी शक्तिको ।

रूपा तथा चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपा वे होती हैं। चन्द्रस्वरूपमें वे ओषधियोंका पोषण करती हैं। कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता एवं गुल्मों (झाड़ियों), ओषधियों एवं दिव्य ओषधियोंकी स्वरूपभूता होती हैं तथा उसी चन्द्रके अमृतस्वरूपमें देवताओंके लिये 'महस्तोम' नामक यज्ञके फलको देनेवाली होती हैं। अमृतके द्वारा देवताओंको, अन्नके द्वारा पशुओं (प्राणियों) को तथा तृणके द्वारा उसपर अवलम्बित रहनेवाले जीवोंको— इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंको वे तृप्त करती हैं।

"वे सूर्यादि समस्त भुवनोंको—लोकोंको प्रकाशित करनेवाली हैं। दिन, रात्रि, निमेषसे लेकर घड़ी प्रभृति कालकी कलाएँ, आठ पहरोंसे युक्त दिन-रात्रिके भेदसे पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सरके भेदसे मनुष्योंकी सौ वर्षकी आयुकी कल्पनाके द्वारा वे स्वयं ही प्रकाशित होती हैं। विलम्ब तथा शीघ्रतासे उपलक्षित निमेषसे लेकर परार्धपर्यन्त कालचक्र तथा जगच्चक्रादि प्रकारसे चक्रके समान घूमनेवाले कालके सभी विशेष-विशेष विभाग उन्हींके स्वरूप हैं, जो प्रकाशरूपा एवं कालरूपा हैं।

"वे अग्निरूपा होकर प्राणियोंके लिये अन्न एवं जलादि-पानके लिये क्षुधा एवं पिपासारूपसे, देवताओंके लिये मुख-रूपसे (देवता अग्निमें होमे हुए पदार्थ ही पाते हैं), वनौषधियोंके लिये शीतोष्णरूपसे, तथा काष्ठोंके बाहर एवं भीतर नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकारसे (नित्यरूपमें व्यापक अग्नितत्त्व एवं अनित्यरूपमें प्रज्वलिताग्नि प्रभृति रूपोंमें) स्थित हैं।

"वे श्रीसीताजी अपने श्रीदेवीरूपमें तीन प्रकारका रूप धारण करके श्रीभगवान्‌के संकल्पानुसार सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये व्यक्त होती हैं। वे लोकरक्षणार्थ श्री तथा लक्ष्मी-रूपमें लक्षित होती हैं, यों जाना जाता है। भूदेवी सम्पूर्ण जलमय समुद्रोंसहित सातों द्वीपवाली पृथिवीके रूपमें भूः-भुवः आदि चौदहों भुवनोंकी आधार एवं आधेयभूता प्रणवस्वरूपा होकर व्यक्त होती हैं। विद्युन्मालाके समान मुखवाली नीलादेवी भी सम्पूर्ण ओषधियों एवं समस्त प्राणियोंके पोषणके लिये सर्वरूपा हो जाती हैं। समस्त भुवनोंके अधोभागमें जलाकारस्वरूप, मण्डूकमयी तथा भुवनोंकी आधाररूपा वही आदिशक्ति जानी जाती हैं।

"उन श्रीसीताजीका क्रियाशक्ति-रूप श्रीहरिके मुखसे नादके रूपमें व्यक्त हुआ। उस नादसे बिन्दु प्रकट हुआ। बिन्दुसे ॐकारका आविर्भाव हुआ। ॐकारसे परे राम-वैखानस नामका पर्वत है। उस पर्वतकी कर्म एवं ज्ञानात्मिका अनेक शाखाएँ व्यक्त हैं। उसी पर्वतपर वेदत्रयीस्वरूप सर्वार्थको प्रकट करनेवाला आदि-शास्त्र है। तात्पर्य यह कि श्रीराम-वैखानस पर्वत ही नित्य वेदस्वरूप है और लोकमें वह वेदोंके रूपमें व्यक्त होता है। उस आदि-शास्त्रको ऋक्, यजुः एवं सामात्मक होनेसे त्रयी कहा जाता है। कार्य-सिद्धिके लिये चार नामोंसे उसका वर्णन होता है। अर्थात् देवस्वरूप वर्णन-के मन्त्र, यज्ञ-विधि-निर्देशक मन्त्र तथा यज्ञमें गानके मन्त्र— ये ही तीन प्रकारके मन्त्र होनेसे वेदोंको त्रयी कहते हैं; किंतु यज्ञमें ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं उद्गाताके कार्यकी दृष्टिसे वेदोंको चार नामोंसे सम्बोधित किया जाता है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्वाङ्गिरसवेद। यज्ञकर्ममें चातुर्होत्र प्रधान है और उसमें देवस्वरूपादि तीनका ही उपयोग होनेसे वेदोंको त्रयी कहते हैं। अथर्वाङ्गिरस वेद साम, ऋक् एवं यजुःस्वरूप ही है। आभिचारिक कर्मोंकी समानता-से इन चारोंका पृथक्-पृथक् निर्देश होता है।

"ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ कही गयी हैं। यजुर्वेदीयों-की एक सौ नौ शाखाएँ हैं। सामवेदकी एक सहस्र शाखाएँ हैं और अथर्ववेदकी पाँच शाखाएँ। इन वेदोंमें प्रथम (सर्वश्रेष्ठ) वैखानस मत है, जो प्रत्यक्ष दर्शन है। इसलिये मुनियोंद्वारा नित्य परम वैखानस (श्रीरामरूप) का स्मरण किया जाता है। कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्द—ये छः वेदाङ्ग हैं। अयन, मीमांसा और न्यायशास्त्रका विस्तार—ये वेदोंके उपाङ्ग हैं। धर्मज्ञ पुरुषोंके सेवनके लिये चारों वेद तथा वेदोंसे अधिक ये अङ्ग-उपाङ्गादि हैं। सभी वैदिक शाखाओंमें उनके समयाचार (साम्प्रदायिक आचरण) की शास्त्रके साथ संगति लगानेके लिये निबन्ध हैं। धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) को महर्षियोंने अपने अन्तःकरणके दिव्य ज्ञानसे पूर्ण किया है। मुनियोंने इतिहास-पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद—ये पाँच उपवेद बताये हैं। इन सबके साथ दण्ड, नीति और व्यापार-विद्या तथा परतत्त्वमें प्राणजय करके स्थिति—इस प्रकार इक्कीस भेदयुक्त यह स्वतःप्रकाश—स्वयं प्रकटित शास्त्र है।

"पूर्वकालमें वैखानस ऋषिके हृदयमें भगवान् विष्णुकी वाणी प्रकट हुई। उसी वाणीको वेदत्रयीके रूपमें इस प्रकार कल्पित करके देहधारी अपनी उन्नति करता है। वैखानस ऋषिने अपने हृदयमें प्रकट उस भगवद्वाणीको संख्यारूपमें संकल्प करके पहले जिस प्रकार प्रकट किया, उसी प्रकार वह

सब मैं बतलाता हूँ; सुनो। जो सनातन ब्रह्ममय रूपधारिणी क्रियाशक्ति कही गयी है, वह भगवान्‌की साक्षात् शक्ति है। भगवान्‌के स्मरणमात्र (संकल्पमात्र) से वे जगत्‌के रूपोंको प्रकट करती तथा दृश्य-जगत्‌में स्वयं व्यक्त होती हैं। वे शासन एवं कृपास्वरूपा, शान्ति तथा तेजोरूपा, व्यक्त (प्राणियों) की, अव्यक्त (देवादि) की कारणभूता एवं उनके चरणादि समस्त अवयव तथा मुख एवं वर्ण (रूपादि)-भेदस्वरूपा, भगवान्‌के साथ चलनेवाली (उनके संकल्पसे ही गति करनेवाली), भगवान्‌से कभी विलग न होनेवाली एवं अविनाशिनी, निरन्तर भगवान्‌के साथका ही आश्रय करनेवाली, कहे हुए और न कहे हुए सभी स्वरूपोंवाली, निमेष-उन्मेषसे लेकर सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह आदि समस्त सामर्थ्योंसे युक्त होनेके कारण साक्षात् शक्तिरूपमें वर्णित होती हैं।

"श्रीसीताजीका इच्छाशक्ति रूप भी तीन प्रकारका है। प्रलयके समय विश्रामके लिये भगवान्‌के दाहिने वक्षःस्थलपर श्रीवत्सकी आकृति धारण करके जो विश्राम करती हैं; वे योगशक्ति हैं। भोगशक्ति भोगरूपा हैं। वे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि तथा शङ्ख, पद्म (तथा मकर, कच्छप) आदि नौ निधियोंमें निवास करती हैं और भगवद्भक्तोंकी कामनाके अनुसार अथवा उनकी कामनाके विना भी नित्य-नैमित्तिक कर्मके द्वारा, अग्निहोत्रादिसे अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिसे—किसी भी निमित्तसे भगवान्‌की उपासना करनेवालोंके उपभोगके लिये बड़े-बड़े भोगोंसे, विशाल द्वार एवं प्राकारवाले भवनोंसे, विमानोंसे अथवा भगवद्विग्रहके अर्चन-पूजनादिकी सामग्रियोंसे अर्चनरूपमें, स्नानादि (तीर्थस्नानादि) रूपमें, पितृपूजा आदिके रूपमें, अन्न (भोज्य पदार्थ) एवं पीने योग्य रस आदिसे, यह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये है—यों कहकर वे सब उपभोग-सामग्रियोंका सम्पादन करती हैं।

"श्रीसीताजीकी वीरशक्ति चतुर्भुजा हैं। उनके हाथोंमें अभय एवं वरदानकी मुद्राएँ तथा दो कमल हैं। किरीट एवं आभूषणोंसे वे भूषिता हैं। सम्पूर्ण देवताओंसे घिरी हुई, कल्पवृक्षके मूलमें चार श्वेत हाथियोंद्वारा रत्नजटित कलशोंके अमृत-जलसे अभिषिक्त होती हुई वे आसीन हैं। ब्रह्मादि समस्त देवता उनकी वन्दना करते हैं। अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यसे वे युक्त हैं और उनके सम्मुख खड़ी होकर कामधेनु उनकी स्तुति करती हैं। वेद और शास्त्र आदि भी मूर्तिमान् होकर उनकी स्तुति करते हैं। जया आदि अप्सराएँ एवं देवनारियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। सूर्य एवं चन्द्र दीपक बनकर वहाँ प्रकाश कर रहे हैं। तुम्बुरु एवं देवर्षि नारद आदि उनका गुणगान कर रहे हैं। राका और सिनीवाली नामकी देवियाँ उनपर छत्र लगाये हैं। ह्लादिनी एवं माया उनके दोनों ओर चँवर डुला रही हैं। स्वाहा एवं स्वधा उनपर पंखे झलती हैं। भृगु और पुण्य आदि महात्मा उनकी पूजा कर रहे हैं। दिव्य सिंहासनपर अष्टदलपद्मके ऊपर आसीन वे महादेवी समस्त कारणों एवं कार्योंको निर्मित करनेवाली हैं। इस प्रकार भगवती लक्ष्मीके भगवान्‌से पृथक् निवासका ध्यान करना चाहिये। उन्होंने अपनेको अनुरूप दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत किया है। वे स्थिर होकर प्रसन्न नेत्रोंसे समस्त देवताओंद्वारा पूजित वीरलक्ष्मी कही जाती हैं।"

॥ अथर्ववेदीय सीतोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीराधिकातापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रुतियोंद्वारा श्रीराधिकाजीकी उपासना और स्तुति

किसी समय उपासनाओंके स्वरूप एवं लक्ष्यका विचार करते समय ब्रह्मवेत्ताओं (वेदज्ञों) ने परस्पर यह विचार करना प्रारम्भ किया कि श्रीराधिकाजीकी उपासना किस लिये होती है। इस विचारमें प्रवृत्त होनेपर उनपर भगवान् आदित्य (वेदोंके अधिष्ठाता प्रकाशमय ज्ञानके रूपमें) अत्यन्त कृपालु हुए। अर्थात् प्रकाशस्वरूप वैदिक ज्ञान उनमें प्रकट हुआ। (उन्होंने श्रीराधिकाजीकी उपासनाके सम्बन्धमें श्रुतियोंको इस प्रकार संलग्न पाया—) ॥ १ ॥

श्रुतियाँ कहती हैं—'सम्पूर्ण देवताओंमें जो देवत्व (शक्ति) है, वह श्रीराधिकाजीकी ही है। समस्त प्राणी श्रीराधिकाजीके द्वारा ही अवस्थित हैं। अर्थात् देवतासे लेकर क्षुद्र प्राणियोंतक सभी जीव श्रीराधिकाजीकी शक्तिसे स्थित एवं चेष्टायुक्त हैं और उन्हींसे अभिव्यक्त हुए हैं। इसलिये हम सब श्रुतियाँ उन श्रीराधिकाजीको नमस्कार करती हैं ॥२॥

'देवताओंके निवास पञ्चभूत, इन्द्रियों आदिमें श्रीराधिकाजीकी प्रेरणासे ही कम्पन (चेष्टा) होती है। तथा उन्हींकी प्रेरणासे वे हँसते (उल्लास प्राप्त करते) और नाचते (क्रियाशील होते) हैं। सबकी अधिदेवता श्रीराधिकाजी ही हैं (सब उनके वशमें हैं)। अतएव अपने सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिये व्याहृतियों (भूः-भुवः-स्वः या श्रीं-क्लीं-ह्रीं)-द्वारा हवन करके फिर श्रीराधिकाजीको हम प्रणाम करती हैं। (तात्पर्य यह कि विशुद्ध हृदयसे ही श्रीराधिकाजीकी उपासना सम्भव है, अतः यजनसे आत्मशुद्धि करके तब प्रणाम करती हैं) ॥ ३ ॥

'जिनके दिव्य शरीरकी कान्तिके पड़नेसे (जिन योगमाया-रूपके आश्रयसे) इन्द्रनीलमणिके समान वर्णवाला (इन्द्रियातीत नीलिमाव्यञ्जक) देवाधिदेव श्रीकृष्णचन्द्रका शरीर भी गौर जान पड़ने लगता है (घनसत्त्व होकर आविर्भूत होता है) तथा जिनकी कान्ति पड़नेसे भौंरे, कौए और कोयल (विषय-रस-लोलुप, कटुभाषी पापी एवं मधुरभाषी, पर स्वरूपसे कृष्ण अर्थात् योग-ज्ञानादि साधक, जिनका बाह्यरूप नीरस एवं अनाकर्षक है) भी (रासमण्डलमें) गौरवर्णके (सत्त्वगुणी एवं भक्तियुक्त) हो जाते हैं, उन विश्वकी पालिका श्रीराधिका-जीको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४ ॥

'हम सब श्रुतियाँ, सांख्य-योग शास्त्र तथा उपनिषद् जिन परब्रह्मकी अभिन्न शक्तिकी अगम्यताका प्रतिपादन करती हैं, जिनको स्वरूपतः भली प्रकार पुराण भी नहीं जानते, उन देवताओंकी पालिका श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं॥५॥

सम्पूर्ण संसारके अधीश्वर त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र जिन्हें प्राणसे भी अधिक प्रिय मानते हैं, वृन्दावनमें स्थित अपनी (श्रुतियोंकी) इष्ट—आराध्य-देवी उन श्रीवृन्दा-

वनकी पालिका—अधिष्ठात्री देवी श्रीराधिकाजीको हम नित्य नमस्कार करती हैं ॥ ६ ॥

'विश्वभर्ता श्रीकृष्णचन्द्र एकान्तमें अत्यन्त प्रेमार्द्र होकर जिनकी पदधूलि अपने मस्तकपर धारण करते हैं और जिनके प्रेममें निमग्न होनेपर हाथसे गिरी वंशी एवं बिखरी अलकों-का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता, तथा वे क्रीतकी भाँति जिनके वशमें रहते हैं, उन श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं ॥ ७ ॥

'श्रीरासमण्डलमें जिनकी रासक्रीडा देखकर चन्द्रमा एवं विवस्त्रा देवपत्नियोंको अपने शरीरका भी भान नहीं रह जाता और श्रीवृन्दावनके समस्त जड एवं जङ्गम भी अपने स्वरूपको भूल जाते हैं अर्थात् जड पाषाण, तरु प्रभृति स्रवित होने लगते हैं और जङ्गम (चर) प्राणी विमुग्ध—स्थिर हो जाते हैं, श्रीरासमण्डलमें भावावेशयुक्ता उन श्रीराधिकाजीको हम नमन करती हैं ॥ ८ ॥

'जिनके अङ्कमें लेटे हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने शाश्वत विहारस्थान गोलोकका स्मरणतक नहीं करते, कमलोद्भवा लक्ष्मी और श्रीपार्वतीजी जिनकी अंशरूपा हैं, उन समस्त शक्तियोंकी अधिष्ठात्री श्रीराधिकाजीको हम प्रणाम करती हैं॥ ९॥

'(श्रीललितादि) सखियोंके साथ (ऋषभ, गान्धारादि) स्वरोंसे (तार, मध्य और मन्द्र—इन) तीनों ग्रामोंसे तथा (अनेक) मूर्च्छनाओं (स्वरके चढ़ाव-उतारों) से गाते हुए, प्रेमविवश होकर जिन्होंने (श्रीरासक्रीड़ाके समय) श्रीवृन्दावनमें एकमात्र अपनी ही शक्तिसे ब्राह्मी निशा (एक मासपर्यन्त दीर्घरात्रि) का विस्तार (प्रादुर्भाव) किया, उन श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं ॥ १० ॥

'किसी समय दो भुजाओंवाली (चतुर्भुजी नहीं) श्रीकृष्ण-की मूर्ति बनकर अर्थात् स्वयं द्विभुज श्रीकृष्ण-वेश धारण करके वंशीके छिद्रोंको श्रीराधिकाजीने स्वरसे भर दिया। (तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण-वेश धारण करके किसी दिन श्रीराधिकाजीने वेणु-वादनका प्रयत्न किया और वे केवल वंशी-छिद्रोंसे (गायन-रहित) ध्वनि निकाल पायीं।) इसीसे अत्यन्त उल्लसित होकर देव-देव श्रीकृष्णचन्द्रने कुन्द एवं कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला बनाकर उनका शृङ्गार करके उन्हें प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

'जिनका इस उपनिषद्में वर्णन हुआ है, वे श्रीराधिकाजी और आनन्द-सिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र वस्तुतः एक ही शरीर एवं परस्पर नित्य अभिन्न हैं। केवल लीलाके लिये वे दो स्वरूपोंमें व्यक्त हुए हैं। अतएव जिस लीलाके लिये उन परम रस-सिन्धुका श्रीविग्रह दो रूपोंमें शोभित हुआ, उस लीलाको जो सुनता या पढ़ता है, वह उन परम प्रभुके विशुद्ध धाम (गोलोक) में जाता है' ॥ १२ ॥

इस उपनिषद्को पूर्वकालमें वशिष्ठजीने मधुरभाषी बृहस्पतिजीको पढ़ाया। बृहस्पतिजीने अपने यजमान इन्द्रको उपदेश किया और तभीसे यह उपनिषद् बार्हस्पत्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

प्रणवस्वरूप परमपुरुषको नमस्कार! प्रणवके स्मरणके साथ आद्या परमपालिका शक्तिको नमस्कार! नमस्कार !!

॥ अथर्ववेदीय श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

श्रीराधोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीराधाजीके स्वरूप तथा नामोंका वर्णन

ॐ एक बार ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियोंने भगवान् श्रीब्रह्माजीकी स्तुति करके पूछा, 'देव ! सर्वप्रधान देवता कौन हैं और उनकी कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं तथा उन शक्तियोंमें सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ कारण कौन-सी शक्ति है ?' यह सुनकर श्रीब्रह्माजी बोले—'पुत्रो ! सुनो; किंतु इस अति गोपनीय रहस्यको तुम किसीसे प्रकट न करना—तुम इसे किसी ऐरे-गैरेको मत दे डालना । हाँ, जो स्नेही हों, ब्रह्मवादी हों, गुरुभक्त हों, उन्हें अवश्य देना । उनके अतिरिक्त और किसीको देनेसे महान् पाप लगेगा । भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं । वे छहों ऐश्वर्योंसे पूर्ण भगवान् गोप और गोपियोंके सेव्य, श्रीवृन्दा (तुलसी) देवीसे आराधित और श्रीवृन्दावनके अधीश्वर हैं । वे ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं । उन्हीं श्रीहरिके एक रूप नारायण भी हैं जो कि अखिल ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं । ये श्रीकृष्ण प्रकृतिसे भी पुरातन और नित्य हैं। उनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं । उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं । ये ही परम अन्तरङ्गभूता श्रीराधा हैं । कृष्ण इनकी आराधना करते हैं, इसलिये ये राधा हैं; अथवा ये सर्वदा कृष्णकी आराधना करती हैं, इसलिये राधिका कहलाती हैं । श्रीराधाको गान्धर्वा भी कहते हैं; व्रजकी गोपाङ्गनाएँ, द्वारकाकी समस्त श्रीकृष्ण-महिषियाँ और श्रीलक्ष्मीजी इन्हीं श्रीराधिकाजीकी कायव्यूह (अंशरूपा) हैं । ये राधा और श्रीकृष्ण रस-सागर एक होते हुए ही शरीरसे क्रीड़ाके लिये दो हो गये हैं । ये श्रीराधिकाजी भगवान् हरिकी सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं और श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं । वेद एकान्तमें इनकी ऐसी ही स्तुति किया करते हैं । इनकी महिमाका मैं अपनी सम्पूर्ण आयुमें भी वर्णन नहीं कर सकता । जिसपर इनकी कृपा होती है, परमधाम उसके हाथमें आ जाता है । इन श्रीराधिकाजीको न जानकर जो श्रीकृष्णकी आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है, मूढतम है । श्रुतियाँ इनके इन नामोंका गान करती हैं—१ राधा, २ रासेश्वरी, ३ रम्या, ४ कृष्णमन्त्राधिदेवता, ५ सर्वाद्या, ६ सर्ववन्द्या, ७ वृन्दावनविहारिणी, ८ वृन्दाराध्या, ९ रमा, १० अशेषगोपीमण्डलपूजिता, ११ सत्या, १२ सत्यपरा, १३ सत्यभामा, १४ श्रीकृष्णवल्लभा, १५ वृषभानुसुता, १६ गोपी, १७ मूल-प्रकृति, १८ ईश्वरी, १९ गान्धर्वा, २० राधिका, २१ आरम्या, २२ रुक्मिणी, २३ परमेश्वरी, २४ परात्परतरा, २५ पूर्णा, २६ पूर्णचन्द्रनिभानना, २७ भुक्तिमुक्तिप्रदा तथा २८ भवव्याधिविनाशिनी । इन अट्ठाईस नामोंका जो पाठ करते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। यों भगवान् श्रीब्रह्माजीने कहा है* ।

---

* राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता । सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी ॥
वृन्दाराध्या रमाशेषगोपीमण्डलपूजिता । सत्या सत्यपरा सत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा ॥
वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी । गान्धर्वा राधिकाऽऽरम्या रुक्मिणी परमेश्वरी ॥
परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना । भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी ॥

'(इस प्रकार भगवान्‌की आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजीका वर्णन हुआ, अब उनकी सन्धिनी-शक्तिका विवरण सुनो ।) यह सन्धिनी-शक्ति धाम, भूषण, शय्या और आसनादि तथा मित्र और भृत्यादिके रूपमें परिणत होती है और मृत्युलोकमें अवतार लेनेके समय माता-पिताके रूपमें परिणत हो जाती है । यही अनेक अवतारोंकी कारण है । ज्ञानशक्तिको ही क्षेत्रज्ञशक्ति कहते हैं और इच्छाशक्तिके अन्तर्भूत माया-शक्ति है । यह सत्त्व, रज और तमोगुणरूपा है तथा बहिरङ्ग और जड है । (जड होनेके कारण भगवान्‌की दृष्टि पड़नेसे) यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना करती है तथा यही माया और अविद्यारूपसे जीवका बन्धन करती है । क्रियाशक्तिको ही लीलाशक्ति कहते हैं ।

'जो इस उपनिषद्‌को पढ़ते हैं, वे अव्रती भी व्रती हो जाते हैं तथा वे अग्निपूत, वायुपूत और सर्वपूत हो जाते हैं । वे श्रीराधाकृष्णके प्रिय होते हैं और जहाँतक दृष्टिपात करते हैं, वहाँतक सबको पवित्र कर देते हैं । ॐ तत्सत् ।'

॥ ऋग्वेदीय श्रीराधोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

एकमात्र श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति ।
तं पीठस्थं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(गोपालपू० ता०)

एकमात्र सबको वशमें रखनेवाले, सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा स्तवन करने योग्य हैं । वे एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित हैं । जो धीर भक्त उन पीठस्थ भगवान्‌को भजते हैं, उन्हींको सनातनी सिद्धि मिलती है, दूसरोंको नहीं ।

जो नित्योंके भी नित्य हैं, चेतनोंके भी परम चेतन हैं, जो एक ही बहुतोंकी कामना पूर्ण करते हैं, उन पीठस्थ श्रीभगवान्‌को जो धीर भक्त भजते हैं, उन्हींको सनातन सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

ब्रह्मबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मनके लयका साधन; आत्माका स्वरूप तथा ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

ॐ । मन दो प्रकारका बताया गया है, एक तो शुद्ध मन और दूसरा अशुद्ध । जिसमें कामनाओं—विषय-भोगोंके संकल्प उठते रहते हैं, वह अशुद्ध मन है; तथा जिसमें कामनाओंका सर्वथा अभाव हो गया है, वही शुद्ध मन है। मनुष्योंका मन ही उनके बन्धन और मोक्षका कारण है। विषयासक्त मन बन्धनका और विषय-संकल्पसे रहित मन मोक्षका कारण माना गया है । क्योंकि विषय-संकल्पसे शून्य होनेपर ही इस मनका लय होता है, इसलिये मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला साधक अपने मनको सदा विषयोंसे दूर रक्खे । जब मनसे विषयासक्ति निकल जाती है और वह हृदयमें स्थिर होकर उन्मनीभावको प्राप्त (संकल्प-विकल्पसे रहित) हो जाता है, तब वही परम पद है । मनको तभीतक रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये, जबतक कि वह हृदयमें ही विलीन नहीं हो जाता । मनका हृदयमें लय हो जाना—यही ज्ञान और मोक्ष है; इसके सिवा जो कुछ है, वह ग्रन्थका विस्तारमात्र है । जब न तो कोई चिन्तनीय रह जाय और न अचिन्तनीय ही रह जाय, चिन्तनीय तथा अचिन्तनीय दोनोंमेंसे किसीके प्रति भी मनका पक्षपात न रह जाय, उस समय यह साधक ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है । स्वर अर्थात् प्रणवके साथ परमात्माकी एकता करे और फिर प्रणवसे अतीत परम तत्त्वकी भावना (चिन्तन) करे । प्रणवातीत तत्त्वकी उस भावनाके द्वारा भावस्वरूप परमात्माकी ही उपलब्धि होती है, अभावकी नहीं । अर्थात् उसके बिना समाधि शून्यरूप ही होती है । वही कलाओंसे रहित अर्थात् अवयवहीन, विकल्पशून्य एवं निरञ्जन—मायारूप मलरहित ब्रह्म है । 'वह ब्रह्म मैं हूँ' यों जानकर मनुष्य निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है । विकल्प-शून्य, अनन्त, हेतु और दृष्टान्तसे रहित, अप्रमेय तथा अनादि परम कल्याणमय ब्रह्मको जानकर विद्वान् पुरुष अवश्य ही ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ १–९ ॥

न संहार है न सृष्टि; न बन्धन है न उससे छूटनेका उपदेश; न मुक्तिकी इच्छा है न मुक्ति । ऐसा निश्चय होना ही परमार्थबोध (यथार्थ ज्ञान) है । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्माका सम्बन्ध मानना चाहिये । जो इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत हो गया है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तर्यामी आत्मा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है । पृथक्-पृथक् जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति वही एक और अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। घटमें आकाश भरा है; किन्तु घटके फूट जानेपर जैसे केवल घड़ेका ही नाश होता है, उसमें भरे हुए आकाशका नहीं, उसी प्रकार देहधारी जीव भी आकाशके ही समान है—शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता । जीवोंका यह भिन्न-भिन्न प्रकारका शरीर घटके ही सदृश है, जो बारंबार फूटता या नष्ट होता रहता है। यह नष्ट होनेवाला जड शरीर अपने भीतर परिपूर्ण चिन्मय ब्रह्मको नहीं जानता, परंतु वह सर्वसाक्षी परमात्मा सब शरीरोंको सदा ही जानता रहता है। जीवात्मा जबतक नाममात्रका अस्तित्व रखनेवाली मायासे आवृत है, तबतक हृदय-कमलमें बद्धकी भाँति स्थित रहता है; जब अज्ञानमय अन्धकारका नाश हो जाता है, तब ज्ञानके आलोकमें विद्वान् पुरुष जीवात्मा और परमात्माकी नित्य एकताका ही दर्शन करता है ॥ १०–१५ ॥

शब्दब्रह्म (प्रणव) भी अक्षर है और परब्रह्म भी अक्षर है। इनमेंसे जिसके क्षीण होनेपर जो अक्षय बना रहता है, वह (परब्रह्म) ही वास्तवमें अक्षर (अविनाशी) है। विद्वान् पुरुष यदि अपने लिये शान्ति चाहे तो उस अक्षर परब्रह्मका ही ध्यान करे। दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं—एक तो वह, जिसे 'शब्दब्रह्म' कहते हैं और दूसरी वह, जो 'परब्रह्म' के नामसे प्रसिद्ध है। 'शब्दब्रह्म' (वेद-शास्त्रोंके ज्ञान) में पारङ्गत होनेपर मनुष्य परब्रह्मको जान लेता है। बुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थका अभ्यास करके उससे ज्ञान-विज्ञानके तत्त्वको ग्रहण कर ले, फिर समूचे ग्रन्थको त्याग दे—ठीक उसी तरह, जैसे धान्य—अन्न चाहनेवाला मनुष्य अन्नको तो ले लेता है और पुआलको खलिहानमें ही छोड़ देता है। अनेक रंग-रूपोंवाली गौओंका भी दूध एक ही रंगका होता है। इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष विभिन्न साम्प्रदायिक चिह्नोंको धारण करनेवाले पुरुषोंके ज्ञानको भी गौओंके दूधकी भाँति एक-सा ही देखता है। बाह्य चिह्नोंके भेदसे ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं आता। जैसे दूधमें घी छिपा रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीके भीतर विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) निवास करता है। जिस प्रकार घीके लिये दूधका मन्थन किया जाता है, वैसे ही विज्ञानमय ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये मनको मथानी बनाकर सदा मन्थन (चिन्तन और विचार) करते रहना चाहिये। तदनन्तर ज्ञानदृष्टि प्राप्त करके अग्निके समान तेजोमय ब्रह्मका इस प्रकार अनुभव करे कि 'वह कलाशून्य, निर्मल एवं शान्त परब्रह्म मैं हूँ।' यही विज्ञान माना गया है। जिसमें सम्पूर्ण भूतोंका निवास है, जो स्वयं भी सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें निवास करता है तथा सबपर अहैतुकी दया करनेके कारण प्रसिद्ध है, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं हूँ, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं हूँ। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ १६–२२॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय ब्रह्मविन्दूपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

निश्चयके अनुसार ब्रह्मकी प्राप्ति

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।

(३।१४।४)

शाण्डिल्य ऋषिके ये वचन हैं—जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त विश्वमें सर्वत्र व्याप्त, वाक्रहित और सम्भ्रमशून्य है, वह मेरा आत्मा हृदयमें सदा विराजमान है। यही ब्रह्म है। इस शरीरको छोड़कर जानेपर मैं इसी परब्रह्मको प्राप्त हो जाऊँगा। जिसका ऐसा दृढ़ विश्वास है, जिसको इसमें कोई संदेह भी नहीं है (उसे इसी ब्रह्मकी प्राप्ति होती है)।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

ध्यानबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ध्यानयोगकी महिमा तथा स्वरूप

यदि बहुयोजनविस्तीर्ण पर्वतके समान भी भारी पापराशि हो, तो भी वह ध्यानयोगके द्वारा नष्ट हो जाती है। (ऐसे महापाप) और किसी साधनसे कभी नष्ट नहीं होते ॥ १ ॥

बीज (कारणभूत) अक्षर (मकार) से परे बिन्दु है और बिन्दुसे परे भी नाद स्थित है, जिससे सुन्दर शब्दका उच्चारण होता है। शक्तिरूप प्रणव नादसे भी परे स्थित है तथा अकारसे लेकर शक्तिपर्यन्त प्रणवरूप अक्षरके क्षीण होनेपर जो शब्दहीन स्थिति होती है, वही 'शान्त' नामसे प्रसिद्ध परम पद है। जो अनाहत (बिना आघातके उत्पन्न, ध्यानमें सुनायी पड़नेवाला, मेघ-गर्जनके समान प्रकृतिका आदि-शब्द) है, उस शब्दका भी जो परम कारण—शक्ति है, उसके भी परमकारण सच्चिदानन्दस्वरूप शान्तपदको जो योगी प्राप्त कर लेता है, उसके समस्त संदेह नष्ट हो जाते हैं ॥ २-३ ॥

बालकी नोकके पचास हजार भाग किये जायँ, फिर उस भागके भी सहस्र भाग करनेपर उस भागका भी जो अर्द्धभाग है, उसके समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म वह निरञ्जन (विशुद्ध) ब्रह्म है—यों जानना चाहिये। तात्पर्य यह कि वह अत्यन्त दुर्लक्ष्य परमतत्त्व है। जैसे पुष्पमें गन्ध व्याप्त रहती है, जैसे दूधमें घृत अलक्षित रहता है, जैसे तिलमें तेल अनुस्यूत रहता है, जैसे सोनेकी खानके पत्थरोंमें सोना अव्यक्त रहता है, उसी प्रकार वह आत्मा समस्त प्राणियोंमें छिपा है। निश्चयात्मिका बुद्धिसे सम्पन्न, अज्ञानरहित ब्रह्मवेत्ता (सूत्रकी) मणियोंमें सूत्रके समान आत्माको व्याप्त जानकर उसी ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं। जैसे तिलोंमें तेल व्याप्त है, जैसे फूलोंमें सुगन्ध व्याप्त है, वैसे ही पुरुषके शरीरके बाहर एवं भीतर सब ओर आत्मतत्त्व व्याप्त होकर स्थित है ॥ ४—७ ॥

जैसे वृक्ष अपनी पूरी कलाके साथ रहता है और उसकी छाया वृक्षकी कलासे हीन रहती है, वैसे ही आत्मा अपने कलात्मक (स्व-सच्चिदानन्द) स्वरूपसे और निष्कल (छाया-स्थानीय जगद्रूप) भावसे सर्वत्र व्याप्त होकर अवस्थित है ॥८॥

(उपर्युक्त आत्मस्वरूपकी उपलब्धि—अनुभूतिके लिये साधन निर्देश करते हैं कि विधिवत् आसनपर अवस्थित होकर) पूरकके द्वारा श्वासको भीतर खींचते हुए नाभिस्थानमें अतसी-पुष्पके समान नीलवर्ण, चतुर्भुज महावीर (भगवान् विष्णु) का ध्यान करना चाहिये। कुम्भकके द्वारा—श्वासको भीतर रोके हुए हृदयस्थानमें लाल कमलकी कर्णिकापर विराजमान, लालवर्णके, चार मुखवाले लोकपितामह ब्रह्माजीका ध्यान करना चाहिये। रेचकके द्वारा श्वास छोड़ते समय ललाटमें विद्यास्वरूप, तीन नेत्रोंवाले, शुद्ध स्फटिकके समान उज्ज्वल रंगके, कलारहित, पापविनाशक भगवान् शङ्करका ध्यान करना चाहिये ॥ ९—११ ॥

सुषुम्णापथमें उपर्युक्त तीनों कमलोंमेंसे नाभिस्थानका कमल आठ दलोंका है। हृदयस्थानका कमल ऊपर नाल एवं नीचे मुख करके अवस्थित है। ललाटमें अवस्थित कमल केलेके फूलके समान नीललोहित (बैंगनी रंगका) है। ये तीनों कमल सर्वदेवमय हैं। इन तीनोंसे ऊपर मूर्धदेशमें एक और कमल है। उसमें सौ दल हैं। उस खिले हुए कमलकी कर्णिका विस्तृत है।

उस कर्णिकापर पहले सूर्य, फिर उनके ऊपर चन्द्रमा और चन्द्रके ऊपर अग्नि—इस प्रकार एकके ऊपर एकका क्रमशः चिन्तन करे। क्योंकि वह कमल सुप्त है; अतः सूर्य, चन्द्र एवं अग्निके धारणके लिये ध्यानके द्वारा उसे पहले जाग्रत्—विकसित कर लेना चाहिये। उस पद्मपर स्थित बीजों (पचास अक्षरों) का उच्चारण करके ही यह जीवात्मा बात-चीत आदि व्यवहारका निर्वाह करता रहता है ॥ १२–१४ ॥

(नाभि, हृदय एवं ललाट)—इन तीनों स्थानों तथा (अपनी उपासनाके पूरक, कुम्भक, रेचक)-रूप तीन मार्गोंवाले; विष्णु, ब्रह्मा एवं शिवरूपसे त्रिविध ब्रह्मस्वरूप; प्रणवरूपमें अकारादि तीन अक्षरोंवाले; उसी रूपमें अकार, उकार, मकार—इन तीन मात्राओंवाले तथा उनमें व्याप्त अर्धमात्रास्वरूप जो परमात्मा हैं, उनको जो जानता है, वही वेदके तात्पर्यका ज्ञाता है। इन तेलकी धाराके समान अविच्छिन्न, घंटेकी अनुरणनरूप ध्वनिके समान दीर्घकालतक ध्वनित होनेवाला तथा बिना वाणीके (प्राणोंद्वारा ही) उच्चरित बिन्दुपर्यन्त प्रणवके बाद प्रकट होनेवाले नादको जो जानता है, वही वेदोंको ठीक जानता है ॥ १५-१६ ॥

प्रणव धनुष है, आत्मा ही बाण है एवं परब्रह्म परमात्मा उसके लक्ष्य हैं। प्रमादहीन साधकके द्वारा ही वह बेधा जाता है। अतः बाणकी भाँति उस लक्ष्यमें तन्मय हो जाना चाहिये। अपने शरीरको नीचेकी अरणि (यज्ञिय अग्निमन्थन-काष्ठ) बनावे और प्रणवको ऊपरकी अरणि बनावे। ध्यानाभ्यासरूपी मन्थन-क्रियाके द्वारा साधक काष्ठमें व्याप्त हुई अग्निकी भाँति सबके भीतर व्याप्त परमदेव परमात्माका साक्षात्कार करे ॥ १७-१८ ॥

जैसे (बच्चे) कमलकी नालसे पानी धीरे-धीरे खींचते हैं, वैसे ही योगी योगावस्थामें स्थित होकर धीरे-धीरे प्राणोंको खींचे (अर्थात् स्वाधिष्ठान आदि चक्रोंका भेदन करते हुए प्राणको क्रमशः ऊर्ध्वभूमिकामें ले जाय)। जैसे किसान रस्सी-द्वारा कुएँसे जल निकालता है, उसी प्रकार प्रणवकी अर्धमात्रा (अव्यक्त नादोच्चारण) को रस्सी बनाकर हृदय-कमलरूपी कुएँसे नाल (सुषुम्णा)-मार्गके द्वारा जलरूपा कुण्डलिनीको भ्रूमध्यमें ले जाय। नासिकाकी जड़से लेकर दोनों भौंहोंके मध्यमें जो ललाट है, वहाँतक अमृत-स्थान समझना चाहिये। यही विश्वका महान् निवास-स्थान (परमात्मपद) है। यही विश्वका महान् निवासस्थान (परमात्मपद) है।

॥ कृष्णयजुर्वेदीय ध्यानबिन्दूपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मत्वकी प्राप्ति

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥

(बृहदारण्यक ४ । ४ । २५)

यह महान् आत्मा जन्मसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित और भयसे रहित है। ब्रह्म अभय है, निश्चय ब्रह्म अभय है। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

तेजोबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रणवस्वरूप तेजोमय बिन्दुके ध्यानकी महिमा तथा उसके अधिकारी एवं अनधिकारी

ॐ मायिक जगत्से परे हृदयाकाशमें अवस्थित प्रणवस्वरूप तेजोमय बिन्दुका ध्यान ही परम ध्यान है। वह तेजोमय बिन्दुका ध्यान आणव (अत्यन्त सूक्ष्म उपायसे साध्य), शाम्भव (शिवरूपताकी प्राप्ति करानेवाला) एवं शाक्त (गुरुकी शक्तिसे ही साध्य) है। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा इन दोनोंसे परे सर्वातीत फलस्वरूप भी है। बुद्धिमान् मुनियोंके लिये भी उस बिन्दुके ध्यानकी साधना बड़ी कठिन है, वह कठिनतासे आराधित (सिद्ध) होता है। वह दुर्दर्श है। उसका आश्रयण कठिनतासे हो पाता है। वह कठिनाईसे ही लक्षित होता है। वह दुस्तर है, उस ध्यानको अन्ततक निभा लेना अत्यन्त कठिन है ॥ १-२ ॥

आहारको जीतकर (मिताहारी होकर), क्रोधको वशमें करके, समस्त सङ्गोंसे तटस्थ होकर, इन्द्रियोंपर विजय करके, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित होकर, अहंकारको त्यागकर, समस्त आशाओंको छोड़कर एवं संग्रहहीन होकर, तथा दूसरोंको जो अगम्य है, उसे भी प्राप्त करनेके दृढ़ निश्चयसे युक्त होकर, केवल गुरुसेवाका ही प्रयोजन रखनेवाला साधक इस ध्यानका मुख्य अधिकारी है। इस तेजोमय बिन्दुके ध्यानमें साधकलोग वैराग्य, उत्साह एवं गुरुभक्ति—ये तीन द्वार (प्रमुख साधन) उपलब्ध करते हैं; अतः यह हंस (विशुद्धतत्त्व) त्रिधामा कहा जाता है ॥ ३-४ ॥

यह ध्यान करनेयोग्य तेजोबिन्दु परम गोपनीय एवं अधिष्ठानरूप है। यह सबको प्रतीत न होनेके कारण अव्यक्त है, ब्रह्मस्वरूप है; इसका कोई अधिष्ठान नहीं। यह स्वयं ही सबका आधार है। यह आकाशके समान व्यापक है, सूक्ष्मकलात्मक एवं भगवान् विष्णुका प्रसिद्ध परमपद (परमधाम) भी यही है। यह तीनों लोकोंका पिता (उत्पत्तिस्थान), त्रिगुणमय, सबका आश्रय, त्रिभुवनस्वरूप, निराकार, गतिहीन, समस्त विकल्पोंसे रहित, बिना किसी आधार एवं आश्रयका—स्वप्रतिष्ठानस्वरूप है। यह समस्त उपाधियोंसे रहित, स्थिति, वाणी प्रभृति इन्द्रियों एवं मनकी गतिसे परे, स्वभावकी भावना (अपने वास्तविक स्वरूपके चिन्तन)-द्वारा ही ग्राह्य तथा समष्टि और व्यष्टिवाचक पदोंसे भी अगम्य है ॥ ५—७ ॥

यह तेजोबिन्दु आनन्दस्वरूप, विषय-सुखोंसे परे, बड़ी कठिनाईसे साक्षात् होनेवाला, अजन्मा, अविनाशी, चित्तकी वृत्तियोंसे विनिर्मुक्त, शाश्वत, निश्चल तथा अस्खलित है। वही ब्रह्मस्वरूप है। वही अध्यात्मस्वरूप है। वही निष्ठा, परम मर्यादा और वही परम आश्रय है। वह शून्य न होनेपर भी शून्यके समान है और शून्यसे परे स्थित है। वह न ध्यान है, न ध्यान करनेवाला है और न ध्येय है; तथापि सदा ध्यान करनेयोग्य अथवा ध्येयस्वरूप ही है। वह सर्वस्वरूप और सबसे परे है। शून्यस्वरूप है। उस परमतत्त्वसे परे कुछ भी नहीं है। वह परात्पर है। वह अचिन्त्य है। उसमें जागरण आदिका व्यापार महीं है। उसे ज्ञानी महात्मा सत्यरूपसे ही जानते हैं। वह मुनियोंके योग्य (मुनियोंका आराध्य) तत्त्व है और देवता उसे परमतत्त्वरूप ही जानते हैं ॥८—११॥

लोभ, मोह, भय, अहङ्कार, काम और क्रोधके परायण तथा पापोंमें लगे हुए लोग, सर्दी-गर्मीके द्वन्द्वोंमें आसक्त, भूख-प्यासकी चिन्ता एवं विविध संकल्प-विकल्पोंमें संलग्न, ब्राह्मण (उच्च) वंशमें उत्पत्तिका गर्व रखनेवाले और मुक्ति-प्रतिपादक शास्त्रोंके केवल संग्रहमें आसक्त (केवल शास्त्र-ज्ञानी) उस तेजोबिन्दुको नहीं जान पाते। तथा वह भय, सुख-दुःख तथा मानापमानादिमें फँसे हुए लोगोंको भी नहीं प्राप्त होता। जो इन सारे (दूषित) भावोंसे छूटे हुए हैं, उन्हींके द्वारा यह परात्पर ब्रह्म प्राप्त होनेयोग्य है। उन्हींके द्वारा वह परात्पर ब्रह्म प्राप्त होनेयोग्य है ॥ १२-१३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय तेजोबिन्दूपनिषद् समाप्त ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

नादबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐकारकी हंसरूपमें उपासना

ॐ। प्रणवरूपी हंसका अकार दक्षिण पक्ष (पाँख) और उकार उत्तर (बायाँ) पक्ष माना गया है। मकार ही उसकी पूँछ है तथा अर्द्धमात्रा सिर है। रजोगुण और तमोगुण उसके दोनों पैर हैं और सत्त्वगुण शरीर कहलाता है। धर्म दक्षिण नेत्र है और अधर्म वाम नेत्र कहलाता है। भूलोक उसके दोनों पैरोंमें है। भुवर्लोक उसके दोनों जानुओंमें है, स्वर्लोक उसके कटिदेशमें है और महर्लोक नाभिदेशमें है। जनलोक उसके हृदयमें है, तपोलोक कण्ठदेशमें है। भौंहों और ललाटके बीचमें सत्यलोक व्यवस्थित है। उपर्युक्त कथनके अनुमोदनमें श्रुतिने संमतिरूपसे 'सहस्राक्ष्यम्'* यह मन्त्र प्रदर्शित किया है। इस प्रकारसे वर्णित जो ॐकाररूपी हंस है, उसपर आरूढ़—उसके चिन्तनमें निमग्न हुआ हंसयोग-विचक्षण पुरुष—प्रणवकी ध्यान-विधिमें कुशल उपासक कर्मानुष्ठान करते हुए कोटि-कोटि पापोंसे छूटकर बन्धन-मुक्त हो जाता है ॥ १—५ ॥

द्वितीय खण्ड

ॐकारकी बारह मात्राएँ और उनमें प्राण-वियोगका फल

अकार नामकी प्रथम मात्रा आग्नेयी है, अग्निमण्डल-सदृश उसका रूप है, अग्नि उसके देवता हैं। दूसरी उकार नामकी मात्रा वायव्या है, वायुमण्डलसदृश रूपवाली है। वायु उसके देवता हैं। उसके बाद मकार नामकी उत्तर-मात्रा सूर्यमण्डलके सदृश है, सूर्य ही उसके देवता हैं। और चौथी अर्द्धमात्रा वारुणी है, उसके देवता वरुण हैं। उन चारों

* पूरा मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है—'सहस्राक्ष्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गं स देवान् सर्वानुरस्युपदद्य सम्पश्यन् याति भुवनानि पश्य।'

अर्थात् सूर्यदेवके विचरण करनेयोग्य जो स्वर्ग—द्युलोक है, उसकी ओर उड़नेवाले श्रीविष्णुरूपी हंस (ॐकार) के दो पंख हैं—पूर्व और पश्चिमके आकाशस्वरूप, अकार और उकार—ये दो मात्राएँ। वह ॐकाररूप हंस सात्त्विक देवताओंको अपने सत्त्वमय हृदयमें स्थापित करके सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखता हुआ ब्रह्मलोकतक गमन करता है; उसपर आरूढ़ हुआ उपासक भी वहाँतक पहुँच जाता है।

मात्राओंमेंसे प्रत्येक मात्रा तीन-तीन कलारूपी मुखसे सुशोभित है। इस प्रकार द्वादशकलात्मक 'ॐकार' कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा इसको जानना चाहिये। उन द्वादश कलाओंमें प्रथमा मात्रा 'घोषिणी' कहलाती है, द्वितीया 'विद्युन्माला', तृतीया 'पतङ्गी', चतुर्थी 'वायुवेगिनी', पञ्चमी 'नामधेया' और षष्ठी मात्रा 'ऐन्द्री' कहलाती है। सप्तमीका नाम 'वैष्णवी' है और अष्टमी 'शाङ्करी' कहलाती है। नवमी 'महती', दशमी 'ध्रुवा', एकादशी 'मौनी' और द्वादशी मात्रा 'ब्राह्मी' कहलाती है। यदि प्रथमा मात्रामें उपासकका प्राणान्त होता है तो वह भारतवर्षमें सार्वभौम चक्रवर्ती राजाके रूपमें जन्म लेता है। द्वितीया मात्रामें प्राणोंका उत्क्रमण होनेपर वह महिमाशाली यक्ष होता है। तृतीया मात्रामें विद्याधर, और चतुर्थीमें गन्धर्व होता है। यदि पञ्चमी मात्रामें उसका प्राणोंसे वियोग होता है तो वह तुषित नामके देवताओंके साथ रहता हुआ चन्द्रलोकमें सम्मानित होता है। षष्ठी मात्रामें (मृत्यु होनेपर) इन्द्रका सायुज्य प्राप्त होता है। सप्तमीमें भगवान् विष्णुके पद (वैकुण्ठ-धाम) को प्राप्त करता है। अष्टमीमें रुद्रलोकमें जाकर पशुपति भगवान् शङ्करका सामीप्य लाभ करता है। नवमी मात्रामें महर्लोक, दशमी मात्रामें ध्रुवलोक, एकादशी मात्रामें तपोलोक तथा द्वादशी मात्रामें प्राणका उत्क्रमण होनेपर उपासक शाश्वत ब्रह्मलोकमें (ब्रह्माकी आयुपर्यन्त) प्रतिष्ठित होता है॥ १—१० ॥

तृतीय खण्ड

योगयुक्त स्थितिका वर्णन

इसकी अपेक्षा भी परतर—श्रेष्ठ, शुद्ध, व्यापक, निष्कल तथा कल्याणस्वरूप सदा उदित परमब्रह्म-तत्त्व है; उसीसे अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि सभी प्रकारकी ज्योतियोंका उदय होता है। जब मन इन्द्रियातीत और सत्त्व आदि तीनों गुणोंके परे परतत्त्वमें लीन होता है, तब वह उपमारहित और अभावस्वरूप हो जाता है। उस स्थितिमें साधकको योगयुक्त कहना चाहिये। जो परमात्माका भक्त है, जिसका मन परमात्मामें ही आसक्त है, वह योगमार्गके द्वारा स्वस्थ होकर सब प्रकारकी लौकिक आसक्तियोंसे मुक्त हो धीरे-धीरे शरीरमें आत्माभिमानको त्याग दे। तब उसका संसार-बन्धन नष्ट हो जाता है; वह निर्मल, कैवल्य-प्राप्त और परमात्मस्वरूप हो जाता है। और उसी ब्रह्मभावसे परमानन्दको प्राप्त करता है, परमानन्दका उपभोग करता है॥ १—४ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

ज्ञानीके लिये प्रारब्ध नहीं रह जाता

हे महामते! निरन्तर प्रयत्न करके आत्माके स्वरूपको जानकर उसीके चिन्तनमें अपना समय व्यतीत करो; समस्त प्रारब्धकर्मोंके भोगोंको भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिये। आत्मज्ञान हो जानेपर भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। परंतु जब तत्त्वज्ञानका उदय होता है, तब ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रारब्धकर्मका उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्नलोकके देहादिक असत् होनेके कारण जागनेपर नहीं रह जाते। जन्मान्तरके किये हुए जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं। परंतु ज्ञानीके लिये तो जन्मान्तर भी नहीं है; अतः उसके लिये कभी भी प्रारब्ध नहीं रहता। जिस प्रकार स्वप्नकालीन देह देह नहीं होती, अध्यासमात्र होती है, उसी प्रकार यह जाग्रत्-कालका शरीर भी अध्यासमात्र है। अध्यस्त पदार्थकी उत्पत्ति कहाँ होती है। और जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, उसकी स्थिति कहाँ! (जैसे रज्जुमें सर्पका अध्यास होनेपर रज्जुमें सर्प नहीं पैदा होता और न वहाँ सर्पकी स्थिति ही होती है।) इस प्रपञ्चका उपादान-कारण आत्मा है, जिस प्रकार मिट्टीके पात्रोंका उपादान-कारण मिट्टी है। वेदान्तके अनुसार यह प्रपञ्च अज्ञानके कारण आत्मामें भासता है; यदि अज्ञान नष्ट हो जाय तो विश्वकी विश्वता कहाँ रहेगी। जिस प्रकार भ्रमसे मनुष्य रज्जुबुद्धिका त्याग करके उसे सर्पबुद्धिसे ग्रहण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष सत्य (आत्मा)का ज्ञान न होनेके कारण प्रपञ्चको देखता है।

जब सामने रस्सीके टुकड़ेको अच्छी तरह पहचान लेनेपर जैसे उसमें प्रतीत होनेवाला सर्परूप नहीं रह जाता, उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्माका ज्ञान होनेपर जब प्रपञ्च भी शून्यताको प्राप्त हो जाता है, तब देह भी प्रपञ्चरूप ही होनेके कारण उसके साथ ही शून्यतामें परिणत हो जाता है। उस अवस्थामें प्रारब्धकी स्थिति कैसे रह सकती है। अज्ञानीजनोंको समझानेके लिये प्रारब्धकी बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही प्रारब्धके नष्ट हो जानेपर प्रणव और ब्रह्मकी एकताके चिन्तनसे नादरूपमें साक्षात् ज्योतिर्मय, शिवस्वरूप परमात्माका आविर्भाव होता है—ठीक वैसे ही, जिस प्रकार मेघके दूर हो जानेपर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। योगी सिद्धासनसे बैठकर वैष्णवी मुद्रा[1] धारण करके दाहिने कानके भीतर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) को सदा सुनता रहे। इस प्रकार अभ्यासमें लाया हुआ नाद बाह्य ध्वनियोंको आवृत कर लेता है। इस प्रकार एक पक्ष अर्थात् अकारको जीतकर दूसरे पक्ष उकारको जीते और क्रमशः सम्पूर्ण प्रणवपर विजय प्राप्तकर तुर्यपद अर्थात् आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होता है ॥ १–११ ॥

द्वितीय खण्ड

नादके अनेक प्रकार

अभ्यासके प्रारम्भमें यह नाद बहुत जोर-जोरसे और नाना प्रकारसे सुनायी देता है और अभ्यासके बढ़ जानेपर वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर रूपमें सुनायी पड़ता है। प्रारम्भमें समुद्र, बादल, भेरी तथा झरनोंसे उत्पन्न ध्वनिके समान एवं मृदङ्ग, घंटे तथा नगारेकी ध्वनिके समान वह नाद सुनायी देता है और अन्तमें किङ्किणी, वंशी, वीणा तथा भ्रमरकी ध्वनिके समान मधुर नाद सुन पड़ता है। इस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होते हुए नाना प्रकारके नाद सुनायी पड़ते हैं ॥ १—३ ॥

तृतीय खण्ड

नादानुसंधान

जब महान् भेरी आदिकी ध्वनि सुन पड़े, तब उसमें सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर नादका विचार करे—घने नादको छोड़कर सूक्ष्म नादमें अथवा सूक्ष्म नादको छोड़कर घने नादमें रमते या जाते हुए मनको अन्यत्र न ले जाय। पहले जिस किसी भी सूक्ष्म या घन नादमें मन लगता है, वहीं-वहीं वह स्थिर होकर उस नादके साथ ही विलीन हो जाता है। सारे बाह्य प्रपञ्चको भूलकर दूधमें मिले हुए पानीके समान नादमें एकीभूत हुआ मन उस नादके साथ ही सहसा चिदाकाशमें विलीन हो जाता है। इसलिये नाद-श्रवणसे अतिरिक्त विषयोंकी ओरसे उदासीन होकर संयमी पुरुष निरन्तर अभ्यासके द्वारा मनको तत्काल अपने प्रति उत्सुक बनानेवाले नादका ही श्रवण एवं चिन्तन करता रहे। सारी चिन्ताओंका त्याग करके, सारी चेष्टाओंको छोड़कर नादका ही अनुसंधान करे; क्योंकि नादमें चित्त विलीन होता है, नादमें चित्त विलीन होता है ॥ १–५ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

नादके द्वारा मन कैसे वशीभूत होता है

जिस प्रकार पुष्परसका पान करता हुआ भ्रमर पुष्पगन्धकी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार नादमें सदा आसक्त रहनेवाला चित्त विषयोंकी आकाङ्क्षा नहीं करता। यह चित्तरूपी आन्तरिक सर्प नादको ग्रहण करनेपर उस सुन्दर नादकी गन्धसे बँधकर तत्काल सारी चपलताओंका परित्याग कर देता है। फिर संसारको भूलकर और

१. 'अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥'
'बाहरकी ओर निर्निमेष दृष्टि हो और भीतरकी ओर लक्ष्य हो—सब तन्त्रोंमें गूढ भावसे बतायी हुई वह वैष्णवी मुद्रा यही है।'

एकाग्र होकर इधर-उधर कहीं नहीं दौड़ता । विषयोंके उद्यानमें विचरनेवाले मनरूपी मतवाले हाथीको वशीभूत करनेमें यह नादरूपी तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ होता है । यह नाद मनरूपी मृगके बाँधनेमें जालका काम करता है । मनरूपी तरङ्गको रोकनेमें तटका काम करता है ॥ १—५ ॥

द्वितीय खण्ड

नादमें मनका लय

ब्रह्मस्वरूप प्रणवमें संलग्न नाद ज्योतिःस्वरूप होता है, उसमें मन लयको प्राप्त होता है । वही भगवान् विष्णुका परमपद है । जबतक शब्दोंका उच्चारण और श्रवण होता है, तभीतक मनमें आकाशका संकल्प रहता है । निःशब्द होनेपर तो वह परम ब्रह्म परमात्मरूपमें ही अनुभूत होता है । जबतक नाद है, तबतक मन है । नादके सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होनेपर मन भी अमन हो जाता है । सशब्द नाद अक्षर-ब्रह्ममें क्षीण हो जाता है । उस निःशब्द नादको ही परम पद कहते हैं । जब निरन्तर नादका अनुसन्धान करनेसे वासनाएँ सम्यक्‌रूपसे क्षीण हो जाती हैं, तब मन और प्राण निःसन्देह निराकार ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं । कोटि-कोटि नाद और कोटि-कोटि बिन्दु ब्रह्मप्रणवनादमें लीन हो जाते हैं ॥ १—५ ॥

तृतीय खण्ड

मनके अमन हो जानेकी स्थितिका वर्णन

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति प्रभृति सारी अवस्थाओंसे मुक्त हुआ तथा सारी चिन्ताओंको त्यागकर जो योगी मृतवत् रहता है, वह मुक्त है—इसमें संशय नहीं है । वह शङ्ख-दुन्दुभिनादको कदापि नहीं सुनता । जिसमें मन अमन हो जाता है, उस अवस्थाके होनेपर मन इस देहमें रहकर भी काष्ठवत् निश्चेष्ट प्रतीत होता है । वह न शीत जानता है न उष्ण और न सुख जानता है न दुःख । न मान समझता है न अपमान । समाधिके द्वारा वह इन सबका सम्यक्‌रूपसे त्याग कर देता है । योगीका चित्त जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थाओंका कभी अनुसरण नहीं करता । योगी जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थासे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है । बिना दृश्य वस्तुके ही जिसकी दृष्टि स्थिर है, बिना प्रयत्नके ही जिसकी प्राणवायु स्थिर है, बिना किसी अवलम्ब या आश्रयके ही जिसका चित्त स्थिर हो गया है, वह योगी ब्रह्ममय प्रणवके अन्तर्वर्ती तुरीय-तुरीय स्वरूप नादरूपमें स्थित है । यह इतना उपनिषद् है ॥ १—५ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय नादबिन्दूपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

अमृतनादोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रणवोपासना; योगके छः अङ्ग; प्राणायामकी विधि; योग-साधनका फल; पाँचों प्राणोंका रंग

बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रोंका अध्ययन करके एवं बार-बार उनका अभ्यास करके ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके परम कारणभूत इस बिजलीकी चमकके समान क्षणप्रकाशी जीवनको व्यर्थ नष्ट न करे । ॐकारके रथमें बैठकर और भगवान् विष्णुको सारथि बनाकर ब्रह्मलोकके यथार्थ पदका अन्वेषण करते हुए भगवान् रुद्रकी आराधनामें तत्पर होना चाहिये ।* तबतक रथसे चले, जबतक रथसे चलने योग्य मार्गपर ही स्थिति हो । जब वह मार्ग पूरा हो जाता है, तब उस रथ-मार्गपर खड़े हुए रथको छोड़कर मनुष्य स्वतः आगे चला जाता है । तात्पर्य यह कि जबतक लक्ष्यकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक दृढ़तापूर्वक साधनमें संलग्न रहना चाहिये; लक्ष्य-सिद्धिके पश्चात् अनावश्यक साधन स्वतः छूट जाते हैं ।

प्रणवकी जो अकार आदि मात्राएँ हैं, उनके लिङ्गभूत जो **'जागरितस्थानः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः'** इत्यादि पद हैं, उनके आश्रयभूत विश्व, विराट् आदिके चिन्तनपूर्वक उनका त्याग करके स्वरहीन (केवल नादरूप) मकारके द्वारा उसके अर्थभूत प्राज्ञ ईश्वरका चिन्तन करनेसे साधक क्रमशः उस सूक्ष्मपद (तुरीयतत्त्व) में प्रवेश करता है, जो अकारादि स्वरों और ककारादि व्यञ्जनोंसे व्यवहृत होनेवाले सम्पूर्ण प्रपञ्चसे सर्वथा परे है । शब्द-स्पर्शादि पाँचों विषय, उन्हें ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ तथा अत्यन्त चञ्चल मन—इनको सूर्यस्वरूप अपने आत्माकी किरणोंके रूपमें देखे । अर्थात् आत्मप्रकाशसे ही मनकी सत्ता है और उसी आत्मप्रकाशकी बाह्य सत्तासे शब्दादि विषय भी सत्तावान् हैं, ऐसा चिन्तन करे । इस प्रकार अनात्मपदार्थोंकी ओरसे मन और इन्द्रियोंको समेटकर केवल आत्माके चिन्तनको 'प्रत्याहार' कहा जाता है । प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क (विचार) तथा समाधि—ये योगके छः अङ्ग बताये गये हैं ॥ १—६ ॥

जैसे पर्वतोंमें उत्पन्न स्वर्णादि धातुओंका मल उनको अग्निमें तपानेसे भस्म हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंद्वारा लाये गये दोष प्राणोंके रोकने (प्राणायाम करने) से भस्म हो जाते हैं । प्राणायामके द्वारा दोषों (इन्द्रियोंमें आये हुए विकारों) को तथा धारणाके द्वारा पापों (इन्द्रिय-लोलुपताके संस्कारों) को भस्म कर दे । इस प्रकार पापों तथा उनके संस्कारोंका नाश करके आराध्यके मनोहर स्वरूपका चिन्तन करे । आराध्यके उस मनोहर स्वरूपका चिन्तन करते हुए वायुको भीतर स्थिर रखना (कुम्भक करना), रेचक करना (श्वासको छोड़ना) तथा वायुको खींचना (पूरक करना)—इस प्रकार रेचक, पूरक तथा कुम्भकके रूपमें तीन प्रकारके प्राणायाम बताये गये हैं । प्राण-शक्तिका विस्तार करनेवाला साधक (**ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः,**

* यहाँ प्रणव तथा उसकी मात्राओंके चिन्तनकी बात कही गयी है । प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—अकार, उकार तथा मकार । अकार विष्णुका, उकार ब्रह्माका तथा मकार भगवान् रुद्रका वाचक है । इन तीन मात्राओंका क्रमशः चिन्तन करना चाहिये । विष्णुको सारथि बनाना 'अकार' रूप प्रथम मात्राका चिन्तन करना है । ब्रह्मलोक-पदका अन्वेषण उकारका चिन्तन है और रुद्रकी आराधनाका तात्पर्य मकारका चिन्तन है ।

ॐ तपः, ॐ सत्यम्—इस प्रकार) व्याहृतियों तथा प्रणव-सहित सम्पूर्ण गायत्री-मन्त्रका (**ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्** इस) शिरोभागके साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय जब तीन-तीन बार मानस-पाठ करे, तब उसे एक 'प्राणायाम' कहते हैं ॥ ७—१० ॥

प्राणवायुको आकाशमें निकालकर हृदयको वायुशून्य एवं चिन्तनशून्य करके शून्यभावमें मनको लगा दे, यह रेचक प्राणायामका लक्षण है। जैसे मनुष्य मुखसे कमल-नालद्वारा धीरे-धीरे जलको खींचता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे वायुको अपने भीतर ग्रहण करना चाहिये—यह पूरकका लक्षण है। न तो श्वासको भीतर खींचे, न बाहर ही निकाले और न शरीरको हिलाये ही—इस प्रकार प्राणवायुका निरोध करे; यह कुम्भक प्राणायामका लक्षण है ॥ ११-१३ ॥

रूपोंको अंधेके समान देखे, शब्दको बहरेके समान सुने तथा शरीरको लकड़ीके समान समझे। अर्थात् रूप, शब्द तथा शरीरके सुख-दुःखादिसे तनिक भी प्रभावित न हो। यह 'प्रशान्त' का लक्षण है। बुद्धिमान् पुरुष मनको संकल्पात्मक (संकल्पस्वरूप) समझकर उसे आत्मामें (बुद्धिमें) विलीन कर दे तथा उस बुद्धिको भी परमात्म-चिन्तनमें स्थापित करे—लगाये। इसीको 'धारणा' कहा गया है। शास्त्रोंके अनुकूल ऊहा (युक्तिपूर्वक विचार) 'तर्क' कहा जाता है और जिसे प्राप्त करके दूसरे समस्त प्राप्तव्योंका अपमान कर देता है—सबको तुच्छ समझ लेता है, उस स्थितिको 'समाधि' कहा जाता है ॥ १४—१६ ॥

भूमिके समान एवं रमणीय तथा (अशुद्धता, विषमता, कीटादियुक्तता प्रभृति) सम्पूर्ण दोषोंसे रहित भागमें मानसिक रक्षा (दिग्बन्धादि) करके और मण्डल (यदेतन्मण्डलं तपति—इत्यादि मण्डल-ब्राह्मण) का जप करके पद्मासन, स्वस्तिकासन अथवा भद्रासनमेंसे किसी योगासनको भली प्रकार लगाकर उत्तरकी ओर मुख करके बैठे। फिर एक अँगुलीसे नासिकाके एक छिद्रको बंद करके दूसरे खुले छिद्रसे वायुको खींचकर, दोनों नासापुटोंको बंदकर उस वायुको धारण करे। उस समय तेजोमय शब्द (प्रणव) का ही चिन्तन करे। वह शब्द 'ॐकार' स्वरूप एकाक्षर ब्रह्म ही है। फिर इसी 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मका ही चिन्तन करता हुआ रेचक करे—वायुको धीरे-धीरे छोड़े। इस प्रकार अनेकों बार इस प्रणवस्वरूप दिव्य-मन्त्रके द्वारा (प्राणायाम करते हुए) अपने चित्तके मलको दूर करे ॥ १७—२० ॥

इस प्रकार प्राणायामद्वारा पापराशिका नाश करके पहले बताये हुए (अकार, उकार, मकार, बिन्दु तथा नादरूप) प्रणव-मन्त्रका ध्यान करे अर्थात् प्रणवकी प्रत्येक मात्राके साथ उसके लोक, गुण एवं अधिदेवताका चिन्तन करते हुए प्राणायाम करे। इस प्रकारके प्रणवगर्भ प्राणायामको स्थूलाति-स्थूल मात्रा*से अधिक कभी न करे। अपनी दृष्टिको तिर्यक् (सामनेकी ओर), ऊपरकी ओर अथवा नीचेकी ओर स्थिर करके महामति (परम बुद्धिमान्) साधक स्थिरतापूर्वक स्थित होकर, निष्कम्प (अङ्गचालनहीन) रहकर तब योगका अभ्यास करे ॥ २१-२२ ॥

यह योग तालवृक्षके समान कुछ समयमें फल देनेवाला है और इसका धारण नियत योजनापूर्वक (अर्थात् जितना प्रथम प्रारम्भ करे, उसे उतना ही रक्खे या बढ़ाता जाय; पर न तो घटाये और न मध्यमें उसका विराम करे—इस प्रकार) करनेयोग्य है। इसमें द्वादश मात्राओंकी (प्रणवकी अ, उ, म तथा नादरूप चारों मात्राओंकी तीनों प्राणायामोंमें) आवृत्ति भी कालसे निश्चित कही गयी है। अर्थात् एक मात्राके लिये जितना समय दिया जाय, दूसरीके लिये भी उतना ही समय देना चाहिये। कोई मात्रा शीघ्र एवं कोई देरतक मनमें न जपी जाय ॥ २३ ॥

यह प्रणव-नामक घोष बाह्य प्रयत्नसे उच्चारित होनेवाला नहीं है। यह व्यञ्जन नहीं है। स्वर भी नहीं है। कण्ठ, तालु, ओष्ठ और नासिकासे उच्चारित होनेवाला (सानुनासिक) भी नहीं है। यह रेफजातीय (अर्थात् मूर्द्धासे उच्चारित होनेवाला भी) नहीं है। दोनों ओष्ठोंके भीतर स्थित दन्तनामक स्थानसे भी इसका उच्चारण नहीं हो सकता। यह वह अक्षर है, जो कभी क्षरित (च्युत) नहीं होता अर्थात् यह नादके अव्यक्त-रूपसे नित्य प्रकृतिमें विद्यमान रहता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रणवका प्राणायामके रूपमें तो उपर्युक्त प्रकारसे समयादि-संयमसे अभ्यास करना चाहिये और निरन्तर नादके रूपमें मनको उसमें लगाये रहना चाहिये ॥ २४ ॥

* एक समय इस प्रकारके प्रणवगर्भ प्राणायामकी अस्सी आवृत्तियोंको 'स्थूल मात्रा' कहते हैं। एक बार वायु रोककर अस्सी बार प्रणवके जप करनेको 'अतिस्थूलमात्रा' प्राणायाम कहते हैं और ऐसे प्राणायामकी अस्सी बार आवृत्ति 'स्थूलातिस्थूलमात्रा' प्राणायाम है। इससे अधिक प्राण रोकना या अधिक आवृत्ति करना हानिकर है। प्राणायाम प्रातः, मध्याह्न, सायं एवं अर्धरात्रिमें—इस प्रकार चार बार नित्य करना चाहिये।

योगी जिससे मार्ग देखता है, अर्थात् मनके द्वारा जिस-जिस स्थानको उसमें प्रवेश करके गमन करनेयोग्य मानता है, प्राण उसी मार्ग (द्वार) से मनके साथ गमन करता है। अतएव प्राण श्रेष्ठ मार्गसे जाय, इसके लिये नित्य अभ्यास करना चाहिये। हृदयद्वार ही वायुके प्रवेशका द्वार है। इसी हृदय-द्वारसे प्राण सुषुम्णामार्गमें प्रवेश करता है। इससे ऊपर ऊर्ध्व-गमनका मार्ग है। सबसे ऊपर इस सुषुम्णामार्गमें मोक्षका द्वार (जिस मार्गसे प्राणोत्सर्ग होनेपर योगी मोक्ष प्राप्त करता है) ब्रह्मरन्ध्र है। इसीको योगी सूर्यमण्डल जानते हैं। (इसी सूर्यमण्डल या ब्रह्मरन्ध्रको बेधकर प्राण छोड़नेसे मुक्ति होती है) ॥ २५-२६ ॥

भय, क्रोध, आलस्य, अत्यन्त निद्रा, अधिक जागना, बहुत भोजन करना और सर्वथा निराहार रहना—इनको योगी सर्वदा छोड़ दे। इस विधिसे भली प्रकार जो क्रमशः (उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ) नित्य अभ्यास करता है, उसे तीन महीनोंमें स्वयं ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं। चार महीनोंमें वह देवताओंको देखने लगता है, पाँच महीनोंमें देवताओंके समान शक्तिशाली हो जाता है और निःसन्देह छः महीनोंमें यदि उसकी इच्छा हो तो वह कैवल्य (जीवन्मुक्तावस्था) को प्राप्त कर लेता है॥२७–२९॥

पृथिवीतत्त्वकी धारणाके समय प्रणवकी पाँच मात्राओंका, जल-तत्त्वकी धारणाके समय चार मात्राओंका, अग्नितत्त्वकी धारणाके समय तीन मात्राओंका, वायुतत्त्वकी धारणाके समय दो मात्राओं-का, आकाशतत्त्वकी धारणाके समय एक मात्राका और स्वयं प्रणव-के रूपमें उसके अर्धमात्रास्वरूपका चिन्तन करे। अपने शरीरमें ही मनके द्वारा (पैरसे मस्तकतक क्रमशः पृथिवी आदिकी) धारणा करके पञ्चभूतोंकी सिद्धि करके उनका चिन्तन करे। इस प्रकार प्रणव-धारणाद्वारा पञ्चभूतोंपर अधिकार प्राप्त होता है ॥ ३०-३१ ॥

तीस अंगुल लंबा प्राण (श्वास) जिसमें प्रतिष्ठित है, वही इस प्राणवायुका अधिष्ठान (आश्रय) वास्तविक प्राण है। यही 'प्राण' नामसे विख्यात है। जो बाह्य प्राण है, वह तो इन्द्रियगोचर है; इस बाह्य प्राणमें एक लाख तेरह हजार छः सौ अस्सी निःश्वास (श्वास-प्रश्वास) एक दिन-रात्रिमें आते हैं ॥ ३२-३३ ॥

आदि प्राण हृदयस्थानमें, अपान गुदास्थानमें, समान नाभिदेशमें तथा उदान कण्ठमें निवास करता है। व्यान सम्पूर्ण अङ्गोंमें सर्वदा व्यापक होकर रहता है। अब क्रमशः प्राणादि पाँचों वायुओंका रंग वर्णन किया जाता है। प्राणवायु लाल रंगकी मणिके समान कहा जाता है। अपान-वायु गुदाके मध्यमें इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीड़ेके समान लाल है। नाभिके मध्यभागमें समानवायु गायके दूधके समान अथवा स्फटिक मणिके समान उज्ज्वल है। उदानवायु धूसर (मटमैले) और व्यान-वायु अग्नि-शिखाके रंगका अर्थात् प्रकाशमय है ॥ ३४–३७॥

जिसका प्राण इस मण्डल (पञ्चतत्त्वात्मक शरीर-स्थान, वायु-स्थान एवं हृदयादि द्वारों) को बेधकर मस्तकमें चला जाता है, वह जहाँ-कहीं भी मरे, फिर जन्म नहीं लेता। वह फिर जन्म नहीं लेता ॥ ३८ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय अमृतनादोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भीतर-बाहर नारायण ही व्याप्त हैं

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ (नारायणोप०)

जो कुछ जगत् देखने या सुननेमें आता है, उस सबको बाहर और भीतरसे व्याप्त करके नारायण स्थित हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

मुद्गलोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम खण्ड

पुरुषसूक्तका संक्षिप्त विषय-निरूपण

'पुरुषसूक्त'के द्वारा प्रतिपादित अर्थ-निर्णयकी व्याख्या करता हूँ—इसे भगवान् वासुदेवने इन्द्रसे कहा और आगे विवेचन किया। पुरुषसंहितामें पुरुषसूक्तका अर्थ संक्षिप्त रीतिसे इस प्रकार बताया जाता है—

पुरुषसूक्तके **'सहस्रशीर्षा०'** इस मन्त्रमें **'सहस्र'** शब्द अनन्तका वाचक है। इसी प्रकार **'दशाङ्गुलम्'** यह पद भी अनन्त योजनोंका सूचक है। इस पुरुषसूक्तका उक्त **'सहस्रशीर्षा०'** मन्त्र भगवान् विष्णुके देशगत विभुत्वका वर्णन करता है, अर्थात् यह बतलाता है कि भगवान् सम्पूर्ण देशोंमें व्याप्त हैं। दूसरा मन्त्र इन्हीं भगवान् विष्णुकी कालतः व्याप्ति बतलाता है, अर्थात् यह सूचित करता है कि भगवान् विष्णु सर्वकालव्यापी हैं—सब समय रहते हैं। तीसरा मन्त्र भगवान् विष्णुके मोक्षप्रदत्वको अर्थात् भगवान् श्रीहरि मोक्षदाता हैं—यह बतलाता है। **'एतावानेव०'** इस तीसरे मन्त्रसे श्रीहरिके वभवका वर्णन किया गया है॥ १—३॥

इन तीन मन्त्रोंके समुदायद्वारा ही चतुर्व्यूहात्मक भगवत्स्वरूपका वर्णन भी है। **'त्रिपाद्'** प्रभृति मन्त्रके द्वारा चतुर्व्यूहके अनिरुद्ध-स्वरूपका वैभव वर्णित है। **'तस्माद्विराळ्०'** इस मन्त्रद्वारा पादविभूतिरूप नारायणसे श्रीहरिकी स्वरूपभूता प्रकृति (माया) तथा पुरुष (जीव) की उत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है। **'यत्पुरुषेण'** इत्यादि मन्त्रद्वारा सृष्टिस्वरूप यज्ञ कहा गया है और **'सप्तास्यासन् परिधयः०'** मन्त्रमें उस सृष्टि-यज्ञके लिये समिधाका वर्णन हुआ है। यही सृष्टियज्ञ **'तं यज्ञमिति'** मन्त्रके द्वारा बताया गया है और इस मन्त्रके द्वारा मोक्षका वर्णन भी हुआ है। **'तस्मादिति'** इत्यादि सात मन्त्रोंमें जगत्की सृष्टि कही गयी है। **'वेदाहम्'** इत्यादि दो मन्त्रोंमें श्रीहरिके वैभवका वर्णन किया गया है। और **'यज्ञेन०'** इस मन्त्रके द्वारा सृष्टि एवं मोक्षके वर्णनका उपसंहार किया गया है। जो इस प्रकार इस पुरुषसूक्तको जानता है, वह निश्चय ही मुक्त हो जाता है॥ ४-९॥

द्वितीय खण्ड

महापुरुषका रूप-धारण

इस प्रकार प्रथम खण्डके द्वारा मुद्गलोपनिषद्में पुरुषसूक्तका जो वैभव प्रतिपादित हुआ है, उसी भगवदीय ज्ञानका भगवान् वासुदेवने इन्द्रको उपदेश देकर, फिर सूक्ष्मतत्त्व सुननेके लिये नम्र होकर शरणमें आये हुए उन्हीं इन्द्रके लिये उस परम रहस्यस्वरूप ज्ञानका पुरुषसूक्तमय दो खण्डोंके द्वारा उपदेश किया है॥ १॥

इस पुरुषसूक्तके दो खण्ड कहे जाते हैं। पुरुषसूक्तमें जिस पुरुषका वर्णन है, वह नाम-रूप तथा ज्ञानका

अविषय होनेके कारण (अपने ब्रह्मस्वरूपसे) सांसारिक प्राणियोंके लिये दुर्ज्ञेय हैं । अतः संसारी जीवोंके लिये अपने इस दुर्ज्ञेयविषयत्व (स्वरूप) को छोड़कर क्लेशादिसे युक्त देवादि (सत्त्वगुणविशिष्ट जीवों) के उद्धारकी इच्छासे उन्होंने सहस्र (अनन्त) कलाओंवाले अवयवोंसे युक्त ऐसे कल्याण-स्वरूप वेषको धारण किया; जो दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है । उसी वेष (रूप) से भूमि आदि लोकोंमें व्याप्त होकर वे अनन्त योजनोंतक स्थित हुए । सृष्टिके पूर्व पुरुषस्वरूप नारायण ही भूत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों कालोंके रूपमें अवस्थित थे । वे ही इन सब (जीवों) को मोक्ष देनेवाले हैं । वे सम्पूर्ण महत्त्वशालियोंसे श्रेष्ठ हैं । उनसे अधिक श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है ॥ २-३ ॥

उक्त महापुरुष (परमात्मा) ने अपनेको चार अंशों (चतुर्व्यूहों) में प्रकट किया । उनमेंसे तीन अंशों (त्रिपाद्‌विभूति अथवा वासुदेव, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणरूप) से वे परमव्योम (अपने परमधाम वैकुण्ठ) में निवास करते हैं तथा इनसे भिन्न अवशिष्ट चतुर्थ अंश—चतुर्थ व्यूहरूप अनिरुद्ध नामक प्रसिद्ध नारायणके द्वारा सम्पूर्ण विश्वकी रचना (अभिव्यक्ति) हुई ॥ ४ ॥

उस अनिरुद्धरूप चतुर्थांशात्मक नारायणने जगत्की सृष्टिके लिये प्रकृति (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया । वे ब्रह्माजी शरीर प्राप्त करके भी सृष्टिकर्मको न जान सके । तब उन अनिरुद्धस्वरूप नारायणने ब्रह्माजीको सृष्टिका उपदेश किया । भगवान् नारायणने कहा—'ब्रह्माजी ! तुम अपनी इन्द्रियोंका यज्ञकर्ताओंके रूपमें ध्यान करो; कमलकोशसे उत्पन्न सुदृढ़ ग्रन्थिरूप (बलवान्) अपने शरीरको हवि समझो; मुझे अग्नि मानो; वसन्तकालमें घृतकी धारणा करो; ग्रीष्म ऋतुमें समिधाका भाव करो; शरद् ऋतुको रसरूप समझो । इस प्रकार अग्निमें हवन करनेपर तुम्हारा शरीर इतना सुदृढ़ हो जायगा कि उसके स्पर्शसे वज्र भी कुण्ठित हो जायगा । तब अपने कार्यरूप (कारणरूपमें विलीन होनेकी अवस्थासे कार्यरूपमें) सब प्राणी—पशु प्रभृति जीव प्रादुर्भूत होंगे । फिर सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् हो जायगा । इस प्रकार जीव एवं आत्माके योगद्वारा मोक्षका प्रकार भी वर्णन किया गया; यह समझना चाहिये । जो इस सृष्टि-यज्ञ तथा मोक्षप्रकारको भी जानता है, वह पूर्णायुको प्राप्त होता है ॥ ५–७ ॥

तृतीय खण्ड

उपासकोंद्वारा अनेक रूपमें देखे गये महापुरुषमें आत्मत्वकी भावनासे उनके स्वरूपकी प्राप्ति

एक ही देव बहुत प्रकारसे प्रविष्ट होकर स्वयं अजन्मा रहते हुए भी बहुत प्रकारसे प्रकट होता है । (तात्पर्य यह कि वही एक देव नानात्वमें व्याप्त है । वह स्वयं अजन्मा है, किंतु नानात्वकी सृष्टि भी उसीके द्वारा होती है । नानात्वके रूपमें भी वही है) ॥ १ ॥

अध्वर्युगण उसीकी उपासना इस अग्निके रूपमें करते हैं । यजुर्वेदीय उसीको 'यह यजुः है' इस बुद्धिसे सर्वयज्ञिय कर्मोंमें योजित करते हैं । सामगान करनेवाले उसे 'साम' समझते हैं । इसी नारायणरूपमें निश्चय यह सब (दृश्य-जगत्) प्रतिष्ठित है । (तात्पर्य यह कि वही परमतत्त्व यज्ञमें अग्नि, मन्त्र तथा साम है । इससे भी आगे वह समस्त जगत्का आधार है ।) सर्प उसे विष मानकर अपनाते हैं । सर्पवेत्ता (योगी) इसे सर्प—प्राणरूपसे ग्रहण करते हैं । देवता इसे अमृतरूपमें अपनाते हैं और मनुष्य इसे धन मानकर जीवन-निर्वाह करते हैं । असुर माया समझते हैं, पितर स्वधा (पितृभोजन) मानते हैं, देवजनवेत्ता (देवोपासक) देवता मानते हैं, गन्धर्व रूप समझते हैं और अप्सराएँ गन्धर्व समझती हैं । इसको जो जिस भावसे उपासना करता है, यह परमतत्त्व उसके लिये उसी रूपका हो जाता है । इसलिये ब्रह्मज्ञानीको 'पुरुषरूप परमब्रह्म मैं ही हूँ' यह भावना करनी चाहिये । ऐसी भावनासे वह उसी स्वरूपको प्राप्त हो जाता है और जो इस रहस्यको इस प्रकार जानता है, वह भी तद्रूप हो जाता है ॥ २-३ ॥

चतुर्थ खण्ड

ब्रह्मका स्वरूप तथा उपनिषद्‌के अध्ययनका माहात्म्य; सूक्तके अनधिकारी तथा उसके उपदेशकी विधि

वह ब्रह्म तीनों तापोंसे रहित, छः कोशोंसे शून्य, षड्-ऊर्मियोंसे वर्जित, पञ्चकोशोंसे अतीत, षड्‌भावविकारोंसे रहित—इस प्रकार सबसे विलक्षण है । आध्यात्मिक, आधि-भौतिक और आधिदैविक—ये 'तीन ताप' हैं जो कर्ता-कर्म-कार्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय और भोक्ता-भोग-भोग्य—इस प्रकार एक-एक त्रिविध हैं । चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नसें और मज्जा—ये 'छः कोश (धातु)' हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये 'छः शत्रुवर्ग' हैं । 'पञ्च कोश' हैं—अन्नमय,

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय । प्रिय होना, उत्पन्न होना, बढ़ना, बदलना, घटना और नाश होना—ये 'छः भावविकार' हैं । भूख, प्यास, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु—ये 'छः ऊर्मियाँ' हैं । कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप—ये 'छः भ्रम' होते हैं । इन सबके योगसे परम पुरुष ही जीव होता है, दूसरा नहीं ॥ १–९ ॥

जो इस उपनिषद्का नित्य अध्ययन करता है, वह अग्निपूत होता है । वह वायुपूत होता है । वह आदित्यपूत होता है । वह रोगहीन हो जाता है । श्रीसम्पन्न हो जाता है । पुत्र-पौत्रादिकी समृद्धिसे युक्त हो जाता है । विद्वान् हो जाता है । महापापोंसे पवित्र हो जाता है । ××× काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादिसे बाधित नहीं होता । सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । इसी जन्ममें वह पुरुष (परमात्मरूप) हो जाता है ॥ १० ॥

इसलिये इस पुरुषसूक्तका अर्थ अत्यन्त रहस्ययुक्त है । यह राजगुह्य, देवगुह्य एवं गोपनीयोंसे भी अधिक गोपनीय है । जो दीक्षित न हो, उसे इसका उपदेश न करे; जो विद्वान् होनेपर भी जिज्ञासुभावसे प्रश्न न करता हो, उसे भी इसका उपदेश न करे । जो यज्ञ न करता हो, उसे भी उपदेश न करे; अवैष्णवको न करे, अयोगीको न करे; बहुभाषीको न करे, अप्रियभाषीको न करे; जो वर्षभरमें एक बार वेदोंका स्वाध्याय न कर ले, उसे भी न करे; असंतोषीको न करे और जिसने वेदोंका अध्ययन न किया हो, उसे भी इसका उपदेश न करे ।

इसको इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् गुरु भी पवित्र देशमें, पुण्य नक्षत्रमें, प्राणायाम करके, परमपुरुषका ध्यान करता हुआ, विनीतभावसे शरणमें आये हुए शिष्यको ही उसके दाहिने कानमें इस पुरुषसूक्तके अर्थका उपदेश करे । बहुत न बोले । नहीं तो, वह उपदेश यातयामत्वरूप दोषसे दूषित हो जाता है (उसका सार चला जाता है, अतः वह उपदेश सफल नहीं हो पाता) । बार-बार कानमें उपदेश दे । ऐसा करनेवाला अध्येता (शिष्य) और अध्यापक (गुरु) दोनों इसी जन्ममें पुरुष—ब्रह्मरूप हो जाते हैं ॥ ११ ॥

॥ ऋग्वेदीय मुद्गलोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।
नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ।
नारायणपरो ध्याता ध्यानं नारायणः परः ॥

(नारायणोप०)

नारायण परमज्योति हैं, नारायण परमात्मा हैं, नारायण परमब्रह्म हैं, नारायण परमतत्त्व हैं, नारायण परम ध्याता हैं और नारायण ही परम ध्यान हैं ।

(मुद्गलोपनिषद्में वर्णित पुरुषसूक्त)

अथ पुरुषसूक्तप्रारम्भः

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १ ॥*

उन परमपुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान) को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं। [यह मन्त्र भगवान् विष्णुके देशगत विभुत्वका प्रतिपादक है।] ॥ १ ॥

ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

यह जो इस समय वर्तमान (जगत्) है, जो बीत गया और जो आगे होनेवाला है, यह सब वे परमपुरुष ही हैं। इसके अतिरिक्त वे अमृतत्व (मोक्षपद) के तथा जो अन्नसे (भोजनद्वारा) जीवित रहते हैं, उन सबके भी ईश्वर (अधीश्वर—शासक) हैं। [यह मन्त्र भगवान्के सर्वकालव्यापी रूपका वर्णन करता है।] ॥ २ ॥

ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

यह भूत, भविष्य, वर्तमानसे सम्बद्ध समस्त जगत् इन परम पुरुषका वैभव है। वे अपने इस विभूति-विस्तारसे महान् हैं। उन परमेश्वरकी एकपाद विभूति (चतुर्थांश) में ही यह पञ्चभूतात्मक विश्व है। उनकी शेष त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोक (वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, शिवलोक आदि) हैं। [यह मन्त्र भगवान्के वैभवका वर्णन करता है और नित्य लोकोंके वर्णनद्वारा उनके मोक्षपदत्वको भी बतलाता है।] ॥३॥

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

वे परमपुरुष स्वरूपतः इस मायिक जगत्से परे त्रिपाद्-विभूतिमें प्रकाशमान हैं। (वहाँ मायाका प्रवेश न होनेसे उनका स्वरूप नित्य प्रकाशमान है।) इस विश्वके रूपमें उनका एक पाद ही प्रकट हुआ है। अर्थात् एक पादसे वे ही विश्वरूप भी हैं। इसलिये वे ही सम्पूर्ण जड एवं चेतनमय उभयात्मक जगत्को परिव्याप्त किये हुए हैं। [इस मन्त्रमें भगवान्के चतुर्व्यूहरूपमेंसे चतुर्थ अनिरुद्धरूपका वर्णन हुआ है। यही रूप एकपाद ब्रह्माण्डवैभवका अधिष्ठान है।] ॥ ४ ॥

ॐ तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

उन्हीं आदिपुरुषसे विराट् (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ। वे परमपुरुष ही विराट्के अधिपुरुष—अधिदेवता (हिरण्यगर्भ) हुए। वह (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुआ। पीछे उसीने भूमि (लोकादि) तथा शरीर (देव, मानव, तिर्यक् आदि) उत्पन्न किये। [इस मन्त्रमें श्री-नारायणसे माया एवं जीवोंकी उत्पत्तिका वर्णन है।] ॥ ५ ॥

ॐ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

देवताओंने उस पुरुषके शरीरमें ही हविष्यकी भावना करके यज्ञ सम्पन्न किया। इस यज्ञमें वसन्त ऋतु घृत, ग्रीष्म

---

* उपनिषद्के अनुसार पुरुषसूक्तके प्रारम्भिक चार मन्त्रोंमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चतुर्व्यूहात्मक भगवत्-स्वरूपोंका वर्णन भी होता है। प्रथम मन्त्रमें भगवान्के वासुदेव-स्वरूपका वर्णन है। मन्त्रके अनुसार वे अनन्त हैं, सबको व्याप्त करके भी सबसे परे हैं। उन्हींका दिव्य प्रकाश समस्त अन्तःकरणोंमें है और फिर भी वे अन्तःकरणोंके धर्मोंसे निर्लिप्त, सबसे परे हैं। यही उनका चेतनात्मक वासुदेवरूप है।

दूसरे मन्त्रमें उनके संकर्षण-स्वरूपका वर्णन है। संकर्षणस्वरूप दिव्य प्राणात्मक है। समस्त जगत् त्रिकालमें इसी रूपसे व्यक्त होता है और भगवान्का यही रूप उसका शासक एवं स्वामी है। यही भगवान्का ईश्वरस्वरूप है।

तीसरे मन्त्रमें भगवान्के प्रद्युम्न-स्वरूपका वैभव है। भगवान्का यह स्वरूप सौन्दर्य-घन, दिव्य कामात्मक एवं ध्यानगम्य है। त्रिपाद्विभूतिमें नित्यलोकोंमें भगवान् इसी स्वरूपसे विराजमान हैं। श्रुतिके इस तात्पर्यको उपनिषद्ने स्पष्ट किया है।

चतुर्थ मन्त्रमें भगवान्का अनिरुद्ध—दुर्निवार स्वरूप है। भगवान्का यह स्वरूप योगमायासमन्वित है। वही जगद्रूप एवं जगत्का कारण है। यही रूप भगवान्की चतुर्थ पादविभूतिका है।

ऋतु इन्धन और शरद् ऋतु हविष्य (चरु-पुरोडाशादि विशेष हविष्य) हुए । अर्थात् देवताओंने इनमें यह भावना की । [इस मन्त्रमें सृष्टिरूप यज्ञका वर्णन है और आगे आठ मन्त्रोंतक वही है ।] ॥ ६ ॥

ॐ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥*

सबसे प्रथम उत्पन्न उस पुरुषको ही यज्ञमें देवताओं, साध्यों और ऋषियोंने (पशु मानकर) कुशके द्वारा प्रोक्षण करके (मानसिक) यज्ञ सम्पूर्ण किया । [इस मन्त्रमें सृष्टि-यज्ञके साथ मोक्षका वर्णन भी किया गया है ।] ॥ ७ ॥

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

उस ऐसे यज्ञसे जिसमें सब कुछ हवन कर दिया गया था, प्रशस्त घृतादि (दूध, दधि प्रभृति) उत्पन्न हुए । इस उस यज्ञरूप पुरुषने ही वायुमें रहनेवाले, ग्राममें रहनेवाले, वनमें रहनेवाले तथा दूसरे पशुओंको उत्पन्न किया । (तात्पर्य यह कि उस यज्ञसे नभ, भूमि एवं जलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई और उन प्राणियोंसे देवताओंके योग्य हवनीय प्राप्त हुआ ।) ॥ ८ ॥

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

जिसमें सब कुछ हवन किया गया था, उस यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद और सामवेद प्रकट हुए । उसीसे गायत्री आदि छन्द प्रकट हुए । उसीसे यजुर्वेदकी भी उत्पत्ति हुई ॥ ९ ॥

* उपनिषद्के अनुसार श्रुतिने मोक्षका प्रतिपादन भी किया है । 'परोक्षवादो वेदोऽयम्'—श्रुतियोंमें अध्यात्मवाद परोक्ष-रूपसे निरूपित है । अतः मोक्षप्रतिपादनके लिये इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार होगा—

उस आत्म-शोधनरूप यज्ञमें देवताओं—दिव्यवृत्तियोंने पुरुष-शरीराभिमानीको, जो शरीरमें अहङ्कार करके पशु हो गया था, कुशोंके—साधनोंके द्वारा प्रोक्षित—विशुद्ध किया । इस प्रकार प्रोक्षित होनेपर वह अग्रजन्मा ब्राह्मण—ब्रह्मज्ञानसम्पन्न हुआ । इसी प्रकार इन्द्रादि देवताओंने, साध्य देवताओंने और ऋषियोंने भी यजन किया । सबने इसी रीतिसे शरीराभिमानीका आत्मशोधन करके मोक्ष प्राप्त किया ।

ॐ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

उस यज्ञपुरुषसे घोड़े उत्पन्न हुए । इनके अतिरिक्त नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँतोंवाले (गर्दभादि) भी उत्पन्न हुए । उसीसे गौएँ उत्पन्न हुईं और उसीसे बकरियाँ और भेड़ें भी उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

देवताओंने जिस यज्ञपुरुषका विधान (संकल्प) किया, उसको कितने प्रकारसे (किन अवयवोंके रूपमें) कल्पित किया, इसका मुख क्या था, बाहुएँ क्या थीं, जंघाएँ क्या थीं और पैर कौन थे—यह बताया जाता है ॥ ११ ॥

ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

ब्राह्मण इसका मुख था । (मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए ।) क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बना । (दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए ।) इस पुरुषकी जो दोनों जङ्घाएँ थीं, वही वैश्य हुईं अर्थात् उनसे वैश्य उत्पन्न हुए, और पैरोंसे शूद्र-वर्ण प्रकट हुआ ॥ १२ ॥

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ १३ ॥

इस यज्ञपुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए । नेत्रोंसे सूर्य प्रकट हुए । मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायुकी उत्पत्ति हुई ॥ १३ ॥

ॐ नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यज्ञपुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ । मस्तकसे स्वर्ग प्रकट हुआ । पैरोंसे पृथिवी, कानोंसे दिशाएँ हुईं । इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुषमें ही कल्पित हुए ॥ १४ ॥

ॐ सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

देवताओंने जब यज्ञ करते समय (संकल्पसे) पुरुषरूप पशुका बन्धन किया, तब सात समुद्र इसकी परिधि (मेखलाएँ) थे । इक्कीस प्रकारके छन्दोंकी (गायत्री, अतिजगती और कृतिमेंसे प्रत्येकके सात-सात प्रकारसे) समिधा बनी ॥ १५ ॥ [इस मन्त्रमें सृष्टि-यज्ञकी समिधाका वर्णन है ।]

ॐ वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसस्तु पारे।
सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते* ॥ १६ ॥

तमस् (अविद्यारूप अन्धकार) से परे आदित्यके समान प्रकाशस्वरूप उस महान् पुरुषको मैं जानता हूँ। सबकी बुद्धिमें रमण करनेवाला वह परमेश्वर सृष्टिके आरम्भमें समस्त रूपोंकी रचना करके उनके नाम रखता है; और उन्हीं नामोंसे व्यवहार करता हुआ सर्वत्र विराजमान होता है ॥ १६॥ [इस मन्त्रमें और इसके आगेके मन्त्रमें भी श्रीहरिके वैभवका वर्णन है ।]

ॐ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार
शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय† ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिनकी स्तुति की थी, इन्द्रने चारों दिशाओंमें जिसे (व्याप्त) जाना था, उस परम पुरुषको जो इस प्रकार (सर्वस्वरूप) जानता है, वह यहीं अमृतपद (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग निज-निवास (स्वस्वरूप या भगवद्धाम)-की प्राप्तिका नहीं है ॥ १७ ॥

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः‡ ॥ १८ ॥

देवताओंने (पूर्वोक्त रूपमें) यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप परमपुरुषका यजन (आराधन) किया। इस यज्ञसे सर्वप्रथम सब धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मोंके आचरणसे वे देवता महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोकका सेवन करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य देवता निवास करते हैं ॥ १८ ॥ [इस मन्त्रमें सृष्टियज्ञ एवं मोक्षके वर्णनका उपसंहार है ।]

॥ पुरुषसूक्त सम्पूर्ण ॥

विषय-त्याग

तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा। विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः ॥
दारिद्र्याशा यथा नास्ति सम्पन्नस्य तथा मम। ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत् ॥
विषं दृष्ट्वामृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्। आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम् ॥
(आत्मप्रबोध० १५—१७)

जैसे समुद्र तरङ्गोंमें स्थित जलकी इच्छा नहीं करता, वैसे ही आनन्दस्वरूप हो जानेके कारण मुझको विषयोंके आनन्दकी इच्छा नहीं है। जैसे सम्पत्तिमान् पुरुषको दरिद्रताकी आशा नहीं होती, वैसे ही ब्रह्मानन्दमें निमग्न मुझको विषयोंकी आशा नहीं है। जैसे बुद्धिमान् पुरुष विष तथा अमृतको देखकर विषका त्याग करता है, वैसे ही परमात्माको देखकर मैं अनात्मा (विषयों) का त्याग करता हूँ।

---

*-† ये दोनों मन्त्र ऋग्वेदकी प्रचलित प्रतियोंके पुरुषसूक्तमें नहीं मिलते, परन्तु पुरुषसूक्तके पृथक् प्रकाशित कई संस्करणोंमें मिलते हैं। मूल उपनिषद्में भी इनका संकेत है। ये मन्त्र 'पारमात्मिकोपनिषद्,' 'महावाक्योपनिषद्' तथा 'चित्युपनिषद्' में आये हैं। १७ वाँ मन्त्र 'तैत्तिरीय आरण्यक' में भी है।

‡ उपनिषद् इस मन्त्रमें मोक्ष-निरूपणका उपसंहार भी निरूपित—निर्दिष्ट करता है। अतः मोक्ष-निरूपणके लिये श्रुतिका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये।

सम्पूर्ण कर्म, जो भगवदर्पण-बुद्धिसे भगवान्‌के लिये किये जाते हैं, यज्ञ हैं। उस कर्मरूप यज्ञके द्वारा सात्त्विक वृत्तियोंने उन यज्ञस्वरूप भगवान्‌का यजन—पूजन किया। इसी भगवदर्पणबुद्धिसे किये गये यज्ञरूप कर्मोंके द्वारा ही सर्वप्रथम धर्म उत्पन्न हुए—धर्माचरणकी उत्पत्ति भगवदर्पणबुद्धिसे किये गये कर्मोंसे हुई। इस प्रकार भगवदर्पणबुद्धिसे अपने समस्त कर्मोंके द्वारा जो भगवान्‌का यजनरूप कर्मका आचरण करते हैं, वे उस भगवान्‌के दिव्यधामको जाते हैं, जहाँ उनके साध्य—आराध्य आदिदेव भगवान् विराजमान हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

सावित्र्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सविता एवं सावित्रीकी सर्वव्यापकता; सावित्रीके चार पाद; सावित्रीको जाननेका फल; बला-अतिबला विद्याओंकी उपासना

हरिः ॐ ॥ सविता कौन हैं और सावित्री कौन हैं ? अग्निदेव ही सविता हैं, पृथिवी सावित्री हैं । वे अग्निदेव जहाँ हैं, वहाँ पृथिवी है । जहाँ पृथिवी है, वहाँ अग्निदेव हैं । वे दोनों योनि अर्थात् विश्वके उत्पादक हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता देव कौन हैं और सावित्री देवी कौन हैं ? वरुण ही सविता हैं और आप (जल) सावित्री हैं । जहाँ वरुण हैं, वहाँ आप हैं; और जहाँ आप (जल) हैं, वहाँ वरुण हैं । वे दोनों योनि अर्थात् विश्वके जन्मदाता हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता कौन हैं और सावित्री कौन हैं ? वायुदेव सविता हैं, आकाश सावित्री हैं । जहाँ वायु है, वहाँ आकाश है; जहाँ आकाश है, वहाँ वायु है । वे दोनों योनि हैं, वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता कौन हैं और सावित्री कौन हैं ? यज्ञ सविता हैं और छन्द सावित्री हैं । जहाँ यज्ञ है, वहाँ छन्द हैं; जहाँ छन्द हैं, वहाँ यज्ञ है । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? गरजनेवाले मेघ सविता हैं और विद्युत् सावित्री हैं । जहाँ गरजनेवाले मेघ हैं, वहाँ विद्युत् है; जहाँ विद्युत् है, वहाँ गरजनेवाले मेघ हैं । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? आदित्य सविता हैं और द्युलोक सावित्री हैं । जहाँ आदित्य हैं, वहाँ द्युलोक है; जहाँ द्युलोक है, वहाँ आदित्य हैं । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? चन्द्र ही सविता हैं और नक्षत्र सावित्री हैं । जहाँ चन्द्र हैं, वहाँ नक्षत्र हैं; जहाँ नक्षत्र हैं, वहाँ चन्द्र हैं । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? मन ही सविता है और वाणी सावित्री है । जहाँ मन है, वहाँ वाणी है; जहाँ वाणी है, वहाँ मन है । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? पुरुष सविता है, स्त्री सावित्री है । जहाँ पुरुष है, वहाँ स्त्री है; जहाँ स्त्री है, वहाँ पुरुष है । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं ॥ १-९ ॥

उस सावित्रीका प्रथम पाद है **'भूः*—तत्सवितुर्वरेण्यम् ।'** अग्नि ही वरेण्य है । आप (जल) वरेण्य है । चन्द्रमा वरेण्य है (वरेण्य अर्थात् वरणीय, पूज्यस्वरूप, प्रशंसनीय स्वरूप) । उस सावित्रीका द्वितीय पाद है तेजोमय आप अर्थात् जल **'भुवः—भर्गो देवस्य धीमहि ।'** अग्नि ही वह भर्ग अर्थात् तेज है, आदित्य ही भर्ग है । चन्द्रमा ही भर्ग है । उस

---

* सावित्री देवताका मन्त्र—ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

प्रथम पाद—भूः अर्थात् भूलोक उस सविता देवताका वरेण्य है । महिमा है ।

द्वितीय पाद—भुवः अर्थात् तेजोमय आप (अन्तरिक्ष लोक) उस सविता देवताके तेजका हम ध्यान करते हैं ।

तृतीय पाद—स्वः अर्थात् स्वर्लोक—जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे ।

सावित्रीका यह तीसरा पाद है '**स्वः—धियो यो नः प्रचोदयात् ।**' स्त्री और पुरुष दोनों प्रजोत्पादन करते हुए (गृहस्थाश्रम-का पालन करते हुए) जो इस सावित्रीदेवीको इस प्रकार जानते हैं, वे पुनः मृत्युको नहीं प्राप्त होते । अर्थात् सविता देवताके उपासक मृत्युको जीत लेते हैं और अमरत्वको प्राप्त करते हैं ।

बला-अतिबला विद्याओंके विराट् पुरुष ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और गायत्री देवता हैं । अकार बीज है, उकार शक्ति है और मकार कीलक है । क्षुधा आदिके निवारणके निमित्त इसका विनियोग है । क्लींके द्वारा षडङ्गन्यास करे । '**ॐ क्लीं हृदयाय नमः, ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा, ॐ क्लीं शिखायै वषट्, ॐ क्लीं कवचाय हुम्, ॐ क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ क्लीं अस्त्राय फट् ।**' अब ध्यानका वर्णन करते हैं । अमृतसे जिनके करतल आर्द्र हो रहे हैं, सब प्रकारकी सञ्जीवनी शक्तियोंसे जो सम्पन्न हैं, पापोंका नाश करनेमें जो सुदक्ष हैं तथा जो वेदोंके सारस्वरूप, किरणात्मक, प्रणवरूप विग्रहवाले एवं सूर्यनारायणके सदृश सुदीप्त शरीरवाले हैं, उन बला और अतिबला विद्याओंके अधिष्ठातृ-देवताओंको मैं निरन्तर अनुभव करता हूँ । बला-अतिबला विद्याओंके अधिष्ठातृ-देवताका मन्त्र है—

ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थ-सिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुद्भ्रमोपनाशिनि धीमहि धियो यो नो जाते प्रचुर्यः या प्रचोदयादात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा ।

इस प्रकार जाननेवाला कृतकृत्य हो जाता है । वह सावित्रीदेवीके ही लोकको प्राप्त होता है । यह उपनिषद् है ।

॥ सामवेदीय सावित्र्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ब्रह्मको ढूँढ़ना चाहिये

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।

(छान्दोग्य ८ । १ । १)

अब इस ब्रह्मपुर (शरीर) के भीतर जो सूक्ष्म कमलसदृश स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है और उसके भीतर जो (ब्रह्म) है, उसको ढूँढ़ना चाहिये और उसीकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

सूर्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आदित्यकी सर्वव्यापकता; सूर्यमन्त्रके जपका माहात्म्य

हरिः ॐ । अब सूर्यदेवतासम्बन्धी अथर्ववेदीय मन्त्रोंकी व्याख्या करेंगे । इस सूर्यदेवसम्बन्धी अथर्वाङ्गिरस-मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि हैं । गायत्री छन्द है । आदित्य देवता हैं । 'हंसः' 'सोऽहं' अग्नि नारायणयुक्त बीज है । हृल्लेखा शक्ति है । वियत् आदि सृष्टिसे संयुक्त कीलक है । और चारों प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें इस मन्त्रका विनियोग किया जाता है । छः स्वरोंपर आरूढ बीजके साथ, छः अङ्गोंवाले, लालकमलपर स्थित, सात घोड़ोंवाले रथपर सवार, हिरण्यवर्ण, चतुर्भुज तथा चारों हाथोंमें क्रमशः दो कमल तथा वर और अभय मुद्रा धारण किये, कालचक्रके प्रणेता श्रीसूर्यनारायणको जो इस प्रकार जानता है, निश्चयपूर्वक वही ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है । 'जो प्रणवके अर्थभूत सच्चिदानन्दमय तथा भूः, भुवः और स्वःरूपसे त्रिभुवनमय हैं, सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करनेवाले उन भगवान् सूर्यदेवके सर्वश्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा देते रहते हैं ।' भगवान् सूर्यनारायण सम्पूर्ण जङ्गम तथा स्थावर जगत्के आत्मा हैं, निश्चयपूर्वक सूर्यनारायणसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं । सूर्यसे यज्ञ, मेघ, अन्न (बल-वीर्य) और आत्मा (चेतना)का आविर्भाव होता है । हे आदित्य ! तुमको हमारा नमस्कार है । तुम्हीं प्रत्यक्ष कर्म-कर्ता हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष विष्णु हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष रुद्र हो । तुम्हीं प्रत्यक्ष ऋग्वेद हो । तुम्हीं प्रत्यक्ष यजुर्वेद हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष सामवेद हो । तुम्हीं प्रत्यक्ष अथर्ववेद हो । तुम्हीं समस्त छन्दःस्वरूप हो । आदित्यसे वायु उत्पन्न होता है । आदित्यसे भूमि उत्पन्न होती है, आदित्यसे जल उत्पन्न होता है । आदित्यसे ज्योति (अग्नि) उत्पन्न होती है । आदित्यसे आकाश और दिशाएँ उत्पन्न होती हैं । आदित्यसे देवता उत्पन्न होते हैं । आदित्यसे वेद उत्पन्न होते हैं । निश्चय ही ये आदित्य देवता ही इस ब्रह्माण्ड-मण्डलको तपाते (गर्मी देते) हैं । वे आदित्य ब्रह्म हैं । आदित्य ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्काररूप हैं । आदित्य ही प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँचों प्राणोंके रूपमें विराजते हैं । आदित्य ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंके रूपमें कार्य कर रहे हैं । आदित्य ही वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँचों कर्मेन्द्रिय भी हैं । आदित्य ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय हैं । आदित्य ही वचन, आदान, गमन, मल-त्याग और आनन्द—ये कर्मेन्द्रियोंके पाँच विषय बन रहे हैं । आनन्दमय, ज्ञानमय और विज्ञानमय आदित्य ही हैं । मित्रदेवता तथा सूर्यदेवको नमस्कार । प्रभो ! मृत्युसे मेरी रक्षा करो । दीप्तिमान् तथा विश्वके कारणरूप सूर्यनारायणको नमस्कार है । सूर्यसे सम्पूर्ण चराचर जीव उत्पन्न होते हैं, सूर्यके द्वारा ही उनका पालन होता है, और फिर सूर्यमें ही वे लयको प्राप्त होते हैं । जो सूर्यनारायण हैं, वह मैं ही हूँ । सविता देवता हमारे नेत्र हैं तथा पर्वके द्वारा पुण्यकालका आख्यान करनेके कारण जो पर्वतनामसे प्रसिद्ध हैं, वे सूर्य ही हमारे चक्षु हैं । सबको धारण करनेवाले धाता नामसे

प्रसिद्ध वे आदित्यदेव हमारे नेत्रोंको दृष्टिशक्ति प्रदान करके धारण करें ।

'(श्रीसूर्यगायत्री) 'हम भगवान् आदित्यको जानते हैं—पूजते हैं, हम सहस्र (अनन्त) किरणोंसे मण्डित भगवान् सूर्यनारायणका ध्यान करते हैं; वे सूर्यदेव हमें प्रेरणा प्रदान करें ।'* पीछे सविता देवता हैं, आगे सविता देवता हैं, उत्तर—बायें भी सविता देवता हैं, और दक्षिण भागमें भी (तथा ऊपर-नीचे भी) सविता देवता हैं । सविता देवता हमारे लिये सब कुछ प्रसव करें (सभी अभीष्ट वस्तुएँ दें) । सविता देवता हमें दीर्घ आयु प्रदान करें । 'ॐ' यह एकाक्षर मन्त्र ब्रह्म है । 'घृणिः' यह दो अक्षरोंका मन्त्र है, 'सूर्यः' यह दो अक्षरोंका मन्त्र है । 'आदित्यः' इस मन्त्रमें तीन अक्षर हैं । इन सबको मिलाकर सूर्यनारायणका अष्टाक्षर महामन्त्र—'ॐ घृणिः सूर्य आदित्योम्' बनता है । यही अथर्वाङ्गिरस सूर्यमन्त्र है । इस मन्त्रका जो प्रतिदिन जप करता है, वही ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) होता है, वही ब्राह्मण होता है । सूर्यनारायणकी ओर मुख करके जपनेसे महाव्याधिके भयसे मुक्त हो जाता है । उसका दारिद्रय नष्ट हो जाता है । सारे दोषों—पापोंसे वह मुक्त हो जाता है । मध्याह्नमें सूर्यकी ओर मुख करके इसका जप करे । यों करनेसे मनुष्य सद्यःउत्पन्न पञ्च महापातकोंसे छूट जाता है । यह सावित्री विद्या है, इसकी कहीं कुछ भी प्रशंसा न करे । जो महाभाग इसका प्रातः पाठ करता है, वह भाग्यवान् हो जाता है, उसे गौ आदि पशु प्राप्त होते हैं, वेदार्थ-ज्ञानकी प्राप्ति होती है । तीनों काल इसका जप करनेसे सैकड़ों यज्ञोंका फल प्राप्त होता है । जो सूर्यदेवताके हस्त नक्षत्रपर रहते समय (अर्थात् आश्विन मासमें) इसका जप करता है, वह महामृत्युसे तर जाता है; जो इस प्रकारसे जानता है, वह भी महामृत्युसे तर जाता है ।

॥ अथर्ववेदीय सूर्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

जगत्‌की दुःखमयता और आनन्दमयता

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥

(वराहोपनिषद् २२)

जैसे अन्धेके लिये जगत् अन्धकारमय है और अच्छी आँखोंवालेके लिये प्रकाशमय है, वैसे ही अज्ञानी (जगत्‌को भगवान्‌से रहित विषयमय देखनेवाले) के लिये जगत् दुःखोंका समूहमय है और ज्ञानी (समस्त जगत्‌में भगवान्‌से पूर्ण देखनेवाले) के लिये आनन्दमय है ।

* 'आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि । तन्नः सूर्यः प्रचोदयात् ।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

अक्ष्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम खण्ड

नेत्ररोगहरी विद्या

कथा है कि एक समय भगवान् साङ्कृति आदित्यलोकको पधारे। वहाँ सूर्यनारायणको प्रणाम करके उन्होंने चाक्षुष्मती विद्याके द्वारा उनकी स्तुति की। ॐ चक्षु-इन्द्रियके प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ आकाशमें विचरण करनेवाले सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ महासेन (सहस्रों किरणोंकी भारी सेना साथ रखनेवाले) श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ तमोगुणरूपमें भगवान् सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ रजोगुणरूपमें भगवान् सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ सत्त्वगुणके रूपमें भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ हे भगवन्! मुझे असत्से सत्की ओर ले चलिये; मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये; मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये। भगवान् सूर्य शुचिरूप हैं, और वे अप्रतिरूप भी हैं—उनके रूपकी कहीं भी तुलना नहीं है। जो अखिल रूपोंको धारण कर रहे हैं तथा रश्मिमालाओंसे मण्डित हैं, उन जातवेदा (सर्वज्ञ) स्वर्णसदृश प्रकाशवाले ज्योतिःस्वरूप और तपनेवाले भगवान् भास्करको हम स्मरण करते हैं। ये सहस्रों किरणोंवाले और शत-शत प्रकारसे वर्तमान भगवान् सूर्यनारायण समस्त प्राणियोंके समक्ष उदित हो रहे हैं। जो हमारे नेत्रोंके प्रकाश हैं, उन अदितिनन्दन भगवान् श्रीसूर्यको नमस्कार है। दिनका भार वहन करनेवाले विश्ववाहक सूर्यदेवके प्रति हमारा सब कुछ सादर समर्पित है। इस प्रकार चाक्षुष्मती विद्याके द्वारा स्तुति किये जानेपर भगवान् सूर्यनारायण अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्याका नित्य पाठ करता है, उसको आँखका रोग नहीं होता; उसके कुलमें अंधे नहीं होते। आठ ब्राह्मणोंको इसका ग्रहण करा देनेपर इस विद्याकी सिद्धि होती है। जो इस प्रकार जानता है, वह महान् हो जाता है ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मविद्याका उपदेश

तदनन्तर साङ्कृति मुनिने सूर्यनारायणसे कहा, 'भगवन्! मेरे लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' उनसे भगवान् आदित्य बोले—'साङ्कृति! सुनो; तुमसे अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके विज्ञानमात्रसे तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। सबको एक, अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वतः चैतन्यरूप देखते हुए तुम शान्ति और सुखसे रहो। असंवेदन अर्थात् आत्मा अथवा परमात्माके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका भान न हो—ऐसी स्थितिको ही योग मानते हैं; यही वास्तविक चित्तक्षय है। अतएव योगस्थ होकर कर्मोंको करो; नीरस अर्थात् विरक्त होकर कर्म मत करो। अब असंवेदनरूपी योगकी प्रथम भूमिका बतलाते हैं—

योगमें प्रवृत्त होनेपर अन्तःकरण प्रतिदिन वासनाओंसे विरक्त होता जाता है और नित्यप्रति उदार कर्मोंमें संलग्न होता और उन्हींमें प्रसन्नताका अनुभव करता है। मूर्ख मनुष्योंकी ग्राम्य-चेष्टाओं (अश्लील विषयभोगकी प्रवृत्तियों) से वह सदा घृणा करता है। किसीकी छिपी हुई मार्मिक बातोंको

दूसरोंपर प्रकट नहीं करता। परंतु सदा पुण्यकर्मोंका ही सेवन करता रहता है और जिनके द्वारा किसी प्राणीको उद्वेग न हो; ऐसे मृदु (दया और उदारतासे पूर्ण) सौम्य कर्मोंका सेवन करता है। निरन्तर पापसे डरता है और भोगकी आकाङ्क्षा नहीं करता। वह ऐसे वचन बोलता है, जिनमें स्नेह और प्रेम भरा हो; मृदुल और उचित हों तथा देश-कालके अनुकूल हों। मन, वचन और कर्मसे वह सज्जन पुरुषोंका सङ्ग करता है और जहाँ कहींसे भी संग्रह करके नित्य सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन करता है। ऐसी स्थिति आनेपर वह प्रथम भूमिकाको प्राप्त होता है। संसार-सागरको पार करनेके लिये जो इस प्रकारके विचारोंमें संलग्न रहता है, वह भूमिकावान् कहलाता है और दूसरे 'आर्य' कहलाते हैं। जो योगकी विचार नामकी दूसरी भूमिकाको प्राप्त होता है, उसके लक्षण ये हैं—॥ १—१० ॥

वह ऐसे श्रेष्ठ विद्वानोंका आश्रय लेता है जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यानकी उत्तम व्याख्या करनेके कारण अधिक विख्यात हों। वह पद और पदार्थोंके विभागको ठीक-ठीक जानता है और श्रवण करनेयोग्य शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके कारण कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयको ठीक उसी प्रकार जानता है, जैसे घरका स्वामी घरके पदार्थोंको जानता है। मद, अभिमान, मत्सरता (डाह), लोभ और मोहकी अधिकता उसके मनमें रहती नहीं; किंतु बाह्य आचरणमें भी जो थोड़ी-बहुत इन दोषोंकी स्थिति देखी जाती है, उसको भी वह उसी भाँति त्याग देता है, जैसे साँप केंचुलको। ऐसी बुद्धिवाला साधक शास्त्र, गुरु और संतजनोंकी सेवाके द्वारा रहस्यपूर्वक सारी बातोंको यथावत् जान लेता है॥ ११–१४॥

इसके बाद वह असंसर्गा नामकी तीसरी योगभूमिकामें प्रवेश करता है—ठीक वैसे ही, जैसे एक सुन्दर पुरुष स्वच्छ पुष्प-शय्यापर आरूढ़ होता है। शास्त्रोंके वाक्य जिस अर्थको प्रकट करते हैं, उसमें विधिपूर्वक अपनी निश्चल बुद्धिको लगाकर (शास्त्रोंके वचनोंपर पूर्ण श्रद्धा रखकर), तपस्वियोंके आश्रममें रहकर तथा अध्यात्मशास्त्रकी चर्चा करते हुए वह पत्थरकी शय्यापर आसीन होकर अपनी विस्तृत आयु व्यतीत करता है। वह नीतिज्ञ पुरुष चित्तको शान्ति प्रदान करनेके कारण अधिक भानेवाले वनभूमि-विहार (वनके स्थानोंमें भ्रमण) द्वारा विषयोंमें अनासक्त हो स्वाभाविक सुख-सौख्यका उपभोग करता हुआ अपना समय बिताता है। सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे जीवकी यह यथार्थ वस्तुदृष्टि निर्मल होती है। इस तृतीय भूमिकाको प्राप्त करके वह स्वयं बुद्ध (ज्ञानी) होकर अनुभव करता है ॥ १५–१९ ॥

असंसर्ग दो प्रकारका होता है, उसके इस भेदको सुनो। वह असंसर्ग सामान्य और श्रेष्ठ—दो प्रकारका है। मैं न तो कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ, न बाध्य हूँ और न बाधक ही हूँ—इस प्रकार विषयोंमें आसक्त न होनेका भाव ही सामान्य असंसर्ग कहलाता है। सब कुछ पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके फल-रूपमें उपस्थित है, अथवा सब कुछ ईश्वराधीन है; अतएव सुख हो या दुःख, इसमें मेरा कर्तृत्व ही क्या है। भोगोंका विस्तार (अधिक संग्रह) महारोग है; सब प्रकारकी सम्पदाएँ परम आपदाएँ हैं। सारे संयोग एक दिन वियोगके लिये ही हैं; आधियाँ (मानसिक चिन्ताएँ) अज्ञानियोंके लिये व्याधिरूप हैं। समस्त पदार्थोंको काल निरन्तर अपना ग्रास बनानेमें लगा है; अतएव सारे पदार्थ अस्थायी हैं;—इस प्रकार शास्त्रोंके वचनोंको समझनेसे सर्वत्र अनास्था हो जानेके कारण जो मनमें उनके अभावकी भावना होती है, उसे सामान्य असंसर्ग कहते हैं। इस प्रकार क्रमशः महात्माओंके सत्सङ्गसे 'मैं कर्ता नहीं हूँ, ईश्वर कर्ता है अथवा मेरे पुराकृत कर्म ही कर्ता हैं' ऐसा निश्चय करके सब प्रकारकी चिन्ताओं तथा शब्द-अर्थकी भावनाको भी अत्यन्त दूर कर देनेके पश्चात् जो मौन (मन-इन्द्रियोंका पूर्ण संयम), आसन (आन्तरिक स्थिति) और शान्तभाव (बाह्य भावोंका विस्मरण) हो जाता है—वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहलाता है ॥ २०–२६ ॥

संतोष और आनन्दमयी होनेसे मधुर प्रतीत होनेवाली पहली भूमिका इस प्रकार उदय होती है; मानो वह अन्तःकरणकी भूमिमें उगा हुआ अमृतका छोटा-सा अङ्कुर हो। इस भूमिकाके उदित होनेके पश्चात् अन्तःकरणमें अन्य भूमिकाओंके प्रकट होनेके लिये एक भूमि (क्षेत्र) हो जाती है। उसके बाद साधक क्रमशः द्वितीय और तृतीय भूमिकाओंको भी प्राप्त कर लेता है। इनमें यह तीसरी भूमिका ही सर्वश्रेष्ठ होती है; क्योंकि इसमें पुरुष सम्पूर्ण सङ्कल्पात्मक वृत्तियोंका त्याग कर देता है। इन तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे अज्ञानके क्षीण होनेपर चतुर्थी भूमिकाको प्राप्त हुए साधक सर्वत्र समभावसे देखते हैं। उस समय अद्वैतभाव दृढ़ होकर द्वैतभावकी शान्ति हो जाती है; इससे चौथी भूमिकापर पहुँचे हुए साधक इस लोकको स्वप्नवत् देखते हैं। पहली तीनों भूमिकाएँ जाग्रत्-स्वरूपा हैं तथा यह चौथी भूमिका स्वप्न कहलाती है ॥ २७–३२ ॥

पाँचवीं भूमिकाको प्राप्त होनेपर साधकका चित्त शरत्-कालके मेघखण्डोंके समान आकाशमें विलीन हो जाता है, और केवल सत्त्वमात्र अवशिष्ट रहता है। इसमें चित्तके विलीन हो जानेके कारण सांसारिक विकल्पोंका उदय ही नहीं होता। सुषुप्तपद नामकी इस पाँचवीं भूमिकाके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण विशेषांश (भेद) शान्त हो जाते हैं, और साधक केवल (निर्विशेष) अद्वैत स्थितिमें आ जाता है। द्वैतका आभास नष्ट हो जाता है और आत्मज्ञानसे सम्पन्न प्रसन्न साधक पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर सुषुप्तघन (आनन्दमयी) स्थितिमें ही रहता है। वह बाहरके व्यवहार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख ही रहता है और सदा परिश्रान्त होकर निद्रा लेनेवालेके समान दिखलायी देता है। इस भूमिकामें अभ्यास करता हुआ वह वासना-रहित होकर क्रमशः तुर्या नामकी छठी भूमिकामें पदार्पण करता है। जहाँ न सत् है न असत् है; न अहङ्कार है न अनहङ्कार है, उस विशुद्ध अद्वैतावस्थामें वह अत्यन्त निर्भय होकर मननात्मक वृत्तिसे रहित हो जाता है। उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संदेह शान्त हो जाते हैं; वह जीवन्मुक्त होकर भावनाशून्य हो जाता है और निर्वाणको न प्राप्त होनेपर भी निर्वाणको प्राप्त हुआ-सा हो जाता है। उस समय वह चित्रलिखित दीपककी भाँति निश्चेष्ट रहता है। इस छठी भूमिकामें स्थित होनेके पश्चात् वह सातवीं भूमिकाको प्राप्त होता है ॥ ३३–४० ॥

विदेहमुक्तिकी अवस्था ही सातवीं भूमिका बतायी गयी है। यह भूमिका परम शान्त एवं वाणीके द्वारा अगम्य है। यही सब भूमिकाओंकी अन्तिम सीमा है, यहाँ योगकी सारी भूमिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। लोकाचारका अनुगमन करना छोड़कर, देहाचारका अनुसरण छोड़कर तथा शास्त्रानुगमनको त्यागकर अपने अध्यासको दूर करो। विश्व, प्राज्ञ और तैजस आदि-रूप समस्त जगत् 'ॐकार' मात्र है; क्योंकि वाच्य और वाचकमें भेद नहीं होता (ॐकार वाचक है और परमात्मरूप सम्पूर्ण विश्व वाच्य है)। भेदसे इसकी उपलब्धि नहीं होती। प्रणवकी पहली मात्रा अकार ही 'विश्व' है, उकार 'तैजस' है और मकार 'प्राज्ञ' स्वरूप है--ऐसा क्रमशः अनुभव करे। समाधिकालसे पूर्व ही अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक चिन्तन करके स्थूल और सूक्ष्मके क्रमसे सबको चिदात्मामें विलीन कर दे। चिदात्माको अपना स्वरूप समझे। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तामात्र, अद्वय परमानन्द-संदोहमय एवं वासुदेव-स्वरूप ॐकार हूँ—ऐसी दृढ़ भावना करे। क्योंकि यह सारा प्रपञ्च आदि, मध्य और अन्तमें केवल दुःखमय ही है, अतएव हे अनघ! सबको छोड़कर तत्त्वनिष्ठ बनो। मैं अविद्यारूपी अन्धकारसे परे, सब प्रकारके आभाससे रहित, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध, मन और वाणीकी पहुँचके परे, प्रज्ञानघन और आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ—इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये। यह उपनिषद् है ॥ ४१–४९ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय अक्ष्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

परमात्माका चिन्तन करो

निद्राया लोकवार्त्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥

(अध्यात्मोपनिषद् ५)

नींद, लोकचर्चा, इन्द्रियोंके शब्दादि विषय और आत्मविस्मृति (परमात्माका स्मरण न करना) इन (चारों) को कहीं तनिक-सा भी अवसर न देकर मनसे निरन्तर आत्मा (परमात्मा) का चिन्तन करो।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

चाक्षुषोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अब नेत्र-रोगका हरण करनेवाली पाठमात्रसे सिद्ध होनेवाली चाक्षुषी विद्याकी व्याख्या करते हैं, जिससे समस्त नेत्ररोगोंका सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और नेत्र तेजयुक्त हो जाते हैं। उस चाक्षुषी विद्याके ऋषि अहिर्बुध्न्य हैं, गायत्री छन्द है, सूर्यभगवान् देवता हैं; नेत्ररोगकी निवृत्तिके लिये इसका जप होता है—यह विनियोग है *।

चाक्षुषी विद्या

ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव । मां पाहि पाहि । त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय । मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय । यथाहम् अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय । कल्याणं कुरु कुरु । यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुःप्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय । ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय । ॐ नमः करुणाकरायामृताय । ॐ नमः सूर्याय । ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः । खेचराय नमः । महते नमः । रजसे नमः । तमसे नमः । असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय । उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः । हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः । य इमां चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति । न तस्य कुले अन्धो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति ॥

ॐ (भगवान्‌का नाम लेकर कहे)। हे चक्षुके अभिमानी सूर्यदेव ! आप चक्षुमें चक्षुके तेजरूपसे स्थिर हो जायँ। मेरी रक्षा करें ! रक्षा करें ! मेरे आँखके रोगोंका शीघ्र शमन करें, शमन करें। मुझे अपना सुवर्ण-जैसा तेज दिखला दें, दिखला दें। जिससे मैं अंधा न होऊँ (कृपया) वैसे ही उपाय करें, उपाय करें। मेरा कल्याण करें, कल्याण करें। दर्शन-शक्तिका अवरोध करनेवाले मेरे पूर्वजन्मार्जित जितने भी पाप हैं, सबको जड़से उखाड़ दें, जड़से उखाड़ दें। ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप) नेत्रोंको तेज प्रदान करनेवाले दिव्यस्वरूप भगवान् भास्करको नमस्कार है। ॐ करुणाकर अमृतस्वरूपको नमस्कार है। ॐ सूर्यभगवान्‌को नमस्कार है। ॐ नेत्रोंके प्रकाश भगवान् सूर्यदेवको नमस्कार है। ॐ आकाशविहारीको नमस्कार है। परम श्रेष्ठस्वरूपको नमस्कार है। ॐ (सबमें क्रिया-शक्ति उत्पन्न करनेवाले) रजोगुणरूप सूर्यभगवान्‌को नमस्कार है। (अन्धकारको सर्वथा अपने अंदर समा लेनेवाले) तमोगुणके आश्रयभूत भगवान् सूर्यको नमस्कार है। हे भगवन् ! मुझको असत्‌से सत्‌की ओर ले चलिये। अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये। मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये। उष्णस्वरूप भगवान् सूर्य शुचिरूप हैं। हंसस्वरूप भगवान् सूर्य शुचि तथा अप्रतिरूप हैं—उनके तेजोमय स्वरूपकी समता करनेवाला कोई नहीं है। जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्याका नित्य पाठ करता है, उसको नेत्रसम्बन्धी कोई रोग नहीं होता। उसके कुलमें कोई

---

* तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः, गायत्री छन्दः, सूर्यो देवता, चक्षूरोगनिवृत्तये विनियोगः ।

ॐ षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न भगवान् आदित्यको नमस्कार है। उनकी प्रभा दिनका भार वहन करनेवाली है, दिनका भार वहन करनेवाली है। हम उन भगवान्के लिये उत्तम आहुति देते हैं। जिन्हें मेधा अत्यन्त प्रिय है, वे ऋषिगण उत्तम पंखोंवाले पक्षीके रूपमें भगवान् सूर्यके पास गये और इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! इस अन्धकारको छिपा दीजिये, हमारे नेत्रोंको प्रकाशसे पूर्ण कीजिये तथा तमोमय बन्धनमें बँधे हुए-से हम सब प्राणियोंको अपना दिव्य प्रकाश देकर मुक्त कीजिये। पुण्डरीकाक्षको नमस्कार है। पुष्करेक्षणको नमस्कार है। निर्मल नेत्रोंवाले—अमलेक्षणको नमस्कार है। कमलेक्षणको नमस्कार है। विश्वरूपको नमस्कार है। महाविष्णुको नमस्कार है।'

अंधा नहीं होता। आठ ब्राह्मणोंको इस विद्याका दान करनेपर—इसका ग्रहण करा देनेपर इस विद्याकी सिद्धि होती है।*

जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, जो किरणोंसे सुशोभित एवं जातवेदा (भूत आदि तीनों कालोंकी बातको जाननेवाले) हैं, जो ज्योतिःस्वरूप, हिरण्मय (सुवर्णके समान कान्तिमान्) पुरुषके रूपमें तप रहे हैं, इस सम्पूर्ण विश्वके जो एकमात्र उत्पत्तिस्थान हैं, उन प्रचण्ड प्रतापवाले भगवान् सूर्यको हम नमस्कार करते हैं। ये सूर्यदेव समस्त प्रजाओं (प्राणियों) के समक्ष उदित हो रहे हैं।

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिनी अहोवाहिनी स्वाहा।

॥ कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

---

*चाक्षुषी (नेत्र)-उपनिषद्की शीघ्र फल देनेवाली विधि—

(लेखक—पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र, ज्यौतिषाचार्य)

नेत्ररोगसे पीड़ित श्रद्धालु साधकको चाहिये कि प्रतिदिन प्रातःकाल हरिद्रा (हल्दी) से अनारकी शाखाकी कलमके द्वारा काँसेके पात्रमें निम्नलिखित बत्तीसे यन्त्रको लिखे—

८	१५	२	७
६	३	१२	११
१४	९	८	१
४	५	१०	१३

'मम चक्षूरोगान् शमय शमय'

फिर उसी यन्त्रपर ताँबेकी कटोरीमें चतुर्मुख (चारों ओर चार बत्तियोंका) घीका दीपक जलाकर रख दे। तदनन्तर गन्ध-पुष्पादिसे यन्त्रका पूजन करे। फिर पूर्वकी ओर मुख करके बैठे और हरिद्रा (हल्दी) की मालासे 'ॐ ह्रीं हंसः' इस बीजमन्त्रकी ६ मालाएँ जपकर नेत्रोपनिषद्के कम-से-कम बारह पाठ करे। पाठके पश्चात् फिर उपर्युक्त बीजमन्त्रकी ५ मालाएँ जपे। तदनन्तर सूर्यभगवान्को श्रद्धापूर्वक अर्घ्य देकर प्रणाम करे और मनमें यह निश्चय करे कि मेरा नेत्ररोग शीघ्र ही नष्ट हो जायगा।

ऐसा करते रहनेसे इस उपनिषद्का नेत्ररोगनाशक अद्भुत प्रभाव बहुत शीघ्र देखनेमें आता है।

१. 'पुण्डरीकाक्ष', 'पुष्करेक्षण' और 'कमलेक्षण'—इन तीनों नामोंका एक ही अर्थ है—कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान्।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

नारायणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् नारायणकी सर्वकारणता एवं सर्वरूपता; अष्टाक्षर नारायण-मन्त्रका स्वरूप और महिमा

ॐ इस परमात्माके नामका स्मरण करके अब नारायणोपनिषद् आरम्भ किया जाता है । निश्चय ही, भगवान् नारायण सबके शरीरोंमें शयन करनेवाले अन्तर्यामी आत्मा हैं। उन्होंने संकल्प किया—'मैं जीवोंकी सृष्टि करूँ ।' अतः उन्हींसे सबकी उत्पत्ति हुई है । नारायणसे ही समष्टिगत प्राण उत्पन्न होता है, उन्हींसे मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं । आकाश, वायु, तेज, जल तथा सम्पूर्ण विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी—इन सबकी नारायणसे ही उत्पत्ति होती है। नारायणसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। नारायणसे शिवजी प्रकट होते हैं । नारायणसे इन्द्रका जन्म होता है। नारायणसे प्रजापति उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही बारह आदित्य प्रकट हुए हैं। ग्यारह रुद्र, आठ वसु और सम्पूर्ण छन्द (वेद) नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं, नारायणसे ही प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं और नारायणमें ही लीन हो जाते हैं । यह ऋग्वेदीय उपनिषद्का कथन है ॥ १ ॥

भगवान् नारायण नित्य हैं । ब्रह्मा नारायण हैं । शिव भी नारायण हैं। इन्द्र भी नारायण हैं। काल भी नारायण हैं। दिशाएँ भी नारायण हैं । विदिशाएँ (दिशाओंके बीचके कोण) भी नारायण हैं । ऊपर भी नारायण हैं। नीचे भी नारायण हैं । भीतर और बाहर भी नारायण हैं । जो कुछ हो चुका है तथा जो कुछ हो रहा है और होनेवाला है, यह सब भगवान् नारायण ही हैं । एकमात्र नारायण ही निष्कलङ्क, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय एवं विशुद्ध देव हैं; उनके सिवा दूसरा कोई नहीं है । जो इस प्रकार जानता है, वह विष्णु ही हो जाता है, वह विष्णु ही हो जाता है । यह यजुर्वेदीय उपनिषद्का प्रतिपादन है ॥ २ ॥

सबसे पहले **'ॐ'** इस अक्षरका उच्चारण करे, इसके बाद **'नमः'** पदका, फिर अन्तमें **'नारायणाय'** इस पदका उच्चारण करे । **'ॐ'** यह एक अक्षर है । **'नमः'** ये दो अक्षर हैं । **'नारायणाय'** ये पाँच अक्षर हैं । यह **'ॐ नमो नारायणाय'** पद भगवान् नारायणका अष्टाक्षरमन्त्र है । निश्चय ही, जो मनुष्य भगवान् नारायणके इस अष्टाक्षरमन्त्रका जप करता है, वह उत्तम कीर्तिसे युक्त हो पूरी आयुतक जीवित रहता है । जीवोंका आधिपत्य, धनकी वृद्धि, गौ आदि पशुओंका स्वामित्व—ये सब भी उसे प्राप्त होते हैं । तदनन्तर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है, अमृतत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् भगवान् नारायणके अमृतमय परमधाममें जाकर परमानन्दका अनुभव करता है) । यह सामवेदीय उपनिषद्का कथन है ॥ ३ ॥

आन्तरिक आनन्दमय ब्रह्मपुरुष प्रणवस्वरूप है; 'अ' 'उ' 'म'—ये उसकी मात्राएँ हैं । ये अनेक हैं; इनका ही सम्मिलित रूप 'ॐ' इस प्रकार हुआ है । इस प्रणवका जप करके योगी जन्म-मृत्युरूप संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है । **'ॐ नमो नारायणाय'** इस मन्त्रकी उपासना करनेवाला साधक वैकुण्ठधाममें जायगा । वह यह वैकुण्ठधाम विज्ञानघन

पुण्डरीक (कमल) है; अतः इसका स्वरूप विद्युत्के समान परम प्रकाशमय है। देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य (ब्राह्मणप्रिय) हैं। भगवान् मधुसूदन ब्रह्मण्य हैं। पुण्डरीक (कमल)के सदृश नेत्रोंवाले भगवान् विष्णु ब्रह्मण्य हैं। अच्युत विष्णु ब्रह्मण्य हैं। सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित एक ही नारायण-देव कारणपुरुष हैं। वे ही कारणरहित परब्रह्म हैं। ॐ यह अथर्ववेदीय उपनिषद्का प्रतिपादन है ॥ ४ ॥

प्रातःकाल इस उपनिषद्का पाठ करनेवाला पुरुष रात्रिमें किये हुए पापका नाश कर डालता है। सायंकालमें इसका पाठ करनेवाला मनुष्य दिनमें किये हुए पापका नाश कर डालता है। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय पाठ करने-वाला साधक पहलेका पापी हो तो भी निष्पाप हो जाता है। दोपहरके समय भगवान् सूर्यकी ओर मुख करके पाठ करने-वाला मानव पाँच महापातकों और उपपातकोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण वेदोंके पाठका पुण्य-लाभ करता है। और अन्तमें भगवान् श्रीनारायणका सायुज्य प्राप्त कर लेता है; जो इस प्रकार जानता है, वह भी श्रीमन्नारायणका सायुज्य प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय नारायणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

श्रीनारायणके ध्यानसे मुक्ति

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्त-
डिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम्।
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः॥
सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मों।
शोकमोहविनिर्मुक्तो विष्णुं ध्यायन्न सीदति॥ (आत्मप्रबोध०)

'अब जो यह ब्रह्मपुर-कमल है, उसमें विद्युत्की आभामात्र दीपकके समान प्रकाशरूप, ब्राह्मणोंके प्रिय अथवा ब्राह्मण जिनको प्रिय हैं, ऐसे देवकीनन्दन, ब्रह्मण्य मधुसूदन, ब्रह्मण्य कमलनयन अच्युत विष्णु भगवान् हैं। (उन) सर्वभूतोंमें स्थित एकमात्र कारणपुरुष कारणरहित परब्रह्म नारायण विष्णुका जो ध्यान करता है, वह शोक-मोहसे छूट जाता है और कोई कष्ट नहीं पाता।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीरामोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

श्रीरामका स्वरूप, उनके अङ्ग, राम-मन्त्रका माहात्म्य

एक समय सनकादि योगीन्द्रों तथा अन्य ऋषियों और प्रह्लादादि भगवान् विष्णुके भक्तोंने हनुमान्‌जीसे यह पूछा—हे महाबाहु महाबलवान् वायुपुत्र ! आप यह बतलायें कि अठारहों पुराणों, अठारहों स्मृतियों, चारों वेदों, सम्पूर्ण शास्त्रों एवं समस्त अध्यात्मविद्याओंमें ब्रह्मवादियोंके लिये कौन-सा तत्त्व उपदिष्ट हुआ है ? विष्णुके समस्त नामोंमेंसे तथा गणेश, सूर्य, शिव और शक्ति—इनमेंसे वह तत्त्व कौन-सा है ? ॥ १—३ ॥

श्रीहनुमान्‌जीने उत्तर दिया—योगीन्द्रवृन्द, ऋषिगण तथा विष्णुभक्तजन ! आप संसारके बन्धनको नाश करनेवाली मेरी बात सुनें । इन सब (वेदादिकों)में परम तत्त्व ब्रह्मस्वरूप तारक ही है । राम ही परम ब्रह्म हैं । राम ही परम तपःस्वरूप हैं । राम ही परम तत्त्व हैं । वे श्रीराम ही तारकब्रह्म हैं ॥ ४-५ ॥

श्रीपवनपुत्रके यह उपदेश देनेपर योगीन्द्रों, ऋषियों और विष्णुभक्तोंने फिर हनुमान्‌जीसे पूछा—हनुमान्‌जी ! आप हमें श्रीरामके अङ्गोंका उपदेश करें । तब उन पवनकुमारने कहा—'गणेश, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वाराह तथा और भी दूसरे सभी देवताओंके मन्त्रोंको, श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी, हनुमान्, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान् और भरतजी—इन सबको श्रीरामका अङ्ग जानना चाहिये । अङ्गोंकी पूजाके बिना राम-मन्त्रका जप विघ्नकारक होता है' ॥ ६ ॥

इस प्रकार हनुमान्‌जीके कहनेपर उन सब योगीन्द्रादिने पुनः उनसे पूछा—महाबलवान् अञ्जनीकुमार ! जो गृहस्थ ब्राह्मण (ब्रह्मवादी) हैं, उनको प्रणवका अधिकार कैसे हो सकता है ?

श्रीहनुमान्‌जी बोले—एक बार श्रीअयोध्याजीमें रत्न-सिंहासनासीन भगवान् श्रीरामसे मैंने इसी प्रकार पूछा था—'योगियोंके चित्तरूपी मानसरोवरमें विहार करनेवाले हंसके समान सीतानाथ ! गृहस्थ ब्राह्मणोंको प्रणवमें किस प्रकार अधिकार प्राप्त हो ?' भगवान् श्रीरामने बताया—'जिनको इस छः अक्षरके मेरे मन्त्रका अधिकार प्राप्त है, उन्हींको प्रणव-जपका अधिकार है, दूसरोंको नहीं । जो प्रणवको केवल अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रासहित जपकर पुनः 'रामचन्द्र' मन्त्रका जप करता है, मैं उसका कल्याण करता हूँ । इसलिये प्रणवके अकार, उकार, मकार एवं अर्ध-मात्राके ऋषि, छन्द, देवताका न्यास करके, इसी प्रकार वर्ण,

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीकृष्णोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीकृष्णके परिवारोंके रूपमें विभिन्न देवी-देवताओंका अवतरण, श्रीकृष्णके साथ उनकी एकरूपता

श्रीकृष्णावतारसे पूर्व जब देवताओंसे भगवान्ने उन्हें पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके लिये कहा, तब वे (जन्मभीरु) समस्त देवता उन सनातन भगवान्से बोले—'भगवन् ! हम देवता होकर पृथ्वीपर जन्म लें, यह हमारे लिये बड़ी निन्दाकी बात है। हमारे द्वारा स्वेच्छासे तो भूतलपर जन्म ग्रहण करना सम्भव नहीं है; परंतु आपकी आज्ञा है, इसलिये हमें वहाँ जन्म लेना ही पड़ेगा। फिर भी इतनी प्रार्थना अवश्य है कि हमें गोप (गँवार मनुष्य) और स्त्रीके रूपमें वहाँ उत्पन्न न करें। जिसे आपके अङ्ग-स्पर्शसे वञ्चित रहना पड़ता हो ऐसा आपके सान्निध्यसे दूर रहनेवाला मनुष्य बनकर हममेंसे कोई भी शरीर धारण नहीं करेगा; हमें सदा अपने अङ्गोंके स्पर्शका अवसर दें, तभी हम अवतार ग्रहण करेंगे।' रुद्र आदि देवताओंका यह स्नेहपूर्ण वचन सुनकर स्वयं भगवान्ने कहा—'देवताओ ! मैं तुम्हें अङ्ग-स्पर्शका अवसर दूँगा, तुम्हारे वचनोंको अवश्य पूर्ण करूँगा' ॥ १-२ ॥

भगवान्का यह आश्वासन पाकर वे सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'अब हम कृतार्थ हो गये।' फिर सब देवता भगवान्की सेवाके लिये प्रकट हुए। भगवान्का परमानन्दमय अंश ही नन्दरायजीके रूपमें प्रकट हुआ। नन्दरानी यशोदाके रूपमें साक्षात् मुक्तिदेवी अवतीर्ण हुईं। सुप्रसिद्ध माया सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यों तीन प्रकारकी बतायी गयी है। भगवान्के भक्त श्रीरुद्रदेवमें सात्त्विकी माया है, ब्रह्माजीमें राजसी माया है और दैत्यवर्गमें तामसी मायाका प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार यह तीन प्रकारकी माया बतायी गयी। इससे भिन्न जो वैष्णवी माया है, जिसको जीतना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है, जिसे पूर्वकालमें ब्रह्माजी भी पराजित न कर सके तथा देवता भी जिसकी स्तुति करते हैं, वह ब्रह्मविद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी-रूपमें प्रकट हुई। निगम (वेद) ही वसुदेव हैं, जो सदा मुझ नारायणके स्वरूपका स्तवन करते हैं। वेदोंका तात्पर्य-भूत ब्रह्म ही श्रीबलराम और श्रीकृष्णके रूपमें इस महीतलपर अवतीर्ण हुआ। वह मूर्तिमान् वेदार्थ ही वृन्दावनमें गोप-गोपियोंके साथ क्रीडा करता है। ऋचाएँ उस श्रीकृष्णकी गौएँ और गोपियाँ हैं। ब्रह्मा लकुटीरूप धारण किये हुए हैं और रुद्र वंश अर्थात् वंशी बने हैं। देवराज इन्द्र सींगा बने हैं। गोकुल नामक वनके रूपमें साक्षात् वैकुण्ठ है। वहाँ द्रुमोंके रूपमें तपस्वी महात्मा हैं। लोभ-क्रोधादिने दैत्योंका रूप धारण किया है, जो कलियुगमें केवल भगवान्का नाम लेनेमात्रसे तिरस्कृत (नष्ट) हो जाते हैं ॥ ३-९ ॥

गोपरूपमें साक्षात् भगवान् श्रीहरि ही लीला-विग्रह धारण किये हुए हैं। यह जगत् मायासे मोहित है, अतः उसके लिये भगवान्की लीलाका रहस्य समझना बहुत कठिन है। वह माया समस्त देवताओंके लिये भी दुर्जय है। जिनकी मायाके प्रभावसे ब्रह्माजी लकुटी बने हुए हैं और जिन्होंने भगवान् शिवको

बाँसुरी बना रक्खा है, उनकी मायाको साधारण जगत् कैसे जान सकता है ? निश्चय ही देवताओंका बल ज्ञान है। परंतु भगवान्‌की मायाने उसे भी क्षणभरमें हर लिया। श्रीशेषनाग श्रीबलराम बने, और सनातन ब्रह्म ही श्रीकृष्ण बने। सोलह हजार एक सौ आठ—रुक्मिणी आदि भगवान्‌की रानियाँ वेदकी ऋचाएँ तथा उपनिषद् हैं। इनके सिवा जो वेदोंकी ब्रह्मरूपा ऋचाएँ हैं, वे गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई हैं। द्वेष चाणूर मल्ल है, मत्सर दुर्जय मुष्टिक है, दर्प ही कुवलयापीड हाथी है। गर्व ही आकाशचारी बकासुर राक्षस है। रोहिणी माताके रूपमें दयाका अवतार हुआ है, पृथ्वी माता ही सत्यभामा बनी हैं। महाव्याधि ही अघासुर है और साक्षात् कलि राजा कंस बना है। श्रीकृष्णके मित्र सुदामा शम हैं, अक्रूर सत्य हैं और उद्धव दम हैं। जो शङ्ख है, वह स्वयं विष्णु है तथा लक्ष्मीका भाई होनेसे लक्ष्मीरूप भी है; वह क्षीरसमुद्रसे उत्पन्न हुआ है, मेघके समान उसका गम्भीर घोष है। दूध-दहीके भंडारमें जो भगवान्‌ने मटके फोड़े और उनसे जो दूध-दहीका प्रवाह हुआ, उसके रूपमें उन्होंने साक्षात् क्षीरसागरको ही प्रकट किया है और उस महासागरमें वे बालक बने हुए पूर्ववत् क्रीड़ा कर रहे हैं। शत्रुओंके संहार तथा साधुजनोंकी रक्षामें वे सम्यक्‌रूपसे स्थित हैं। समस्त प्राणियोंपर अहैतुकी कृपा करनेके लिये तथा अपने आत्मजरूप धर्मकी रक्षा करनेके लिये श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं, यों जानना चाहिये। भगवान् शिवने श्रीहरिको अर्पित करनेके लिये जिस चक्रको प्रकट किया था, भगवान्‌के हाथमें सुशोभित वह चक्र ब्रह्मस्वरूप ही है ॥ १०–१९ ॥

धर्मने चँवरका रूप ग्रहण किया है, वायुदेव ही वैजयन्ती मालाके रूपमें प्रकट हुए हैं, महेश्वरने अग्निके समान चमचमाते हुए खड्गका रूप धारण किया है। कश्यप मुनि नन्दजीके घरमें ऊखल बने हैं और माता अदिति रज्जुके रूपमें अवतरित हुई हैं। जैसे सब वर्णोंके ऊपर अनुस्वार शोभा पाता है, उसी प्रकार जो सबके ऊपर सुशोभित आकाश है, उसे ही भगवान्‌का छत्र जानो। व्यास-वाल्मीकि आदि ज्ञानी महात्मा देवताओंके जितने स्वरूप बतलाते हैं तथा जिन-जिनको लोग देवरूप समझकर नमस्कार करते हैं, वे सभी देवता भगवान् श्रीकृष्णके ही आश्रित हैं। भगवान्‌के हाथकी गदा सारे शत्रुओंका नाश करनेवाली साक्षात् कालिका है। शार्ङ्गधनुषका रूप स्वयं वैष्णवी मायाने धारण किया है और प्राणसंहारक काल ही उनका बाण है। जगत्‌के बीजरूप कमलको भगवान्‌ने हाथमें लीलापूर्वक धारण किया है। गरुडने भाण्डीरवटका रूप ग्रहण किया है, और नारद मुनि सुदामा नामके सखा बने हैं। भक्तिने वृन्दाका रूप धारण किया है। सब जीवोंको प्रकाश देनेवाली जो बुद्धि है, वही भगवान्‌की क्रिया-शक्ति है। अतः ये गोप-गोपी आदि सभी भगवान्‌से भिन्न नहीं हैं और विभु—परमात्मा श्रीकृष्ण भी इनसे भिन्न नहीं हैं। उन्होंने (श्रीकृष्णने) स्वर्गवासियोंको तथा सारे वैकुण्ठधामको भूतलपर उतार लिया है ॥ २०–२५ ॥

जो इस प्रकार जानता है, वह सब तीर्थोंका फल पाता है और देहके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—यह उपनिषद् है।

॥ अथर्ववेदीय श्रीकृष्णोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

कलिसंतरणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रका अद्भुत माहात्म्य

हरिः ॐ । द्वापरके अन्तमें नारदजी ब्रह्माजीके पास गये, और बोले—'भगवन् ! मैं भूलोकमें पर्यटन करता हुआ किस प्रकार कलिसे त्राण पा सकता हूँ ?' ब्रह्माजी बोले—'वत्स ! तुमने मुझसे आज बहुत अच्छी बात पूछी है । समस्त श्रुतियोंका जो गोपनीय रहस्य है, उसे सुनो—जिससे कलियुगमें भवसागरको पार कर लोगे । भगवान् आदि-पुरुष नारायणके नामोच्चारणमात्रसे मनुष्य कलिके दोषोंका नाश कर डालता है ।' नारदजीने फिर पूछा—'वह कौन-सा नाम है ?' हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीने कहा—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

ये सोलह नाम कलिके पापोंका नाश करनेवाले हैं । इससे श्रेष्ठ कोई दूसरा उपाय सारे वेदोंमें भी नहीं देखनेमें आता । इसके द्वारा षोडश कलाओंसे आवृत जीवके आवरण नष्ट हो जाते हैं । तत्पश्चात् जैसे मेघके विलीन होनेपर सूर्यकी किरणें प्रकाशित हो उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्मका स्वरूप प्रकाशित हो जाता है । फिर नारदजीने पूछा—'भगवन् ! इसके जपकी क्या विधि है ?' ब्रह्माजीने उनसे कहा—'इसकी कोई विधि नहीं है । पवित्र हो या अपवित्र, इस मन्त्रका निरन्तर जप करनेवाला सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—चारों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त करता है । जब साधक इस सोलह नामोंवाले मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप कर लेता है, तब ब्रह्महत्याके दोषको पार कर जाता है । वह वीरहत्याके पापसे तर जाता है । स्वर्णकी चोरीके पापसे छूट जाता है । पितर, देवता और मनुष्योंके अपकारके दोषसे भी छूट जाता है । सब धर्मोंके परित्यागके पापसे तत्काल ही पवित्र हो जाता है । शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । यह उपनिषद् है ।

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कलिसंतरणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

गणपत्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् गणनायककी स्तुति; उनके बीजमन्त्र, महामन्त्र तथा गायत्री; उपनिषद्के पाठका तथा गणपति पूजनका माहात्म्य

हरिः ॐ । भगवान् गणपतिको नमस्कार है । तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो । तुम्हीं केवल कर्ता हो, तुम्हीं केवल धर्ता हो, तुम्हीं केवल हर्ता हो । निश्चयपूर्वक तुम्हीं इन सब रूपोंमें विराजमान ब्रह्म हो । तुम साक्षात् नित्य आत्मस्वरूप हो । मैं ऋत—न्याययुक्त बात कहता हूँ, सत्य कहता हूँ । तुम मेरी (मुझ शिष्यकी) रक्षा करो, वक्ता (आचार्य) की रक्षा करो । श्रोताकी रक्षा करो । दाताकी रक्षा करो, धाताकी रक्षा करो । व्याख्या करनेवाले आचार्यकी रक्षा करो, शिष्यकी रक्षा करो । पश्चिमसे रक्षा करो, पूर्वसे रक्षा करो, उत्तरसे रक्षा करो, दक्षिणसे रक्षा करो, ऊपरसे रक्षा करो, नीचेसे रक्षा करो, सब ओरसे मेरी रक्षा करो, चारों ओरसे मेरी रक्षा करो । तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो, तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो । तुम सच्चिदानन्द, अद्वितीय हो । तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुम ज्ञानमय, विज्ञानमय हो । यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है । यह सारा जगत् तुमसे ठहरा हुआ है । यह सारा जगत् तुममें लयको प्राप्त होगा । इस सारे जगत्की तुममें प्रतीति हो रही है । तुम भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश हो । परा, पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा—वाणीके ये चार विभाग तुम्हीं हो । तुम सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे परे हो । तुम भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंसे परे हो । तुम स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे परे हो । तुम मूलाधार चक्रमें नित्य स्थित रहते हो । इच्छा, क्रिया और ज्ञान—तीन प्रकारकी शक्तियाँ तुम्हीं हो । तुम्हारा योगिजन नित्य ध्यान करते हैं । तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम ब्रह्म हो, भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों लोक तथा ॐकारवाच्य परब्रह्म भी तुम हो ।

गणके आदि अर्थात् ग् का पहले उच्चारण करके उसके बाद वर्णोंके आदि अर्थात् अ का उच्चारण करे, उसके बाद अनुस्वार उच्चारित होता है । इस प्रकार अर्धचन्द्रसे सुशोभित 'गं' ॐकारसे अवरुद्ध होनेपर तुम्हारे बीज-मन्त्रका स्वरूप (ॐ गं) है । गकार इसका पूर्वरूप है, अकार मध्यम रूप है, अनुस्वार अन्त्य रूप है, बिन्दु उत्तर रूप है । नाद सन्धान है । संहिता सन्धि है । ऐसी यह गणेशविद्या है । इस महामन्त्रके गणक ऋषि हैं, निचृद्गायत्री छन्द है, श्रीमहागणपति देवता हैं । वह महामन्त्र है—**ॐ गं गणपतये नमः** । एकदन्तको हम जानते हैं । वक्रतुण्डका

हम ध्यान करते हैं, वह दन्ती (गजानन) हमें प्रेरणा प्रदान करे*। (वह गणेश गायत्री है) एकदन्त, चतुर्भुज, चारों हाथोंमें पाश, अङ्कुश, अभय और वरदानकी मुद्रा धारण किये तथा मूषक-चिह्नकी ध्वजा लिये हुए, रक्तवर्ण, लंबे उदरवाले, सूप-जैसे बड़े-बड़े कानोंवाले, रक्तवस्त्रधारी, शरीरपर रक्तचन्दनका लेप किये हुए, रक्तपुष्पोंसे भलीभाँति पूजित, भक्तके ऊपर अनुकम्पा करनेवाले देवता, जगत्के कारण, अच्युत, सृष्टिके आदिमें आविर्भूत, प्रकृति और पुरुषसे परे श्रीगणेशजीका जो नित्य ध्यान करता है, वह योगी सब योगियोंमें श्रेष्ठ है।

व्रात (देवसमूह)के नायकको नमस्कार, गणपतिको नमस्कार, प्रमथपति (शिवजीके गणोंके अधिनायक) के लिये नमस्कार, लम्बोदरको, एकदन्तको, विघ्नविनाशकको, शिवजीके पुत्रको तथा श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार, नमस्कार।†

यह अथर्वशिरस् (अथर्ववेदकी उपनिषद्) है। इसका जो पाठ करता है, वह ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है। सब प्रकारके विघ्न उसके लिये बाधक नहीं होते। वह सब जगह सुख पाता है। वह पाँचों प्रकारके महान् पातकों तथा उपपातकोंसे मुक्त हो जाता है। सायंकाल पाठ करनेवाला दिनके पापोंका नाश करता है। प्रातः पाठ करनेवाला रात्रिके पापोंका नाश करता है। जो प्रातः-सायं दोनों समय इस पाठका प्रयोग करता है, वह निष्पाप हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको प्राप्त करता है। इस अथर्वशीर्षको, जो शिष्य न हो, उसे नहीं देना चाहिये। जो मोहके कारण देता है, वह पातकी हो जाता है। सहस्र बार पाठ करनेसे जिन-जिन कामनाओंका उच्चारण करता है, उन-उनकी सिद्धि इसके द्वारा ही मनुष्य कर सकता है। इसके द्वारा जो गणपतिको स्नान कराता है, वह वक्ता बन जाता है। जो चतुर्थी तिथिको उपवास करके जपता है, वह विद्यावान् हो जाता है। यह अथर्वण-वाक्य है। जो इस मन्त्रके द्वारा तपश्चरण करना जानता है, वह कदापि भयको नहीं प्राप्त होता। जो दूर्वाङ्कुरोंके द्वारा भगवान् गणपतिका यजन करता है, वह कुबेरके समान हो जाता है। जो लाजोंके द्वारा यजन करता है, वह यशस्वी होता है, वह मेधावी होता है। जो सहस्र लड्डुओं (मोदकों) के द्वारा यजन करता है, वह वाञ्छित फलको प्राप्त करता है। जो घृतके सहित समिधासे यजन करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणोंको सम्यक् रीतिसे ग्रहण करानेपर सूर्यके समान तेजस्वी होता है। सूर्यग्रहणमें महानदीमें या प्रतिमाके समीप जपनेसे मन्त्रसिद्धि होती है। वह महाविघ्नसे मुक्त हो जाता है, महापातकसे मुक्त हो जाता है, महान् दोषसे मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है।

॥ अथर्ववेदीय गणपत्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

* 'एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।'

† नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

जाबालदर्शनोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

योगके आठ अङ्ग और दस यमोंका वर्णन

सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले चतुर्भुज भगवान् महाविष्णु महायोगी दत्तात्रेयके रूपमें अवतीर्ण हुए। दत्तात्रेयजी योग-साम्राज्य (के अधिपति-पद) पर दीक्षित हैं—वे योगमार्गके सम्राट् हैं। उनके शिष्य मुनिवर्य साङ्कृति नामसे प्रसिद्ध थे। वे गुरुके बड़े ही भक्त थे। एक दिन एकान्तमें गुरुजीकी सेवामें उपस्थित हो उन्होंने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! आठ अङ्गोंसहित योगका मेरे लिये विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये, जिसके जान लेनेमात्रसे मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ' ॥ १–३ ॥

भगवान् दत्तात्रेयने कहा—'साङ्कृते! सुनो, मैं तुम्हें आठ अङ्गोंसहित योगदर्शनका उपदेश करता हूँ। ब्रह्मन्! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। इनमेंसे यमके दस भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धृति, परिमित आहार और बाहर-भीतरकी पवित्रता ॥ ४–६ ॥

'तपोधन! वेदमें बतायी हुई विधिके अतिरिक्त जो मन, वाणी और शरीरद्वारा किसीको किसी प्रकारका कष्ट दिया जाता या उसका प्राणोंसे वियोग कराया जाता है, वही वास्तविक हिंसा है; इसके सिवा दूसरी कोई हिंसा नहीं है (इस हिंसाका सर्वथा त्याग ही अहिंसा है)। मुने! आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, उसका शस्त्र आदिके द्वारा छेदन नहीं हो सकता। हाथों या इन्द्रियोंके द्वारा उसका ग्रहण होना भी सम्भव नहीं है—इस प्रकारकी जो बुद्धि है, उसे ही वेदान्तवेत्ता महात्माओंने श्रेष्ठ अहिंसा बताया है। मुनीश्वर! नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो जिस रूपमें देखा, सुना, सूँघा और समझा हुआ विषय है, उसको उसी रूपमें वाणीद्वारा (अथवा संकेत आदिके द्वारा) प्रकट करना सत्य है। ब्रह्मन्! इसके सिवा सत्यका और कोई प्रकार नहीं है। अथवा सब कुछ सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है, परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसीको वेदान्तज्ञानके पारगामी विद्वानोंने सबसे श्रेष्ठ सत्य कहा है। दूसरेके रत्न, सुवर्ण अथवा मुक्तामणिसे लेकर एक तृणके लिये भी मन न चलाना—दूसरोंकी छोटी या बड़ी किसी भी वस्तुके लिये मनमें कभी लोभ न लाना ही अस्तेय है। विद्वान् महापुरुषोंने इसीको अस्तेय (चोरी न करना) माना है। इसके अतिरिक्त महामुने! जगत्के समस्त व्यवहारोंमें अनात्मबुद्धि रखकर उन्हें आत्मासे दूर रखनेका जो भाव है, उसीको आत्मज्ञ महात्माओंने अस्तेय कहा है। मन, वाणी और शरीरके द्वारा स्त्रियोंके सहवासका परित्याग तथा ऋतुकालमें (धर्मबुद्धिसे) केवल अपनी ही पत्नीसे सम्बन्ध—यही ब्रह्मचर्य कहा गया है। अथवा काम-क्रोधादि शत्रुओंको संताप देनेवाले मुनीश्वर! मनको परब्रह्म परमात्माके चिन्तनमें संचरित करना—लगाये रखना ही सर्वोत्तम

ब्रह्मचर्य है। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनके प्रति मन, वाणी और शरीरद्वारा आत्मीयताका अनुभव करना (अपनी ही भाँति उनके दुःखको दूर करने और उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना) ही वेदान्तवेत्ता महात्माओंके द्वारा दया कही गयी है। पुत्र, मित्र, स्त्री, शत्रु तथा अपने आत्मामें भी सदा मनका एक-सा भाव रखना ही मेरी दृष्टिमें आर्जव (सरलता) है—सर्वत्र समतापूर्ण भावको ही मैं आर्जव कहता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! शत्रुओंद्वारा मन, वाणी और शरीरसे भी भलीभाँति पीड़ा दी जानेपर भी बुद्धिमें तनिक भी क्षोभ न आने देना ही क्षमा है। वेदसे ही (वैदिक आज्ञाओंके पालनसे ही) संसारको मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं—इस प्रकारका जो दृढ़ निश्चय है, उसीको वैदिकोंने धृति कहा है। अथवा 'मैं आत्मा हूँ, आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ नहीं हूँ'—इस निश्चयसे कभी विचलित न होनेवाली जो बुद्धि है, वही सर्वोत्तम धृति है। थोड़ी मात्रामें शुद्ध सात्त्विक अन्न ग्रहण करना, उदरके दो भाग अन्नसे और एक अंशको जलसे पूर्ण करके चतुर्थ अंशको खाली रख छोड़ना—इस प्रकार जो योगमार्गके अनुकूल भोजन है, वही परिमित आहार कहा जाता है। महामुने! मिट्टी और जलसे जो अपने शरीरके मलको छुड़ाया जाता है, उसे बाह्य शौच कहते हैं तथा मनके द्वारा शुद्ध भावोंका जो मनन है, उसे मानसिक शौच माना गया है। इसके अतिरिक्त मनीषी महात्मा 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ' इस ज्ञानको ही सर्वश्रेष्ठ शौच (पवित्रता) कहते हैं। यह शरीर अत्यन्त मलिन है और देहधारी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, इस प्रकार शरीर और आत्माका अन्तर जान लेनेपर किसको पवित्र किया जाय! सुव्रत! जो मनुष्य ज्ञान-शौचका परित्याग करके बाह्य शौचमें ही रमा रहता है, वह मूढ़ सुवर्णको त्यागकर मिट्टीके ढेलेका संग्रह करता है। ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त एवं कृतार्थ हुए योगीके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता; यदि रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है। आत्मज्ञ महात्माओंके लिये तीनों लोकोंमें भी कहीं कोई कर्तव्य नहीं है। इसलिये मुने! तुम सब प्रकारसे प्रयत्न करके अहिंसा आदि साधनोंके द्वारा अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्माको अविनाशी ब्रह्मस्वरूप समझो' ॥ ७–२५ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

दस नियमोंका वर्णन

'तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मति, जप और व्रत—ये दस नियम कहे गये हैं; इनका क्रमशः वर्णन करता हूँ, सुनो। वेदमें बताये हुए प्रकारसे कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि व्रतोंद्वारा जो शरीरको सुखाया— उसे क्षीण किया जाता है, उसे ही विद्वान् पुरुष तप कहते हैं। मोक्ष क्या है तथा आत्मा कैसे और किस हेतुसे संसार-बन्धनको प्राप्त हुआ है, इन सब बातोंके विचारको ही तत्त्वज्ञ विद्वान् तप कहते हैं। दैवेच्छासे जो कुछ मिल जाय, उतनेसे ही मनुष्योंके हृदयमें जो सदा प्रसन्नता बनी रहती है, उसीको ज्ञान-मार्गपर चलनेवाले विद्वान् संतोष मानते हैं। अथवा सर्वत्र आसक्तिरहित होकर ब्रह्मा आदि देवताओंके लोकतकके सुखोंसे वैराग्य होनेके कारण जो मनमें एक स्वाभाविक प्रसन्नता बनी रहती है, महात्मा पुरुष उसीको उत्तम संतोष मानते हैं। वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए धर्मपर दृढ़ विश्वास होनेको ही आस्तिकता कहते हैं। क्लेशमें पड़े हुए वेदज्ञ पुरुषोंको जो न्यायोपार्जित धन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती हैं, उसीको मैं दान कहता हूँ॥ १–७॥

'राग आदि दोषोंसे रहित हृदय, असत्य आदिसे अदूषित वाणी और हिंसा आदि दोषोंसे मुक्त जो (भगवत्-प्रीत्यर्थ) कर्म हैं, उन्हींका नाम ईश्वर-पूजन है। सत्य, ज्ञान, अनन्त, सर्वोत्कृष्ट, नित्य—अविचल एवं परमानन्दस्वरूप वही अपना अन्तर्यामी आत्मा है—इस सिद्धान्तको बारंबार सुनना ही सिद्धान्त-श्रवण जानना चाहिये। वैदिक तथा लौकिक मार्गोंमें जो निन्दित कर्म माना गया है, उसको करनेमें जो स्वाभाविक संकोच होता है, उसे ही लज्जा कहा गया है। गुरुजनोंके कहनेपर भी वेद-विरुद्ध मार्गसे सम्बन्ध न रखते हुए सम्पूर्ण वैदिक उपदेशोंमें जो पूर्णतः श्रद्धा होती है, उसीका नाम मति है। वेदोक्त रीतिसे ही मन्त्रोंकी बार-बार आवृत्तिको जप कहते हैं। इसके अतिरिक्त वेदोंकी ही भाँति कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहासमें जो मनकी वृत्तियोंको निरन्तर लगाये रखना है—अर्थात् इतिहास-पुराण आदिका जो सदैव अनुशीलन करना है, उसीको मैं जप कहता हूँ। जप दो प्रकारका बताया गया है—वाचिक और मानसिक। वाचिक जप 'उच्चैः' और 'उपांशु'—दो प्रकारका माना गया

है। इसी प्रकार मानसिक जप भी मनन और ध्यानके भेद-से दो प्रकारका है। उच्चस्वरसे किये जानेवाले जपकी अपेक्षा उपांशु जप (अत्यन्त मन्दस्वरसे किया गया जप) हजार-गुना उत्तम बताया गया है। इसी प्रकार उपांशुकी अपेक्षा मानसिक जप सहस्रगुना श्रेष्ठ कहा गया है। उच्चस्वरसे किया गया जप सब लोगोंको यथावत् फल देनेवाला होता है; परंतु यदि उस मन्त्रको नीच पुरुषोंने अपने कानोंसे सुन लिया तो वह निष्फल हो जाता है (शास्त्रीय पर्वोपर उपवासादि करना तथा किसी प्रकारका नियम ग्रहण करना व्रत कहलाता है)' ॥ ८—१६ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

नौ प्रकारके यौगिक आसनोंका वर्णन

'मुनिश्रेष्ठ! आसन नौ प्रकारके हैं—स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन और सुखासन। घुटनों और जाँघोंके बीचमें अपने दोनों पैरोंको भलीभाँति रखकर ग्रीवा, मस्तक और शरीरको समभावसे धारण किये रहना स्वस्तिकासन कहलाता है; इसका नित्य अभ्यास करना चाहिये। दाहिने पैरके गुल्फ (टखने) को बायीं ओरके पृष्ठभागतक और बायें पैरके गुल्फ (टखने) को दाहिनी ओरके पृष्ठभागतक ले जाय, इसीको गोमुखासन कहते हैं। विप्रवर! दोनों पैरोंको दोनों जाँघोंपर (व्युत्क्रमसे अर्थात् बायें पैरको दाहिनी जाँघपर और दाहिने पैरको बायीं जाँघपर) रखकर उनके अँगूठोंको दोनों हाथोंसे पीठके पीछेसे पकड़ ले। यही पद्मासन है। यह सम्पूर्ण रोगोंका भय दूर करनेवाला है। बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रक्खे और शरीरको सीधा रखकर बैठे; इसको वीरासन कहा गया है। (दोनों टखनोंको अण्डकोषके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वोंमें ले जाय और उन्हें इस प्रकार रक्खे कि बायें टखनेसे सीवनीका दाहिना पार्श्व और दायें टखनेसे सीवनीका बायाँ पार्श्व लगा रहे। फिर दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर सब अँगुलियों-को फैला दे। मुँहको खोलकर एकाग्रचित्त हो नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये रक्खे। यह योगियोंद्वारा सदा सम्मानित होनेवाला सिंहासन कहा गया है।) दोनों टखनों-को अण्डकोषके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें (इस प्रकार) लगाकर रक्खे (कि पैरोंका अग्रभाग पीछेकी ओर मुड़ा रहे) और दोनों हाथोंसे पार्श्वभाग और पैरोंको दृढ़ता-पूर्वक बाँधकर स्थिरभावसे बैठ जाय—यह भद्रासन है, जो विष-जनित रोगका नाश करनेवाला है। सीवनीकी सूक्ष्म रेखाको बायें टखनेसे दबाकर उस बायें टखनेको फिर दायें टखनेसे दबा दे तो यह मुक्तासन होता है। मुने! लिङ्गके ऊपरी भागमें बायें टखनेको रखकर फिर उसके ऊपर दाहिने टखनेको रख दे तो यह भी मुक्तासन कहलाता है। मुनिश्रेष्ठ! अपनी दोनों हथेलियोंको पृथ्वीपर टिकाकर, कोहनियोंके अग्रभागको नाभिके दोनों पार्श्वोंमें लगाये। फिर एकाग्रचित्त हो सिर और पैरको ऊँचा करके आकाशमें दण्डकी भाँति (पृथ्वी-के समानान्तरमें) स्थित हो जाय। यह मयूरासन है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। जिस-किसी प्रकार बैठनेसे सुख और धैर्य बना रहे, वह सुखासन कहा गया है। असमर्थ साधक इसी आसनका आश्रय ले। जिसने आसन जीत लिया, उसने मानो तीनों लोक जीत लिये। साङ्कृते! इसी विधिसे योगयुक्त होकर तुम सदा प्राणायाम किया करो' ॥ १—१३ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

नाड़ी-परिचय तथा आत्मतीर्थ और आत्मज्ञानकी महिमा

'साङ्कृते! मनुष्यका शरीर अपने हाथके मानसे ९६ अंगुलका होता है। इस शरीरका जो मध्यभाग है, उसमें अग्निका स्थान है। उसका रंग तपाये हुए सोनेके समान माना गया है। उसकी आकृति त्रिकोण है। यह मैंने तुमसे सत्य बात बतायी है। गुदासे दो अंगुल ऊपर और लिङ्गसे दो अंगुल नीचेका जो स्थान है, उसे ही मनुष्योंके शरीरका मध्यभाग समझो। वही मूलाधार है। मुनिश्रेष्ठ! वहाँसे नौ अंगुल ऊपर कन्द-स्थान है। उसकी लंबाई-चौड़ाई चार-चार अंगुलकी है और आकृति मुर्गीके अंडेके समान है। वह ऊपरसे चमड़े आदिके द्वारा विभूषित है। मुनिपुङ्गव! उस कन्दस्थानके

मध्यभागमें नाभि है, यों योगवेत्ता महात्माओंने कहा है। कन्दके मध्यभागमें जो नाड़ी है, उसका सुषुम्नाके नामसे वर्णन हुआ है। उसके चारों ओर ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें चौदह प्रधान हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुषुम्ना, पिङ्गला, इडा, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरा, पयस्विनी, शङ्खिनी और गान्धारा। ये ही चौदह नाड़ियाँ प्रधान मानी गयी हैं। इन चौदहमें भी प्रथम तीन ही सबसे प्रधान हैं। इनमें भी एक ही नाड़ी—सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। मुने! वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता विद्वानोंने इसे ब्रह्मनाड़ी कहा है। पीठके मध्यभागमें जो वीणादण्ड (मेरुदण्ड) नामसे प्रसिद्ध हड्डियोंका समुदाय है, उससे होकर सुषुम्नानाड़ी मस्तकतक पहुँची हुई है। मुने! नाभि-कन्दसे दो अंगुल नीचे कुण्डलिनीका स्थान है। वह अष्टप्रकृतिरूपा[1] मानी गयी है। वह वायुकी यथावत् चेष्टा और जल तथा अन्न आदिको रोक करके ही सदा नाभि-कन्दके दोनों पार्श्वोंको घेरकर स्थित रहती है तथा ब्रह्मरन्ध्रके मुखको अपने मुखसे सदा आवेष्टित किये रहती है। सुषुम्नाके वाम-भागमें इडा और दक्षिण भागमें पिङ्गला स्थित है। सरस्वती और कुहू—ये दोनों सुषुम्नाके उभय पार्श्वोंमें स्थित हैं। गान्धारा और हस्तिजिह्वा—ये क्रमशः इडाके पृष्ठ और पूर्व भागोंमें स्थित हैं। पूषा और यशस्विनी क्रमशः पिङ्गलाके पृष्ठ और पूर्व भागोंमें स्थित हैं। कुहू और हस्तिजिह्वाके बीचमें विश्वोदरा नाड़ी है। यशस्विनी और कुहूके मध्य भागमें वरुणा नाड़ी प्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वतीके मध्यमें पयस्विनी नाड़ीकी स्थिति बतायी गयी है। गान्धारा और सरस्वतीके बीचमें शङ्खिनीका स्थान है। अलम्बुसा नाभिकन्दके मध्यभागसे होती हुई गुदातक फैली हुई है। सुषुम्नाका दूसरा नाम राका है। उसके पूर्वभागमें कुहू नामकी नाड़ी है। यह नाड़ी ऊपर और नीचे स्थित है। इसकी स्थिति दक्षिण नासिकातक मानी गयी है। इडा नामकी नाड़ी बायीं नासिकातक स्थित है। यशस्विनी नाड़ी दायें पैरके अँगूठेतक फैली हुई है। पूषा पिङ्गलाके पृष्ठभागसे होती हुई दायें नेत्रतक फैली हुई है और पयस्विनी नाड़ी विद्वानोंद्वारा दाहिने कानतक फैली हुई बतायी जाती है। सरस्वती नाड़ी ऊपरकी ओर जिह्वातक फैली हुई है। हस्तिजिह्वा नाड़ी बायें पैरके अँगूठेतक स्थित है। शङ्खिनी नामकी जो नाड़ी बतायी गयी है, वह बायें कानतक फैली हुई है। गान्धाराकी स्थिति वेदान्तज्ञोंद्वारा बायें नेत्रतक बतायी गयी है। विश्वोदरा नामकी नाड़ी नाभिकन्दके मध्यमें स्थित है॥ १—२२॥

'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल), देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्राणवायु सब नाड़ियोंमें सञ्चरण करते हैं। इन दसोंमें प्राण आदि पाँच ही मुख्य हैं। सुव्रत! इन पाँचोंमें भी प्राण और अपान ही श्रेष्ठ एवं आदरणीय माने गये हैं। इनमेंसे प्राण नामक वायु मुख और नासिकाके मध्यभागमें, नाभिके मध्यभागमें तथा हृदयमें नित्य निवास करता है। अपान वायु गुदा, लिङ्ग, जाँघों, घुटनों, सम्पूर्ण उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियोंमें भी सदा वर्तमान रहता है। व्यान वायु दोनों कानों, दोनों नेत्रों, दोनों कंधों, दोनों टखनों, प्राणके स्थानों और कण्ठमें भी व्याप्त रहता है। उदान वायुकी स्थिति दोनों हाथों और पैरोंमें जाननी चाहिये। समान वायु निःसंदेह सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। नाग आदि पाँचों वायु चमड़ी और हड्डी आदिमें रहते हैं॥ २३—२९॥

'साङ्कृते! उच्छ्वास और निःश्वास (श्वासको भीतर ले जाना और बाहर निकालना) और खाँसना—ये प्राणवायुके कार्य हैं। मल-मूत्रादिका त्याग अपान वायुका कार्य है। मुनिपुङ्गव! समान वायु सब शरीरको सम अवस्थामें रखता है। उदान वायु ही ऊपरकी ओर गमन करता है। वेदान्ततत्त्वके ज्ञाता विद्वानोंका कहना है कि व्यानवायु ध्वनिका व्यञ्जक है। महामुने! डकार, वमन आदि नाग वायुका कार्य है। शरीरमें शोभा आदिका सम्पादन धनञ्जय वायुका कार्य बताया गया है। आँखोंका खोलना, मीचना आदि कूर्म नामक वायुकी प्रेरणासे होता है। कृकर (कृकल) नामकी वायु भूख-प्यासका कारण है। तन्द्रा और आलस्य देवदत्त वायुका कार्य बताया गया है॥ ३०—३४॥

'मुने! सुषुम्ना नाड़ीके देवता शिव और इडाके देवता भगवान् विष्णु हैं। पिङ्गला नाड़ीके ब्रह्माजी और सरस्वती नाड़ीके विराट् देवता हैं। पूषाके देवता पूषा नामक आदित्य हैं। वरुणा नाड़ीके देवता वायु हैं। हस्तिजिह्वा नामक नाड़ीके वरुण देवता हैं। मुनिश्रेष्ठ! यशस्विनी नाड़ीके देवता भगवान् भास्कर हैं। जलस्वरूप वरुण ही अलम्बुसा नाड़ीके देवता माने गये हैं। कुहूकी अधिष्ठात्री देवी क्षुधा हैं। गान्धारीके चन्द्रमा देवता हैं। इसी प्रकार शङ्खिनीके देवता भी चन्द्रमा

१. पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ प्रकृतियाँ हैं।

ही हैं। पयस्विनीके देवता प्रजापति हैं। विश्वोदरा नाड़ीके अधिदेवता भगवान् अग्निदेव हैं॥ ३५—३८॥

'वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वर! इडा नामकी नाड़ीमें नित्य ही चन्द्रमा सञ्चार करते हैं और पिङ्गला नाड़ीमें सूर्यदेव सञ्चरण करते हैं। पिङ्गला नाड़ीसे इडा नाड़ीमें जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्यका संक्रमण होता है, उसे वेदान्ततत्त्वके ज्ञाता महर्षियोंने उत्तरायण कहा है। इसी प्रकार इडासे पिङ्गलामें जो प्राणात्मक सूर्यका संक्रमण होता है, वह दक्षिणायन कहा गया है। जब प्राण इडा और पिङ्गलाकी संधिमें आता है, उस समय, हे पुरुषश्रेष्ठ! इस शरीरके भीतर अमावस्या कही जाती है। जब प्राण मूलाधारमें प्रवेश करता है, उस समय हे तापसोंमें श्रेष्ठ विद्वद्वर! तपस्वियोंने आद्य विषुव नामक योगका उदय कहा है। मुनिश्रेष्ठ! जब प्राणवायु मूर्द्धा (सहस्रार) में प्रवेश करता है, उस समय तत्त्वका विचार करनेवाले महर्षियोंने अन्तिम विषुव योगकी स्थिति बतायी है। समस्त उच्छ्वास और निःश्वास मास-संक्रान्ति माने गये हैं। इडा नाड़ीद्वारा जब प्राण कुण्डलिनीके स्थानपर आ जाता है, तब हे तत्त्वज्ञशिरोमणि! चन्द्रग्रहण-काल कहा जाता है। इसी प्रकार जब प्राण पिङ्गला नाड़ीके द्वारा कुण्डलिनीके स्थानपर आता है, तब हे मुनिवर! सूर्यग्रहणकी वेला होती है॥ ३९—४७॥

'अपने शरीरमें मस्तकके स्थानपर श्रीशैल नामक तीर्थ है। ललाटमें केदारतीर्थ है। हे महाप्राज्ञ! नासिका और दोनों भौंहोंके मध्यमें काशीपुरी है। दोनों स्तनोंकी जगहपर कुरुक्षेत्र है। हृदयकमलमें तीर्थराज प्रयाग है। हृदयके मध्यभागमें चिदम्बरतीर्थ है। मूलाधार-स्थानमें कमलालय तीर्थ है। जो इस आत्मतीर्थ (अपने भीतर रहनेवाले) का परित्याग करके बाहरके तीर्थोंमें भटकता रहता है, वह हाथमें रक्खे हुए बहुमूल्य रत्नको त्यागकर काँच खोजता फिरता है। भावनामय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। भाव ही सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रमाणभूत है। पत्नी और पुत्री दोनोंका आलिङ्गन किया जाता है, किंतु दोनोंमें भावका बहुत अन्तर होता है; पत्नीका आलिङ्गन दूसरे भावसे और पुत्रीका आलिङ्गन दूसरे भावसे किया जाता है। योगी पुरुष अपने आत्मतीर्थमें अधिक विश्वास और श्रद्धा रखनेके कारण जलसे भरे तीर्थों और काष्ठ आदिसे निर्मित देवप्रतिमाओंकी शरण नहीं लेते। महामुने! बाह्यतीर्थसे श्रेष्ठ आन्तरिक तीर्थ ही है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है; उसके सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं। शरीरके भीतर रहनेवाला दूषित चित्त बाह्यतीर्थोंमें गोते लगानेमात्रसे शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरासे भरा हुआ घड़ा ऊपरसे सैकड़ों बार जलसे धो लिया जाय तो भी वह अपवित्र ही रहता है। अपने भीतर होनेवाले जो विषुव-योग, उत्तरायण-दक्षिणायन काल और सूर्य-चन्द्रमाके ग्रहण हैं, उनमें नासिका और भौंहोंके मध्यमें स्थित वाराणसी आदि तीर्थोंमें भावनाद्वारा स्नान करके मनुष्य शुद्ध हो सकता है। मुनिश्रेष्ठ! ज्ञानयोगमें तत्पर रहनेवाले महात्माओंका चरणोदक अज्ञानी मनुष्योंके अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये उत्तम तीर्थ है॥ ४८—५६॥

'शिवस्वरूप परमात्मा इस शरीरमें ही प्रतिष्ठित हैं; इनको न जाननेवाला मूढ़ मनुष्य तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काठ और पत्थरमें ही सर्वदा शिवको ढूँढ़ा करता है। साङ्कृते! जो अपने भीतर नित्य-निरन्तर स्थित रहनेवाले मुझ परमात्माकी उपेक्षा करके केवल बाहरकी स्थूल प्रतिमाका ही सेवन करता है, वह हाथमें रक्खे हुए अन्नके ग्रासको फेंककर केवल अपनी कोहनी चाटता है। योगी पुरुष अपने आत्मामें ही शिवका दर्शन करते हैं, प्रतिमाओंमें नहीं। अज्ञानी मनुष्योंके हृदयोंमें भगवान्‌के प्रति भावना जाग्रत् करनेके लिये ही प्रतिमाओंकी कल्पना की गयी है॥ ५७—५९॥

'जिससे भिन्न न कोई पूर्व है न पर (न कारण है, न कार्य), जो सत्य, अद्वितीय और प्रज्ञानघनस्वरूप है, उस आनन्दमय ब्रह्मको जो अपने आत्माके रूपमें देखता है, वही यथार्थ देखता है। महामुने! यह मनुष्यका शरीर नाड़ियोंका समुदायमात्र है, जो सदा सारहीन है। इसके प्रति आत्मभावका परित्याग करके बुद्धिके द्वारा यह निश्चय करो कि 'मैं' ही परमात्मा हूँ। जो इस शरीरमें रहकर भी इससे सदा भिन्न है, महान् है, व्यापक है और सबका ईश्वर है, उस आनन्दस्वरूप अविनाशी परमात्माको जानकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता॥ ६०—६२॥

'मुने! ज्ञानके बलसे भेदजनक अज्ञानका नाश हो जानेपर कौन आत्मा और ब्रह्ममें मिथ्या भेदका आरोप करेगा'॥ ६३॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

नाड़ी-शोधन एवं आत्मशोधनकी विधियाँ

साङ्कृतिने पूछा—'ब्रह्मन् ! नाड़ीकी शुद्धि कैसे होती है, यह मुझे ठीक-ठीक और संक्षेपमें बताइये जिससे कि नाड़ी-शुद्धिपूर्वक सदा परमात्माका चिन्तन करते हुए मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ' ॥ १ ॥

भगवान् दत्तात्रेयने कहा—'साङ्कृते ! सुनो, मैं संक्षेपसे नाड़ी-शुद्धिका वर्णन करता हूँ । शास्त्रोंके विधिवाक्योंद्वारा जो कर्म बतलाये गये हैं, उनमें कर्तव्यबुद्धिसे संलग्न रहे । कामना और फलप्राप्तिके संकल्पको त्याग दे । योगके यम आदि आठों अङ्गोंका सेवन करते हुए शान्त एवं सत्यपरायण रहे । अपने आत्माके चिन्तनमें ही स्थित रहे और ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवामें उपस्थित हो उनसे भलीभाँति शिक्षा ले । तत्पश्चात् पर्वतशिखर, नदी-तट, बिल्व-वृक्षके समीप, एकान्त वन अथवा और किसी पवित्र एवं मनोरम प्रदेशमें आश्रम बनाकर एकाग्रचित्तसे वहाँ रहे । फिर वहाँ पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके किसी आसनसे बैठे । ग्रीवा, मस्तक और शरीरको समान भावसे रखकर मुख बंद किये हुए भलीभाँति स्थिर हो जाय । नासिकाके अग्रभागपर चन्द्र-मण्डलकी भावना करे और वहाँ प्रणवके बिन्दुमें तुरीयस्वरूप परमात्माको अमृतका स्रोत बहाते हुए नेत्रोंद्वारा प्रत्यक्ष देखे । उस समय चित्तको पूर्णतः एकाग्र रक्खे । फिर इडा नाड़ीके द्वारा (अर्थात् नासिकाके बायें छिद्रसे) प्राणवायुको खींचकर उदरमें भर ले और देहके मध्यमें स्थित जो अग्नि है, उसका ध्यान करे मानो उस वायुका सम्पर्क पाकर अग्निदेव ज्वालाओंके साथ प्रज्वलित हो उठे हों । फिर प्रणवके बिन्दु और नादसे संयुक्त अग्नि-बीज (रं) का चिन्तन करे । तदनन्तर बुद्धिमान् साधक पिङ्गला नाड़ी (अर्थात् नासिकाके दाहिने छिद्रद्वारा) प्राणवायुको विधिपूर्वक शनैः-शनैः बाहर निकाले । फिर पिङ्गला नाड़ीद्वारा पूर्ववत् प्राणवायुको खींचकर अपने भीतर भर ले और अग्निबीजका चिन्तन करे । उसके बाद इडा नाड़ीद्वारा फिर उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल दे । इस प्रकार एकान्तमें लगातार तीन-चार दिनोंतक अथवा प्रतिदिन तीनों संध्याओंमें तीन-चार या छः बार यह क्रिया करे । इससे उसकी नाड़ी शुद्ध हो जाती है । फिर इस नाड़ीशुद्धिके पृथक् चिह्न भी उपलक्षित होते हैं । शरीर हल्का हो जाता है, जठराग्नि उद्दीप्त हो जाती है और अनाहतनादकी अभिव्यक्ति होने लगती है । यह चिह्न सिद्धिका सूचक है । जबतक यह चिह्न दिखायी न दे, तबतक इसी प्रकार अभ्यास करता रहे ॥ २–१२ ॥

'अथवा यह सब छोड़कर आत्मशुद्धिका अनुष्ठान करे । यह आत्मा सदा शुद्ध, नित्य, सुखस्वरूप तथा स्वयम्प्रकाश है । अज्ञानवश ही यह मलिन प्रतीत होता है । ज्ञान होनेपर यह सदा विशुद्धरूपमें ही प्रकाशित होता है । जो ज्ञानरूपी जलसे अज्ञानरूपी मल और कीचड़को धो डालता है, वही सर्वदा शुद्ध है; दूसरा नहीं । क्योंकि वह दूसरा मनुष्य ज्ञानकी अवहेलना करके लौकिक कर्मोंमें आसक्त है ॥ १३-१४ ॥

॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

प्राणायामकी विधि, उसके प्रकार, फल तथा विनियोग

'साङ्कृते ! अब मैं प्राणायामका क्रम बतलाता हूँ, इसे श्रद्धापूर्वक सुनो । पूरक, कुम्भक और रेचक—इन तीनोंसे जो प्राण-संयम सम्पन्न होता है, उसे प्राणायाम कहा गया है । ॐकारके जो तीन वर्ण अकार, उकार और मकार हैं, वे क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचकसे सम्बन्ध रखनेवाले बताये गये हैं । इन तीनों वर्णोंका समूह ही प्रणव कहा गया है । अतः प्राणायाम भी प्रणवमय ही है । इडा नाड़ीके द्वारा वायुको धीरे-धीरे भीतर खींचकर उसे उदरमें भरे और वहाँ स्थित षोडशमात्राविशिष्ट अकारका चिन्तन करे । तत्पश्चात् उस उदरमें भरी हुई वायुको कुछ कालतक धारण किये रहे और उस समय चौसठ मात्रासे विशिष्ट उकारके स्वरूपका चिन्तन करते हुए प्रणवका जप करता रहे । जबतक सम्भव हो, जपमें संलग्न रहकर वायुको धारण किये रहे । तदनन्तर विद्वान् पुरुष बत्तीस मात्राओंसे विशिष्ट मकारका चिन्तन करते हुए पिङ्गला नाड़ीके द्वारा धीरे-धीरे उस भरी हुई वायुको बाहर निकाले । यह एक प्राणायाम है । इसी प्रकार अभ्यास करता रहे ॥ १-६ ॥

'पुनः पिङ्गला नाड़ीके द्वारा वायुको धीरे-धीरे भीतर

भरते हुए षोडश मात्रासे विशिष्ट अकारस्वरूप प्रणवका एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करे। जब वायु भर जाय तब विद्वान् पुरुष मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए चौसठ मात्राओंसे विशिष्ट उकारके स्वरूपका कुछ कालतक चिन्तन करे और प्रणवका जप करते हुए वायुको धारण किये रहे। इसके बाद बत्तीस मात्राओंसे विशिष्ट मकारका चिन्तन करते हुए इडा नाड़ीके द्वारा धीरे-धीरे वायुको निकाल दे। बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार इडा नाड़ीके द्वारा वायुको भरते हुए पुनः अभ्यास करे। मुनीश्वर! इस प्रकार प्रतिदिन प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। नित्य ऐसा अभ्यास करनेसे मनुष्य छः महीनोंमें ज्ञानवान् हो जाता है। एक वर्षतक पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणायाम करनेसे साधकको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। इसलिये प्राणायामका नित्य अभ्यास करना चाहिये। जो मनुष्य योगाभ्यासमें संलग्न और सदा अपने धर्मके पालनमें तत्पर है, वह प्राणायामके द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करके संसारसे मुक्त हो जायगा ॥ ७—११ ॥

'जिसके द्वारा बाहरसे वायुको उदरके भीतर भरा जाता है, वह पूरक है। जलसे भरे हुए कुम्भ (घड़े) की भाँति वायुको उदरमें धारण किये रहना कुम्भक कहलाता है और उस वायुको पुनः उदरसे बाहर निकालना रेचक कहलाता है ॥ १२—१३ ॥

'जो प्राणायाम प्रस्वेदजनक होता है अर्थात् जिसको करते समय शरीरमें पसीना निकल आता है, वह सब प्राणायामोंमें अधम माना गया है। यदि प्राणायाम करते समय शरीरमें कम्पन होने लगे तो उसे मध्यम श्रेणीका प्राणायाम समझना चाहिये; तथा यदि प्राणायामके समय शरीर ऊपरको उठता हुआ-सा जान पड़े तो उसे उत्तम माना गया है। जबतक उत्थानकारक प्राणायाम सिद्ध न हो जाय, तबतक पूर्वोक्त दोनों प्रकारके प्राणायामोंका ही अभ्यास करता रहे। उपर्युक्त उत्तम प्राणायामके सम्पन्न हो जानेपर विद्वान् पुरुष सुखी हो जाता है। सुव्रत! प्राणायामसे चित्त शुद्ध हो जाता है और विशुद्ध चित्तमें अन्तःप्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाममें संलग्न रहनेवाले महात्मा पुरुषका प्राण चित्तके साथ संयुक्त हो परमात्मामें स्थित हो जाता है और उसका शरीर कुछ-कुछ ऊपरको उठने लगता है। इससे ज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त होता है। रेचक और पूरक छोड़कर विशेषतः कुम्भकका ही नित्य अभ्यास करना चाहिये। यों करनेवाला योगी सब पापोंसे मुक्त होकर उत्तम ज्ञानको प्राप्त कर लेता है। वह मनके समान वेगवान् होता एवं मनपर विजय पा जाता है। उसके शरीरमें बालोंका पकना आदि दोष दूर हो जाते हैं। प्राणायाममें अनन्य निष्ठा रखनेवाले पुरुषके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके प्राणायामोंका अभ्यास करे ॥ १४—२० ॥

'सुव्रत! अब मैं प्राणायामके विनियोग (रोगविशेषकी निवृत्तिके लिये उपयोग) बतलाता हूँ। दोनों संध्याओंके समय अथवा ब्राह्मवेलामें अथवा मध्याह्नके समय सदा बाहरकी वायुको भीतर खींचकर उदरमें भरने तथा उदर, नासिकाके अग्रभाग, नाभिके मध्यभाग और पैरके अँगूठेमें उस वायुको धारण करनेसे मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है तथा सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर! नासिकाके अग्रभागमें धारण करनेसे भी प्राणवायुपर विजय प्राप्त हो जाती है। नाभिके मध्यभागमें धारण करनेसे समस्त रोगोंका निवारण हो जाता है। ब्रह्मन्! पैरके अँगूठेमें वायुका निरोध करनेसे शरीरमें हल्कापन आता है। योगका साधन करनेवाला जो मनुष्य सदा जिह्वाके द्वारा वायु खींचकर उसे पीता रहता है, वह थकावट और जलनसे मुक्त होकर नीरोग रहता है। जिह्वाद्वारा वायुको खींचकर उसे जिह्वाके मूलभागमें ही रोक दें और शान्तभावसे (भावनाद्वारा) अमृतपान करे। यों करनेसे वह सब प्रकारके सुख प्राप्त कर लेता है। जो इडा नाड़ीके द्वारा वायुको खींचकर उसे भौंहोंके बीचमें धारण करता और (भावनाद्वारा) विशुद्ध अमृतका पान करता है, वह सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है। वैदिक तत्त्वको जाननेवाले साङ्कृति मुनि! इडा और पिङ्गला नाड़ियोंके द्वारा वायुको खींचकर यदि उसे नाभिमें धारण करे तो उससे भी मनुष्य सब व्याधियोंसे मुक्त हो जाता है। यदि एक मासतक तीनों सन्ध्याओंके समय जिह्वाद्वारा धीरे-धीरे वायुको भीतर खींचकर और पूर्वोक्त अमृतपानकी भावना करते हुए उसे नाभिमें रोके रहे तो वात और पित्तसे उत्पन्न सम्पूर्ण दोष निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। दोनों नासिका-छिद्रोंद्वारा वायुको भीतर खींचकर यदि उसे दोनों नेत्रोंमें धारण करे तो नेत्रके रोग नष्ट हो जाते हैं और कानोंमें उसे रोकनेसे कानके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार वायुको भीतर खींचकर यदि उसे मस्तकमें स्थापित करे तो सिरके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। साङ्कृते! ये सब मैंने तुमसे सच्ची बातें बतायी हैं ॥ २१—३१ ॥

'एकाग्रचित्त होकर स्वस्तिकासनसे बैठे और प्रणवका जप करते हुए धीरे-धीरे अपानवायुको ऊपरकी ओर उठाये

और कान आदि इन्द्रियोंको दोनों हाथोंसे भलीभाँति दबाये रक्खे—दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको ढक ले, दोनों तर्जनी अँगुलियोंसे दोनों नेत्र आच्छादित कर ले तथा अन्य दो-दो अँगुलियोंसे नासिकाके दोनों छिद्रोंको बंद कर ले; इस प्रकार ऊपरकी सब इन्द्रियोंको आच्छादित करके उस वायुको तबतक मस्तकमें धारण किये रहे, जबतक आनन्दमय अमृतका आविर्भाव न हो जाय। महामुने! यों करनेसे ही प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करता है। हे निष्पाप सांकृति! जब वायु ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश कर जाय तब पहले शङ्खध्वनिके समान एक गम्भीर नाद होने लगता है। बीचमें वह नाद मेघकी गर्जनाके समान हो जाता है। जब वायु मस्तकके मध्य भलीभाँति स्थित हो जाती है, उस समय पर्वतसे गिरते हुए झरनेकी कलकल-ध्वनिके समान शब्द होने लगता है। महामते! ऐसा होनेके पश्चात् योगी अत्यन्त प्रसन्नताका अनुभव करते हुए साक्षात् आत्माके सम्मुख हो जाता है। फिर आत्मतत्त्वका सम्यक् ज्ञान होता है और उस योगके प्रभावसे संसार-बन्धनका नाश हो जाता है॥ ३२–३७॥

'(अब प्राणवायुको जीतनेका दूसरा प्रकार बतलाते हैं—) गुदा और लिङ्गके बीचमें जो नाड़ी है, उसे सीवनी कहते हैं; क्योंकि वही शरीरके दो अर्धांशोंको सीलकर एक करती है। बुद्धिमान् मनुष्य अपने दायें और बायें रखनेसे उस सीवनीको स्थिरभावसे दबाकर बैठे और घुटनोंके नीचे जो सन्धि है, उसमें भगवान् त्र्यम्बकनामक ज्योतिर्लिङ्गकी भावना करे। साथ ही सरस्वतीदेवी और गणेशजीका भी ध्यान कर ले। फिर बिन्दुयुक्त प्रणवका जप करते हुए लिङ्गकी नलीके छिद्रद्वारा आगेकी ओरसे वायुको खींचकर उसे मूलाधारके मध्यमें स्थापित करे। वहाँ उस वायुको रोकनेसे वहाँकी अग्नि प्रदीप्त होकर कुण्डलिनीपर आरूढ़ हो जाती है। फिर उस अग्निको साथ लेकर वायु सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा ऊपरको जाने लगती है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे वायुपर विशेष रूपसे विजय प्राप्त हो जाती है॥ ३८—४२॥

'मुनिश्रेष्ठ! पहले पसीना निकलना, फिर कम्पन होना तत्पश्चात् शरीरका ऊपरकी ओर उठना—ये सब वायुपर विजय प्राप्त कर लेनेके चिह्न हैं। इस प्रकार अभ्यास करनेवाले पुरुषके सब रोग मूलतः नष्ट हो जाते हैं। साङ्कृते! भगन्दर तथा अन्य सब रोग भी मिट जाते हैं। बड़े और छोटे—सभी पातक नष्ट हो जाते हैं। पाप नष्ट हो जानेसे चित्त परम शुद्ध और दर्पणकी भाँति स्वच्छ हो जाता है। तत्पश्चात् हृदयमें ब्रह्मा आदि देवताओंके लोकोंतकमें प्राप्त होनेवाले भोगजनित सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जो संसारसे विरक्त होता है, उसे कैवल्य-मोक्षका साधनभूत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञानसे नित्य कल्याणमय परमात्मदेवका तत्त्व जान लेनेके कारण सब प्रकारके बन्धनोंका सर्वथा नाश हो जाता है। जिसने एक बार भी ज्ञानमय अमृतरसका आस्वादन कर लिया, वह सब कार्योंको छोड़कर उसीकी ओर दौड़ पड़ता है। ज्ञानी पुरुष इस सम्पूर्ण जगत्को ज्ञानस्वरूप ही बताते हैं; जिनकी दृष्टि कुत्सित है, वे दूसरे-दूसरे अज्ञानी मनुष्य इस जगत्को विषयरूपमें देखते हैं। आत्मस्वरूपका भलीभाँति ज्ञान होनेपर अज्ञानका पूर्णतः नाश हो जाता है। और हे महाप्राज्ञ! अज्ञानके नष्ट हो जानेपर राग आदिका भी संहार हो जाता है। राग आदि न रहनेसे पुण्य-पापका भी लय हो जाता है। पुण्य-पापके न रहनेसे ज्ञानी मनुष्यको फिर शरीर धारण नहीं करना पड़ता॥ ४३–५१॥

॥ षष्ठ खण्ड समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम खण्ड

प्रत्याहारके विविध प्रकार तथा फल

'महामुने! अब मैं प्रत्याहारका वर्णन करूँगा। विषयोंमें स्वभावतः विचरनेवाली इन्द्रियोंको बलपूर्वक वहाँसे लौटा लानेका जो प्रयत्न है, उसीको प्रत्याहार कहते हैं। 'मनुष्य जो कुछ देखता है, वह सब ब्रह्म है' यों समझते हुए ब्रह्ममें चित्तको एकाग्र कर लेना—यह ब्रह्मवेत्ताओंद्वारा बतलाया हुआ प्रत्याहार है। मनुष्य मरणकालतक जो कुछ भी शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है, वह सब परमात्माके लिये करे—परमात्माको ही उसे समर्पित कर दे; यह भी प्रत्याहार कहलाता है। अथवा नित्य और काम्य, सब प्रकारके कर्मोंको भगवान्की आराधनाके भावसे करे—उन कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करे; इसे भी प्रत्याहार कहते हैं। अथवा वायुको एक स्थानसे खींचकर दूसरे स्थानपर स्थापित करे—दाँतके मूलभागसे वायुका आकर्षण करके उसे कण्ठमें स्थापित करे, कण्ठसे हृदयमें ले जाय, हृदयसे खींचकर उसे नाभि-प्रदेशमें स्थापित करे, नाभि-प्रदेशसे कुण्डलिनीमें ले जाकर रोके, कुण्डलिनीके स्थानसे हटाकर विद्वान् पुरुष उसे मूलाधारमें

स्थापित करे, तदनन्तर अपानवायुके स्थानसे उस वायुको हटाकर कटिके दोनों भागोंमें ले जाय और वहाँसे जाँघोंके मध्यभागमें ले जाय । जाँघोंसे दोनों घुटनोंमें, घुटनोंसे पिंडलियोंमें और पिंडलियोंसे पैरके अँगूठेमें ले जाकर उस वायुको रोके । प्रत्याहार-परायण महात्माओंने प्राचीन कालसे इसीको प्रत्याहार कहा है ॥ १—९ ॥

'इस प्रकार प्रत्याहारके अभ्यासमें लगे हुए महात्मा पुरुषके सब पाप तथा जन्म-मरणरूप व्याधि नष्ट हो जाती है। स्वस्तिकासनका आश्रय ले विद्वान् पुरुष स्थिरभावसे बैठे और नासिकाके दोनों छिद्रोंसे वायुको भीतर खींचकर उसे पैरसे लेकर मस्तकतकके स्थानोंमें पूर्ण कर दे । दोनों पैरोंमें, मूलाधारमें, नाभिकन्दमें, हृदयके मध्यभागमें, कण्ठके मूलभागमें, तालुमें, भौंहोंके मध्यभागमें, ललाटमें तथा मस्तकमें वायुको धारण करे। यह वायु-धारणात्मक प्रत्याहार है ॥ १०—१२ ॥

'विद्वान् पुरुष एकाग्रचित्त हो देहसे आत्मबुद्धिको हटाकर उसे स्वयं ही निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्पस्वरूप अपने आत्मामें स्थापित करे । वेदान्ततत्त्वके जाननेवाले महात्माओंने इसीको वास्तविक प्रत्याहार बताया है । इस प्रकार प्रत्याहारका अभ्यास करनेवाले पुरुषके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है' ॥ १३—१४ ॥

॥ सप्तम खण्ड समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम खण्ड

धारणाके दो प्रकार

'सुव्रत ! अब मैं पञ्च धारणाओंका वर्णन करूँगा । अपने शरीरके भीतर जो आकाश है, उसमें बाह्य आकाशकी धारणा करे । इसी प्रकार प्राणमें बाहरी वायुकी, जठरानलमें बाह्य अग्निकी, शरीरगत जलके अंशमें ही बाह्य जल-तत्त्वकी तथा शरीरके पार्थिव भागमें ही समस्त पृथ्वीकी धारणा करे और प्रत्येक तत्त्वकी धारणाके समय क्रमशः हं, यं, रं, वं, लं—इन बीज-मन्त्रोंका उच्चारण करे । यह धारणा सर्वश्रेष्ठ बतायी गयी है; यह सब पापोंका नाश करनेवाली है । पैरसे लेकर घुटनेतकका भाग पृथिवीका अंश माना गया है । घुटनेसे लेकर गुदातकका भाग जलका अंश बताया जाता है । गुदासे ऊपर हृदयतकका भाग अग्निका अंश है । हृदयसे ऊपर भौंहोंके मध्यभागतक वायुका अंश है तथा मस्तकका भाग आकाशका अंश बताया गया है । हे महाप्राज्ञ ! पृथिवीके भागमें ब्रह्माका, जलके अंशमें भगवान् विष्णुका, अग्निके अंशमें महादेवजीका, वायुके अंशमें ईश्वरका तथा आकाशके अंशमें सदाशिवका ध्यान करे* ॥ १—६ ॥

'अथवा मुनिश्रेष्ठ ! तुमसे एक दूसरी धारणाका वर्णन करता हूँ । बुद्धिमान् पुरुष अन्तर्यामी पुरुष (आत्मा)में सबपर शासन करनेवाले बोधमय, आनन्दमय एवं कल्याणस्वरूप परमात्माकी प्रतिदिन धारणा करे । इससे सब पापोंकी शुद्धि हो जाती है । कार्यस्वरूप ब्रह्मा आदिका अपने-अपने कारणमें लय करके सबके परम कारण, अनिर्वचनीय तथा बुद्धिसे परे जो अव्यक्त परमात्मा हैं, उनकी अपने आत्मामें धारणा करे—अर्थात् ये साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही अन्तर्यामी आत्माके रूपमें विराजमान हैं, ऐसा निश्चय करे तथा इस प्रकार आत्मधारणा करते समय अपने मनको सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त प्रणवस्वरूप परमात्मामें ही स्थापित करे । साथ ही मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको भी अपने-अपने विषयोंसे हटाकर आत्मामें संयुक्त करे' ॥ ७—९ ॥

॥ अष्टम खण्ड समाप्त ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

दो प्रकारके ध्यान तथा उनका फल

'अब मैं संसार-बन्धनका नाश करनेवाले ध्यानका प्रकार बतलाता हूँ । जो समस्त संसाररूपी रोगके एकमात्र औषध, ऊर्ध्वरेता, भयङ्कर नेत्रोंवाले, योगीश्वरोंके भी ईश्वर, विश्वरूप तथा महेश्वररूप हैं, उन ऋत एवं सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका अपने आत्मारूपसे आदरपूर्वक चिन्तन करे । अपनी बुद्धिमें यह निश्चय करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ ॥ १-२ ॥

'अथवा ध्यानका दूसरा प्रकार यों है—जो सत्यस्वरूप, सबका ईश्वर, ज्ञानरूप, आनन्दमय, अद्वितीय, अत्यन्त निर्मल, नित्य तथा आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित है, स्थूल प्रपञ्चसे

* यह पञ्चभूतोंकी धारणा 'रामतापनीयोपनिषद्' पृष्ठ ५३८ की टिप्पणीमें 'भूत-शुद्धि'के नामसे दी गयी है, उसको पढ़नेसे भूतधारणाका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा ।

सर्वथा परे है, आकाशसे भिन्न है, स्पर्शमें आने योग्य वायुसे भी विलक्षण है, नेत्रोंसे दीख पड़नेवाले अग्नितत्त्वसे भी सर्वथा भिन्न है, रसस्वरूप जल और गन्धस्वरूप पृथिवीसे भी सर्वथा विलक्षण है, जिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा नहीं जाना जा सकता, जो अनुपम है, देहसे अतीत है, उस सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं अन्तरहित परब्रह्मका अपने आत्माके रूपमें ध्यान करे; बुद्धिके द्वारा यह निश्चय करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ। इस प्रकार किया हुआ निर्विशेषका ध्यान मोक्षका साधक होता है ॥ ३—५ ॥

'इस तरह ध्यानके अभ्यासमें लगे हुए महात्मा पुरुषको क्रमशः वेदान्तवर्णित ब्रह्मतत्त्वका विशेष ज्ञान हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है' ॥ ६ ॥

॥ नवम खण्ड समाप्त ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

समाधि एवं उसका फल

'अब मैं संसार-बन्धनका नाश करनेवाली समाधिका वर्णन करूँगा। परमात्मा और जीवात्माकी एकताके विषयमें निश्चयात्मक बुद्धिका उदय होना ही समाधि है। यह आत्मा नित्य, सर्व-व्यापी, कूटस्थ—एकरस एवं सब प्रकारके दोषोंसे रहित है। यह एक होते हुए भी मायाजनित भ्रमके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है; स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है। अतः केवल अद्वैत ही सत्य है। प्रपञ्च या संसार नामकी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश ही घटाकाश और मठाकाशके नामसे पुकारा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषोंने एक ही परमात्माको जीव और ईश्वर—इन दो रूपोंमें कल्पित कर लिया है। मैं न देह हूँ, न प्राण हूँ, न इन्द्रियसमुदाय हूँ और न मन ही हूँ; सदा साक्षीरूपमें स्थित होनेके कारण मैं एकमात्र शिवस्वरूप परमात्मा हूँ—मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकारकी जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वही यहाँ समाधि कहलाती है ॥ १—५ ॥

'मैं वह परमात्मा ही हूँ, संसार-बन्धनमें बँधा हुआ जीव नहीं हूँ; इसलिये मुझसे भिन्न किसी भी वस्तुकी किसी भी कालमें सत्ता नहीं है। जैसे फेन और तरङ्ग आदि समुद्रसे ही उठते हैं और पुनः समुद्रमें ही लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत् मुझमें ही उत्पन्न और विलीन होता रहता है। अतः सृष्टिका कारणभूत समष्टि मन भी मुझसे पृथक् नहीं है। यह जगत् और माया भी मुझसे अलग कोई अस्तित्व नहीं रखते। इस प्रकार जिस पुरुषको ये परमात्मा अपने आत्मा-रूपसे अनुभव होने लगते हैं, वह परम पुरुषार्थस्वरूप साक्षात् परमामृतमय परमात्मभावको प्राप्त हो जाता है। जब योगीके मनमें सर्वत्र व्यापक आत्मचैतन्यका अपरोक्ष अनुभव होने लगता है, तब वह स्वयं परमात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। जब ज्ञानी महात्मा सब भूतोंको अपनेमें ही देखता है और अपनेको ही सम्पूर्ण भूतोंमें प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् ब्रह्म हो जाता है। जब समाधिमें स्थित पुरुष परमात्मासे एकीभूत होकर अपनेसे भिन्न किसी भी भूतको नहीं देखता, तब वह केवल परमात्म-स्वरूपसे प्रतिष्ठित होता है। जब मनुष्य केवल अपने आत्मा-को ही परमार्थ—सत्यस्वरूप देखता है और सम्पूर्ण जगत्को मायाका विलासमात्र मानता है, तब उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।'

महामुनि भगवान् दत्तात्रेयजी इस प्रकार उपदेश देकर मौन हो गये तथा मुनिवर साङ्कृति उस उपदेशको हृदयङ्गम करके अपने यथार्थ स्वरूपसे स्थित हो अत्यन्त निर्भय स्थितिमें पहुँचकर सुखसे रहने लगे ॥ ६—१३ ॥

॥ दशम खण्ड समाप्त ॥ १० ॥

॥ सामवेदीय जाबालदर्शनोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

शुकरहस्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

भगवान् शंकरका शुकदेवजीको उपदेश; 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके षडङ्गन्यास

अब हम रहस्योपनिषद्की व्याख्या करते हैं। एक समय देवर्षिगणोंने पितामह ब्रह्माजीकी पूजा की और प्रणाम करके उनसे पूछा—'भगवन्! हमें गूढ़ उपनिषत्तत्त्व बतलायें।' तब ब्रह्माजीने कहा—पहले एक समय महातेजस्वी, समस्त वेदोंके ज्ञाता, तपोनिधि वेदव्यासने पार्वतीके साथ भगवान् शंकरको दण्डवत् प्रणाम करके, हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की थी—॥ १ ॥

श्रीवेदव्यासजीने कहा—'देव-देव, महाप्राज्ञ, जीवके बन्धनको काटनेका दृढ़ व्रत धारण करनेवाले प्रभो! मेरे पुत्र शुकदेवके वेदाध्ययनके लिये किये जानेवाले उपनयन-संस्कार-कर्ममें यह प्रणव एवं गायत्री-मन्त्रके उपदेशका समय आ गया है। अतः हे जगद्गुरो! आप उन्हें ब्रह्म—प्रणव एवं परमात्म-तत्त्वका उपदेश करें' ॥ २-३ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—'मेरे द्वारा कैवल्यस्वरूप साक्षात् सनातन परब्रह्मका उपदेश दिये जानेपर तुम्हारा पुत्र वैराग्यपूर्वक सब कुछ छोड़कर स्वतः प्रकाशस्वरूपको प्राप्त कर लेगा। तात्पर्य यह कि मेरे द्वारा पुत्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करानेका आग्रह करोगे तो पुत्र विरक्त हो जायगा' ॥ ४ ॥

श्रीवेदव्यासजीने प्रार्थना की—'महेश्वर! मेरे पुत्रका जो भी होना हो, सो हो; किंतु इस उपनयन-कर्मके समय आपकी कृपासे, आपके द्वारा ब्रह्मज्ञानका उपदेश पाकर मेरा पुत्र शीघ्र ही सर्वज्ञ हो जाय! आपकी कृपासे वह चारों प्रकारके (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सालोक्य) मोक्षोंको प्राप्त करे' ॥ ५-६ ॥

श्रीवेदव्यासजीकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर सम्पूर्ण देवर्षियोंकी सभामें उपदेश देनेके लिये भगवती पार्वतीके साथ दिव्य आसनपर विराजमान हुए। तब कृत-कृत्य (सफलमनोरथ) श्रीशुकदेवजीने आकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक उन (भगवान् शिव)से प्रणवकी दीक्षा ग्रहण की और फिर उन भगवान् शङ्करसे यह प्रार्थना की—'देवाधिदेव, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दस्वरूप, उमारमण, भूतनाथ, दयानिधे! आप प्रसन्न हों। आपने मुझे प्रणवके अन्तर्गत (प्रणवात्मारूप) एवं उससे परे स्थित परम ब्रह्मका उपदेश तो कर दिया; अब मैं विशेषतः **'तत्त्वमसि'**, **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** प्रभृति चारों महावाक्योंका षडङ्गन्यास क्रमपूर्वक सुनना चाहता हूँ। सदाशिव प्रभो! अब कृपा करके आप उनका रहस्य बतलायें' ॥ ७—११ ॥

भगवान् सदाशिव बोले—'हे ज्ञाननिधि शुकदेवजी! मुने! तुम अत्यन्त बुद्धिमान् हो। तुम्हें अनेकों साधुवाद। तुमने वेदोंमें छिपे हुए, पूछने योग्य रहस्यको ही पूछा है; अतः रहस्योपनिषद् नामसे प्रसिद्ध इस गूढ़ रहस्यमय उपदेशका षडङ्गन्यास-सहित वर्णन किया जाता है, जिसके भली प्रकार जान लेने मात्रसे साक्षात् मोक्ष प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं। फिर (नियम यह है कि) गुरु अङ्गहीन वाक्योंका उपदेश न करे। सभी महावाक्योंका उपदेश उनके षडङ्गके साथ ही करे। जैसे चारों वेदोंमें उपनिषद्भाग (ज्ञानकाण्ड) शिरःस्थानीय (सर्वोत्तम) है, वैसे ही समस्त उपनिषदोंमें यह रहस्यो-

पनिषद् शिरःस्थानीय (सर्वोत्तम) है। जिस विचारवान्ने रहस्योपनिषद्में उपदिष्ट ब्रह्मका ध्यान किया है, उसे पुण्यके हेतुभूत तीर्थ-स्नान, मन्त्रजप, वेद-पाठ तथा जपादिसे क्या प्रयोजन है। महावाक्योंके अर्थको सौ वर्षोंतक विचार करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह उनके ऋष्यादि-स्मरण तथा ध्यानपूर्वक एक बारके जपसे ही प्राप्त हो जाता है ॥१२-१७॥

[ऋष्यादि षडङ्गका पाठ करके पुनः उनका मस्तकादिमें न्यास करना चाहिये। वह इस प्रकार है —]

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः।

[निम्न प्रकारसे दोनों हाथोंकी निर्दिष्ट अँगुलियोंका स्पर्श करते हुए न्यास करना चाहिये—]

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
'नित्यानन्दो ब्रह्म' तर्जनीभ्यां स्वाहा।
'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' मध्यमाभ्यां वषट्।
'यो वै भूमा' अनामिकाभ्यां हुम्।
'यो वै भूमाधिपतिः' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

[फिर नीचेकी रीतिसे हृदयादिको स्पर्श करते हुए न्यास करना चाहिये।]

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' हृदयाय नमः।
'नित्यानन्दो ब्रह्म' शिरसे स्वाहा।
'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' शिखायै वषट्।
'यो वै भूमा' कवचाय हुम्।
'यो वै भूमाधिपतिः' नेत्रत्रयाय वौषट्।
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अस्त्राय फट्।

'भूर्भुवः सुवरोम्' इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये।

ध्यान

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥*

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

'तत्त्वमसि' महावाक्यके प्रत्येक पदके पृथक्-पृथक् षडङ्गन्यास

महावाक्य चार हैं—१—'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म'। २—'ॐ अहं ब्रह्मास्मि'। ३—'ॐ तत्त्वमसि' और ४—'ॐ अयमात्मा ब्रह्म।' इनमेंसे 'तत्त्वमसि' इस अभेदवाचक (जीवब्रह्मके अभेदके प्रतिपादक) महावाक्यका जो लोग जप करते हैं, वे भगवान् शङ्करकी सायुज्यमुक्तिके अधिकारी होते हैं।

['तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' पदरूप महामन्त्रके ऋषि आदिका स्मरण निम्नरूपसे करके उनका यथास्थान न्यास करना चाहिये—]

तत्पदमहामन्त्रस्य परमहंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः, शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम सायुज्यमुक्त्यर्थे जपे विनियोगः।

[करन्यास]

'तत्पुरुषाय' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
'ईशानाय' तर्जनीभ्यां स्वाहा।
'अघोराय' मध्यमाभ्यां वषट्।
'सद्योजाताय' अनामिकाभ्यां हुम्।
'वामदेवाय' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
'तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इन्हीं करन्यासके मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके **'भूर्भुवः सुवरोम्'** इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये।

ध्यान

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं
शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं
ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम् ॥†

* नित्यानन्दरूप, परमसुखदायी, कैवल्यरूप, ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे परे, आकाशके समान व्यापक एवं निर्लेप, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके लक्ष्य, एक, नित्य, निर्मल, स्थिर, सम्पूर्ण बुद्धियोंके साक्षिरूपमें अवस्थित, षड्भावविकारोंसे अतीत, त्रिगुणोंसे रहित, उन परमब्रह्मस्वरूप सद्गुरुदेवको हम नमस्कार करते हैं।

† ज्ञानके साधन एवं ज्ञानके विषय, तथा साथ ही ज्ञानकी गम्यतासे परे, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अव्यय, सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय रूपमें उस दिव्य प्रकाशका ध्यान करे।

[उसी 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'त्वम्' पदके ऋषि आदिका जप निम्न प्रकारसे करके उसका न्यास करना चाहिये ।]

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । परमात्मा देवता । ऐं बीजम् । क्लीं शक्तिः । सौः कीलकम् । मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

'वासुदेवाय' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
'संकर्षणाय' तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
'प्रद्युम्नाय' मध्यमाभ्यां वषट् ।
'अनिरुद्धाय' अनामिकाभ्यां हुम् ।
'वासुदेवाय' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
'वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

[यह करन्यास करके] इसी मन्त्रसे हृदयादिन्यास करना चाहिये । **'भूर्भुवः सुवरोम्'** इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये ।

ध्यान

जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम् ।
चित्ताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वंपदं भजे ॥*

[अन्तमें महावाक्यके अन्तिम तीसरे 'असि' पदके ऋषि आदिका एवं न्यास-मन्त्रोंका उल्लेख किया जाता है ।]

'असि'पदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः । गायत्री छन्दः । अर्धनारीश्वरो देवता । अव्यक्तादिर्बीजम् । नृसिंहः शक्तिः । परमात्मा कीलकम् । जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः ।

'पृथ्वीद्व्यणुकाय' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
'अब्द्व्यणुकाय' तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
'तेजोद्व्यणुकाय' मध्यमाभ्यां वषट् ।
'वायुद्व्यणुकाय' अनामिकाभ्यां हुम् ।
'आकाशद्व्यणुकाय' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

[इस मन्त्रसे करन्यास करके इसी प्रकार हृदयादिन्यास करे ।] **'भूर्भुवः सुवरोम्'** इस मन्त्रसे दिग्बन्ध कर ले ।

ध्यान

जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः ।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन्ध्यायेदसिपदं सदा ॥†

इस प्रकार महावाक्यके षडङ्ग (—न्यास) बतलाये गये ।

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

चारों महावाक्योंकी पदविन्यासपूर्वक व्याख्या

अब रहस्योपनिषद्के विभागके अनुसार वाक्योंका अर्थ बतलानेवाले श्लोक कहे जाते हैं । [वाक्यार्थ श्लोकोंमें है, और श्लोकोंका भाव इस प्रकार है—] जिसके द्वारा (प्राणी) देखता है, इस जगत्के विषयोंको सुनता है, सूँघता है, वाणी-द्वारा कहता है और स्वादिष्ठ या अस्वादिष्ठको पहचानता है (रसज्ञान करता है), उसे **'प्रज्ञान'** कहा गया है । चतुर्मुख ब्रह्माजी, देवराज इन्द्र, देवगण, मनुष्य एवं घोड़े, गाय प्रभृति पशुओंमें एक ही चेतनतत्त्व ब्रह्म है । वही प्रज्ञान (ज्ञानरूप) ब्रह्म मुझमें भी है ॥ १-२ ॥

ब्रह्मविद्याको प्राप्त करनेके अधिकारी इस (मानव) देहमें परिपूर्ण परमात्मा बुद्धिके साक्षिरूपसे अवस्थित होकर स्फुरित होनेपर **'अहं'** कहे जाते हैं । स्वतः पूर्ण परात्मा यहाँ **'ब्रह्म'** शब्दसे वर्णित हैं, तथा **'अस्मि'** (मैं हूँ) यह पद उनके साथ अपनी एकताका बोध कराता है, अतः मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ ॥ ३-४ ॥

[**'तत्त्वमसि'** वाक्यमें] सृष्टिके पूर्व एकमात्र द्वैतकी सत्तासे रहित, नाम-रूपहीन सत्ता थी और अब भी वह सत्ता वैसी ही है—'तत्' पदसे यह प्रतिपादित होता है । उपदेश श्रवण करनेवाले शिष्यका जो देह और इन्द्रियोंसे अतीतस्वरूप है, वही यहाँ महावाक्यके 'त्वं' पदसे वर्णित है तथा महावाक्यके

* जो सम्पूर्ण प्राणियोंके जीव-तत्त्वका बोधक है, जिसकी मूर्ति सर्वत्र अखण्डित है और जो चित्त तथा अहङ्कारका नियन्त्रणकर्ता है, उस 'त्वम्' पदके द्वारा बोध्य जीव-नामक परमेश्वरका हम स्मरण करते हैं ।

† जबतक मनकी स्थिति है (जबतक मनोनाश नहीं हो जाता), तबतक 'जीव ब्रह्म ही है', इस वाक्यार्थके रूपमें 'असि' पदका चिन्तन करे, अर्थात् 'असि' पद जीव और ब्रह्मकी एकता बतला रहा है—इस भावका मनन करता रहे । फिर यों करते-करते जब मनका लय हो जाय, तब जीव और ब्रह्म दोनोंकी एकतारूप तत्त्वका अनुभव करते हुए 'असि' पदके तात्पर्यको सदा ध्यानके द्वारा प्रत्यक्ष करता रहे ।

'असि' पदके द्वारा उन 'तत्' एवं 'त्वम्' पदोंके बोध्य ब्रह्म और जीवकी एकताका ग्रहण कराया गया है। उस एकत्वका अनुभव करो।

['अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्यमें] 'अयम्' पदके द्वारा स्वतःप्रकाश अपरोक्ष—नित्य प्रत्यक्ष स्वरूपका वर्णन हुआ है। अहंकारसे लेकर शरीरपर्यन्तको प्रत्यगात्मा बताया गया है। दिखायी पड़नेवाले सम्पूर्ण जगत्में जो व्यापक तत्त्व है, वही 'ब्रह्म' शब्दसे वर्णित है। वह ब्रह्म स्वतःप्रकाश, आत्मस्वरूप है॥ ५–८॥

''अनात्मामें आत्मदृष्टि करनेसे मैं अज्ञानकी निद्रामें पड़कर 'मैं' और 'मेरे' की प्रतीति करानेवाली स्वप्नावस्थामें आ पहुँचा था। श्रीगुरुदेवके द्वारा महावाक्यके पदोंका स्पष्ट उपदेश दिये जानेपर स्वरूपरूपी सूर्यके उदित होनेसे मैं जग गया हूँ। [ऐसा अनुभव करके शुकदेवजी मनन आरम्भ करते हैं—]

महावाक्यके अर्थको समझनेके लिये वाच्य और लक्ष्य—इन दोनों ही अर्थोंकी प्रणालीका अनुसरण करना चाहिये। वाच्य-सरणीके अनुसार भौतिक इन्द्रिय आदि भी 'त्वं' पदके वाच्य होते हैं; किंतु लक्ष्यार्थ वही है, जो इन्द्रियादिसे अतीत विशुद्ध चेतन है। इसी प्रकार 'तत्' पदका वाच्य तो ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट परमात्मा है; किंतु लक्ष्यार्थ है—केवल सच्चिदानन्दमय ब्रह्म। अतः यहाँ भाग-त्याग लक्षणासे 'असि' पदके द्वारा उक्त दोनों पदोंके लक्ष्यार्थको ही लेकर जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी जाती है।

'त्वं' और 'तत्'—ये कार्य (शरीर) तथा कारण (माया) रूप उपाधिके द्वारा ही दो हैं। उपाधि न रहनेपर दोनों ही एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। जगत्में भी 'यह वही देवदत्त है (जो अमुक स्थानपर अमुक समयमें मिला था)—इस वाक्यमें 'यह' और 'वह' इन दोनों वचनोंके हेतुभूत देश और कालका अन्तर छोड़ देनेपर देवदत्त एक ही निश्चित होता है। यह जीव कार्य (शरीर) की उपाधिसे युक्त है और ईश्वर कारण (माया) की उपाधिसहित है। कार्य एवं कारणरूपको छोड़ देनेपर पूर्ण ज्ञानस्वरूप बच रहता है॥९–१२॥

पहले गुरुके द्वारा श्रवण करे। अनन्तर मनन किया जाय। फिर निदिध्यासन करे। यह पूर्णबोधका कारण होता है। दूसरी विद्याओंका सम्यक् ज्ञान भी निश्चय ही नश्वर है, किंतु ब्रह्मविद्याका सम्यक् ज्ञान स्थिर ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है। भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञा है कि गुरु 'षडङ्ग' सहित महावाक्योंका उपदेश करे। केवल महावाक्योंका उपदेश न करे॥ १३–१५॥

भगवान् शङ्कर बोले—'मुनिश्रेष्ठ शुकदेव! तुम्हारे ब्रह्मवेत्ता पिता व्यासजीकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें इस रहस्योपनिषद्का उपदेश किया है। इसमें सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मका उपदेश है। तुम उसका नित्य ध्यान करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करोगे। जो स्वर (प्रणव) वेदके प्रारम्भमें उच्चारण किया जाता है और जो वेदान्तमें (ज्ञानकाण्डमें) प्रतिष्ठित है, उसकी प्रकृति (त्रिमात्रा) में लीन होनेपर जो उससे परे (अर्धमात्रास्वरूप) अवस्थित है, वही महेश्वर (परमब्रह्मका स्वरूप) है'॥ १६–१८॥

भगवान् शङ्करके द्वारा इस प्रकार उपदेश दिये जानेपर शुकदेवजी सम्पूर्ण जगत्के साथ तन्मयावस्थाको प्राप्त हो गये। फिर उठकर भगवान् शङ्करको प्रणाम करके सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़कर वे मानो परमब्रह्मके समुद्रमें तैर रहे हों—इस प्रकार आनन्दमग्न होकर वहाँसे चल पड़े। पुत्रको जाते देखकर महामुनि कृष्णद्वैपायन व्यासजीने उनके पीछे चलते हुए पुत्र-वियोगसे कातर होकर उन्हें पुकारा। उस समय जगत्के समस्त जड-चेतन पदार्थोंने (व्यासजीकी पुकारका) प्रत्युत्तर दिया। सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासने उस उत्तरको सुनकर पुत्रको सकल—जगदात्माकार देखकर अपने पुत्र शुकदेवजीके साथ (समान) परमानन्द प्राप्त किया (उन्हें परम प्रसन्नता हुई)॥ १९–२२॥

जो गुरुकी कृपासे इस रहस्योपनिषद्का अध्ययन करता है—इसे समझ लेता है, वह सभी पापोंसे छूटकर साक्षात् कैवल्यपदका उपभोग करता है, साक्षात् कैवल्यपदका उपभोग करता है॥ २३॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त॥ ३॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय शुकरहस्योपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पूर्वकाण्ड

प्रथम अध्याय

पाद-चतुष्टयके स्वरूपका निर्णय

परमतत्त्वके रहस्यको जाननेकी इच्छासे श्रीब्रह्माजीने देवताओंके वर्षोंसे सहस्र वर्षोंतक तपस्या की। सहस्र देववर्ष व्यतीत होनेपर ब्रह्माजीकी अत्यन्त उग्र एवं तीव्र तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् महाविष्णु प्रकट हुए। ब्रह्माजीने उनसे कहा—'भगवन्! मुझे परमतत्त्वका रहस्य बतलाइये; क्योंकि परमतत्त्वके रहस्यको बतलानेवाले एकमात्र आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं है। यह किस प्रकार? (यदि आप यह पूछें तो) वही बतलाता हूँ। आप ही सर्वज्ञ हैं। आप ही सर्वशक्तिमान् हैं। आप ही सबके आधार हैं। आप ही सब कुछ बने हुए हैं। आप ही सबके स्वामी हैं। आप ही समस्त कार्योंके प्रवर्तक हैं। आप ही सबके पालनकर्ता हैं। आप ही सबके निवर्तक (विनाशक) हैं। आप ही सत् एवं असत्स्वरूप हैं। आप ही सत् एवं असत्से विलक्षण हैं। आप ही भीतर और बाहर—सर्वत्र व्यापक हैं। आप ही अत्यन्त सूक्ष्मतर हैं। आप ही महान्से भी अत्यन्त महान् हैं। आप ही सबकी मूल-अविद्याके विनाशक हैं। आप ही अविद्यामें विहार करनेवाले भी हैं। आप ही अविद्याको धारण करनेवाले अधिष्ठान हैं। आप ही विद्या (ज्ञान) द्वारा जाने जाते हैं। आप ही विद्यास्वरूप हैं। आप ही विद्यासे परे भी हैं। आप ही समस्त कारणोंके कारण हैं। आप ही समस्त कारणोंकी समष्टि (समुदाय) हैं। आप ही समस्त कारणोंकी व्यष्टि (पृथक्-पृथक् कारण) हैं। आप ही अखण्ड आनन्दरूप हैं। आप ही पूर्णानन्द हैं। आप ही निरतिशय आनन्दस्वरूप हैं। आप ही तुरीय-तुरीय (तुरीयावस्थाके तुरीय) हैं। आप ही तुरीयातीत हैं। अनन्त उपनिषदोंद्वारा आप ही अन्वेषणीय हैं। निखिल शास्त्रोंके द्वारा आप ही ढूँढ़ने योग्य हैं। आप ही ब्रह्मा (मैं), शंकरजी, इन्द्र आदि सब देवताओं तथा समस्त तन्त्रशास्त्रोंद्वारा अन्वेषण करने योग्य हैं। सभी मुमुक्षुओंद्वारा आप ही ढूँढ़े जाने योग्य हैं। सभी अमृतमय (मुक्त) पुरुषोंद्वारा आप ही खोजने योग्य हैं। आप ही अमृतमय हैं, आप ही अमृतमय हैं, आप ही अमृतमय हैं। आप ही सर्वरूप हैं, आप ही सर्वरूप हैं, आप ही सर्वरूप हैं। आप ही मोक्षस्वरूप हैं, आप ही मोक्षदाता हैं तथा मोक्षके सम्पूर्ण साधनस्वरूप भी आप ही हैं। आपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आपके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब (बुद्धिद्वारा) बाधित (अतत्त्व—मिथ्या) है—यह निश्चित है। इसलिये आप ही वक्ता हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही पिता हैं, आप ही सबके नियन्ता हैं, आप ही सर्वस्वरूप हैं और आप ही सदा ध्यान करने योग्य हैं—यह सुनिश्चित है' ॥ १ ॥

परमतत्त्वज्ञ भगवान् महाविष्णु 'साधु-साधु' कहकर प्रशंसा

करते हुए (साधुवाद देते हुए) अत्यन्त प्रसन्न होकर ब्रह्माजीसे बोले—"सम्पूर्ण परमतत्त्वका रहस्य तुम्हें बतलाता हूँ। सावधान होकर सुनो। ब्रह्माजी ! अथर्ववेदकी देवदर्शी नामक शाखामें परमतत्त्वरहस्य नामक अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद्में प्राचीन कालसे गुरु-शिष्य-संवाद अत्यन्त सुप्रसिद्ध होनेसे सर्वज्ञात है। पहले (अतीत कल्पमें) उसके स्वरूपको जाननेसे सभी महत्तम पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त हुए हैं। जिसके सुननेसे सभी बन्धन समूल नष्ट हो जाते हैं, जिसके ज्ञानसे सभी रहस्य ज्ञात हो जाते हैं, उसका स्वरूप कैसा है, यह बतलाते हैं—॥ २-३ ॥

"शान्त, अप्रमत्त, अत्यन्त विरक्त, अत्यन्त पवित्र, गुरु-भक्त, तपस्वी शिष्यने ब्रह्मनिष्ठ गुरुको प्राप्तकर, उनकी प्रदक्षिणा की, भूमिपर लेटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर, विनयपूर्वक समीप जाकर कहा—'भगवन् ! गुरुदेव ! मुझे परमतत्त्वके रहस्यको खोलकर बतलाइये।' अत्यन्त आदरपूर्वक हर्षसे शिष्यकी बहुत प्रशंसा करके गुरु बोले—'परमतत्त्व-रहस्योपनिषद्का क्रम बतला रहा हूँ, सावधानीसे सुनो—

'ब्रह्म कैसा है ? (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों कालोंसे जो अबाधित है—किसी भी कालमें जिसका अभाव नहीं होता, वह ब्रह्म है। समस्त कालोंसे अबाधित (अनवच्छिन्न) तत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों है। ब्रह्म आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित है। यह सब (दृश्यादृश्य जगत्) ब्रह्म है। ब्रह्म मायातीत है और गुणातीत है। ब्रह्म अनन्त, प्रमाणोंसे अज्ञेय, अखण्ड और परिपूर्ण है। अद्वितीयरूप, परमानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप, व्यापक, भेदहीन एवं अपरिच्छिन्न है। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप एवं स्वतःप्रकाश है। ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है। ब्रह्म सम्पूर्ण प्रमाणोंसे परे है। अगणित वेदान्तों (उपनिषदों) द्वारा ब्रह्म ही जानने योग्य है। देशसे, कालसे तथा वस्तुसे ब्रह्म परिच्छेदहीन (असीमित) है। ब्रह्म सब प्रकार परिपूर्ण है। ब्रह्म तुरीयस्वरूप, निराकार एवं अद्वितीय है। ब्रह्म द्वैतके साथ अवर्णनीय है। ब्रह्म प्रणवस्वरूप है। ब्रह्म प्रणवात्मारूपसे कहा गया है। प्रणवप्रभृति समस्त मन्त्रोंका स्वरूपभूत ब्रह्म है। ब्रह्मके चार पाद हैं ॥ ४-५ ॥

'ब्रह्मके वे चार पाद कौन-कौन हैं ?—अविद्यापाद, सुविद्या-पाद, आनन्दपाद और तुरीयपाद—ये ही वे चार पाद हैं। तुरीयपाद तुरीयावस्थाका भी तुरीय तथा तुरीयातीत है। इन चारों पादोंमें भेद क्या है ? अविद्यापाद प्रथम पाद है, विद्यापाद दूसरा है, आनन्दपाद तीसरा है और तुरीयपाद चौथा है। मूल-अविद्या प्रथम पादमें ही है, दूसरोंमें नहीं। विद्या, आनन्द एवं तुरीयके अंश सभी पादोंमें व्याप्त होकर रहते हैं। यदि ऐसी बात है तो विद्यादि पादोंमें भेद किस प्रकार है ?—उन विद्यादिकी प्रधानताके कारण उनके द्वारा नामोंका निर्देश होता है। वस्तुतः तो अभेद ही है। उन चार पादोंमें एक नीचेका पाद ही अविद्यामिश्रित होता है। ऊपरके तीनों पाद शुद्ध ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप तथा अमृत (शाश्वत) रहते हैं। वे तीनों पाद अलौकिक परमानन्दस्वरूप अखण्ड अमित तेजोराशि-के रूपमें प्रकाशित रहते हैं। और वे अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य, अखण्ड आनन्दैकरसात्मक हैं। उनमेंसे मध्यम अर्थात् आनन्द-पादके मध्यप्रदेशमें अमित तेजके प्रवाहरूपमें नित्य वैकुण्ठसे विराजमान है और वह निरतिशय आनन्द एवं अखण्ड ब्रह्मा-नन्दस्वरूप अपनी मूर्तिसे प्रकाशित है। जैसे अनन्त मण्डल दिखायी पड़ते हैं, उसी प्रकार अखण्ड आनन्दमय भगवान् विष्णुकी अमित दिव्य तेजोराशिके अन्तर्गत सुशोभित श्रीमहा-विष्णुका श्रेष्ठ स्थान विराजमान है। भगवान् विष्णुका यह परमधाम क्षीरसमुद्रके मध्यमें स्थित अविनाशी अमृतके कलशके समान दिखायी पड़ता है। सुदर्शनचक्रके दिव्य तेजके मध्यमें जैसे सुदर्शनके अभिमानी देवपुरुष रहते हैं, जैसे सूर्यमण्डलमें सूर्यनारायण हैं, वैसे ही अमित, अपरिच्छिन्न, अद्वैत परमानन्दरूप तेजोराशिमें आदिनारायण दिखलायी पड़ते हैं।

'वे ही (आदिनारायण) तुरीय ब्रह्म हैं। वे ही तुरीयातीत हैं। वे ही विष्णु (व्यापक) हैं। वे ही समस्त ब्रह्मवाचक शब्दोंके वाच्य हैं। वे ही परम ज्योति हैं। वे ही मायातीत हैं। वे ही गुणातीत हैं। वे ही कालातीत हैं। वे ही समस्त कर्मों-से परे हैं। वे ही सत्य एवं उपाधिरहित हैं। वे ही परमेश्वर (सर्वसंचालक) हैं। वे ही पुराणपुरुष हैं। प्रणवादि समस्त मन्त्ररूप वाचकोंके वाच्य, आदि-अन्तरहित, आदि-देश-काल-वस्तु तथा तुरीय संज्ञावाले (इन सबके वाच्य) एवं नित्य परिपूर्ण, सब प्रकारसे पूर्ण, सत्यसंकल्प, आत्माराम, तीनों कालोंसे अबाधित स्वरूपवाले, स्वयंज्योति, स्वयंप्रकाशमय, अपने समान वस्तुसे रहित अर्थात् सर्वथा अद्वितीय, जिनके समान भी कोई नहीं है, फिर अधिककी तो बात ही क्या, जिनमें दिन-रात्रिके विभाग नहीं हैं, जिनमें संवत्सरादि काल-विभाग नहीं हैं, निजानन्दमय अनन्त-अचिन्त्य ऐश्वर्यवाले, आत्माके भी अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, तुरीयात्मा आदि

शब्दोंके वाच्य, अद्वैत परमानन्दरूप, विभु (सर्वव्यापक), नित्य, निष्कलङ्क, निर्विकल्प, निरञ्जन, संज्ञारहित, शुद्ध देवता एकमात्र नारायण ही हैं; दूसरा कोई नहीं है। जो इस प्रकार जानता है, वह पुरुष उन (श्रीनारायणभगवान्) की उपासनासे उनके सायुज्यको प्राप्त करता है—यह संशयरहित बात है' ॥ ६–११ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

साकार-निराकार परब्रह्मके स्वरूपका निरूपण

तब (प्रथमाध्यायके उपदेशको सुनकर) शिष्यने अपने भगवत्स्वरूप गुरुदेवसे कहा—'भगवन् ! वैकुण्ठ एवं श्रीमन्नारायणको भी आपने नित्य बतलाया है। वे ही (वैकुण्ठ एवं श्रीनारायण) तुरीयतत्त्व हैं, यह भी कहा ही है। श्रीवैकुण्ठधाम साकार है और श्रीमन्नारायण भी साकार हैं; किंतु तुरीयतत्त्व निराकार है। साकारतत्त्व अवयवयुक्त होता है और निराकार अवयवरहित। अतः श्रुति यह कहती है कि साकार अनित्य होता है और निराकार नित्य होता है। जो-जो (पदार्थ) अवयववाले हैं, वे सब अनित्य हैं—अनुमान-प्रमाणसे यही सिद्ध होता है तथा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। अतः उन दोनों (वैकुण्ठ एवं नारायण) की अनित्यता बतलाना ही उचित है। आपने उनका नित्यत्व किस प्रकार बतलाया है ? तुरीयतत्त्व अक्षर (अविनाशी) है—यह श्रुति कहती है; अतः तुरीयतत्त्वका नित्यत्व प्रसिद्ध है। नित्य एवं अनित्य—ये परस्पर-विरोधी धर्म हैं। इन दोनों विरोधी धर्मोंका एक ही ब्रह्ममें होना अत्यन्त विरोधी (असंगत) है। इसलिये श्रीवैकुण्ठ-धाम एवं श्रीमन्नारायणकी भी अनित्यता ही बतलाना उचित है।' (शिष्य यह शङ्का करता है।) ॥ १ ॥

गुरु शङ्काका निवारण करते हुए कहते हैं—"(तुम जो कहते हो, वह) ठीक ही है; (किंतु) साकार-तत्त्व दो प्रकारका होता है—उपाधिसहित तथा उपाधिरहित। इनमें उपाधि-सहित साकार किस प्रकारका है ? अविद्यासे उत्पन्न समस्त कार्य एवं कारण अविद्यापादमें ही हैं, और कहीं नहीं। इसलिये समस्त अविद्योपाधिसे युक्त साकार-तत्त्व (पदार्थ) अवयवयुक्त ही है। अवयवयुक्त होनेसे (वे) अवश्य अनित्य होंगे ही। (इस प्रकार) उपाधियुक्त साकारका वर्णन हो चुका।

"तब उपाधिहीन साकार किस प्रकारका है ? निरुपाधिक साकार तीन प्रकारका है—ब्रह्मविद्यासाकार, आनन्दसाकार तथा उभयात्मक (ब्रह्मविद्यानन्दात्मक) साकार। (यह) त्रिविध साकार भी फिर दो प्रकारका होता है—नित्यसाकार और मुक्तसाकार। नित्यसाकार तो आदि-अन्तहीन सनातन (शाश्वत) है। जो उपासनाद्वारा मुक्तिपदको प्राप्त हुए हैं, उनका साकार देह मुक्तसाकार है। उस (मुक्त पुरुषके आकार) का आविर्भाव अखण्ड ज्ञानसे होता है। अर्थात् भगवद्धाममें स्थित मुक्तात्माओंका शरीर ज्ञानघन है। वह (मुक्तात्माओं-का साकार शरीर) भी शाश्वत होता है; परंतु वह मुक्त-साकार ऐच्छिक (इच्छाधीन) होता है। दूसरे कहते हैं (ऐसी स्थितिमें) उसका शाश्वतपना (नित्यत्व) कैसे होगा ? (इसपर कहते हैं—) ॥ २–७ ॥

"अद्वैत, अखण्ड, परिपूर्ण, निरतिशय परमानन्दरूप, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, मुक्त, सत्यस्वरूप ब्रह्मकी चैतन्यरूप साकारता होनेसे उपाधिहीन साकारका नित्यत्व सिद्ध ही है। इसीलिये निरुपाधिक साकारके निरवयव होनेके कारण उससे कोई अधिक (महान्) होगा, ऐसी शङ्का दूरसे हीं निवृत्त हो जाती है। सभी उपनिषदोंमें, समस्त शास्त्र-सिद्धान्तोंमें 'ब्रह्म निरवयव चैतन्य है' यही सुना जाता है। और विद्या, आनन्द तथा तुरीयका सर्वत्र अभेद ही सुना जाता है।'

'(तब) विद्या आदि साकारका भेद किस प्रकार है ?' शिष्यकी इस शङ्काका समाधान करते हुए गुरु कहते हैं—'(तुमने) सत्य कहा है—विद्याकी प्रधानतासे विद्यासाकार, आनन्दकी प्रधानतासे आनन्दसाकार तथा (विद्या, आनन्द) दोनोंकी प्रधानतासे उभयात्मक साकार कहे जाते हैं। यहाँ प्रधानताको लेकर ही भेद है, वह भेद वस्तुतः अभेद ही है' ॥ ८–१० ॥

'भगवन् ! अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप ब्रह्मके लिये साकार और निराकार—ये दो विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। दो विरोधी धर्म उनमें किस प्रकार रह सकते हैं ?' इस शङ्काका निवारण करते हुए गुरु कहते हैं—'यह ठीक है। जैसे सर्वव्यापी निराकार महावायुका और उसीके स्वरूपभूत त्वक्-इन्द्रियके अधिष्ठाता-रूपमें प्रसिद्ध साकार महावायु-देवताका अभेद ही सब कहीं सुना जाता है, जैसे पृथिवी आदि व्यापक शरीरवाले देवविशेषोंके

उनके उस व्यापक रूपसे विलक्षण किंतु उस (व्यापक रूप) से अभिन्न, तथा अपरिच्छिन्न होते हुए भी अपनी मूर्तिके आकारके, देवता सर्वत्र सुने जाते हैं—अर्थात् जैसे पृथिवी आदिके अधिष्ठाता देवता अपने पृथिवीरूपी भौतिक शरीर एवं देव-शरीर दोनोंसे युक्त हैं, वैसे ही सर्वात्मक परब्रह्ममें साकार एवं निराकारका भेद होनेपर भी विरोध नहीं है। विविध प्रकारकी अनन्त विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न परब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर विरोध नहीं रह जाता। अर्थात् जब जान लिया जाता है कि परब्रह्ममें विविध प्रकारकी अनन्त विचित्र शक्तियाँ हैं, तब विरोधी धर्मोंका विरोध असङ्गत नहीं लगता। इस (ज्ञान) के अभावमें ही अनन्त विरोध प्रतीत होते हैं ॥ ११-१२ ॥

'और जब श्रीराम-श्रीकृष्णादि अवतारस्वरूपोंमें अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्मके परमतत्त्व एवं परमैश्वर्यकी स्मृति सर्वत्र स्वाभाविक रूपसे ही विद्यमान सुनी जाती है, तब अद्वैत परमानन्दस्वरूप, सब प्रकारसे परिपूर्ण परब्रह्मके विषयमें क्या कहा जाय। अन्यथा यदि सर्वपरिपूर्ण परब्रह्मका साकार-रहित केवल निराकार स्वरूप ही वास्तवमें अभिप्रेत हो, तब तो केवल निराकार आकाशके समान परब्रह्ममें भी जडता आ जायगी। इसलिये परमार्थतः परब्रह्मके साकार एवं निराकार दोनों रूप स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ १३ ॥

'इस प्रकारके अद्वैत परमानन्दस्वरूप आदिनारायणके पलक उठाने और गिरानेसे मूल-अविद्याकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय हुआ करते हैं। आत्माराम, अखिल-परिपूर्ण आदि-नारायणकी अपनी इच्छासे जब कभी उनका उन्मेष होता है (पलक उठते हैं), तब उस (उन्मेष) से परब्रह्मके निचले पादमें, जो सब (अभिव्यक्तियों) का कारण है, मूलकारणरूप अव्यक्त (प्रकृति) का आविर्भाव होता है। अव्यक्तसे मूल (संस्कार) का एवं मूल-अविद्याका आविर्भाव होता है। उसी (अव्यक्त) से 'सत्'-शब्दसे वाच्य अविद्यामिश्रित ब्रह्म (जीव) व्यक्त होता है। उस (अव्यक्त-प्रकृति) से महत्तत्त्व, महत्से अहङ्कार, अहङ्कारसे (शब्दादि) पाँचों तन्मात्राएँ, पाँचों तन्मात्राओंसे (आकाशादि) पञ्चमहाभूत और पाँचों महाभूतोंसे ब्रह्मके एक पादसे व्याप्त एक अविद्यात्मक अण्ड उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

'उस (अविद्याण्ड) में तत्त्वतः गुणातीत, शुद्ध सत्त्वमय तथा लीला (क्रीड़ा) के लिये निरतिशय आनन्दरूप धारण किये मायोपाधियुक्त नारायण होते हैं। तात्पर्य यह कि अविद्याण्ड गुणातीत शुद्ध सत्त्वमय नारायणका ही लीलाके लिये धारण किया हुआ निरतिशय आनन्दरूप मायोपाधिक स्वरूप ही है। ये वही नित्य परिपूर्ण पादविभूतिस्वरूप वैकुण्ठवासी नारायण हैं। वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि समस्त कार्य एवं कारणसमूहोंके (प्रकृतिरूप) परम कारणके भी कारणरूप महामायातीत तुरीयस्वरूप परमेश्वर विराजित हैं। उनसे स्थूल विराट्स्वरूप उत्पन्न होता है। वही विराट्-स्वरूप समस्त कारणोंका मूल है। वह (विराट्) अनन्त मस्तकों तथा अनन्त नेत्रों, हाथों और पैरोंसे युक्त पुरुष है। वह अनन्त कानोंवाला सबको घेरकर (व्याप्त करके) स्थित है। वह सर्वव्यापक है। वह सगुण एवं निर्गुणस्वरूप है। वह ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति तथा तेजःस्वरूप है। नाना प्रकारके अनन्त विचित्र जगत्के आकारमें वही स्थित है। वही निरतिशय आनन्दमय अनन्त परमविभूतिके समुदायसे सम्पन्न विश्वरूप परमात्मा है। वह निरतिशय निरङ्कुशता (परम-स्वतन्त्रता) सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता सर्व-नियन्तृत्व आदि अनन्त कल्याणकारी गुणोंका आकर है। वह अवर्णनीय अनन्त दिव्य तेजोराशिके रूपमें स्थित है। वह अविद्याके पूरे अण्डमें व्यापक है। वह महामायाके अनन्त विलासोंका अधिष्ठानविशेष एवं निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्मका विलास-विग्रह है ॥ १५ ॥

'इस (विराट्-पुरुष) के एक-एक रोमकूप-छिद्रमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड और (उनके) स्थावर भी उत्पन्न होते हैं। उन सब अण्डोंमेंसे प्रत्येकमें नारायणका एक-एक अवतार होता है। उन्हीं नारायणसे हिरण्यगर्भ(ब्रह्मा)उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही उस अण्डका विराट्स्वरूप उत्पन्न होता है, नारायणसे ही सब लोकोंके स्रष्टा प्रजापति उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही एकादश रुद्र भी उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही अखिल लोक उत्पन्न होते हैं। नारायणसे इन्द्र उत्पन्न होते हैं। नारायणसे समस्त देवता उत्पन्न होते हैं। नारायणसे बारह आदित्य उत्पन्न होते हैं। सब (आठों) वसुनामक देवता, सभी ऋषि, सम्पूर्ण प्राणी तथा समस्त छन्द नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही प्रवृत्त होते (क्रियाशील बनते) हैं। नारायणमें ही सब लीन हो जाते हैं। अतः (ये ही) नित्य, अविनाशी, सर्वश्रेष्ठ एवं स्वयंप्रकाश हैं। नारायण ही ब्रह्मा हैं। नारायण ही शिव हैं। नारायण ही इन्द्र हैं। नारायण ही दिशाएँ हैं। नारायण ही विदिशारूप (कोण) हैं। नारायण ही काल हैं। नारायण ही समस्त कर्म हैं। नारायण ही मूर्त एवं अमूर्तरूप हैं। नारायण ही समस्त कारणरूप तथा सम्पूर्ण कार्यस्वरूप हैं। इन दोनों (कारण तथा

कार्य) से विलक्षण भी नारायण ही हैं। परमज्योति, स्वयं-प्रकाशमय, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरञ्जन, अवर्णनीय, शुद्ध एकमात्र देवता नारायण ही हैं; दूसरा कोई नहीं है। न वे (किसीके) समान हैं और न (किसीसे) अधिक हैं (उनके सिवा कोई दूसरा है ही नहीं)।

'संशयरहित होकर परमार्थतः जो इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण बन्धनोंको छेदन करके, मृत्युको पार करके मुक्त हो जाता है, मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानकर सर्वदा उन (श्रीनारायण) की उपासना करता है, वह पुरुष नारायण-स्वरूप हो जाता है, वह नारायणस्वरूप हो जाता है' ॥ १६ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

मूलाविद्या और प्रलयके स्वरूपका निरूपण

शिष्यने 'ठीक है' कहकर फिर पूछा—'भगवन्! परम-तत्त्वज्ञ गुरुदेव! आपने विलासके सहित महामूल-अविद्याके उदयक्रमका वर्णन किया। उस (मूलाविद्या) मे प्रपञ्चकी उत्पत्तिका क्रम किस प्रकार है, इसे विशेषतः वर्णन करें। मैं उसका तत्त्व जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

'ऐसा ही हो' यह कहकर गुरु बोले—'यह अनादि प्रपञ्च जैसा दिखायी पड़ता है, वह नित्य है या अनित्य—इस प्रकारका संशय उत्पन्न होता है। प्रपञ्च भी दो प्रकारका है—विद्या-प्रपञ्च और अविद्या-प्रपञ्च। विद्या-प्रपञ्चकी नित्यता तो इसीसे सिद्ध है कि वह नित्यानन्दमय चैतन्यका विलास तथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य एवं आनन्दस्वरूप है। अविद्याप्रपञ्च नित्य है या अनित्य?—कुछ लोग प्रवाहरूपसे उसकी नित्यता बतलाते हैं। शास्त्रोंमें प्रलयादिका वर्णन सुना जाता है, इस कारणसे दूसरे उसकी अनित्यता बतलाते हैं। वस्तुतः दोनों ही (बातें) नहीं हैं। फिर है किस प्रकार? समस्त अविद्या-प्रपञ्च महामायाका संकोच एवं विकासरूप विलास ही है। क्षण-क्षणमें शून्य (तिरोहित) होनेवाला अनादि मूल-अविद्याका विलास होनेके कारण परमार्थतः कुछ भी नहीं है। अर्थात् समस्त अविद्याप्रपञ्च प्रतिक्षण विलीन होनेवाला है, अतः उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह किस प्रकार? एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है। यहाँ नाना (अनेक) नामकी वस्तु कुछ भी नहीं है (—ऐसी श्रुति है)। अतएव ब्रह्मसे भिन्न सब बाधित (प्रतीतिमात्र, सत्ताहीन) ही है। सत्य ही परम ब्रह्म है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अन्तहीन है' ॥ २ ॥

'तब विलास (अभिव्यक्ति)-सहित मूल-अविद्याके उपसंहारका क्रम किस प्रकार है?' (यों शिष्यके पूछनेपर) अत्यन्त आदरपूर्वक बड़ी प्रसन्नतासे गुरु उपदेश करते हैं—'सहस्र चतुर्युगोंका ब्रह्माजीका एक दिवस होता है। इतने ही समयकी फिर उनकी रात्रि होती है। रात और दिवस दोनोंका सम्मिलित रूप एक दिन होता है। उस एक दिनमें सत्यलोकतकके समस्त लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय हो जाते हैं। (ऐसे) पंद्रह दिनोंका (ब्रह्माजीका) पक्ष (पखवाड़ा) होता है। दो पक्षोंका महीना होता है। दो महीनोंका ऋतु होता है। तीन ऋतुओंका अयन होता है। दो अयनोंका वर्ष होता है। ब्रह्माके वर्षोंके प्रमाणसे सौ वर्षकी ब्रह्माजीकी परमायु (पूर्ण आयु) होती है। इतने समयतक उन (ब्रह्माजी) की स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें अण्डगत विराट्पुरुष अपने अंशी हिरण्यगर्भको प्राप्त होते (उनमें लीन हो जाते) हैं। हिरण्यगर्भके कारण परमात्मा अण्डपरिपालक नारायणको वे हिरण्यगर्भ प्राप्त होते हैं। फिर सौ वर्षोंतक उनकी प्रलय होती है। उस समय सब जीव प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। प्रलयके समय सब शून्य (अभावरूप) हो जाता है ॥ ३-४ ॥

'उन ब्रह्माजीकी स्थिति एवं प्रलय आदि-नारायणके अंशसे अवतीर्ण इन अण्ड-परिपालक महाविष्णुके दिवस एवं रात्रि कहे जाते हैं। इन दिवस एवं रात्रिका (अर्थात् ब्रह्माके सौ वर्षोंके जीवन एवं सौ वर्षोंकी प्रलयका) महाविष्णुका एक दिन होता है। इसी प्रमाणसे दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेदसे उनके सौ करोड़ (एक अरब) वर्षोंतक उनकी स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें (वे) अपने कारण महा-विराट् पुरुषको प्राप्त होते (उनमें लीन हो जाते) हैं। तब आवरणके साथ ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जाता है। ब्रह्माण्डका आवरण विनष्ट होता है, वही (आवरण) विष्णुका स्वरूप है। उनकी (श्रीमहाविष्णुकी) उतनी ही (उनके एक अरब वर्षकी) प्रलय होती है। प्रलयके समय सब शून्य हो जाता है ॥ ५ ॥

'अण्डपरिपालक महाविष्णुकी स्थिति एवं प्रलय (उनके दो अरब वर्ष) आदिविराट् पुरुषके दिवस-रात्रि कहे जाते हैं। उन

दिवस-रात्रिका एक दिन होता है। इसी प्रकार दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेदसे उनके कालमानके सौ करोड़ (एक अरब) वर्षपर्यन्त उनकी स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें आदिविराट् पुरुष अपने अंशी मायोपाधिक नारायणको प्राप्त होता है, अर्थात् उनमें लीन हो जाता है। उस विराट् पुरुषका जितना स्थितिकाल है, उतना ही प्रलयकाल भी होता है। प्रलयके समय सब शून्य हो जाता है ॥ ६ ॥

'विराट्की स्थिति एवं प्रलय मूल-अविद्याण्ड-परिपालक आदि-नारायणके दिवस-रात्रि कहे जाते हैं। उन दिवस-रात्रि-का एक दिन होता है। इसी प्रकार दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेदसे उनके कालमानके सौ करोड़ वर्षोंके समयतक उनकी स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें त्रिपाद्विभूति-नारायणकी इच्छासे उनका निमेष होता है (उनकी पलकें गिरती हैं)। इस निमेषसे मूल-अविद्याण्डका उसके आवरणके साथ प्रलय हो जाता है। तब मूल-अविद्या, जो सत्-असत्से विलक्षण, अनिर्वचनीय, लक्षणरहित, आविर्भाव-तिरोभावरूप, अनादि अखिल कारणोंकी कारणरूप एवं अनन्त महामायाविशेषणोंसे युक्त है, अपने विलासके साथ तथा सम्पूर्ण कार्यरूप उपाधिके सहित परमसूक्ष्म मूल कारण—अव्यक्तमें प्रवेश कर जाती है। अव्यक्त फिर ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है; उस समय ईंधनके जल जानेपर जैसे अग्नि अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, वैसे ही मायोपाधिक आदिनारायण मायारूप उपाधिके नष्ट हो जानेपर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। समस्त जीव अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे जपा (जवा) पुष्पके सान्निध्य (समीपता) से स्फटिकमें ललाईकी प्रतीति होती है और उस (पुष्प) के अभावमें शुद्ध स्फटिक प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी मायारूप उपाधिसे ही सगुणत्व, परिच्छिन्नत्व आदिकी प्रतीति होती है। उपाधिका नाश हो जानेपर निर्गुणत्व, निरवयवत्व आदिकी प्रतीति होती है' ॥ ७ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय

महामायातीत अखण्ड अद्वैत परमानन्दमय परतत्त्व-स्वरूपका निरूपण

ॐ। उपाधिका नाश हो जानेके कारण ब्रह्मका निर्विशेष रूप अत्यन्त निर्मल होता है। वह अविद्यासे परे, अतः अत्यन्त शुद्ध है। शुद्ध बोधानन्दमय कैवल्यस्वरूप है। ब्रह्मके चारों पाद निर्विशेष हैं। वह अखण्डस्वरूप, सर्वतः परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश सच्चिदानन्द है। अद्वितीय तथा ईश्वररहित है—अर्थात् उसका कोई स्वामी, नियन्ता नहीं है। वह ब्रह्म समस्त कार्य-कारण-स्वरूप, अखण्ड चिद्घनानन्दरूप, अतिदिव्य मङ्गलाकार, निरतिशय आनन्दरूप तेजोराशिविशेष, सर्वपरिपूर्ण, अनन्त चिद्विलासमय विभूतिका समष्टिरूप, अद्भुत आनन्दमय आश्चर्य-पूर्ण विभूतिविशेषस्वरूप, अनन्त चिन्मय स्तम्भाकार, शुद्ध ज्ञान-आनन्दविशेषस्वरूप, अनन्त परिपूर्णानन्दमय दिव्य विद्यु-न्मालास्वरूप है। इस प्रकार ब्रह्मका अद्वितीय अखण्डानन्दमय स्वरूप वर्णित हुआ ॥ १ ॥

फिर शिष्य कहता है—'भगवन्! ब्रह्मके पादभेदादि कैसे सम्भव हैं और यदि हैं तो वह अद्वैतस्वरूप है—यह किस प्रकार कहा गया?' ॥ २ ॥

गुरु शङ्काका समाधान करते हैं—'इसमें विरोध नहीं है। ब्रह्म अद्वैत है, यही सत्य है। और यही कहा गया है। ब्रह्ममें भेद नहीं बताया गया है; (क्योंकि) ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पादभेदादिका वर्णन तो ब्रह्मके स्वरूपका ही वर्णन है। वही कहा जा रहा है। ब्रह्म चार पादवाला (चतुःपादात्मक) है। इन (चारों पादों) में एक अविद्यापाद है और तीन पाद अमृत (नित्य) हैं। (दूसरी शाखाओंके) उपनिषदोंमें वर्णित स्वरूपका ही यहाँ वर्णन किया गया है। (शाखान्तरीय उपनिषदोंमें इस प्रकारके वचन मिलते हैं—) 'त्रिपादस्वरूप ब्रह्म अविद्यारूप अन्धकारसे परे, ज्योतिर्मय, परमानन्दस्वरूप एवं सनातन परम कैवल्यरूप है। मैं इस आदित्यके समान प्रकाशमय, तमस्के परे स्थित महान् पुरुषको जानता हूँ। उसको इस प्रकार (तमससे परे तेजोमयरूपमें) जाननेवाला यहाँ (संसारमें) अमृतस्वरूप (मुक्त) हो जाता है। मोक्षप्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। सम्पूर्ण ज्योतियोंकी ज्योति तमससे परे कही गयी है। सबकी आधार-भूत, अचिन्त्यस्वरूप, आदित्यवर्ण (प्रकाशस्वरूप) परम ज्योति तमससे ऊपर (परे) प्रकाशित है। जो एक, अव्यक्त, अनन्तस्वरूप, विश्वरूप पुरातन तत्त्व तमससे परे अवस्थित है, वही ऋत (समस्त काम्य कर्मोंका फल—स्वर्गादि) है। उसीको सत्य (निष्कामभावका प्राप्य) कहा गया है। वही सत्य (नित्यसत्ता) है। वही परम विशुद्ध ब्रह्म है। (इन मन्त्रोंमें)

तमस्-शब्दके द्वारा अविद्या कही जाती है ॥ ३–८ ॥

'समस्त भूत इन (ब्रह्म) का एक पाद (भाग) हैं। इनके शेष तीन पाद अमृतस्वरूप (नित्य) हैं, जो परम व्योममें प्रतिष्ठित हैं। तीन पादोंवाला पुरुष सबसे ऊपर प्रकाशित है और इसका अवशिष्ट एक पाद सम्पूर्ण जीवोंके रूपमें इस जगत्में प्रकट हुआ। इसके बाद वह जड-चेतनात्मक विश्वमें चारों ओर व्याप्त हो गया। विद्या, आनन्द एवं तुरीय नामक तीन पाद शाश्वत हैं। शेष चौथा पाद अविद्याके आश्रित है' ॥ ९-१० ॥

[शिष्य पूछता है—] 'आत्माराम श्रीआदिनारायणके उन्मेष-निमेष (नेत्रोन्मीलन-निमीलन) कैसे होते हैं ? उनका स्वरूप क्या है ?' ॥ ११ ॥

गुरु बतलाते हैं—'बाह्य-दृष्टि उन्मेष (पलक खोलना) है और आन्तरिक-दृष्टि निमेष (पलक बंद करना) है। अन्तर्दृष्टिसे अपने स्वरूपका चिन्तन करना ही निमेष (पलक बंद करना) है। बाह्य-दृष्टिसे अपने स्वरूपका चिन्तन करना ही उन्मेष (पलक खोलना) है। जितने परिमाणका उन्मेषकाल होता है, उतने ही परिमाणका निमेषकाल भी होता है। उन्मेष-कालमें अविद्याकी स्थिति होती है। निमेषकालमें उस (अविद्या) का लय होता है। जैसे उन्मेष होता है, वैसे ही चिरंतन अत्यन्त सूक्ष्म वासनाके प्रभावसे फिर अविद्याका उदय हो जाता है। पहलेकी भाँति ही अविद्याके कार्य उत्पन्न हो जाते हैं। फिर कार्य तथा कारणरूप उपाधिके भेदसे जीव एवं ईश्वरका भेद भी दिखायी देने लगता है। यह जीव कार्यरूप उपाधिसे युक्त है और ईश्वर कारणरूप उपाधिसे युक्त हैं। ईश्वरकी महामाया उन्हींकी आज्ञाके अधीन रहती हैं। वे (महामाया) उन (ईश्वर) के संकल्पके अनुसार कार्य करनेवाली, विविध प्रकारकी अनन्त महामायाशक्तियोंसे भली प्रकार सेवित, अनन्त महामायाजालकी उत्पत्तिका स्थान, महाविष्णुकी लीला-शरीर-रूपिणी तथा ब्रह्मादिके लिये भी अगोचर हैं। जो भगवान् विष्णुका ही भजन करते हैं, वे इन महामायाको अवश्य पार कर जाते हैं। दूसरे लोग (जो भगवान् विष्णुका भजन नहीं करते) अनेक उपायोंका अवलम्बन करके भी कभी नहीं तरते। अविद्याके कार्यरूप अन्तःकरणोंका आश्रय लेकर वे अनन्तकालतक जन्मते रहते हैं; क्योंकि उन (अन्तःकरणों) में ब्रह्मचैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाते हैं। सभी जीव अन्तःकरणकी उपाधिसे युक्त हैं, यों (कुछ लोग) कहते हैं। समस्त जीव महाभूतोंसे उत्पन्न सूक्ष्मशरीररूप उपाधिसे युक्त हैं, इस प्रकार दूसरे लोग कहते हैं। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है, ऐसा दूसरोंका मत है। इन सब (जीवों) में उपाधिको लेकर ही भेद है, अत्यन्त भेद नहीं है। सर्वतः परिपूर्ण श्रीनारायण तो अपनी इस इच्छाशक्तिसे सदा लीला किया करते हैं। इसी प्रकार सब जीव अज्ञानवश उन तुच्छ विषयोंमें, जिनमें सुख नहीं है, सुखप्राप्तिकी आशासे असार संसारचक्रमें दौड़ते रहते हैं। इस प्रकार अनादि संसार-वासनारूप विपरीत-भ्रमके कारण ही जीवोंकी संसार-चक्रमें घूमनेकी अनादि-परम्परा चलती रहती है' ॥ १२–१४ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

॥ पूर्वकाण्ड समाप्त ॥

उत्तरकाण्ड

पञ्चम अध्याय

संसारसे तरनेका उपाय और मोक्षमार्गका निरूपण

श्रीगुरुभगवान्‌को नमस्कार करके फिर शिष्य पूछता है—'भगवन् ! सम्पूर्णतः नष्ट हुई अविद्याका फिर उदय कैसे होता है ?' ॥ १ ॥

'यह सत्य है' यों कहकर गुरु बोले—'वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें जैसे मेढ़क आदिका फिरसे प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार पूर्णतः नष्ट हुई अविद्याका उन्मेषकालमें (भगवान्‌के पलक खोलनेपर) फिर उदय हो जाता है ॥ २ ॥

(शिष्यने फिर पूछा—) 'भगवन् ! जीवोंका अनादि संसाररूप भ्रम किस प्रकार है ? और उसकी निवृत्ति कैसे होती है ? मोक्षके मार्गका स्वरूप कैसा है ? मोक्षका साधन कैसा है ? अथवा मोक्षका उपाय क्या है ? मोक्षका स्वरूप कैसा है ? सायुज्य-मुक्ति क्या है ? यह सब तत्त्वतः वर्णन करें' ॥ ३ ॥

अत्यन्त आदरपूर्वक, बड़े हर्षसे शिष्यकी बहुत प्रशंसा करके गुरु कहते हैं—'सावधान होकर सुनो ! निन्दनीय, अनन्त जन्मोंमें बार-बार किये हुए अत्यन्त पुष्ट अनेक प्रकारके विचित्र अनन्त दुष्कर्मोंके वासनासमूहोंके कारण (जीव) को शरीर एवं आत्माके पृथक्त्वका ज्ञान नहीं होता । इसीसे 'देह ही आत्मा है' ऐसा अत्यन्त दृढ़ भ्रम हुआ रहता है । 'मैं अज्ञानी हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं जीव हूँ, मैं अनन्त दुःखोंका निवास हूँ, मैं अनादि कालसे जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ा हुआ हूँ' इस प्रकारके भ्रमकी वासनाके कारण संसारमें ही प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है । इस (प्रवृत्ति) की निवृत्तिका उपाय कदापि नहीं होता । मिथ्यास्वरूप, स्वप्नके समान विषयभोगोंका अनुभव करके, अनेक प्रकारके असंख्य अत्यन्त दुर्लभ मनोरथोंकी निरन्तर आशा करता हुआ अतृप्त (जीव) सदा दौड़ा करता है । अनेक प्रकारके विचित्र स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम-अधम अनन्त शरीरोंको धारण करके उन-उन शरीरोंमें विहित (प्राप्त होने योग्य) विविध विचित्र, अनेक शुभ-अशुभ प्रारब्धकर्मोंका भोग करके, उन-उन कर्मोंके फलकी वासनासे वासित (लिप्त) अन्तःकरणवालोंकी बार-बार उन-उन कर्मोंके फलरूप विषयोंमें ही प्रवृत्ति होती है । संसारकी निवृत्तिके मार्गमें प्रवृत्ति (रुचि) भी नहीं उत्पन्न होती । इसलिये (उनको) अनिष्ट ही इष्ट (मङ्गलकारी) की भाँति जान पड़ता है । संसार-वासनारूप विपरीत भ्रमसे इष्ट (मङ्गलस्वरूप मोक्षमार्ग) अनिष्ट (अमङ्गलकारी) की भाँति जान पड़ता है । इसलिये सभी जीवोंकी इष्टविषयमें सुखबुद्धि है तथा (उसके न मिलनेमें) दुःखबुद्धि है । वास्तवमें अबाधित ब्रह्मसुखके लिये तो प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि उसके स्वरूपका ज्ञान जीवोंको है नहीं । वह (ब्रह्मसुख) क्या है, यह जीव नहीं जानते; क्योंकि बन्धन कैसे होता है और मोक्ष कैसे होता है, इस विचारका ही (उनमें) अभाव है । यह (जीवोंकी अवस्था) कैसे है ? अज्ञानकी प्रबलतासे । अज्ञानकी प्रबलता किस कारणसे है ?—भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी वासना न होनेसे । इस प्रकारकी वासनाका अभाव क्यों है ?—अन्तःकरणकी अत्यन्त मलिनताके कारण ॥ ४ ॥

'अतः (ऐसी दशामें) संसारसे पार होनेका उपाय क्या है ?' गुरु यही बतलाते हैं—'अनेक जन्मोंके किये हुए अत्यन्त श्रेष्ठ पुण्योंके फलोदयसे सम्पूर्ण वेद-शास्त्रके सिद्धान्तोंका रहस्यरूप सत्पुरुषोंका संग प्राप्त होता है । उस (सत्संग) से विधि तथा निषेधका ज्ञान होता है । तब सदाचारमें प्रवृत्ति होती है । सदाचारसे सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है । पापनाशसे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है ५-६

'तब (निर्मल होनेपर) अन्तःकरण सद्गुरुका कटाक्ष (दयादृष्टि) चाहता है । सद्गुरुके (कृपा-) कटाक्षके लेशसे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । सब बन्धन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं । श्रेयके सभी विघ्न विनष्ट हो जाते हैं । सभी श्रेय (कल्याणकारी गुण) स्वतः आ जाते हैं । जैसे जन्मान्धको रूपका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गुरुके उपदेश बिना करोड़ों कल्पोंमें भी तत्त्वज्ञान नहीं होता । इसलिये सद्गुरुके (कृपा-) कटाक्षके लेशसे अविलम्ब ही तत्त्वज्ञान हो जाता है ॥ ७ ॥

'जब सद्गुरुका कृपा-कटाक्ष होता है, तब भगवान्‌की कथा सुनने एवं ध्यानादि करनेमें श्रद्धा उत्पन्न होती है । उस (ध्यानादि) से हृदयमें स्थित दुर्वासनाकी अनादि ग्रन्थिका विनाश हो जाता है । तब हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं । इससे हृदय-कमलकी कर्णिकामें परमात्मा आविर्भूत होते हैं ।

'इससे भगवान् विष्णुमें अत्यन्त दृढ़ भक्ति उत्पन्न होती है । तब (विषयोंके प्रति) वैराग्य उदय होता है । वैराग्यसे बुद्धिमें विज्ञान (तत्त्वज्ञान) का प्राकट्य होता है । अभ्यासके द्वारा वह ज्ञान क्रमशः परिपक्व होता है ॥ ८-९ ॥

'परिपक्व विज्ञानसे (पुरुष) जीवन्मुक्त हो जाता है । सभी शुभ एवं अशुभ कर्म वासनाओंके साथ नष्ट हो जाते हैं । तब अत्यन्त दृढ़ शुद्ध सात्त्विक वासनाद्वारा अतिशय भक्ति होती है । अतिशय भक्तिसे सर्वमय नारायण सभी

अवस्थाओंमें प्रकाशित होते हैं। समस्त संसार नारायणमय प्रतीत होता है। नारायणसे भिन्न कुछ नहीं है, इस बुद्धिसे उपासक सर्वत्र विहार करता है॥ १०॥

'(इस प्रकार) निरन्तर (भाव-) समाधिकी परम्परासे सब कहीं, सभी अवस्थाओंमें जगदीश्वरका रूप ही प्रतीत होता है। ऐसे महापुरुषको कभी-कभी ईश्वर-साक्षात्कार भी होता है॥११॥

'इस (महापुरुष) को जब शरीर छोड़नेकी इच्छा होती है, तब भगवान् विष्णुके सब पार्षद उसके पास आते हैं। तब भगवान्‌का ध्यान करता हुआ हृदय-कमलमें स्थित आत्म-तत्त्वका अपने अन्तरात्माके रूपमें चिन्तन करके भली प्रकार (मानसिक) उपचारोंसे (उसकी) अर्चा करता है। फिर हंस-मन्त्र **'सोऽहम्'** का उच्चारण करता हुआ, सभी (इन्द्रिय-) द्वारोंका संयम करके, मनका भली प्रकार निरोध करता है और प्रणव (के उच्चारण) से प्रणव (के अर्थ) का अनुसंधान (विचार) करता हुआ ऊपरकी ओर गमन करनेवाले वायु (प्राण) के साथ धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्रसे बाहर चला जाता है। वहाँ **'सोऽहम्'** इस मन्त्रसे बारह (दस इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि) के अन्तमें (उनके आधाररूपसे) स्थित परमात्मा (चेतनतत्त्व) को एकत्र करके (अर्थात् इन्द्रियों, मन एवं बुद्धिसे चेतना आकर्षित करके) पञ्चोपचार (जल, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से (मानसिक रूपमें उस चेतन-तत्त्वका) पूजन करता है। फिर **'सोऽहम्'** इस मन्त्रसे षोडश तत्त्वोंमें स्थित ज्ञानात्माको एकत्र करके भली प्रकार उपचारोंसे उसकी पूजा करता है। इस प्रकार पहलेके प्राकृत शरीरका त्याग करके फिर कल्पनामय, मन्त्रमय, शुद्ध ब्रह्म-तेजोमय, निरतिशय आनन्दमय महाविष्णुके स्वरूपके समान स्वरूपवाले शरीरको धारण करता है और सूर्यमण्डलमें स्थित भगवान् अनन्तके दिव्य चरणारविन्दके अङ्गुष्ठसे निकले हुए निरतिशय आनन्दमय देवनदी गङ्गाजीके प्रवाहका आकर्षण करके भावनाके द्वारा इस (देवगङ्गा-प्रवाह) में स्नान करता है। तत्पश्चात् वस्त्र-आभरणादि सामग्रियोंसे अपनी पूजा (अलङ्कृति) करके, साक्षात् नारायण-स्वरूप होकर फिर गुरुको नमस्कार करके प्रणवस्वरूप गरुड़का ध्यान करता है और ध्यानके द्वारा प्रकट महाप्रणवरूप गरुड़की पञ्चोपचारसे अर्चा करता है। इसके बाद वह गुरुकी आज्ञासे प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करके प्रणवरूप गरुड़पर सवार होता है और महाविष्णुके समस्त असाधारण चिह्नोंसे चिह्नित होकर तथा उन्हींके समस्त असाधारण दिव्य आभूषणोंसे भूषित होकर, सुदर्शन-पुरुष (पुरुष-विग्रहधारी सुदर्शनचक्र) को आगे करके, विष्वक्सेनसे रक्षित, भगवान्‌के पार्षदोंसे घिरा हुआ आकाशमार्गमें प्रवेश करता है। मार्गके दोनों पार्श्वोंमें स्थित अनेक पुण्यलोकोंको पार करके, वहाँ रहनेवाले पुण्य-पुरुषोंसे पूजित होकर, सत्यलोकमें प्रवेश करके ब्रह्माजीकी पूजा करता है और ब्रह्मा तथा सत्यलोकके सभी वासियोंद्वारा भली प्रकार पूजित होकर, भगवान् शङ्करके ईशान-कैवल्य (दिव्य कैलास) में जा पहुँचता है। वहाँ भगवान् शङ्करका ध्यान करके, शिवजी-की पूजा करके, सभी शिवगणों एवं शङ्करजीद्वारा भी पूजित होकर ग्रहमण्डल तथा सप्तर्षिमण्डलको पार करके सूर्यमण्डल एवं चन्द्रमण्डलका भेदन करता है और कीलकनारायणका ध्यान करके, ध्रुवमण्डलका दर्शन करके, भगवान् ध्रुवकी पूजा करता है। फिर शिंशुमार-चक्रका भेदन करके, शिंशुमार प्रजापतिकी भली प्रकार अर्चा करता है और चक्र (शिंशुमारचक्र) के मध्यमें स्थित सर्वाधार सनातन महाविष्णुकी आराधना करके, उनके द्वारा पूजित होकर तब ऊपर जाकर परमानन्दको प्राप्त होता है॥१२॥

'तब सब वैकुण्ठनिवासी उसके पास आते हैं। उन सबकी पूजा करके, उन सबसे पूजित होकर तथा और ऊपर जाकर विरजा नदीको प्राप्त करता है। वहाँ स्नान करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए फिर उसमें डुबकी लगाकर, वहाँ अपञ्चीकृत (मूलरूप, अमिश्रित) पञ्च महाभूतोंसे बने सूक्ष्म अङ्गवाले भोगके साधनरूप सूक्ष्मशरीरको छोड़ देता है तथा मन्त्रमय, दिव्य तेजोमय, निरतिशय आनन्दमय महाविष्णुके स्वरूपके समान शरीर धारण करके, फिर जलसे बाहर निकल आता है। वहाँ अपनी पूजा करके, प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करते हुए ब्रह्ममय वैकुण्ठमें प्रवेश करके, वहाँके निवासियोंकी भली प्रकार पूजा करके (देखता है कि) उस दिव्यधामके मध्यमें ब्रह्मा-नन्दमय अनन्त परकोटे, भवन, फाटक, विमान एवं उपवन-समूहोंसे तथा देदीप्यमान शिखरोंसे उपलक्षित निरुपम, नित्य, निर्दोष, निरतिशय, असीम ब्रह्मानन्दनामक पर्वत सुशोभित है १३

'उस (पर्वत) के ऊपर निरतिशयानन्दमय दिव्य तेजोराशि प्रज्वलित है। उस (तेजोराशि) के मध्यमें शुद्ध ज्ञानमय आनन्दस्वरूप प्रकाशित है। उसके मध्यमें चिन्मय वेदी है। वह (वेदी) आनन्दमय एवं आनन्दवनसे भूषित है। उसके मध्यमें उसके ऊपर अमित तेजोराशि प्रज्वलित है। (उस तेजोराशिमें) परममङ्गलमय आसन सुशोभित है। उस (भद्रासनपद्म) की कर्णिकापर शुद्ध शेषभगवान्‌का भोगासन सुशोभित है। उसके ऊपर भली प्रकार विराजमान आनन्द-परिपालक आदि-नारायणका ध्यान करके, उन सर्वेश्वरका विविध उपचारोंसे पूजन करता है। फिर प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके, उनकी आज्ञा लेकर और ऊपर-ऊपर जाकर पाँचों वैकुण्ठों-को पार करता है तथा अण्डविराट्के कैवल्यपदको प्राप्त करके, उनकी आराधना करके उपासक परमानन्द प्राप्त करता है' १४

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय
मोक्षमार्गके स्वरूपका निरूपण

'तब परमानन्दकी प्राप्ति होनेपर उपासक आवरणसहित ब्रह्माण्डका भेदन करके, चारों ओर देखकर ब्रह्माण्डके स्वरूपका निरीक्षण करता है तथा परमार्थतः उसके स्वरूपको ब्रह्मज्ञानके द्वारा जानकर (समझ जाता है कि) समस्त वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण, समस्त विद्या-समूह, ब्रह्मादि सब देवता और सभी परमर्षि भी ब्रह्माण्डके भीतर स्थित प्रपञ्चके एक देश (एक अङ्ग) का ही वर्णन करते हैं। (वे सब) ब्रह्माण्डके स्वरूपको नहीं जानते। ब्रह्माण्डसे बाहर स्थित प्रपञ्चके रहस्यको तो जानते ही नहीं। फिर ब्रह्माण्डके भीतर एवं बाहरके प्रपञ्च-ज्ञानसे दूर मोक्षप्रपञ्च (स्वरूप)-ज्ञान तथा अविद्या-प्रपञ्च-ज्ञानको तो जान ही कैसे सकते हैं' ॥ १ ॥

'ब्रह्माण्डका स्वरूप कैसा है?' ॥ २ ॥

'वह मुर्गेके अंडेके समान आकारका महत्तत्त्वादि-समष्टिमय ब्रह्माण्ड तेजोमय, तपे हुए स्वर्णके समान प्रभावाला, उदय होते हुए करोड़ों सूर्योंके समान कान्तिवाला, चारों प्रकारकी (उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज) सृष्टिसे उपलक्षित पाँचों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशरूप) महाभूतोंसे ढका हुआ, तथा महत्तत्त्व, अहङ्कार, तम और मूलप्रकृतिसे घिरा हुआ है ॥ ३ ॥

'अण्डकी भित्ति सवा करोड़ योजन विशाल है। प्रत्येक आवरण उसी प्रमाणका (उतना ही विशाल) है ॥ ४ ॥

'चारों ओरसे ब्रह्माण्डका प्रमाण दो खरब योजन है। महामण्डूक आदि अनन्त शक्तियोंसे वह अधिष्ठित (धारण किया हुआ) है। श्रीनारायणके खेलनेकी गेंदके समान वह है। परमाणुके समान विष्णुलोकसे चिपका है। किसीके द्वारा न देखी, न सुनी अनेक प्रकारकी अनन्त विचित्रताओंकी विशेषतासे युक्त है ॥ ५ ॥

'इस ब्रह्माण्डके चारों ओर ऐसे ही दूसरे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने आवरणोंके साथ प्रकाशित होते हुए अवस्थित हैं ॥ ६ ॥

'(वे ब्रह्माण्ड) चार मुखोंके, पाँच मुखोंके, छः मुखोंवाले, सात मुखोंके, आठ मुखोंके—इस प्रकार संख्याक्रमसे सहस्र मुखोंतकके, श्रीनारायणके अंशरूप, रजोगुणप्रधान एक-एक सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) द्वारा अधिष्ठित हैं। विष्णु, महेश्वर नामवाले, श्रीनारायणके अंशरूप, सत्त्व तथा तमोगुणप्रधान एक-एक स्थिति तथा संहारकर्तासे भी अधिष्ठित हैं। (वे सब ब्रह्माण्ड) विशाल जलप्रवाहमें मत्स्य तथा बुलबुलोंके अनन्त समूहोंकी भाँति घूमते रहते हैं ॥ ७ ॥

'क्रीडामें लगे बालककी हथेलीमें आँवलोंके समूहकी भाँति महाविष्णुकी हथेलीमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड शोभित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

'जलयन्त्र (रहँट) में लगे घड़ोंकी मालाके समूहकी भाँति महाविष्णुके एक-एक रोमकूपके छिद्रोंमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अपने आवरणोंके साथ घूमते रहते हैं ॥ ९ ॥

'(उपर्युक्त गति-प्राप्त उपासक) समस्त ब्रह्माण्डोंके भीतर एवं बाहरके प्रपञ्चके रहस्यको ब्रह्मज्ञानके द्वारा जानकर तथा नाना प्रकारकी विचित्र अनन्त परमैश्वर्यकी समष्टिरूप विशेषोंको भली प्रकार देखकर अत्यन्त आश्चर्यमय अमृतसागरमें गोता लगाता है और निरतिशय आनन्द-समुद्ररूप होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डसमूहोंको पार कर जाता है। इसी प्रकार अमित, अपरिच्छिन्न तमःसागरको पार करके, मूल अविद्यापुरको देखकर, विविध विचित्र अनन्त महामायाविशेषोंसे घिरी हुई, अनन्त महामायाशक्तियोंकी समष्टिरूपा, अनन्त दिव्य तेजोमय ज्वालामालाओंसे सुशोभित, अनन्त महामायाविलासोंकी परम अधिष्ठानस्वरूपा, निरन्तर अमित आनन्द-पर्वतपर विहार करनेवाली, मूल-प्रकृतिकी जननी अविद्यालक्ष्मीका इस प्रकार (वर्णित रूपसे) ध्यान करता है। फिर विविध उपचारोंसे उनकी आराधना करके, समस्त ब्रह्माण्ड-समष्टिकी जननी भगवान् विष्णुकी महामायाको नमस्कार करके उनसे आज्ञा लेकर और ऊपर-से-ऊपर जाकर महाविराट्-पदको पाता है' ॥ १० ॥

'महाविराट्-स्वरूप कैसा है?' 'समस्त अविद्यापाद विराट् है। सब ओर आँखोंवाला, सब ओर मुखोंवाला, सब ओर हाथोंवाला तथा सब ओर पैरोंवाला है। हाथोंके द्वारा (हाथवालोंको) तथा पंखोंके द्वारा उड़नेवालोंको युक्त करता है। यह देवता अकेला ही स्वर्ग तथा पृथिवीको उत्पन्न करता है। इसका रूप दृष्टिमें नहीं ठहरता। इसे कोई नेत्रोंसे नहीं देखता। हृदयसे, बुद्धिसे तथ मनसे इसका ध्यान किया जाता है। जो इसको जानते हैं, वे अमृतस्वरूप (मुक्त) हो जाते हैं ॥ ११–१४ ॥

'(ऐसे) मन तथा वाणीसे अगोचर विराट्स्वरूपका ध्यान करके नाना प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करता

है तथा उनकी आज्ञा लेकर और ऊपर जाकर विविध विचित्र अनन्त मूल-अविद्याके विलासोंको देखकर उपासक परम आश्चर्यान्वित होता है ॥ १५ ॥

'वहाँ अखण्ड परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप परब्रह्मके समस्त स्वरूपोंमें विरोध प्रदर्शित करनेवाली (सब प्रकारसे विरुद्ध धर्मोंवाली), अपरिच्छिन्न यवनिका (पर्दे) के आकारवाली, भगवान् विष्णुकी महायोगमाया मूर्तिमान् अनन्त महामाया-स्वरूपोंसे भली प्रकार सेवित हैं। उनका नगर अत्यन्त कौतुकोंसे पूर्ण, अत्यन्त आश्चर्यसागर, आनन्दस्वरूप, शाश्वत है। अविद्यासागरमें प्रतिबिम्बित नित्य वैकुण्ठके प्रतिबिम्बरूप दूसरे वैकुण्ठकी भाँति (वह) प्रकाशित है ॥ १६ ॥

'उस पुरमें पहुँचकर, उपासक योगलक्ष्मी अङ्गमायाका ध्यान करके अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करता है तथा उनके द्वारा पूजित होकर और उनकी आज्ञा प्राप्त करके और ऊपर जाता है। वहाँ मायाके अनन्त विलासोंको देखकर वह परम आश्चर्यमें डूब जाता है ॥ १७ ॥

'उससे ऊपर पादविभूति नामक वैकुण्ठ-नगर शोभित है। अत्यन्त आश्चर्यमय अनन्त ऐश्वर्यका समष्टिस्वरूप, आनन्द-रसके प्रवाहोंसे भूषित, चारों ओर अमृत नदीके प्रवाहसे अत्यन्त मङ्गलस्वरूप, ब्रह्मतेजोविशेषस्वरूप अनन्त ब्रह्मवनोंसे चारों ओर घिरा हुआ, अनन्त नित्य-मुक्तोंसे चारों ओर व्याप्त, अनन्त चिन्मय भवनसमूहोंसे भरा हुआ अनादि पादविभूति नामक वैकुण्ठ इस प्रकार सुशोभित है। और उसके मध्यमें चिदानन्द-पर्वत शोभित है। उस (पर्वत) के ऊपर निरतिशय आनन्द-स्वरूप दिव्य तेजोराशि प्रज्वलित है। उसके मध्यमें परमानन्द-रूप विमान प्रकाशित है। उसके भीतर मध्यस्थानमें चिन्मय आसन विराजमान है। उस (आसनरूप) पद्मकी कर्णिकापर निरतिशय दिव्य तेजोराशिके मध्य समासीन आदि-नारायणका ध्यान करके विविध उपचारोंसे उनकी आराधना करता है, तथा उनसे पूजित होकर, उनकी आज्ञा लेकर और ऊपर जाता है। आवरणसहित अविद्या-अण्डका भेदन करके, अविद्या-पादको पारकर विद्या-अविद्याकी संधि (मध्यस्थान) में जो विष्वक्सेन-वैकुण्ठ नामक नगर शोभित है (साधक वहाँ पहुँचता है) ॥ १८-१९ ॥

'अनन्त दिव्य तेजकी ज्वालामालाओंसे चारों ओर निरन्तर प्रज्वलित, अनन्त ज्ञान एवं आनन्दके मूर्तिमान् स्वरूपोंद्वारा चारों ओर घिरा हुआ, शुद्ध ज्ञानरूप विमानावलियोंसे विराजित वह नगर अनन्त आनन्दरूप पर्वतोंसे परम कौतुकमय प्रतीत होता है। उस (पुर) के मध्यमें कल्याणपर्वतके ऊपर शुद्ध आनन्द-रूप विमान शोभित है। उसके भीतर दिव्य मङ्गलमय आसन विराजमान है। उस (आसनरूप) पद्मकी कर्णिकापर ब्रह्म-तेजोराशिके मध्यमें समासीन भगवान्के अनन्त ऐश्वर्यस्वरूप, विधि-निषेधके परिपालक, समस्त प्रवृत्तियों एवं सम्पूर्ण कारणोंके कारणस्वरूप, निरतिशय आनन्दलक्षण, महाविष्णुस्वरूप, समस्त मोक्षोंके परिपालक, अमितपराक्रमी—इस प्रकारके श्रीविष्वक्सेनजीका ध्यान करके, प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करता है। फिर विविध उपचारोंसे (उनकी) पूजा करके, उनकी आज्ञा लेकर, और ऊपर जाकर उपासक विद्याविभूतिको प्राप्त करता है तथा विद्यामय, चारों ओर स्थित ब्रह्मतेजोमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर परमानन्द प्राप्त करता है ॥ २० ॥

'(वहाँसे आगे) विद्यामय अनन्त समुद्रोंको पार करके ब्रह्मविद्या नदीको पाकर (उसके पार पहुँचकर) वहाँ स्नान करके, भगवान्का ध्यान करते हुए उपासक पुनः गोता लगाता है और मन्त्रमय शरीरको छोड़कर, विद्यानन्दमय अमृत दिव्य शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार नारायणकी सरूपता (उनके-जैसा विग्रह) प्राप्त करके, आत्माकी पूजा करता है, फिर नित्यमुक्त सभी वैकुण्ठवासियोंद्वारा भलीभाँति पूजित होकर, आनन्द-रससे भरपूर ब्रह्मविद्या-प्रवाहोंसे, अनन्त क्रीडानन्द नामक पर्वतोंसे चारों ओर व्याप्त, ब्रह्म-विद्यामय सहस्रों प्राचीरोंसे तथा आनन्दामृतसे पूर्ण स्वाभाविक दिव्य गन्धसे युक्त चिन्मय अनन्त ब्रह्मवनोंसे अत्यन्त शोभित—इस प्रकारके ब्रह्मविद्या-वैकुण्ठमें उपासक प्रवेश करता है। उसके भीतर अवस्थित अत्यन्त उन्नत बोधानन्द-मय भवनके अग्र (सम्मुख)-भागमें स्थित प्रणवरूप विमानके ऊपर विराजमान अपार ब्रह्मविद्या-साम्राज्यकी अधिष्ठातृदेवी, अपने अमोघ मन्दकटाक्षसे अनादि मूल-अविद्याको नष्ट कर देनेवाली, एकमात्र अद्वितीया, अनन्त मोक्षसाम्राज्य-लक्ष्मीका इस प्रकार ध्यान करके, प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करता है। फिर पुष्पाञ्जलि समर्पित करके, विशिष्ट स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करके, उनके द्वारा भलीभाँति पूजित होकर, उनकी आज्ञा लेकर उन्हींके साथ और ऊपर जाता है। वहाँ ब्रह्मविद्याके तटपर पहुँचकर, ज्ञान एवं आनन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर, निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है तथा ज्ञानानन्दमय अनन्त समुद्रोंको पार करके, ब्रह्मवनोंमें तथा परम मङ्गलमय पर्वत-शिखरपर बराबर चलते हुए, ज्ञानानन्दरूप विमानोंकी

क्रमबद्ध पङ्क्तियोंमें (पहुँचकर) उपासक परमानन्द लाभ करता है ॥ २१ ॥

'उसके बाद तुलसी नामका वैकुण्ठ-नगर प्रकाशित है। वह परम कल्याणरूप, अनन्त ऐश्वर्ययुक्त, अमित तेजोराशि-स्वरूप, अनन्त ब्रह्मतेजोराशिका समष्टिस्वरूप, चिदानन्दमय अनेक प्राकार-विशेषों (चहारदीवारियों) से घिरा हुआ, अमितबोधमय आनन्दपर्वतके ऊपर स्थित, बोधानन्द-नदीके प्रवाहसे अत्यन्त मङ्गलमय, निरतिशयानन्दस्वरूप अनन्त तुलसी-वनोंसे अत्यन्त शोभित, सम्पूर्ण पवित्रोंमें परम पवित्र, चित्स्वरूप, अनन्त नित्यमुक्त पुरुषोंसे अत्यधिक संकुल तथा आनन्दमय अनन्त विमान-समूहोंसे सुशोभित, अमित तेजोराशिके अन्तर्गत दिव्य तेजःस्वरूप है ॥ २२ ॥

'उपासक ऐसे आकारवाले तुलसी-वैकुण्ठमें प्रवेश करके, उसके भीतर दिव्य विमानके ऊपर विराजमान, सर्वपरिपूर्ण महाविष्णुके सर्वाङ्गोंमें विहार करनेवाली, निरतिशय सौन्दर्य-लावण्यकी अधिष्ठात्री देवी, बोधानन्दमय अनन्त नित्य परिजनोंसे परिसेविता, महालक्ष्मीकी सखी श्रीतुलसी-लक्ष्मीका इस प्रकार ध्यानकर, उनकी प्रदक्षिणा तथा (उन्हें) नमस्कार करता है तथा अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी पूजा करके, स्तोत्रविशेषसे स्तुति करता है। फिर उनके द्वारा भली प्रकार पूजित होकर तथा वहाँके निवासियोंद्वारा भलीभाँति पूजित होकर, उनकी आज्ञा पाकर और ऊपर-ऊपर जाकर परमानन्द नदीके किनारे पहुँचता है। वहाँ चारों ओर स्थित शुद्ध ज्ञानानन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर, निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है तथा वहाँके निवासी चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) पुराणपुरुषोंद्वारा भली प्रकार पूजित होता है। आगे दिव्य गन्ध एवं आनन्दमय पुष्पवृष्टिसमन्वित दिव्य मङ्गल-भवन ब्रह्मवनोंमें, अमित तेजोराशिस्वरूप एवं तरङ्ग-मालाओंसे परिपूर्ण निरतिशय आनन्दरूप अमृतके सागरोंमें, फिर अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप विमान-समुदायोंसे भरे आनन्द-गिरिके शिखरसमूहोंमें बराबर चलते हुए उपासक वहाँसे भी ऊपर-ऊपर विमानपङ्क्तियों तथा अनन्त तेजोमय पर्वतपंक्तियोंमें चलकर, इस क्रमसे विद्यापाद तथा आनन्दपादकी संधि (मध्यस्थान) में पहुँचता है। वहाँ आनन्दनदीके प्रवाहमें स्नान करके, बोधानन्द-वनमें पहुँचकर (देखता है कि) वहाँ अमृतमय पुष्पोंकी निरन्तर वर्षासे युक्त शुद्धबोधमय परमानन्द-स्वरूप वन है। परमानन्दरूप प्रवाहोंसे (वह वन चारों ओर) व्याप्त है। मूर्तिमान् परम मङ्गलोंसे परमाश्चर्य-स्वरूप हो रहा है। वह अपार आनन्द-सिन्धुरूप है। क्रीडानन्द नामक पर्वतोंद्वारा सब ओर शोभित है। उसके बीचमें शुद्ध बोधानन्दमय वैकुण्ठ है। यही ब्रह्मविद्यापादका वैकुण्ठ है, जो सहस्रों आनन्द-प्राचीरोंसे प्रज्वलित (भलीभाँति प्रकाशमान) है। वह अनन्त आनन्दरूप विमान-समूहोंसे भरा हुआ, अनन्त बोधमयविशेष भवनोंसे चारों ओर निरन्तर जगमगाता हुआ अनन्त क्रीडा-मण्डपोंसे युक्त, बोध-आनन्दमय, अनन्त श्रेष्ठ छत्र, ध्वजाएँ चँवर, वितान (चँदोवे) तथा द्वारोंसे अलङ्कृत, परमानन्द-व्यूहरूप (घनीभूत परमानन्दविग्रह) नित्य-मुक्तोंद्वारा चारों ओरसे व्याप्त, अनन्त दिव्यतेजोमय पर्वतोंका समष्टिरूप, अपरिच्छिन्न अनन्त शुद्धबोधमय आनन्दका मण्डल, वाणीसे अगोचर (अवर्ण्य), आनन्दमय ब्रह्म-तेजोराशि-मण्डल, अखण्ड तेजोमण्डलरूप, शुद्धानन्द-स्वरूपका समष्टि-मण्डलरूप, अखण्ड चिद्घनानन्द-स्वरूप है ॥ २३ ॥

'उपासक इस प्रकारके बोधानन्दमय वैकुण्ठमें प्रवेश करके, वहाँके सभी निवासियोंद्वारा भलीभाँति पूजित होता है। परमानन्द पर्वतपर अखण्ड बोधरूप विमान प्रकाशमय रूपमें स्थित है। उसके भीतर चिन्मय आसन विराजमान है। उस (आसन) के ऊपर अखण्ड आनन्दमय तेजोमण्डल सुशोभित है। उसके मध्यमें समासीन आदि-नारायणका ध्यान करके, प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करके, उपासक विविध प्रकारके उपचारोंसे उनकी भली प्रकार पूजा करता है तथा पुष्पाञ्जलि निवेदित करके, स्तोत्र-विशेषसे स्तुति करता है। अपने (नारायण) स्वरूपसे अवस्थित उपासकको देखकर, उस उपासकको आदि-नारायण अपने सिंहासनपर भली प्रकार बैठाकर, उस वैकुण्ठके सभी निवासियोंके साथ समस्त मोक्ष-साम्राज्यके पट्टाभिषेक (राज-तिलक) के उद्देश्यसे उसे मन्त्रोंद्वारा पवित्र किये हुए आनन्दस्वरूप कलशोंके (जल) द्वारा स्नान कराते हैं, तथा दिव्य मङ्गलस्वरूप महावाद्योंके (घोषके) साथ नाना प्रकारके उपचारोंसे उसकी भली प्रकार अर्चा करते हैं। फिर अपने सभी मूर्तिमान् अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करके, (उसकी) प्रदक्षिणा तथा (उसको) नमस्कार करते हैं और 'तुम ब्रह्म हो। मैं ब्रह्म हूँ। हम दोनोंमें अन्तर नहीं है। तुम्हीं 'मैं' (मेरे स्वरूप) हो। मैं ही तुम (तुम्हारा स्वरूप) हूँ।' यों उच्चारण-कर (दीक्षा देकर), यों कहकर (उसका तत्त्व प्रत्यक्ष कराके) उस समय आदिनारायण अन्तर्हित हो जाते हैं' ॥ २४-२५ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अध्याय
महानारायण-यन्त्रका वर्णन

'[भगवान् नारायणके पुनः प्रकट होनेपर] उपासक उनकी आज्ञासे नित्य-गरुड़पर चढ़कर, समस्त वैकुण्ठ-वासियोंसे घिरा हुआ, महासुदर्शनको आगे करके, विष्वक्सेन-द्वारा परिपालित (रक्षित) हो, ऊपर-ऊपर जाकर ब्रह्मानन्द-विभूतिमें पहुँच जाता है। वहाँ वह सर्वत्र स्थित ब्रह्मानन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंका दर्शन करता है; फिर निरतिशय आनन्द-समुद्ररूप होकर वह आत्माराम, आनन्दविभूतिस्वरूप अनन्त पुरुषोंको देखता और उन सबका उपचारोंसे भली-भाँति अर्चन करता है। फिर उन सबसे भी पूजित होकर उपासक, वहाँसे ऊपर-ऊपर जाते हुए, ब्रह्मानन्दविभूतिमें पहुँच जाता है। तत्पश्चात् अनन्त दिव्य तेजोमय पर्वतोंसे अलङ्कृत, परमानन्दरूप तरङ्गमालाओंसे शोभित असंख्य आनन्दसमुद्रोंको पार करके, तथा विविध विचित्र अनन्त परमतत्त्व-विभूति-समष्टिस्वरूपोंको एवं परमाश्चर्यरूप ब्रह्मानन्द-विभूति-स्वरूपोंको भी अतिक्रमण करके उपासक परमाश्चर्यमें डूब जाता है ॥ १ ॥

'इसके पश्चात् सुदर्शन-नामक वैकुण्ठ नगर प्रकाशित होता है। वह नित्य मङ्गलरूप, अनन्त वैभवपूर्ण, सहस्रों आनन्दरूप प्राचीरों (चहारदीवारियों) से घिरा, दस सहस्र कक्षोंसे युक्त, अनन्त उत्कट प्रज्वलित (प्रकाशमय) अरोंके मण्डलसे युक्त, निरतिशय दिव्य तेजोमण्डलरूप, देवताओंके लिये भी परमानन्दस्वरूप, शुद्ध-बुद्धस्वरूप, अनन्त आनन्दरूप विद्युत्‌के परम विलासके समान प्रकाशमान, निरतिशय परमानन्दसागर तथा अनन्त चिद्रूप (ज्ञानमूर्ति) आनन्दमय पुरुषोंसे अधिष्ठित है ॥ २ ॥

''उसके मध्यमें सुदर्शन नामक महाचक्र है। 'वह (नित्य) गतिशील, पवित्र, विस्तृत एवं पुरातन है, जिसके द्वारा पवित्र होकर मनुष्य पापोंसे तर जाता है—उस पवित्र, शुद्ध, परमपावन चक्रके द्वारा पवित्र होकर हम अतिपापरूप शत्रुको पार कर जायँगे। वह गतिशील चक्र भगवद्धामका द्वाररूप है; वह ज्वालाओंसे परिपूर्ण, पवित्र, ज्योतिर्मय, अतिशय प्रकाशमान, अत्यन्त तेजस्वी तथा अमृतकी असंख्य धाराओंको स्रवित करनेवाला चक्र हमको लोकमें सुबुद्धियुक्त बनाये।' [श्रुति इस प्रकार जिसकी स्तुति करती है, वह] दस सहस्र अरोंसे युक्त, प्रज्वलित, दस सहस्र अरोंका समष्टिरूप एवं निरतिशय पराक्रमका विलास है, वह अनन्त दिव्यायुधों एवं दिव्य शक्तियोंका समष्टिरूप, महाविष्णुका मूर्तिमान् अमोघ प्रताप अयुतायुत-कोटि योजन विशाल, अनन्त ज्वाला-मालाओंसे अलङ्कृत, समस्त दिव्य मङ्गलोंका निदान (आदिकारण) तथा अनन्त दिव्य तीर्थोंका निज मन्दिरस्वरूप सुदर्शन महाचक्र इस प्रकार प्रज्वलित होता रहता है ॥ ३–६ ॥

'उस (चक्र) के नाभिमण्डलस्थानमें निरतिशय आनन्द-मयी दिव्य तेजोराशि लक्षित होती है। उसके मध्यमें सहस्रार-चक्र प्रज्वलित है। वह (सहस्रारचक्र) अखण्ड दिव्य तेजोमण्डलके आकारका तथा परमानन्दमय विद्युत्-पुञ्जके समान उज्ज्वल है। उसके मध्यमें छः सौ अरोंका चक्र प्रज्वलित है। उसका भी स्वरूप अमित, परम तेजोमय, श्रेष्ठविहारका स्थान एवं विज्ञानका घनीभूत पुञ्ज है। उसके मध्यमें तीन सौ अरोंवाला चक्र प्रकाशित है। वह भी परम कल्याणका विलास-स्वरूप, तथा अनन्त चिन्मय सूर्योंका समष्टिरूप है। उसके भीतर सौ अरोंका चक्र प्रकाशमान है। वह भी परम तेजोमण्डल-रूप है। उसके बीचमें साठ अरोंका चक्र प्रकाशित है। वह ब्रह्मतेजका परम विलासरूप है। उसके भीतरी भागमें षट्कोण-चक्र प्रज्वलित है। वह अपरिच्छिन्न अनन्त दिव्य तेजोराशिस्वरूप है। उसके भीतर महानन्दपद्म शोभित है। उसकी कर्णिकामें चिन्मय सूर्य, चन्द्र तथा अग्निके मण्डल प्रज्वलित हैं। वहाँ निरतिशय दिव्य तेजोराशि दिखायी पड़ती है। उसके भीतरी भागमें एक साथ उदित अनन्तकोटि सूर्योंके समान प्रकाशमय सुदर्शन-पुरुष विराजमान हैं। सुदर्शन-पुरुष महाविष्णु ही हैं; क्योंकि वे महाविष्णुके समस्त असाधारण चिह्नोंसे चिह्नित हैं।

'उपासक इस प्रकार सुदर्शन-पुरुषका ध्यान करके अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करके प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करता है; फिर वह उपासक उनके द्वारा भी भली प्रकार पूजित होकर, उनकी आज्ञा प्राप्तकर ऊपर-ऊपरको जाता हुआ परमानन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर परमानन्द प्राप्त करता है ॥ ७–१५ ॥

'उससे ऊपर विविध विचित्र अनन्त चिद्विलासमय विभूति-स्वरूपोंको पार करके, तथा अनन्त परमानन्द-विभूतिके समष्टि-रूप अनन्त निरतिशय आनन्द-समुद्रोंको लाँघकर उपासक क्रमशः अद्वैत-संस्थान (धाम) को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

'अद्वैत-संस्थान (कैवल्यधाम) कैसा है ? अखण्ड

आनन्दस्वरूप, अनिर्वचनीय, अमितबोधसागर, अपार आनन्द-का समुद्र, विजातीय विशेषताओं (विशेषों) से रहित, सजातीय विशेषताओंसे युक्त, निरवयव, निराधार, निर्विकार, निरञ्जन, अनन्त, ब्रह्मानन्द-समष्टिका घनीभाव, परमचिद्विलासका समष्टि-स्वरूप, निर्मल, निष्कलङ्क एवं दूसरे किसीके आश्रयसे रहित है। अत्यन्त निर्मल अनन्तकोटि सूर्योंके प्रकाश उसके सम्मुख एक चिनगारीके समान हैं; जो अनन्त उपनिषदोंका अर्थ-स्वरूप, समस्त प्रमाणोंसे अतीत, मन एवं वाणीका अविषय और नित्यमुक्तस्वरूप है। उसका कोई आधार नहीं है; वह आदि-मध्य-अन्तरहित, कैवल्यरूप, परम शान्त, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, महान्‌से भी परम महान्, अमित आनन्दस्वरूप, शुद्ध बोध-आनन्द-ऐश्वर्यरूप, अनन्त आनन्दमय स्वरूपोंका समष्टिरूप, अविनाशी, अनिर्देश्य, कूटस्थ (निर्विकार), अचल, ध्रुव, दिशा-देश एवं कालसे रहित, भीतर और बाहरसे भी सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके परिपूर्ण, परम योगियोंद्वारा अन्वेषणीय, देश-काल तथा वस्तुके परिच्छेदसे रहित, निरन्तर नूतन, नित्य परिपूर्ण, अखण्ड आनन्द अमृतरूप, शाश्वत, परमपद, निरतिशय आनन्दमय अनन्त विद्युत्पर्वतोंके समान, अद्वितीय, तथा अपने ही प्रकाशसे निरन्तर प्रकाशित है। (वहाँ) परमानन्दस्वरूप अपरिच्छिन्न अनन्त परम ज्योति, जो शाश्वत है, निरन्तर प्रकाशमान है ॥ १७-१८ ॥

'उसके भीतर बोधानन्द-महोज्ज्वल, नित्य मङ्गल-मन्दिर, चिन्मय समुद्रके मन्थनसे उत्पन्न चित्साररूप, अनन्त आश्चर्योंका सागर, अमित तेजोराशिके अन्तर्गत विशेष तेजः-स्वरूप, अनन्त आनन्द-प्रवाहोंसे अलङ्कृत निरतिशय आनन्द-सागर-स्वरूप, निरुपम, नित्य, निर्दोष, निरतिशय, निस्सीम तेजोराशिरूप, निरतिशय आनन्दस्वरूप सहस्रों प्राकारों (चहारदीवारियों) से अलङ्कृत, शुद्ध बोधमय भवनसमूहोंसे भूषित, चिदानन्दमय अनन्त दिव्य उपवनोंसे सुशोभित, निरन्तर होनेवाली अपार पुष्पवर्षासे चारों ओरसे व्याप्त धाम है। वही त्रिपाद्विभूति वैकुण्ठ-स्थान है।

'वही परम कैवल्य है। वही अबाधित परमतत्त्व है। वही अनन्त उपनिषदोंद्वारा अन्वेषणीय पद है। वही समस्त परम-योगियों तथा मुमुक्षुओंद्वारा चाहा जाता है। वही घनीभूत सत् है। वही घनीभूत चित् है। वही घनीभूत आनन्द है। वही घनीभूत शुद्धबोधरूप अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मचैतन्यका अधिदेवता-स्वरूप है। सबका अधिष्ठान, अद्वय परब्रह्मका विहार-मण्डल, निरतिशय आनन्दरूप तेजोमण्डल, अद्वैत परमानन्दरूप परब्रह्मका परम अधिष्ठानरूप मण्डल, निरतिशय परमानन्दका परममूर्तस्वरूप मण्डल, अनन्त श्रेष्ठ मूर्तियोंका समष्टिरूप मण्डल, निरतिशय परमानन्दरूप-स्वरूप परमब्रह्मकी परममूर्तिरूप परमतत्त्वके विलासका स्वरूपभूत मण्डल, बोधानन्दमय अनन्त परम विलासोंकी विभूतियोंका समष्टिरूप मण्डल, अनन्त चिद्विलासकी विभूतियोंका समष्टिरूप मण्डल, अखण्ड शुद्ध चैतन्यका निजमूर्तिरूप विग्रह, वाणीके अगोचर अनन्त शुद्धबोधका विग्रहरूप, अनन्त आनन्दसमुद्रों-का समष्टिरूप, अनन्त बोधस्वरूप पर्वतों तथा अनन्त बोधानन्द-रूप पर्वतोंसे अधिष्ठित, निरतिशय आनन्द एवं परम मङ्गलमय स्वरूपोंका समष्टिरूप, अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी परममूर्तिके परम तेजःपुञ्जका पिण्डरूप, चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) सूर्यका मण्डलरूप तथा बत्तीस विभिन्न व्यूहोंसे अधिष्ठित है। केशवादि चौबीस व्यूह, सुदर्शन आदिके न्यास-मन्त्र, सुदर्शनादि यन्त्रोंका उद्धार, अनन्त-गरुड़-विष्वक्सेनादि (पार्षद) तथा निरतिशय आनन्दरूप भी उसीमें हैं ॥ १९-२० ॥

'उपर्युक्त आनन्द-व्यूहके बीचमें सहस्रकोटि योजन विस्तीर्ण उन्नत चिन्मय प्रासाद है। (वह) ब्रह्मानन्दमय करोड़ों विमानसे युक्त एवं अत्यन्त मङ्गलस्वरूप है। अनन्त उपनिषदोंके अर्थ-स्वरूप उपवन-समुदायोंसे भरा है। सामवेदरूपी हंसोंके कलनादसे उसकी अत्यन्त शोभा होती है। आनन्दमय अनन्त शिखरोंसे वह अलङ्कृत है। चिदानन्द-रसके झरनोंसे व्याप्त है। अखण्डा-नन्दरूप तेजोराशिके भीतर स्थित है। अनन्त आनन्दमय आश्चर्योंका समुद्र है। उसके भीतरी भागमें निरतिशय आनन्दस्वरूप प्रणव नामक विमान है, जिसका प्राकार अनन्तकोटि सूर्योंके प्रकाशसे भी अतिशय प्रकाशमय है (वह विमान) आनन्दमय शतकोटि शिखरोंसे जगमगा रहा है। उसके भीतर बोधानन्द-पर्वतके ऊपर अष्टाक्षरीमण्डप सुशोभित है। उस (मण्डप) के मध्यमें आनन्दवनसे विभूषित चिदानन्दमयी वेदिका है। उसके ऊपर निरतिशयानन्दस्वरूप तेजोराशि प्रज्वलित हो रही है। उसके भीतर अष्टाक्षरी पद्मसे विभूषित चिन्मय आसन विराजमान है। उस (आसनरूप पद्म) की प्रणवरूपी कर्णिकापर चिन्मय सूर्य, चन्द्र तथा अग्निके मण्डल (क्रमशः एकके ऊपर एक) प्रज्वलित हैं। वहाँ अखण्ड आनन्दरूप तेजोराशिके भीतर परम मङ्गलाकार अनन्तासन विराजमान है। उसके ऊपर महायन्त्र प्रज्वलित है। निरतिशय ब्रह्मानन्दकी परममूर्तिरूप वह महायन्त्र समस्त ब्रह्मतेजकी राशिका समष्टिस्वरूप, चित्स्वरूप, निर्मल, परब्रह्म-स्वरूप, एवं परब्रह्मका परम रहस्यमय कैवल्यरूप है।

महायन्त्रमय परम वैकुण्ठका यह नारायणयन्त्र विजयी होता है ॥ २१–२९ ॥

'उसका स्वरूप कैसा है ?' शिष्यके इस प्रकार पूछनेपर गुरु 'वह ऐसा है' कहकर (यन्त्रका स्वरूप) बतलाते हैं—"पहले षट्कोण चक्र बनाना चाहिये । उसके मध्यमें छः दलोंका कमल अङ्कित करे । उस कमलकी कर्णिकापर प्रणव (ॐ) लिखे । प्रणवके बीचमें नारायणका बीज-मन्त्र (अं) लिखे । वह बीज-मन्त्र साध्यगर्भित होना चाहिये । अर्थात् उसके साथ जिस उद्देश्यसे यन्त्र-पूजा करनी हो, उसका सूचक **'मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा'** यह वाक्य लिखना चाहिये[1]। कमलके दलोंपर विष्णु एवं नृसिंहके षडक्षर मन्त्रोंको लिखना चाहिये ।* विष्णु-षडक्षर मन्त्र **'ॐ विष्णवे नमः'** और नृसिंह-षडक्षर मन्त्र **'ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं क्ष्रौं फट्'** है । दल-कपोलोंमें (दो दलोंके मध्यमें) श्रीराम तथा श्रीकृष्णके षडक्षर मन्त्रोंको लिखे । राम-षडक्षर मन्त्र **'रां रामाय नमः'** और कृष्ण-षडक्षर मन्त्र **'क्लीं कृष्णाय नमः'** है । षट्कोण चक्रके छः कोणोंमें **'सहस्रार हुं फट्'** यह सुदर्शन-षडक्षर मन्त्र लिखे । छहों कोण-कपोलोंमें (दो कोनोंके मध्य अर्थात् रेखाओंके सामने बाहर) **'ॐ नमः शिवाय'** यह प्रणव-युक्त शिव-पञ्चाक्षर मन्त्र लिखे ॥ ३० ॥

"उस (षट्कोण चक्र) के बाहर प्रणवको इस प्रकार मालाकी भाँति लिखे कि वृत्त बन जाय । वृत्तके बाहर अष्टदल कमल बनाये । उसके दलोंपर **'ॐ नमो नारायणाय'** यह नारायण-अष्टाक्षर मन्त्र और **'जय जय नरसिंह'** यह नृसिंह-अष्टाक्षर मन्त्र लिखे । दलोंके बीचके स्थानोंपर राम, कृष्ण तथा श्रीकरके अष्टाक्षर मन्त्र लिखे । मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा' 'क्लीं दामोदराय नमः' 'उत्तिष्ठ श्रीकर स्वाहा'** ॥ ३१ ॥

"उस (अष्टदल कमल) के बाहर प्रणवके मालाकी तरह लिखते हुए वृत्ताकार बना दे । वृत्तके बाहर नौ दलोंका कमल बनाये । कमलके दलोंमें (क्रमशः) राम, कृष्ण एवं हयग्रीवके नवाक्षर मन्त्र लिखे । मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ', 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीं', 'ह्सौं हयग्रीवाय नमः ह्सौं ।'** दलोंके मध्यमें **'ॐ दक्षिणा-मूर्तिरीश्वरोम्'** यह दक्षिणामूर्ति-नवाक्षर मन्त्र लिखे ॥३२॥

"उसके बाहर नारायण-बीज (अं) से युक्त (अर्थात् अं अं लिखते हुए) वृत्त बनाये । वृत्तसे बाहर दस दलोंका कमल बनाये । उन दलोंपर राम तथा कृष्णके दशाक्षर मन्त्र लिखे । वे मन्त्र ये हैं—**'हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा' 'गोपीजन-वल्लभाय स्वाहा'** । दलोंके संधिस्थानोंमें **'ॐ नमो भगवते श्रीमहानृसिंहाय करालदंष्ट्रवदनाय मम विघ्नान् पच पच स्वाहा'** यह नृसिंह-माला-मन्त्र लिखे ॥३३॥

"दशदल कमलके बाहर नृसिंहके एकाक्षर मन्त्र **'क्ष्रौं'**के द्वारा वृत्त बनाये । वृत्तके बाहर बारह दलोंका कमल बनाये । दलोंपर नारायण तथा वासुदेवके द्वादशाक्षर मन्त्र लिखे । मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'ॐ नमो भगवते नारायणाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।'** दलोंके कपोलोंमें (क्रमशः) महाविष्णु, श्रीराम तथा श्रीकृष्णके द्वादशाक्षर मन्त्र लिखे । मन्त्र इस प्रकार हैं—**'ॐ नमो भगवते महाविष्णवे', 'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा', 'श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः'** ॥३४॥

"उसके बाहर जगन्मोहन बीज-मन्त्र **'क्लीं'** से वृत्त बनाये । वृत्तसे बाहर चौदह दलोंका कमल बनाये । उन दलोंपर (क्रमशः) लक्ष्मीनारायण, हयग्रीव, गोपाल तथा दधिवामनके मन्त्रोंको लिखे । मन्त्र ये हैं—**'ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं लक्ष्मीवासुदेवाय नमः', 'ॐ नमः सर्वकोटिसर्वविद्या-राजाय', 'क्लीं कृष्णाय गोपालचूडामणये स्वाहा', 'ॐ नमो भगवते दधिवामनाय ॐ ।'** दो दलोंके सन्धि-स्थानोंपर **'ह्रीं पद्मावत्यन्नपूर्णे माहेश्वरि स्वाहा'** यह अन्नपूर्णेश्वरी-मन्त्र लिखे ॥३५॥

"उसके बाहर केवल प्रणवसे एक वृत्त बनाये । वृत्तसे बाहर सोलह दलोंका कमल बनाये । उसके दलोंपर श्रीकृष्ण तथा सुदर्शनके षोडशाक्षर मन्त्रोंको लिखे । मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—**'ॐ नमो भगवते रुक्मिणीवल्लभाय स्वाहा', 'ॐ नमो भगवते महासुदर्शनाय हुं फट् ।'** उसके दलोंके सन्धि-भागोंमें

---

१. 'मम' यह पद अथवा साधकका षष्ठ्यन्त नाम बीज-मन्त्रके ऊपर होगा 'सर्वाभीष्टसिद्धिम्' यह पद बीज-मन्त्रके नीचे होगा । बीजके वामपार्श्वमें 'कुरु कुरु' लिखा जायगा और दक्षिण पार्श्वमें 'स्वाहा' रहेगा ।

* इस प्रकार जहाँ भी मन्त्र लिखनेका वर्णन आता है, वहाँ मन्त्रका एक-एक अक्षर एक-एक दलपर, दलोंके मध्यमें या कोणपर—जहाँ लिखे हैं—क्रमशः लिखने चाहिये । एक मन्त्रको लिखकर उसके अक्षरोंके नीचे दूसरे मन्त्रके अक्षरोंको उसी प्रकार लिखना चाहिये । इस प्रकार जितने मन्त्र लिखने हों, उनके अक्षरोंको क्रमशः एकके नीचे एक लिखता जाय । संयुक्ताक्षरोंको एक ही अक्षर मानकर लिखे ।

सब स्वर तथा सुदर्शन-माला-मन्त्र लिखे। पूरा मन्त्र यह है—**'सुदर्शनमहाचक्राय दीप्तरूपाय सर्वतो मां रक्ष रक्ष सहस्रार हुं फट् स्वाहा।'** (पहले एक-एक स्वर लिखा जायगा, फिर स्वरोंके नीचे क्रमशः प्रत्येक दलपर मन्त्रके दो-दो अक्षर जैसे प्रथम दलपर **'सुद'** दूसरेपर **'र्शन'** इस प्रकार लिखे जायँगे) ॥३६॥

"उसके बाहर वराह-बीजसे युक्त वृत्त रहेगा। वह बीज **'हुं'** है। वृत्तसे बाहर अठारह दलोंका कमल बनाये। उन दलोंपर श्रीकृष्ण तथा वामनके अष्टादशाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—**'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा', 'ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा।'** दलोंके सन्धि-स्थानोंपर गरुड-पञ्चाक्षर मन्त्र और गरुड-माला-मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'क्षिप ॐ स्वाहा', 'ॐ नमः पक्षिराजाय सर्वविषभूतरक्षःकृत्यादिभेदनाय सर्वेष्टसाधकाय स्वाहा।'** (इसमें पहले दलपर **'क्षिप'**, दूसरेपर **'ॐ'**, तीसरेपर **'स्वाहा'**, चौथेपर **'ॐ नमः'**, पाँचवेंपर **'पक्षि'**, छठेपर **'राजाय'** और शेषपर शेष मन्त्रभागके दो-दो अक्षर लिखे जायँगे) ॥३७॥

"उसके बाहर **'ह्रीं'** इस माया-बीजसे वृत्त बनाये। उसके बाहर फिर अष्टदल कमल बनाये। उन दलोंपर श्रीकृष्ण तथा वामनके अष्टाक्षर मन्त्र **'ॐ नमो दामोदराय'** और **'ॐ वामनाय नमः ॐ'** इनको (क्रमशः) लिखे। दलोंके सन्धि-स्थलोंपर नीलकण्ठके त्र्यक्षर तथा गरुडके पञ्चाक्षर मन्त्रोंको (पहले तीन दलोंपर पहलेका एक-एक अक्षर, फिर शेषपर दूसरेका एक-एक अक्षर—इस प्रकार) लिखे। मन्त्र ये हैं—**'प्रें रीं ठः, नमोऽण्डजाय'** ॥ ३८ ॥

"उसके बाहर कामदेवके बीज-मन्त्र (**क्लीं**) से वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर चौबीस दलोंका कमल निर्मित करे। उन दलोंपर शरणागत-मन्त्र एवं नारायण-मन्त्र (पहले एक-एक अक्षरके क्रमसे शरणागत-मन्त्र और शेष दलोंपर नारायण-मन्त्रके अक्षर) तथा नारायण एवं हयग्रीवके गायत्री-मन्त्र (क्रमशः) लिखे। मन्त्र इस प्रकार हैं—**'श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये', 'श्रीमते नारायणाय नमः', 'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' 'वागीश्वराय विद्महे हयग्रीवाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात्।'** उसके दलोंके सन्धि-भागोंमें नृसिंह-गायत्री, सुदर्शन-गायत्री तथा ब्रह्मगायत्री-मन्त्र (क्रमशः) लिखे। मन्त्र ये हैं—**'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्', 'सुदर्शनाय विद्महे हेतिराजाय धीमहि तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्' 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'** ॥३९॥

"उसके बाहर **'ह्सौं'** इस हयग्रीवके एकाक्षर बीज-मन्त्रसे वृत्त बनाये। उसके बाहर बत्तीस दलोंका कमल बनाये। उसके दलोंपर (क्रमशः) नृसिंह एवं हयग्रीवके अनुष्टुप् मन्त्रोंको लिखे। मन्त्र ये हैं—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥
ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे।
प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः॥

"दलोंके सन्धि-भागोंमें (क्रमशः) राम तथा कृष्णके अनुष्टुप्-मन्त्र लिखें—

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥
देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥

"उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित अग्निबीज (**ॐ रमोम्**) से वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर छत्तीस दलोंका कमल बनाये। उसके दलोंपर हयग्रीवका छत्तीस अक्षरोंवाला और फिर (उसके नीचे) अड़तीस अक्षरोंवाला मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः यों हैं—

'हंसः' विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय चिन्मयानन्दरूपिणे।
तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे 'सोऽहम्'॥

'ह्सौं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय सर्ववागीश्वरेश्वराय सर्ववेदमयाय सर्वविद्यां मे देहि स्वाहा।'

"(इस मन्त्रमें ३८ अक्षर होनेसे पहलेके दो **'ह्सौमोम्'** प्रथम दलपर तथा **'नमो'** दूसरे दलपर और शेषपर एक-एक अक्षर लिखे जायँगे।) दलोंके सन्धि-स्थलोंमें आदिमें **'ॐ'** तथा अन्तमें **'नमः'** लगाकर केशवादिके चतुर्थी विभक्ति-युक्त चौबीस नाममन्त्र (प्रत्येक दलपर पूरा एक मन्त्र) तथा शेष बारह दलोंपर राम-कृष्णके दोनों गायत्री-मन्त्रोंके चार-चार अक्षर एक-एक स्थलपर (पहली गायत्रीके चार-चार अक्षरके बाद दूसरीके चार-चार अक्षर क्रमसे) लिखे। मन्त्र ये हैं—

ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ मधुसूदनाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः, ॐ वामनाय नमः, ॐ श्रीधराय नमः, ॐ हृषीकेशाय नमः, ॐ पद्मनाभाय नमः, ॐ दामोदराय नमः, ॐ संकर्षणाय नमः, ॐ वासुदेवाय नमः, ॐ प्रद्युम्नाय नमः, ॐ अनिरुद्धाय नमः, ॐ पुरुषोत्तमाय

नमः, ॐ अधोक्षजाय नमः, ॐ नारसिंहाय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ जनार्दनाय नमः, ॐ उपेन्द्राय नमः, ॐ हरये नमः, ॐ श्रीकृष्णाय नमः ।'

(श्रीरामगायत्री—)

दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात् ।

(श्रीकृष्णगायत्री—)

दामोदराय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ।

''उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित अंकुश-बीज 'ॐ क्रों ॐ' मन्त्रसे वृत्त बनाये। उस वृत्तसे बाहर (कुछ अन्तर छोड़कर उसी मन्त्रसे) फिर वृत्त बनाये । दोनों वृत्तोंके मध्यमें बारह कोष्ठ (वृत्त) बनाये, जिनके मध्यमें अन्तर हो। उन कोष्ठों (वृत्तों) में आदिमें प्रणव तथा अन्तमें 'नमः' लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त कौस्तुभ, वनमाला, श्रीवत्स, सुदर्शन, गरुड़, पद्म, ध्वज, अनन्त, शार्ङ्ग, गदा, शङ्ख एवं नन्दकके मन्त्र लिखे । मन्त्र इस प्रकार होंगे—

ॐ कौस्तुभाय नमः, ॐ वनमालायै नमः, ॐ श्रीवत्साय नमः, ॐ सुदर्शनाय नमः, ॐ गरुडाय नमः, ॐ पद्माय नमः, ॐ ध्वजाय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ शार्ङ्गाय नमः, ॐ गदायै नमः, ॐ शङ्खाय नमः, ॐ नन्दकाय नमः ।

''कोष्ठोंके अन्तरालोंमें आदिमें प्रणवयुक्त ये मन्त्र लिखे—

ॐ विष्वक्सेनाय नमः, ॐ आचक्राय स्वाहा, ॐ विचक्राय स्वाहा, ॐ सुचक्राय स्वाहा, ॐ धीचक्राय स्वाहा, ॐ संचक्राय स्वाहा, ॐ ज्वालाचक्राय स्वाहा, ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा, ॐ महोल्काय स्वाहा, ॐ वीर्योल्काय स्वाहा, ॐ विद्योल्काय स्वाहा, ॐ सहस्रोल्काय स्वाहा ॥ ४०—४२ ॥

''उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित गरुडपञ्चाक्षर 'ॐ क्षिप ॐ स्वाहा ॐ' मन्त्रसे वृत्त बनाये। दोनों वृत्तोंके मध्य भागमें अन्तर छोड़कर बारह वज्र बनाये । उन वज्रोंके कोणोंमें ये मन्त्र लिखे—

ॐ पद्मनिधये नमः, ॐ महापद्मनिधये नमः, ॐ गरुडनिधये नमः, ॐ शङ्खनिधये नमः, ॐ मकरनिधये नमः, ॐ कच्छपनिधये नमः, ॐ विद्यानिधये नमः, ॐ परमानन्दनिधये नमः, ॐ मोक्षनिधये नमः, ॐ लक्ष्मीनिधये नमः, ॐ ब्रह्मनिधये नमः, ॐ मुकुन्दनिधये नमः ।

''उन वज्रोंके बीचके भागोंमें ये मन्त्र लिखे—

ॐ विद्याकल्पकतरवे नमः, ॐ आनन्दकल्पकतरवे नमः, ॐ ब्रह्मकल्पकतरवे नमः, ॐ मुक्तिकल्पकतरवे नमः, ॐ अमृतकल्पकतरवे नमः, ॐ बोधकल्पकतरवे नमः, ॐ विभूतिकल्पकतरवे नमः, ॐ वैकुण्ठकल्पकतरवे नमः, ॐ वेदकल्पकतरवे नमः, ॐ योगकल्पकतरवे नमः, ॐ यज्ञकल्पकतरवे नमः, ॐ पद्मकल्पकतरवे नमः ।

''इस वृत्तको शिवगायत्री तथा परब्रह्म-मन्त्रके अक्षरोंद्वारा वृत्तरूपसे घेरे । (अर्थात् वृत्तके बाहर पहले शिवगायत्री इस प्रकार लिखे कि वृत्तके चारों ओर गोलाईमें आधी दूरके लगभग वह लिखी जाय और आगे 'परब्रह्म' मन्त्र लिखकर उस गोलेको पूरा कर दे ।) मन्त्र ये हैं—

(शिव-गायत्री—)

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

(परब्रह्ममन्त्र—)

श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।
नारायणपरं ब्रह्म नारायण नमोऽस्तु ते ॥

''उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित श्रीबीज अर्थात् 'ॐ श्रीमोम्' मन्त्रसे वृत्त बनाये । वृत्तके बाहर चालीस दलोंका कमल बनाये । उसके दलोंपर व्याहृति एवं शिरोभागसे सम्पुटित वेद-गायत्रीके चारों पाद तथा सूर्याष्टाक्षर मन्त्र लिखे । मन्त्र इस प्रकार होंगे—

'ॐ भूः ॐ भुवः ॐ सुवः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम् ॐ भर्गो देवस्य धीमहि ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् । ॐ परो रजसे सावदोम् ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ।' 'ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः ।'

''दलोंके सन्धि-स्थलोंपर सब कहीं प्रणव और श्रीबीजसे सम्पुटित नारायण-बीज अर्थात् 'ॐ श्रीमं श्रीमोम्' यह मन्त्र लिखे ॥ ४३-४४ ॥

''उसके बाहर आठ शूलोंसे अङ्कित भू-चक्र बनाये। चक्रके भीतर चारों दिशाओंमें प्रणवसे सम्पुटित 'हंसः सोऽहम्' मन्त्र और नारायणास्त्र मन्त्र लिखे । पूरा मन्त्र यह है— 'ॐ हंसः सोऽहमोम्' 'ॐ नमो नारायणाय हुं फट्' ॥ ४५ ॥

''उसके बाहर प्रणव-मालासे युक्त वृत्त बनाये। वृत्तके बाहर पचास दलोंका कमल बनाये । उन दलोंमें 'ळ' को छोड़कर मातृकाके सभी शेष पचास अक्षर (अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ

ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह ळ क्ष) लिखे । उसके दलोंकी सन्धियोंमें प्रणव तथा श्रीबीजसे सम्पुटित राम एवं कृष्णके माला-मन्त्र (क्रमशः ऊपर-नीचे) लिखे । मन्त्र इस प्रकार होंगे—

(राममाला-मन्त्र—)

'ॐ श्रीमों नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः श्रीमोम्'

(श्रीकृष्णमाला-मन्त्र—)

'ॐ श्रीमों नमः कृष्णाय देवकीपुत्राय वासुदेवाय निगलच्छेदनाय सर्वलोकाधिपतये सर्वजगन्मोहनाय विष्णवे कामितार्थदाय स्वाहा श्रीमोम्' ॥ ४६ ॥

''उसके बाहर अष्ट शूलोंसे अङ्कित एक भूचक्र और बनाये। उन शूलोंमें प्रणवसम्पुटित महानीलकण्ठ-मन्त्रके अक्षर अर्थात् **'ॐ ॐ नमो नीलकण्ठाय ॐ'** लिखे । शूलोंके अग्रभागमें आदिमें **प्रणव** तथा अन्तमें **नमः** लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त लोकपालोंके मन्त्र इस प्रकार क्रमशः लिखे—

ओमिन्द्राय नमः, ओमग्नये नमः, ॐ यमाय नमः, ॐ निर्ऋतये नमः, ॐ वरुणाय नमः, ॐ वायवे नमः, ॐ सोमाय नमः, ओमीशानाय नमः ॥ ४७ ॥

''उसके बाहर प्रणव (ॐ) की मालासे युक्त तीन वृत्त बनाये। उसके बाहर चार द्वारोंसे युक्त चार भूपुर बनाये, जिसमें चक्रके चारों कोनोंपर महावज्र शोभित हों। उन वज्रोंमें प्रणव तथा श्रीबीजसे सम्पुटित दो अमृत-बीज—**'ॐ श्रीं वं चं श्रीं ॐ'** लिखे । प्रणव-वृत्तोंके बाहर सबसे बाहरी भूपुर-वीथीमें ये मन्त्र लिखे— **'ओमाधारशक्त्यै नमः, ॐ मूलप्रकृत्यै नमः, ओमादिकूर्माय नमः, ओमनन्ताय नमः, ॐ पृथिव्यै नमः ।'** मध्यभूपुर-मार्गमें ये मन्त्र लिखे—**ॐ क्षीरसमुद्राय नमः, ॐ रत्नद्वीपाय नमः, ॐ रत्नमण्डपाय नमः, ॐ श्वेतच्छत्राय नमः, ॐ कल्पकवृक्षाय नमः, ॐ रत्नसिंहासनाय नमः ।'** प्रथम भूपुर-वीथीमें आदिमें **प्रणव** तथा अन्तमें **नमः** लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, सत्त्व, रजस्, तमस्, माया, अविद्या, अनन्त एवं पद्मके मन्त्र लिखे । (इन मन्त्रोंके ये रूप होंगे—**ॐ धर्माय नमः, ॐ ज्ञानाय नमः, ॐ वैराग्याय नमः, ओमैश्वर्याय नमः, ओमधर्माय नमः, ओमज्ञानाय नमः, ओमवैराग्याय नमः, ओमनैश्वर्याय नमः, ॐ सत्त्वाय नमः, ॐ रजसे नमः, ॐ तमसे नमः, ॐ मायायै नमः, ओमविद्यायै नमः, ओमनन्ताय नमः, ॐ पद्माय नमः ।**) बाहरी वृत्तकी वीथीमें—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना—इन सबके चतुर्थ्यन्त नाम आदिमें प्रणव और अन्तमें 'नमः' लगाकर लिखे (**ॐ विमलायै नमः, ओमुत्कर्षिण्यै नमः, ॐ ज्ञानायै नमः, ॐ क्रियायै नमः, ॐ योगायै नमः, ॐ प्रह्व्यै नमः, ॐ सत्यायै नमः, ओमीशानायै नमः**) । भीतरी वृत्तकी वीथीमें **'ओमनुग्रहायै नमः, ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपीठात्मने नमः'** लिखे ।

'वृत्तोंके बीचके स्थानोंमें—मन्त्रोंके बीज, प्राण, शक्ति, दृष्टि, वश्य आदि, मन्त्र-यन्त्रोंके नाम, गायत्री, प्राणप्रतिष्ठा, भूतशुद्धि तथा दिक्पालोंके बीज—ये यन्त्रके दस अङ्ग (तथा इनके अतिरिक्त) मूलमन्त्र, मालामन्त्र, कवच तथा दिग्बन्धनके मन्त्र भी दिये जाते हैं ।

'इस प्रकारका यह यन्त्र महायन्त्रमय है । योगके द्वारा जिनका अन्तःकरण ज्ञानसे आलोकित हो उठा है, ऐसे पुरुषोंद्वारा इसे परम मन्त्रोंसे अलङ्कृत किया गया है। षोडशोपचारोंसे पूजे जानेपर तथा जप-हवनादिसे साधित (सिद्ध) होनेपर यह यन्त्र शुद्ध ब्रह्मतेजोमय, सब प्रकारके भयोंसे छुड़ानेवाला, समस्त पापोंका नाशक, सभी अभीष्टोंको देनेवाला तथा सायुज्य मुक्ति देनेवाला है। यह परमवैकुण्ठ-महानारायण-यन्त्र प्रकाशमान है ॥ ४८-४९ ॥

'उस (यन्त्र) के ऊपर भी आदिनारायणका ध्यान करे । वे निरतिशय आनन्दमयी तेजोराशिके भीतर भलीभाँति विराजमान हैं । शब्दातीत आनन्दमय तेजोराशिस्वरूप, चैतन्य (ज्ञान) के सारसे आविर्भूत आनन्दमय विग्रहयुक्त, बोधानन्दस्वरूप, निरतिशय सौन्दर्यसिन्धु, तुरीयस्वरूप, तुरीयातीत तथा अद्वैत परमानन्दमय हैं । निरन्तर तुरीयातीत निरतिशय सौन्दर्य एवं आनन्दके पारावार हैं, लावण्य-सरिताकी लहरोंसे उल्लसित तथा विद्युत्की-सी कान्तिसे प्रकाशित हैं, उनका विग्रह दिव्य एवं मङ्गलमय है । वे मूर्तिधारी परम मङ्गलोंसे सेवित हैं। चिदानन्दमय अनन्तकोटि सूर्योंके समान तेजोमय प्रकाशवाले अनन्त भूषणोंसे अलङ्कृत हैं। सुदर्शन, चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पद्म, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, शार्ङ्ग-धनुष, मुसल, परिघ आदि चिन्मय अनेकों मूर्तिमान् आयुधोंसे सुसेवित हैं । श्रीवत्स, कौस्तुभ एवं वनमालासे उनका वक्षःस्थल अङ्कित (शोभित) है । ब्रह्मरूप कल्पवनके अमृतमय पुष्पोंकी वर्षासे निरन्तर आनन्दस्वरूप हैं । ब्रह्मानन्दमय

रसके असंख्य झरनोंसे अत्यन्त मङ्गलरूप हैं। शेषनागके दस सहस्र फणसमूहोंके विशाल छत्रसे शोभित हैं। उस फणोंके मण्डलमें स्थित अत्यन्त तेजस्वी मणियोंकी ज्योतिसे उनका श्रीविग्रह विशेष देदीप्यमान है, तथा शेषनागकी अङ्ग-कान्तिके निर्झरोंसे व्याप्त है। वे निरतिशय ब्रह्मगन्धस्वरूपकी निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्ममय गन्धके विशेष (घन) स्वरूप हैं। अनन्त ब्रह्मगन्ध-मूर्तियोंके समष्टिरूप हैं। अनन्त आनन्दमय तुलसीकी मालाओंसे नित्य नूतनरूप हैं। चिदानन्दमय अनन्त पुष्प-मालाओंसे सुशोभित हैं। तेज-प्रवाहकी तरङ्गोंके अविरल प्रवाहसे प्रकाशमान हैं। निरतिशय अनन्त कान्तिविशेषके आवर्तोंसे सर्वदा सब ओर प्रज्वलित हैं। बोधानन्दमय अनन्त-धूप-दीपावलियोंसे अत्यन्त शोभित हैं। निरतिशय आनन्द-स्वरूप चँवरोंसे परिसेवित हैं। निरन्तर निरुपम निरतिशय उत्कट ज्ञानानन्दमय अनन्त फलोंके गुच्छोंसे अलङ्कृत हैं। चिन्मयानन्दरूप दिव्य विमान, छत्र एवं ध्वजसमूहोंसे विशेष शोभित हैं। परम मङ्गलमय अनन्त दिव्य तेजोंसे सर्वदा प्रकाशमान हैं। वाणीसे अतीत अनन्त तेजोराशिके अन्तर्गत, अर्धमात्रास्वरूप, तुरीय, अनाहत ध्वनिरूप, तुरीयातीत, अकथनीय तथा नाद-विन्दु-कला एवं अध्यात्मस्वरूप आदि अनन्त रूपोंमें अवस्थित, निर्गुण, निष्क्रिय, निर्मल, निर्दोष, निरञ्जन, निराकार, दूसरेके आश्रयसे हीन, निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप (उन) आदिनारायणका ध्यान करे' ॥५०॥

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय

परम सायुज्य-मुक्तिके स्वरूपका निरूपण

तब पितामह ब्रह्माजी भगवान् महाविष्णुसे पूछते हैं—भगवन्! शुद्ध अद्वैत परमानन्दस्वरूप आप ब्रह्मके (स्वरूपके) विरुद्ध (ये पूर्ववर्णित) वैकुण्ठ, भवन, प्राचीरें, विमान प्रभृति अनन्त वस्तुरूप भेद कैसे हैं?॥ १ ॥

'तुमने ठीक ही कहा' यह कहकर भगवान् महाविष्णु शङ्काका निवारण करते हैं—'जैसे शुद्ध स्वर्णके कड़े, मुकुट, बाजूबंद आदि भेद होते हैं (जैसे ये आकार-भेद स्वर्णकी एकताके बाधक नहीं), जैसे समुद्रीय जलके बड़ी-छोटी तरङ्गें, फेन, बुलबुले, ओले, नमक, बर्फ आदि अनन्त वस्तुरूप भेद हैं (जैसे ये भेद जलके एकत्वमें बाधक नहीं), जैसे भूमिके पर्वत, वृक्ष, तिनके, झाड़ियाँ, लता आदि अनन्त वस्तुभेद हैं (जैसे ये भेद भूमिके एकत्वके विरोधी नहीं), वैसे ही अद्वैत परमानन्द-स्वरूप मुझ परम ब्रह्मका सब कुछ अद्वैतरूप सिद्ध ही है। सब (प्रतीयमान लौकिक-पारलौकिक भेद) मेरे स्वरूप ही हैं। मेरे अतिरिक्त एक अणु भी विद्यमान नहीं। (मुझसे भिन्न तुच्छतम भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है)'॥ २ ॥

पितामह ब्रह्मा फिर पूछते हैं—'भगवन्! परम वैकुण्ठ ही परम मोक्ष (धाम) है। सर्वत्र (सभी शास्त्रोंमें) परम मोक्ष एक ही सुनायी पड़ता (वर्णित) है। फिर अनन्त वैकुण्ठ तथा अनन्त आनन्द-समुद्रादि अनन्त मूर्तियाँ किस प्रकार हैं?' ॥ ३ ॥

'यह ठीक ही है' कहकर भगवान् महाविष्णु बोले—'एक ही अविद्यापादमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अपने आवरणोंके साथ सुने जाते (शास्त्रोंमें प्रतिपादित) हैं। (जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड-भेद होनेसे अविद्याकी एकतामें बाधा नहीं आती, वैसे ही) एक ही अण्ड (ब्रह्माण्ड)में बहुत-से लोक, बहुत-से वैकुण्ठ और अनन्त विभूतियाँ भी हैं ही। सभी ब्रह्माण्डोंमें अनन्त लोक हैं और अनन्त वैकुण्ठ हैं, यह सभी (शास्त्रों)को निश्चित रूपसे मान्य है। (जब एक अविद्यापादकी यह स्थिति है तो) पादत्रयके सम्बन्धमें भी यही बात है, उसमें कहना क्या है। निरतिशय आनन्दका आविर्भाव मोक्ष है, यह मोक्षका लक्षण तीनों पादोंमें है; इसलिये तीनों पाद परम मोक्षधाम हैं। तीनों पाद परम वैकुण्ठ हैं। तीनों पाद परम कैवल्य (धाम) हैं। वहाँ शुद्ध चिदानन्द ब्रह्मके विलासरूप आनन्द, अनन्त परमानन्दमय ऐश्वर्य, अनन्त वैकुण्ठ और अनन्त परमानन्द-समुद्रादि हैं ही ॥ ४ ॥

''उपासक वहाँ (सातवें अध्यायमें वर्णित श्रीनारायणके समीप) पहुँचकर इस प्रकारके (जैसा स्वरूप उनका वर्णित है) नारायणका ध्यान करके, (उनकी) प्रदक्षिणा तथा (उन्हें) नमस्कार करता है, तथा अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी अर्चना करके निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप हो जाता है। उनके आगे सावधानीसे बैठकर अद्वैतयोगका आश्रय लेता है और सर्वाद्वैत परमानन्दस्वरूप अखण्ड अमित तेजोराशि-स्वरूपकी विशेष रूपसे (सम्यक्) भावना करके उपासक स्वयं शुद्ध बोधानन्दमय अमृतस्वरूप एवं निरतिशय आनन्दमय तेजोराशिस्वरूप हो जाता है। तब महावाक्योंके अर्थका बार-बार स्मरण करता हुआ—'ब्रह्म मैं हूँ, मैं ही हूँ,

ब्रह्म मैं हूँ, जो भी मैं हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही मैं हूँ, मैं अहंता (भेद-प्रतीति) का हवन करता हूँ—स्वाहा (वह भस्म हो जाय); मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारकी भावनाद्वारा, जैसे परम तेजोरूप महानदीका प्रवाह परम तेजोरूप समुद्रमें प्रवेश कर जाय, जैसे परम तेजोमय समुद्रकी तरङ्गें उस परम तेजोमय समुद्रमें प्रवेश कर जायँ, उसी प्रकार सच्चिदानन्द-स्वरूप उपासक सर्वरूपसे परिपूर्ण, अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म मुझ नारायणमें 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं परिपूर्ण हूँ' इस प्रकार (स्वरूपभूत होकर) प्रविष्ट हो जाता है। तब उपासक तरङ्गहीन, अद्वैत, अपार, निरतिशय सच्चिदानन्द-समुद्र हो जाता है॥ ५ ॥

'जो इस (उपदिष्ट) मार्गके द्वारा भलीभाँति आचरण (उपासना) करता है, वह निश्चय ही नारायण हो जाता है। सभी मुनिगण इसी मार्गसे सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। असंख्यों परम योगी (इसी मार्गसे) सिद्धिको (परम गतिको) पहुँचे हैं'' ॥ ६ ॥

तब (उपर्युक्त उपदेशके अनन्तर) शिष्य गुरुसे पूछता है—भगवन्! सालम्ब एवं निरालम्ब योग किस प्रकारके हैं ॥ ७ ॥

(गुरुदेव बतलाते हैं—) 'सालम्बयोग वह है, जिसमें सब प्रकारके कर्मोंसे दूर रहकर कर-चरण आदि अङ्गोंवाली मूर्तिविशेष अथवा मण्डल (ज्योति) आदिका (ध्यान-उपासनादिके लिये) आलम्बन किया जाय; यही सालम्ब योग है।

'निरालम्बयोग वह है, जिसमें समस्त नाम, रूप, कर्मको अत्यन्त दूरसे छोड़कर, समस्त कामनादि अन्तःकरणकी वृत्तियों-के साक्षीरूपसे, उस (अन्तःकरणकी किसी भी वृत्ति) के आलम्बनसे शून्य रहकर भावना की जाय। यही (भावनाहीन स्थितिमें स्थित होना ही) निरालम्बयोग है' ॥ ८ ॥

'तब तो (जब निरालम्बयोग इतना दुरूह है) निरालम्ब-योगका अधिकारी किस प्रकारका होता है?'॥ ९ ॥

'जो पुरुष अमानित्व आदि (ज्ञानके) लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको निरालम्बयोगका अधिकारी बनाना (मानना) चाहिये। ऐसा अधिकारी कोई विरला ही है। इसलिये सभी अधिकारी-अनधिकारियोंके लिये भक्तियोग ही श्रेष्ठ कहा जाता है। भक्तियोग उपद्रव (विघ्न)-रहित है। भक्तियोगसे मुक्ति प्राप्त होती है। भक्तोंको बिना परिश्रमके अविलम्ब ही तत्त्वज्ञान हो जाता है॥ १०-११ ॥

'वह (अनायास अविलम्ब तत्त्वज्ञान) कैसे होता है?' इस शंकाके उत्तरमें बतलाते हैं—'भक्तवत्सल भगवान् स्वयं ही मोक्षके सभी विघ्नोंसे सभी भक्तिनिष्ठ लोगों (भक्तों) की रक्षा करते हैं। (उनके) समस्त अभीष्ट प्रदान करते हैं। मोक्ष दिलवाते हैं। (भक्त स्वतः मोक्ष नहीं चाहता। भगवान् उसे अपनी ओरसे मोक्ष प्रदान करते हैं; इसीसे दिलवाते हैं—बरबस देते हैं, यह कहा गया।) विष्णु-भक्तिके बिना ब्रह्मादि समस्त (देवताओं) का भी करोड़ों कल्पोंमें भी मोक्ष नहीं होता। क्योंकि कारणके बिना कार्य प्रकट नहीं होता, अतः भक्ति (जो कारण है, उस) के बिना (कार्य) ब्रह्मज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता। इसलिये तुम भी समस्त उपायोंको छोड़कर भक्तिका आश्रय लो। भक्तिनिष्ठ बनो। भक्तिनिष्ठ बनो। भक्तिके द्वारा सभी सिद्धियाँ सिद्ध (प्राप्त) होती हैं। भक्तिके द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं है॥ १२ ॥

''इस प्रकार गुरुके उपदेशको सुनकर, परम तत्त्वके सभी रहस्योंको जानकर, सम्पूर्ण संशयोंको दूर करके 'शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लूँगा' ऐसा निश्चय करके, तब शिष्य उठा। उठकर गुरुकी प्रदक्षिणा एवं उन्हें नमस्कार करके, गुरुकी पूजा करके, गुरुकी ही आज्ञासे उसने क्रमशः भक्तिनिष्ठ होकर परिपक्व भक्तिके आधिक्यसे परिपक्व विज्ञान प्राप्त किया। उस (परिपक्व विज्ञान) से बिना परिश्रमके ही शिष्य शीघ्र ही साक्षात् नारायणस्वरूप हो गया' ॥ १३ ॥

(यह आख्यान सुनाकर) तब भगवान् महाविष्णु चतुर्मुख ब्रह्माजीकी ओर देखकर बोले—'ब्रह्माजी! मैंने आपसे परम तत्त्वका समस्त रहस्य कह दिया। उसके स्मरणमात्रसे मोक्ष हो जाता है। उसके अनुष्ठानसे सम्पूर्ण अज्ञात ज्ञात हो जाता है। जिसके स्वरूपको जान लेनेसे अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है, वह सम्पूर्ण परमतत्त्व-रहस्य मैंने बतला दिया' ॥ १४॥

'गुरु कौन है?' ब्रह्माजीके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् बतलाते हैं—'गुरु साक्षात् आदिनारायण पुरुष हैं। वह आदि-नारायण मैं ही हूँ।' इसलिये एकमात्र मेरी शरणमें आओ। मेरी भक्तिमें निष्ठावान् होओ। मेरी उपासना करो। इस प्रकार मुझे ही प्राप्त करोगे। मेरे अतिरिक्त सब कुछ बाधित (अतत्त्व) है। मुझसे अतिरिक्त अबाधित (सत्ता रखने-वाला) कुछ भी नहीं है। अद्वितीय निरतिशय आनन्द मैं ही हूँ। सब प्रकार परिपूर्ण मैं ही हूँ, मैं ही सबका आश्रय हूँ। वाणीका अविषय निराकार परब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' ॥ १५ ॥

इस प्रकार भगवान् महाविष्णुके इस परम उपदेशका लाभ करके पितामह ब्रह्माजीने परम आनन्द प्राप्त किया। तदनन्तर भगवान् विष्णुके कर-स्पर्शसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके पितामह उठे और उठकर उन्होंने प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके विविध उपचारोंसे भगवान् महाविष्णुकी भलीभाँति पूजा की। फिर अञ्जलि बाँधकर, विनयपूर्वक समीप जाकर बोले— 'भगवन्! मुझे भक्तिनिष्ठा प्रदान करें! हे कृपानिधे! मैं आपसे अभिन्न हूँ, मेरा सब प्रकार पालन करें' ॥ १६-१७ ॥

'वही हो, साधु! साधु!' इस प्रकार (ब्रह्माजीकी) भलीभाँति प्रशंसा करते हुए भगवान् महाविष्णु बोले—'मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट हो जाता है। मेरी उपासनासे सब मङ्गल होते हैं। मेरी उपासनासे वह सबको विजय कर लेता है। मेरा उपासक सबके द्वारा वन्दनीय होता है। मेरे उपासकके लिये असाध्य कुछ नहीं है। सम्पूर्ण बन्धन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। सदाचारीकी जैसे सब लोग सेवा करते हैं, वैसे ही समस्त देवता उसकी सेवा करते हैं। महाश्रेय भी (उसकी) सेवा करते हैं। मेरा उपासक उस (उपासना) से निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है। जो भी मुमुक्षु इस मार्गसे सम्यक् आचरण करता है, वह परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है ॥ १८ ॥

'जो कोई (इस) परमतत्त्व-रहस्य आथर्वण महानारायणोपनिषद्का अध्ययन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह जान-बूझकर तथा अनजानमें किये पापोंसे मुक्त हो जाता है। महापापोंसे पवित्र हो जाता है। छिपाकर किये गये, प्रकटरूपसे किये गये, बहुत दिनोंतक अधिक रूपमें किये गये सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह सभी लोकोंको जीत लेता है। उसकी सभी मन्त्रोंके जपमें निष्ठा हो जाती है। वह समस्त वेदान्तके रहस्यको प्राप्त करके परमार्थका ज्ञाता हो जाता है। वह सम्पूर्ण भोगोंका भोक्ता (उन भोगोंके द्वारा मिलनेवाले आनन्दसे युक्त) हो जाता है। उसे सभी योगोंका ज्ञान हो जाता है। वह समस्त जगत्का परिपालक हो जाता है। वह अद्वैत-परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है ॥ १९ ॥

'यह परमतत्त्व-रहस्य गुरुभक्तिविहीनको नहीं बतलाना चाहिये। जो सुनना न चाहता हो, उसे भी नहीं बतलाना चाहिये; न तपस्याविहीन नास्तिकको और न मेरी (भगवान्की) भक्तिसे रहित दाम्भिकको बतलाना चाहिये। मत्सरयुक्त पुरुषको नहीं बतलाना चाहिये। मेरी निन्दामें लगे (भगवान्में दोषदृष्टि करनेवाले) कृतघ्नको भी नहीं बतलाना चाहिये ॥ २० ॥

'जो यह परम रहस्य मेरे (भगवान्के) भक्तको बतलावेगा, वह मेरी भक्तिमें निष्ठावान् होकर मुझे (भगवान्को) ही प्राप्त करेगा। जो हम दोनों (ब्रह्माजी एवं भगवान् विष्णु) के इस संवादका अध्ययन करेगा, वह मनुष्य ब्रह्मनिष्ठ हो जायगा। जो श्रद्धावान् तथा असूया (दोषदृष्टि) रहित होकर सुनेगा या हम दोनोंके इस संवादको पढ़ेगा, वह पुरुष मेरे सायुज्यको प्राप्त करेगा' ॥ २१-२३ ॥

(इतना कहकर) तब महाविष्णु अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् ब्रह्माजी अपने स्थान (ब्रह्मलोक) को चले गये ॥ २४ ॥

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

॥ उत्तरकाण्ड समाप्त ॥

॥ अथर्ववेदीय त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

नारदपरिव्राजकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम उपदेश

नारद-शौनक-संवाद

एक समयकी बात है, परिव्राजकोंके समुदायको सुशोभित करनेवाले नारदजी सब लोकोंमें विचरण कर रहे थे। उन्होंने अपूर्व-अपूर्व पुण्य-स्थलों एवं पुण्य-तीर्थोंमें जाकर उन्हें और भी पवित्र बनाया और उन तीर्थोंके दर्शनसे स्वयं भी चित्तशुद्धि प्राप्त की। उनके मनमें कहीं किसी भी प्राणीके प्रति वैरका भाव नहीं था। उनका मन शान्त था और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो गयी थीं। वे सब ओरसे विरक्त होकर अपने स्वरूपके अनुसंधानमें लगे हुए थे। घूमते-घूमते वे नैमिषारण्यमें आये, जो नियमजनित आनन्दके कारण विशेषरूपसे गणना करनेयोग्य पवित्र तीर्थ है। वह स्थान असंख्य मुनिजनोंसे भरा हुआ था। उन्होंने उस पुण्य-स्थलीका दर्शन किया। वे अपनी वीणाके तारोंसे वैराग्य-बोधक 'स रि ग म प ध नि' इन स्वरविशेषोंका झंकार कर रहे थे। वे जागतिक चर्चासे दूर रहकर मुखसे भगवान्‌की मधुर कथाके गीत अलाप रहे थे। उन्हें सुनकर स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी आनन्दसे झूम उठते थे। वे उस भक्तिप्रधान संगीतसे मनुष्य, मृग, किम्पुरुष, देवता, किंनर तथा अप्सराओंको भी मोहित कर रहे थे। नैमिषारण्यमें बारह वर्षोंका सत्रयाग चल रहा था। उसमें वेदाध्ययनसे सम्पन्न, सर्वज्ञ, तपस्यामें संलग्न रहनेवाले और ज्ञान-वैराग्यसे विभूषित शौनक आदि महर्षि सम्मिलित हुए थे। उन्होंने परम भागवत ब्रह्मकुमार देवर्षि नारदको आया देख उनकी अगवानी की। उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और यथायोग्य अतिथि-सत्कार करके उन्हें एक सुन्दर आसनपर बैठाया। फिर स्वयं भी सब लोग यथास्थान बैठ गये। तत्पश्चात् शौनक आदि महर्षियोंने विनयपूर्वक उनसे पूछा—'भगवन्! ब्रह्मकुमार नारदजी! संसार-बन्धनसे मुक्ति कैसे होती है? उस मुक्तिका उपाय क्या है—यह हमलोगोंको बतानेकी कृपा करें' ॥ १ ॥

उनके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वे त्रिभुवनप्रसिद्ध देवर्षि नारदजी इस प्रकार बोले—'उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुष यदि उपनयन-संस्कारसे युक्त न हुआ हो तो पहले विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार कराये। फिर चौवालीस* संस्कारोंसे सम्पन्न

---

* चौवालीस संस्कार इस प्रकार हैं—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) विष्णुबलि, (५) जातकर्म, (६) नामकरण, (७) उपनिष्क्रमण, (८) अन्नप्राशन, (९) चूडाकर्म, (१०) कर्णवेध, (११) अक्षरारम्भ, (१२) उपनयन, (१३) व्रतारम्भ, (१४) समावर्तन, (१५) विवाह, (१६) उपाकर्म, (१७) उत्सर्जन।

सप्त पाकयज्ञ-संस्था

(१८) हुत, (१९) प्रहुत, (२०) आहुत, (२१) शूलगव, (२२) बलिहरण, (२३) प्रत्यवरोहण, (२४) अष्टकाहोम।

सप्त हविर्यज्ञ-संस्था

(२५) अग्न्याधान, (२६) अग्निहोत्र, (२७) दर्श-पूर्णमास, (२८) चातुर्मास्य, (२९) आग्रयणेष्टि, (३०) निरूढपशु-बन्ध, (३१) सौत्रामणी।

सप्त सोमयज्ञ-संस्था

(३२) अग्निष्टोम, (३३) अत्यग्निष्टोम, (३४) उक्थ्य, (३५) षोडशी, (३६) वाजपेय, (३७) अतिरात्र, (३८) आप्तोर्याम।

(३९) वानप्रस्थ, (४०) संन्यास—ये तो चालीस संस्कार हैं; इनके साथ शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय—ये चार और गिन लेनेसे चौवालीस संस्कार होते हैं।

और अपने मनके अनुरूप एक गुरुके समीप निवास करे। वहाँ गुरुकी सेवा करते हुए पहले अपनी शाखाका अध्ययन करे। फिर क्रमशः सम्पूर्ण विद्याओंका अभ्यास करते हुए बारह वर्षोंतक गुरु-सेवापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करे। तत्पश्चात् क्रमशः पचीस वर्षोंतक गृहस्थ-धर्मका और पचीस वर्षोंतक वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करे। चार प्रकारके ब्रह्मचर्य,* छः प्रकारके गार्हस्थ्य† तथा चार प्रकारके वानप्रस्थ‡-धर्मका भलीभाँति अभ्यास करके उन-उन आश्रमोंके उचित समस्त कर्मोंका यथावत् अनुष्ठान करे। फिर साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो समस्त संसारसे ऊपर उठकर मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा सब प्रकारकी आशाको त्याग दे। इसी प्रकार वासनाओं और एषणाओंके भी ऊपर उठे—उनका भी त्याग कर दे। फिर सबके प्रति वैरभावका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए संन्यासी हो जाय। परमहंस-आश्रम (संन्यास) में रहकर अपने अच्युतस्वरूपका चिन्तन करते हुए जो शरीर-त्याग करता है, वह मुक्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद् (गूढ़ रहस्यमय ज्ञान) है ॥ २ ॥

॥ प्रथम उपदेश समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय उपदेश

संन्यास-ग्रहणका क्रम

तदनन्तर वे शौनक आदि सम्पूर्ण महर्षि इन भगवान् नारदजीसे विनयपूर्वक बोले—'भगवन्! हमें संन्यासकी विधि बताइये।' नारदजीने उनकी ओर देखकर कहा—'संन्यासका सारा स्वरूप लोकपितामह ब्रह्माजीके मुखसे ही समझना उचित होगा।' यों कहकर सत्रयागकी पूर्तिके पश्चात् उन सबको साथ ले वे सत्यलोकमें गये और विधिवत् ब्रह्मचिन्तनमें लगे हुए परमेष्ठीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति करनेके अनन्तर पितामहकी आज्ञासे वे सबके साथ वहाँ यथायोग्य आसनपर बैठे। तदनन्तर नारदजीने पितामहसे कहा—"भगवन्! आप हमारे गुरु, पिता, सम्पूर्ण विद्याओंके रहस्यको जाननेवाले तथा सर्वज्ञ हैं। अतः आप मुझे एक रहस्यकी बात, जो मुझे बहुत प्रिय है,

* चार प्रकारके ब्रह्मचारी ये हैं—गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य तथा बृहन्। इनमेंसे उपनयनके बाद जो तीन राततक बिना नमकका भोजन करके गायत्रीका जप करता है, वह गायत्र है; जो वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह ब्राह्म है, जो एक वर्षतक वैदिकव्रत (ब्रह्मचर्य) का पालन करता है, वह प्राजापत्य कहलाता है और जो मृत्युपर्यन्त गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी बृहन् कहा गया है।

† छः प्रकारके गृहस्थोंके नाम ये हैं—वार्ताक, शालीन, यायावर, घोर संन्यासिक, उञ्छवृत्ति और अयाचित। इनमें जो खेती, गो-रक्षा और वाणिज्यरूप वैश्योचित वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हुए स्व-धर्मका पालन करता है, वह वार्ताक कहलाता है; जो यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें संलग्न रहकर याजन, अध्यापन और प्रतिग्रहके द्वारा जीवन-निर्वाह करता है, वह शालीन माना गया है; जो सत्पुरुषोंके घरोंपर जा-जाकर उनसे थोड़ा-थोड़ा माँगकर अपने कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये आवश्यक अन्नका संग्रह करता है, वह यायावर कहलाता है; जो अपने हाथसे निकाले हुए पवित्र जलसे सब कार्य करते हुए प्रतिदिन साधुपुरुषोंसे एक दिनके निर्वाहके लिये अन्न ग्रहण करता है, वह घोर संन्यासिक है; जो खेत कट जानेपर या बाजार उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए अनाजके दानोंको चुन-चुनकर लाता है और उन्हींसे जीवन-निर्वाह करता है, उसे उञ्छ कहते हैं और जो किसीसे याचना न करके दैवेच्छासे प्राप्त हुए अन्नपर ही जीवन-निर्वाह करता है, वह अयाचक कहलाता है।

‡ वानप्रस्थके भी चार भेद हैं—वैखानस, औदुम्बर, वालखिल्य और फेनप। इनमेंसे जो बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए नीवार आदि जंगली अन्नोंसे अग्निहोत्र आदि कर्म करता है, वह वैखानस कहलाता है; जो सबेरे उठते ही जिस दिशाकी ओर दृष्टि जाय, उसी दिशामें जाकर वहाँके गूलर, बेर आदि फलों तथा नीवार और श्यामाक आदि अन्नोंका संग्रह करके उन्हींसे प्रतिदिन जीविका चलाता है, वह औदुम्बर माना गया है; जो जटा और वल्कल धारण करके आठ महीनोंतक वृत्ति उपार्जन करता, चौमासेमें संगृहीत अन्नका भोजन करता तथा कार्तिकी पूर्णिमाको संगृहीत फूल और फलका त्याग करता है, वह वालखिल्य कहलाता है; तथा जो सूखे पत्ते और फलका आहार करते हुए जहाँ-कहीं भी रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसे फेनप कहते हैं।

बतलानेकी कृपा करें। आपके सिवा दूसरा कौन है, जो मेरे अभीष्ट रहस्यका भलीभाँति प्रतिपादन कर सके। यदि कहें, 'पूछो, वह तुम्हारा अभीष्ट विषय क्या है?' तो सुनिये। मेरी प्रार्थना है कि यहाँ बैठे हुए हम सब लोगोंसे आप संन्यासके स्वरूप और क्रमका वर्णन करें।'

इस प्रकार नारदजीके प्रार्थना करनेपर ब्रह्माजीने सब ओर दृष्टिपात करके सबको देखा और दो घड़ीतक वे जन्म-मृत्युरूप सांसारिक क्लेशके निवारणका उपाय ढूँढ़नेके लिये समाधिनिष्ठ हो गये। समाधिके द्वारा किसी निश्चयपर पहुँचकर ब्रह्माजीने पुनः नारदजीकी ओर देखा और इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

'बेटा नारद! पूर्वकालमें पुरुषसूक्त और उपनिषदोंमें वर्णित गूढ़ रहस्यके अनुरूप सर्वोत्कृष्ट दिव्य विग्रह धारण करनेवाले भगवान् विराट् पुरुषने जिस रहस्यका उपदेश मुझे दिया था; उसीको सोच-विचारकर मैं तुम्हें बतलाता हूँ। संन्यासका स्वरूप और क्रम अत्यन्त गूढ़ है। अतः तुम पूर्ण सावधान होकर उसे सुनो। नारद! उत्तम कुलमें उत्पन्न और माता-पिताकी आज्ञाके अधीन रहनेवाला बालक यदि उपनयन-संस्कारसे सम्पन्न न हुआ हो तो सबसे पहले विधि-पूर्वक उसका उपनयन-संस्कार होना चाहिये। तत्पश्चात् वह अपने पिताके समीपसे अन्यत्र किसी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए सद्गुरुकी सेवामें उपस्थित होवे। वे सद्गुरु किसी श्रेष्ठ सम्प्रदायमें स्थित, श्रद्धालु, श्रोत्रिय, शास्त्रके प्रति अनुराग रखनेवाले, गुणवान् तथा सरल हों। उनके पास पहुँचकर शिष्य गुरुके चरणोंमें नमस्कार करे और आवश्यक सेवा-शुश्रूषाके अनन्तर गुरुको अपना अभीष्ट बताये। फिर बारह वर्षोंतक गुरुकी सेवा करते हुए सम्पूर्ण विद्याओंका अभ्यास करे। अध्ययन समाप्त करके गुरुकी आज्ञासे किसी ऐसी कन्याके साथ विवाह करे, जो उसके कुलके योग्य तथा मनके अनुरूप हो। फिर पचीस वर्षोंतक गुरुकुलवास करके गुरुकी आज्ञासे गृहस्थोचित कर्म करते हुए,—ब्राह्मणोंके लिये जो दोषकी बातें हैं, उनका त्याग करके,—अपने वंशकी वृद्धिके उद्देश्यसे एक पुत्र उत्पन्न करे। और गृहस्थोचित पचीस वर्ष व्यतीत करनेके अनन्तर वानप्रस्थका आश्रय ले। उसमें भी पचीस वर्षोंतक तीनों समय स्नान करते हुए दिनके चौथे पहरमें एक बार भोजन करे, अकेला होकर ही वनमें रहे, ग्राम और नगरके पूर्वपरिचित मार्गोंको छोड़ दे और बिना जोते-बोये उत्पन्न तिन्नीके चावल आदि संग्रह करके उसीके द्वारा आश्रमोचित धर्मका निर्वाह करते हुए, दृष्ट और श्रुत लोक और परलोकके भोगोंसे पूर्णतः विरक्त हो जाय। चालीस संस्कारोंसे सम्पन्न हो, सब ओरसे वैराग्य धारणकर चित्तशुद्धि प्राप्त करे। और आशा, असूया, ईर्ष्या (दोषदृष्टि), तथा अहङ्कार आदि दोषोंको भस्म करके साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होवे। ऐसा होनेपर वह संन्यास लेनेका अधिकारी हो जाता है। यह उपनिषद् है' ॥ १-२ ॥

॥ द्वितीय उपदेश समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय उपदेश

संन्यासके अधिकारी, स्वरूप, विधि, नियम एवं आचार आदिका निरूपण

तदनन्तर देवर्षि नारदने अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! किस प्रकार संन्यास लिया जाता है? तथा संन्यासका अधिकारी कौन है?' ब्रह्माजीने कहा—'अच्छा, पहले संन्यासका अधिकारी कौन है, इसका निरूपण करके पश्चात् संन्यासकी विधि बतायी जायगी; सावधान होकर सुनो। नपुंसक, पतित, किसी अङ्गसे हीन, स्त्रीके प्रति अधिक आसक्त, बहरा, बालक, गूँगा, पाखण्डी, चक्री (षडयन्त्रकारी), लिङ्गी (वेषधारी), वैखानसहर द्विज, वेतन लेकर अध्यापन करनेवाला, शिपिविष्ट (गंजा अथवा कोढ़ी) तथा अग्निहोत्र न करनेवाला—ये वैराग्यवान् होनेपर भी संन्यासके अधिकारी नहीं हैं। यदि संन्यास ले भी लें, तो भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंका उपदेश प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं होते। जो पहलेसे ही संन्यासी है, अर्थात् कर्मफलकी इच्छा न रखते हुए वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करता है, वही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी है ॥ १ ॥

'जो दूसरोंसे स्वयं नहीं डरता तथा दूसरोंको अपनेद्वारा भय नहीं पहुँचाता, वही परिव्राजक (संन्यासी) है—ऐसा स्मृतियोंका कथन है। नपुंसक, किसी अङ्गसे हीन, अंधा, बालक, पापी, पतित, परस्त्रीगामी, वैखानसहर द्विज, चक्री, लिङ्गी, पाखण्डी, शिपिविष्ट, अग्निहोत्र न करनेवाला, दो-तीन बार संन्यास ग्रहण करनेवाला तथा वेतन लेकर अध्यापन करनेवाला—ये आतुर-संन्यासके सिवा क्रम-संन्यासके अधिकारी नहीं होते ॥ २—४ ॥

'यदि कहो, आतुर संन्यासका कौन-सा समय विद्वानोंको मान्य है, तो सुनो। जब प्राण निकलनेका समय अत्यन्त निकट हो, वह आतुर-संन्यासका ठीक समय माना गया है। इससे भिन्न समयको ठीक नहीं माना गया है। आतुर संन्यास यदि ठीक समयसे हो तो वह मुक्तिमार्गकी प्राप्ति करानेवाला होता है। आतुर-संन्यासमें भी विद्वान् पुरुष शास्त्रविहित मन्त्रोंका पाठ करते हुए विधिवत् सब आवश्यक कृत्य करके ही मन्त्रोच्चारणपूर्वक संन्यास ग्रहण करे। आतुर-संन्यास हो चाहे क्रम-संन्यास, उसके विधि-विधानमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्म मन्त्रकी अपेक्षा करता है और कोई भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जो किसी-न-किसी कर्मसे सम्बन्ध न रखता हो। मन्त्रहीन कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है। अतः मन्त्रका परित्याग न करे। यदि मन्त्रके बिना कर्म करे तो वह राखमें छोड़ी हुई आहुतिके समान व्यर्थ होता है। मुने! शास्त्रविधिके अनुसार बताये हुए कर्मको संक्षेपमें करनेसे आतुर-संन्यास सम्पन्न होता है। इसलिये आतुर-संन्यासमें मन्त्रोंका बार-बार उच्चारण आवश्यक एवं विहित है ॥ ५—९ ॥

'यदि अग्निहोत्री पुरुष देशान्तरमें गया हुआ हो और उसे वैराग्य हो जाय तो जलमें ही प्राजापत्येष्टि करके तत्काल संन्यास ले ले। यह प्राजापत्य याग केवल मनसे करे अथवा विधिमें बताये अनुसार मन्त्रोंका उच्चारणमात्र करके करे अथवा वेदोक्त अनुष्ठान-पद्धतिके अनुसार विधिवत् कर्म-अनुष्ठान करे। यह सब करके ही विद्वान् पुरुष संन्यास ग्रहण करे। अन्यथा वह पतित हो जाता है ॥ १०-११ ॥

'जब मनमें सब पदार्थोंकी ओरसे पूर्ण वैराग्य हो जाय, तभी संन्यासकी इच्छा करनी चाहिये। इसके विपरीत आचरण करनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। विरक्त बुद्धिमान् संन्यास ग्रहण करे और रागवान् पुरुष घरपर ही निवास करे। जो मनमें राग (आसक्ति) होते हुए भी संन्यास ग्रहण करता है, वह द्विजोंमें अधम है तथा उसे नरककी प्राप्ति होती है ॥ १२-१३ ॥

'जिसकी जिह्वा, शिश्नेन्द्रिय, उदर और हाथ आदि सभी इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हों तथा जिसने विवाह न किया हो, ऐसा ब्रह्मचारी ब्राह्मण ही संन्यास ले। संसारको सारहीन समझकर सार वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छासे बुद्धिमान् पुरुष पूर्ण वैराग्यका आश्रय लेकर विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेते हैं। कर्म ही प्रवृत्ति (संसारमें प्रवृत्त होने) का लक्षण है और ज्ञान ही संन्यासका मुख्य लक्षण है। अतः बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानको सामने रखकर ही यहाँ संन्यास ग्रहण करे ॥ १४—१६ ॥

'जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्मका ज्ञान हो जाय, तब एक दण्ड धारण करके यज्ञोपवीतसहित शिखाको त्याग दे। जो परमात्मामें अनुरक्त और उनसे भिन्न वस्तुओंकी ओरसे विरक्त है, जिसके मनसे लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा—ये सभी एषणाएँ निकल गयी हैं, वही भिक्षान्नभोजन करने (संन्यास लेने) का अधिकारी है। जैसे साधारण मनुष्य अपनी पूजा और वन्दना होनेपर अत्यधिक प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता जब डंडोंसे पीटे जानेपर भी हो, तभी वह भिक्षु होनेका अधिकारी होता है। मैं ही वासुदेव नामसे प्रसिद्ध अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म हूँ—ऐसा भाव जिसके मनमें दृढ़ हो गया है, वही भिक्षान्नभोजनका अधिकारी है। जिस पुरुषमें शान्ति, शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रियनिग्रह), शौच, संतोष, सत्य, सरलता, कुछ भी संग्रह न करनेका भाव तथा दम्भका अभाव हो, वही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे। जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापका भाव नहीं रखता, तभी संन्यासका अधिकारी होता है। (मनुप्रोक्त) दस प्रकारके धर्मोंका अनुष्ठान करते हुए एकाग्रचित्त हो विधिपूर्वक उपनिषदोंका श्रवण करे तथा ब्रह्मचर्य-पालन एवं स्वाध्यायद्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञानुष्ठानद्वारा देव-ऋणसे और पुत्रकी उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त होकर (विरक्त) द्विज संन्यास ग्रहण करे। धृति, क्षमा, दम (मनोनिग्रह), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, ह्री (निषिद्ध कर्म एवं अविनय आदिसे स्वाभाविक संकोच), विद्या, सत्य तथा अक्रोध (क्रोधका अभाव)—ये दस धर्मके स्वरूप हैं। जो भूतकालमें किये हुए भोगोंका चिन्तन, भविष्यमें मिलनेवाले भोगोंकी आकाङ्क्षा तथा वर्तमान समयमें प्राप्त हुए भोगोंका अभिनन्दन नहीं करता, वही संन्यास-आश्रममें निवास कर सकता है। जो अन्तःकरणमें स्थित इन्द्रियोंको अपने भीतर और बाहरके विषयोंको बाहर ही रोक रखनेमें सदा समर्थ है, वही संन्यास-आश्रममें निवास करे। जैसे प्राण निकल जानेपर शरीर सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार प्राण रहते हुए भी जिसपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता, वही संन्यास-आश्रममें निवास करनेका अधिकारी है ॥ १७—२७ ॥

'दो कौपीन (लँगोटियाँ), एक कन्था (गुदड़ी) और एक दण्ड—इतनी ही वस्तुओंका परमहंस संन्यासीको संग्रह करनेका अधिकार है; इससे अधिक संग्रहका उसके लिये विधान नहीं

है। यदि रागवश अधिक वस्तुओंका संग्रह करता है तो वह मृत्युके पश्चात् रौरव नरकमें जाकर पुनः पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेता है। शीत आदिसे बचनेके लिये फटे-पुराने साफ कपड़ोंको सीकर एक गुदड़ी बना ले और बस्तीसे बाहर रहकर गेरुए रंगका वस्त्र धारण करे। संन्यासी एक ही वस्त्र धारण करे अथवा बिना वस्त्रके ही (दिगम्बर) रहे। दृष्टिको इधर-उधर चारों ओर न ले जाकर एक ही स्थानपर नियन्त्रित रक्खे। मनमें किसी भी वस्तुके लिये लोभ न आने दे। सदा अकेला ही विचरण करे। वर्षा ऋतुमें किसी एक ही स्थानपर निवास करे। कुटुम्ब, स्त्री-पुत्र, (व्याकरण आदि) वेदाङ्गोंके ग्रन्थ, यज्ञ और यज्ञोपवीतका त्याग करके संन्यासीको सर्वत्र गूढ़ भावसे (बिना अपना विज्ञापन किये) विचरण करना चाहिये॥ २८—३२॥

'काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उन सबका परित्याग करके संन्यासी सब ओरसे ममताको हटा ले। अपने मनमें राग और द्वेषको स्थान न दे। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझे। प्राणियोंकी हिंसासे सर्वथा दूर रहे तथा सब ओरसे निःस्पृह होकर मुनिवृत्तिसे रहे। जो दम्भ और अहङ्कारसे मुक्त है, हिंसा और चुगली आदि दोषोंसे दूर है तथा आत्मज्ञानके लिये उपयोगी गुणोंसे सुशोभित है, वह संन्यासी मोक्षको प्राप्त होता है। इन्द्रियोंकी विषयोंमें आसक्ति रहनेपर मनुष्य निःसंदेह अनेक प्रकारके दोषोंमें फँस जाता है; किंतु यदि उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी प्रकार वशमें कर ले तो वह (मोक्षरूप) सिद्धिको प्राप्त होता है। विषय-भोगोंकी कामना भोगोंके उपभोगसे कदापि शान्त नहीं होती। भोगसे तो वह उल्टे बढ़ती ही है—ठीक उसी तरह, जैसे घी डालनेसे आग और भी प्रज्वलित हो उठती है। जो मधुर या कटु शब्द सुनकर, कोमल या कठोर वस्तुका स्पर्श कर, स्वादिष्ठ या स्वादहीन भोजन करके, सुन्दर या विकृत रूप देखकर और सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघकर न तो हर्षसे फूल उठता है और न ग्लानिका ही अनुभव करता है, उसीको जितेन्द्रिय जानना चाहिये। जिसके मन और वाणी शुद्ध हैं तथा सर्वदा भलीभाँति दोषोंसे सुरक्षित (बचे हुए) हैं, वही वेदान्तश्रवणका पूर्ण फल प्राप्त करता है। ब्राह्मण सम्मानसे विषकी भाँति उद्विग्न रहे और अपमानको अमृतकी भाँति समझकर सदा उसकी अभिलाषा करे। अपमानित पुरुष सुखसे सोता, सुखसे जागता और इस लोकमें सुखसे ही विचरता है; किंतु अपमान करनेवाला स्वतः नष्ट हो जाता है। अतिवादों (कठोर वचनों) को सहन करे, किसीका अनादर न करे तथा इस (नश्वर) देहको लेकर किसीके साथ वैर न करे। जो अपने ऊपर क्रोध करता है, उसके प्रति बदलेमें क्रोध न करे। यदि वह गाली देता हो, तो भी स्वयं तो उसे अच्छी ही बात कहे। दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाछिद्र और एक मुख—इन सातों द्वारोंके अनुभवसे सम्बन्ध रखनेवाली वाणीको कभी असत्यरूपमें न बोले। सुख चाहनेवाला पुरुष अध्यात्मतत्त्वमें अनुराग रखकर स्थिरभावसे बैठे, किसीसे कोई अपेक्षा न रक्खे, मनसे सब तरहकी कामनाओंको निकाल दे तथा अपने सिवा किसी दूसरेको सहायक न बनाकर अकेला ही इस संसारमें विचरता रहे। इन्द्रियोंको वशमें रखने, राग-द्वेषका नाश करने तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेसे मनुष्य अमृतत्व (मोक्ष) का अधिकारी होता है। यह शरीर रोगोंका घर है, इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। स्नायुजालकी डोरीसे यह बँधा है। मांस और रक्त इसपर थोप दिया गया है। इसे चमड़ेसे मढ़ दिया गया है। यह मल और मूत्रसे सदा ही पूर्ण रहता है। इससे दुर्गन्ध निकलती रहती है। बुढ़ापे और शोकसे व्याप्त होनेके कारण यह सदा आतुर (असमर्थ) रहता है। वीर्य और रजसे उत्पन्न होनेके कारण यह रजस्वल (रजोगुणी अथवा धूलसे भरा हुआ) है। साथ ही यह अनित्य भी है (आज गिरेगा या कल, इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है)। इसमें पाँच भूत सदा ही डेरा डाले रहते हैं; अतः इसे त्याग दे (इसके प्रति अहंता और ममता न रक्खे)। यदि मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, मल, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियोंके समुदायभूत इस शरीरसे प्रेम करता है तो वह नरकसे भी अवश्य प्रेम करेगा। इस शरीरमें जो अहंभाव है, वही कालसूत्र नामक नरकका मार्ग है, वही महावीचि नामक नरकमें ले जानेके लिये बिछा हुआ जाल है। तथा वही असिपत्र वन नामक नरककी श्रेणी है। शरीरमें होनेवाली अहंता कुत्तेका मांस लेकर चलनेवाली चाण्डालिनीके समान है। उसको सब प्रकारके यत्नोंद्वारा त्याग दे। सर्वनाश उपस्थित हो, तो भी कल्याणकामी पुरुषको उसका स्पर्शतक नहीं करना चाहिये। अपने प्रियजनोंमें सुकृत (पुण्य) को और अप्रियजनोंमें दुष्कृत (पाप) को छोड़कर—स्वयं उनसे सम्बन्ध न रखकर ध्यानयोगके द्वारा साधक सनातन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सम्पूर्ण आसक्तियों-का त्याग करके संन्यासी पुरुष सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे मुक्त हो परब्रह्म परमात्मामें ही स्थिति प्राप्त करता है। सिद्धिलाभके

लिये किसी दूसरेको साथी न बनाकर सदा अकेला ही विचरण करे। एककी सिद्धि देखकर संन्यासी न तो अपने साधनको छोड़ता है और न सिद्धिसे वञ्चित होता है ॥ ३३—५३ ॥

'पानी पीनेके लिये कपाल (लकड़ी या नारियलका पात्र), रहनेके लिये किसी वृक्षकी जड़, पहननेको फटे पुराने कपड़े, सदा अकेले रहनेका स्वभाव और सबमें समताका भाव—यही जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है। संन्यासी सम्पूर्ण भूतोंका हितैषी हो, शान्तभावसे रहे, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करे, एकमात्र आत्मामें ही रमण करनेवाला हो तथा सब कुछ छोड़कर अकेला घूमता रहे। केवल भिक्षाके लिये ही वह गाँवमें प्रवेश करे। संन्यासी यदि अकेला रहे, तभी वह शास्त्रीय आदेशके अनुसार यथार्थ भिक्षु होता है। एकसे दो होते ही वह 'मिथुन' (जोड़ा) माना गया है। तीनका समुदाय होनेपर उसे 'गाँव' कहा गया है; तथा इससे अधिक व्यक्ति एक साथ हो जायँ, तब तो पूरा नगर-सा ही हो जाता है। संन्यासीको कभी अपने पास अधिक व्यक्तियोंको आनेका अवसर देकर नगर, गाँव अथवा मिथुनकी स्थिति नहीं उत्पन्न करनी चाहिये। इन तीनों (नगर, ग्राम और मिथुन) का आयोजन करनेवाला संन्यासी अपने धर्मसे गिर जाता है। अनेक व्यक्तियोंका एकत्र संयोग होनेपर उनमें या तो राजा—प्रभु, सेठ आदिकी बातें होंगी; अथवा कहाँ कैसी भिक्षा मिलती है—यह चर्चा शुरू हो जायगी; अथवा परस्पर स्नेह, चुगली और मत्सरता आदिके भाव उत्पन्न होंगे। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। संन्यासी निःस्पृह होकर सदा अकेला रहे। किसीके साथ वार्तालाप न करे। वह सदा 'नारायण' कहकर ही दूसरोंकी बात या नमस्कार आदिका उत्तर दे। वह एकाकी रहकर मन, वाणी, शरीर तथा क्रियाद्वारा केवल ब्रह्मका ही चिन्तन करे। किसी तरह भी मृत्यु या जीवनका अभिनन्दन न करे। जबतक आयु पूरी न हो, तबतक केवल कालकी ही प्रतीक्षा करता रहे। न तो वह मृत्युकी प्रशंसा करे और न जीवनका अभिनन्दन करे। जैसे भृत्य अपने स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार वह एकमात्र कालकी प्रतीक्षा करे। (जिह्वारहित), नपुंसक, लूला, अंधा, बहिरा एवं मुग्ध (जड) की भाँति रहनेवाला भिक्षु—इन छः प्रकारके गुणोंसे निश्चय ही मुक्त हो जाता है। जो भोजन करते हुए भी 'यह स्वादिष्ट है, यह स्वादयुक्त नहीं है।' इस भावसे अन्नके रसमें आसक्त नहीं होता तथा हितकर, सत्य और नपी-तुली बात कहता है, उसे 'अजिह्व' (जिह्वारहित) कहते हैं। जो आजकी जन्मी हुई नवजात कन्या, सोलह वर्षोंकी युवती नारी तथा सौ वर्षोंकी आयुवाली वृद्धा स्त्रीको देखकर कहीं भी राग-द्वेष आदि विकारोंके वशीभूत नहीं होता, वह 'षण्डक' (नपुंसक) कहा गया है। भिक्षाके लिये तथा मल-मूत्रका त्याग करनेके लिये ही जिसका घूमना होता है, और एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिये भी जो प्रतिदिन एक योजन (चार कोस) से आगे नहीं जाता (एक योजनका रास्ता तै करके शेष समय ध्यान आदिमें व्यतीत करता है), वह 'पङ्गु' (लूला) ही है। चलते या खड़ा होते समय जिसके नेत्र चार युग (लगभग दस हाथ) भूमि छोड़कर इससे अधिक दूरतक नहीं देखते, वह संन्यासी 'अन्ध' कहलाता है। हितकी बात हो या अहितकी, मनको सुख देनेवाली बात हो या शोक प्रदान करनेवाली, उसे सुनकर भी जो मानो नहीं सुनता (उसपर ध्यान नहीं देता), वह 'बधिर' कहा गया है। विषय अपने समीप हों, शरीरमें शक्ति हो और सभी इन्द्रियाँ स्वस्थ हों, तब भी जो सोये हुए पुरुषकी भाँति उन विषयोंके प्रति आकृष्ट नहीं होता, उस भिक्षुको 'मुग्ध' (भोलाभाला) कहते हैं ॥ ५४–६८ ॥

'नट आदिके खेल, जूआ, युवती स्त्री, सम्बन्धियों, भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा रजस्वला स्त्री—इन छः वस्तुओंकी ओर संन्यासी कभी दृष्टिपात न करे। राग, द्वेष, मद, माया, दूसरोंके प्रति द्रोह तथा अपनोंके प्रति मोह—इन छः बातोंको संन्यासी कभी मनसे भी न सोचे। मञ्च (कुर्सी), श्वेत वस्त्र, स्त्रियोंकी चर्चा, इन्द्रियोंकी लोलुपता, दिनमें सोना और सवारीपर चलना—ये संन्यासियोंके लिये छः पातक हैं। आत्मचिन्तन करनेवाला संन्यासी दूरकी यात्राका यत्नपूर्वक त्याग करे ॥ ६९–७१ ॥

'संन्यासी सदा मोक्षकी हेतुभूता उपनिषद्-विद्याका अभ्यास करे। वह न तो सदा तीर्थोंका सेवन करे और न अधिक उपवास ही करे। वह अधिक विद्याएँ पढ़नेका स्वभाव न बनाये। सभाओंमें व्याख्यान देनेवाला न बने। सदा ऐसा बर्ताव करे जिसमें पाप, शठता और कुटिलता न हो। जैसे कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर जो इन्द्रिय और मनके व्यापारको क्षीण कर देता है, कामना और परिग्रहसे मुँह मोड़ लेता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होता, नमस्कार (भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुति) और स्वधा (श्राद्ध-तर्पण) को छोड़ देता है,

ममता और अहङ्कारसे शून्य हो जाता है, किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, निष्काम तथा एकान्तसेवी हो जाता है, वह निश्चय ही संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ७२—७६ ॥

'प्रमादरहित, कर्म, भक्ति एवं ज्ञानसे सम्पन्न तथा केवल आत्माके ही अधीन रहनेवाला साधक, चाहे वह—ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ—कोई भी क्यों न हो, वैराग्य होनेपर संन्यास ग्रहण कर सकता है। अथवा यदि वैराग्य मन्द होनेके कारण उन-उन आश्रमोंमें प्रधानतः आस्था बनी हुई हो तो पहले ब्रह्मचर्याश्रमकी अवधि पूरी करके गृहस्थ बने, गृहस्थसे वानप्रस्थ हो जाय और वानप्रस्थ होनेके अनन्तर संन्यास ले। अथवा तीव्र वैराग्य होनेपर ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यासमें प्रवेश करे। या गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रमसे संन्यास ग्रहण करे। अथवा ब्रह्मचारी हो या अब्रह्मचारी, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्र त्याग चुका हो या उससे अलग ही रहा हो—जिस दिन उसे वैराग्य हो, उसी दिन वह घर छोड़कर संन्यासी हो जाय। संन्यास-आश्रममें प्रवेशके समय कुछ विद्वान् प्राजापत्य नामक इष्टि करते हैं; उसे करे अथवा न करे। अथवा केवल 'आग्नेयी' इष्टिका ही अनुष्ठान करे (अग्नि देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण यह इष्टि 'आग्नेयी' कहलाती है)। अग्नि ही प्राण है, अतः इस आग्नेयी इष्टिद्वारा साधक प्राणका ही पोषण करता है। अथवा 'त्रैधातवीया' इष्टि का ही (जिसका इन्द्र देवतासे सम्बन्ध है) अनुष्ठान करे। सत्त्व, रज और तम—ये ही तीन धातु हैं, जिनका इस त्रैधातवीय इष्टिके द्वारा हवन किया जाता है। शास्त्रोक्त विधिसे इष्टि करके 'अयं ते योनिः···'* इस मन्त्रसे अग्निको सूँघे। मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—'हे अग्निदेव! यह समष्टि प्राण तुम्हारे आविर्भावका कारण है। यह प्राण ही संवत्सरात्मक काल है, जिससे उत्पन्न होकर तुम उत्तम कान्तिसे देदीप्यमान हो रहे हो। अपनी उत्पत्तिके कारणभूत इस प्राणको जानकर तुम इसीमें स्थित हो जाओ और इस प्रकार हमारे प्राणसे तादात्म्य प्राप्त करके हमारे ज्ञानरूपी धनको बढ़ाओ।' निश्चय ही यह प्राण अग्निकी उत्पत्तिका कारण है। इसलिये 'प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा' (हे अग्निदेव! तुम प्राणको प्राप्त कर, अपने कारणको प्राप्त कर उसके साथ एक हो जाओ) इसी प्रकार यह मन्त्र कहता है। (इसी प्रकार साधक भी कहे।)

'आहवनीय अग्निमेंसे अग्नि ले जाकर पूर्वोक्त प्रकारसे इष्टि करके अग्निको सूँघे। यदि अग्नि न मिल सके तो जलमें ही हवन करे। 'निश्चय ही सम्पूर्ण देवता जलस्वरूप हैं। सम्पूर्ण देवताओंके लिये मैं हवन करता हूँ, यह उन्हें प्राप्त हो' (**आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहा**) यों कहकर हवन करे। फिर उस जलमेंसे थोड़ा-सा जल उठाकर उसका आचमन कर ले। वह घृतयुक्त जल आरोग्यकारक एवं मोक्षदायक होता है। फिर शिखा, यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन एवं अन्यान्य मन्त्रोंका जप त्यागकर ही आत्मवेत्ता पुरुष परिव्राजक (संन्यासी) होता है। त्रैधातवीय मोक्षसम्बन्धी मन्त्रोंसे ब्रह्मको जाने। जो सत्य, ज्ञान आदि लक्षणोंसे युक्त है, वही ब्रह्म है, वही उपासनाके योग्य है। यह ठीक ऐसा ही है' ॥ ७७—७९ ॥

नारदजीने ब्रह्माजीसे पुनः प्रश्न किया—'यज्ञोपवीत न रहनेपर वह ब्राह्मण कैसे रह सकता है?' तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'विद्वान् पुरुष शिखासहित सम्पूर्ण सिरके बालोंका मुण्डन कराके शरीरपर यज्ञोपवीतके रूपमें धारण किये जानेवाले बाह्य सूत्रको तो त्याग दे और जो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हींको सबमें व्यापक सूत्ररूप समझकर अपने भीतर धारण करे। जो सूचन (ज्ञान) का हेतु हो, उसे 'सूत्र' कहते हैं। अतः 'सूत्र' परमपदका नाम है। जिसने उस परमपदरूप सूत्रको जान लिया, वही वेदोंका पारगामी ब्राह्मण है। जैसे सूत्रमें मनके पिरोये हुए होते हैं उसी प्रकार जिस परमात्मामें यह सम्पूर्ण जगत् पिरोया हुआ है, वही सूत्र है। योगका ज्ञाता तत्त्वदर्शी योगी उसी सूत्रको धारण करे। विद्वान् पुरुष उत्तम योगका आश्रय ले बाह्य सूत्रका तो त्याग करे और इस ब्रह्मस्वरूप सूत्रको धारण करे। जो यों करता है, वही चेतन है। उस ब्रह्मरूप सूत्रके धारण करनेसे संन्यासी न तो कभी उच्छिष्ट (जूठे मुँह) होता है और न कभी अपवित्र ही होता है। ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करनेवाले जिन संन्यासियोंके भीतर वह ब्रह्मरूपी सूत्र विद्यमान है, वे ही इस संसारमें सूत्रके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले तथा यज्ञोपवीतधारी हैं। संन्यासी ज्ञानमयी शिखा धारण करते हैं, ज्ञानमें ही स्थित होते हैं और ज्ञानका ही यज्ञोपवीत पहनते हैं। उनके लिये ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। ज्ञान ही सबसे पवित्र बताया गया है। जैसे अग्निकी शिखा उसके स्वरूपसे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार जिस विद्वान् संन्यासीने ज्ञानमयी शिखा धारण कर रक्खी है, वही शिखाधारी कहलाता है; दूसरे

* अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥

लोग, जो केवल केश धारण करते हैं, वास्तविक शिखाधारी नहीं हैं। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मके अधिकारी माने जाते हैं, उन्हींको यह बाह्य सूत्र—यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये; क्योंकि वह कर्मका अङ्ग माना गया है। जिसके ज्ञानमयी शिखा और ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है, उसीमें पूर्णरूपसे ब्राह्मणत्व प्रतिष्ठित है—ब्रह्मज्ञ पुरुष यही मानते हैं ॥ ८०–८९ ॥

'यह सब जानकर ब्राह्मण घरका त्याग करके संन्यासी हो जाय; एक वस्त्र धारण करे, सिरके बाल मुँडा ले और किसी भी वस्तुका संग्रह न करे। यदि शारीरिक क्लेश सहनेमें समर्थ न हो, तो कौपीन आदि धारण करे। यदि वह शारीरिक क्लेश सह सकता हो तो विधिपूर्वक संन्यास ले दिगम्बर रहे। अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, माननीय गुरुजन तथा भाई-बन्धु आदिको छोड़कर चला जाय, स्वाध्याय एवं वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका त्याग करके समस्त ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध त्याग दे। कौपीन, दण्ड और अङ्ग ढकनेका वस्त्र भी न रक्खे। सब प्रकारके द्वन्द्वोंका सहन करते हुए न सर्दीकी परवा करे न गर्मीकी; न सुखके लिये लालायित हो और न दुःखसे भयभीत ही हो। निद्राकी भी चिन्ता न करे। मान-अपमानमें समान भावसे रहे। छहों ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। निन्दा, अहङ्कार, मत्सरता (डाह), गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छोड़कर, अपने शरीरको मुर्देके समान मानकर, आत्मासे अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तुको बाहर-भीतर न स्वीकार करते हुए, न तो किसीके सामने मस्तक झुकाये, न यज्ञ और श्राद्ध करे, न किसीकी निन्दा या स्तुति करे। अकेला ही स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता रहे। दैवेच्छासे भोजन आदिके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीपर संतुष्ट रहे। सुवर्ण आदिका संग्रह न करे। न किसीका आवाहन करे न विसर्जन। न मन्त्रका प्रयोग करे न मन्त्रका त्याग करे। न ध्यान करे न उपासना। न कोई लक्ष्य हो न लक्ष्यहीनता। न किसीसे अलग रहे, न संयुक्त। न किसी एक स्थानपर रहनेका आग्रह हो, न अन्यत्र जानेका। कोई उसका अपना घर या आश्रम न हो। उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहे। जनशून्य भवन, वृक्षकी जड़, देवालय, घास-फूसकी कुटिया, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निदिगन्तर, नदी-तट, पुलिन (कछार), भूगृह (गुफा), पर्वतीय गुफा, झरनेके पास, चबूतरे या वेदीपर अथवा वनमें रहे। श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, ऋषभ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय तथा रैवतककी भाँति न कोई चिह्न धारण करे और न अपने आचारको ही किसीपर प्रकट होने दे। बालक, उन्मत्त अथवा पिशाचकी भाँति व्यवहार करे। उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्तकी भाँति आचरण करे। त्रिदण्ड, झोली, पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन—सब कुछ 'भूः स्वाहा' कहकर जलमें छोड़ दे ॥ ९० ॥

'कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—सबको जलमें छोड़कर दिगम्बर होकर विचरे। आत्माका अनुसंधान करे। दिगम्बरकी भाँति रहकर द्वन्द्वोंको सहन करे—उनसे प्रभावित न हो। किसी भी वस्तुका संग्रह न करे। तत्त्व एवं ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले ज्ञानमार्गमें भलीभाँति स्थित रहे। मनको शुद्ध रक्खे। प्राण-रक्षाके लिये उचित समयपर हाथरूपी पात्रसे अथवा और किसी पात्रसे बिना माँगे ही मिले हुए आहारको ग्रहण करे। लाभ-हानिको समान मानकर ममतासे रहित हो जाय। केवल ब्रह्मका चिन्तन करे। अध्यात्म-चिन्तनमें ही निष्ठा रक्खे। शुभाशुभ कर्मोंका निर्मूलन करके अपने आत्माके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तुको सर्वथा त्याग दे। एकमात्र पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके बोधसे सम्पन्न हो, **'अहं ब्रह्मास्मि'** (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) ऐसी निश्चित धारणा रखकर भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी तरह केवल ब्रह्मस्वरूप प्रणवका ही चिन्तन करे। तीनों शरीरोंके प्रति अहंता और ममताका भाव त्यागकर, सर्वत्याग करके ही वह शरीरका त्याग करे। इस प्रकार करनेवाला संन्यासी कृतकृत्य होता है, यह उपनिषद् है ॥ ९१-९२ ॥

॥ तृतीय उपदेश समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ उपदेश

संन्यास-धर्मके पालनका महत्त्व तथा संन्यासग्रहणकी शास्त्रीय विधि

'जो लोक, वेद, विषय-भोग तथा इन्द्रियोंकी अधीनता त्यागकर केवल आत्मामें ही स्थित रहता है, वह संन्यासी परमगतिको प्राप्त होता है। श्रेष्ठ संन्यासी नाम, गोत्र आदिके वरण देश, काल, शास्त्रज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत और शीलका विज्ञापन न करे। किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरणतक न करे, उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा और चित्रावलोकन—स्त्रीसम्बन्धी

इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उसके चित्तमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होता है और उस विकारसे उसका धर्म निश्चय ही नष्ट हो जाता है। तृष्णा, क्रोध, असत्य, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यानमें योग देना, कामना, राग, संग्रह, अहङ्कार, ममता, चिकित्साका व्यवसाय, धर्मके लिये साहसका कार्य, प्रायश्चित्त, दूसरोंके घरपर रहना, मन्त्र-प्रयोग, औषध-वितरण, जहर देना, आशीर्वाद देना—ये सब संन्यासीके लिये निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेवाला संन्यासी अपने धर्मसे नीचे गिर जाता है। मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाला मुनि (संन्यासी) अपने किसी सुहृद्के लिये भी 'आओ, जाओ, ठहरो' स्वागत और सम्मान-की बात न करे। भिक्षु स्वप्नमें भी कभी किसीका दिया हुआ दान न ले। दूसरेको भी न दिलाये और न स्वयं किसीको देने-लेनेके लिये प्रेरित ही करे। स्त्री, भाई, पुत्र आदि तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंके शुभ या अशुभ समाचारको सुनकर या देखकर भी संन्यासी कभी कम्पित (विचलित) न हो; वह शोक और मोहको सर्वथा त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (किसी वस्तुका संग्रह न करना), उद्दण्डताका अभाव, किसीके सामने दीन न बनना, स्वाभाविक प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेह न करना, गुरुकी सेवा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, सबके प्रति उदासीनताका भाव, धीरता, स्वभावकी मधुरता, सहन-शीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता, स्वल्प आहार तथा धारणा—यह मनको वशमें रखनेवाले संन्यासियोंका विख्यात सुधर्म है। द्वन्द्वोंसे रहित, सत्त्वगुणमें सर्वदा स्थित और सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला तुरीयाश्रममें स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् नारायणका स्वरूप है। गाँवमें एक रात रहे और बड़े नगरमें पाँच रात; किंतु यह नियम वर्षाके अतिरिक्त समयके लिये ही है, वर्षामें चार महीनेतक वह किसी एक ही स्थानपर निवास करे। भिक्षु गाँवमें दो रात कभी न रहे। यदि रहता है तो उसके अन्तःकरणमें राग आदिका प्रसङ्ग आ सकता है। इससे वह नरकगामी होता है। गाँवके एक किनारे किसी निर्जन प्रदेशमें मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए निवास करे। कहीं भी अपने लिये मठ या आश्रम न बनाये। जैसे कीड़े हमेशा घूमते रहते हैं, उसी प्रकार आठ महीनोंतक संन्यासी इस पृथिवीपर विचरता रहे। केवल वर्षाके चार महीनोंमें वह एकत्र निवास करे। वह एक वस्त्र पहन-कर रहे अथवा बिना वस्त्रके दिगम्बर होकर रहे। उसकी दृष्टि इधर-उधर चञ्चल न होकर एक लक्ष्यपर ही स्थिर रहे। वह कभी विषयोंमें आसक्त न हो तथा सत्पुरुषोंके पथको कलङ्कित न करते हुए ध्यानपरायण रहकर पृथ्वीपर विचरे। संन्यासी अपने धर्मका पालन करते हुए सदा पवित्र स्थानपर रहे। योगपरायण भिक्षु पृथ्वीतलपर दृष्टि रखते हुए ही सदा विचरण करे। रातको, दोपहरमें तथा दोनों सन्ध्याओंके समय कभी भ्रमण न करे तथा ऐसे स्थानोंपर भी न घूमे जो शून्य, दुर्गम तथा प्राणियोंके लिये बाधाकारक हों। गाँवमें एक रात, पुरवेमें दो दिन, पत्तन (छोटे शहर, कस्बे) में तीन दिन और नगरमें पाँच रात्रियोंतक संन्यासीको रहना चाहिये। वर्षाकालमें किसी एक स्थानपर, जो पवित्र जलसे घिरा हुआ हो, निवास करना चाहिये। भिक्षु सम्पूर्ण भूतोंको अपने ही समान देखता हुआ अंधे, जड़, बहरे, पागल और गूँगेकी भाँति चेष्टा रखकर पृथ्वीपर विचरण करे। बहूदक और वनस्थ यतियोंके लिये तीनों कालोंका स्नान बताया गया है। परंतु जो 'हंस' संन्यासी है, उसके लिये एक ही बार स्नान करनेका विधान है। हंससे भी ऊँची स्थितिमें जो परमहंस है, उसके लिये स्नान आदिका कोई बन्धन नहीं है ॥ १–२२ ॥

'मौन, योगासन, योग, तितिक्षा, एकान्तशीलता, निःस्पृहता तथा समता—ये सात एकदण्डी संन्यासियोंके पालन करनेयोग्य नियम हैं। जो परमहंसकी स्थितिमें पहुँचा हुआ है, उसके लिये स्नान आदि अनिवार्य न होनेके कारण वह केवल सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका त्यागमात्र करे। चमड़ी, मांस, रक्त, नाड़ी, मज्जा, मेद और हड्डियों-के समुदायरूप इस शरीरमें रमनेवाले पुरुषों तथा मल, मूत्र और पीबमें रमनेवाले कीड़ोंमें कितना अन्तर है? सम्पूर्ण कफ आदि घृणित वस्तुओंकी महाराशिरूप यह शरीर कहाँ और अङ्गशोभा, सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण कहाँ। मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियोंके समुदायरूप इस शरीरमें यदि प्रीति करता है, तो नरकमें भी उसकी अवश्य प्रीति होगी। स्त्रियोंके उच्चारण न करने योग्य गुप्त अङ्ग और सड़े हुए नाड़ीके घावमें कोई भेद न होनेपर भी मनुष्य अपने मनकी मान्यताके भेदसे प्रायः ठगा जाता है। स्त्रियोंका वह गुप्त अङ्ग क्या है? —दो भागोंमें विदीर्ण हुआ चर्मखण्डमात्र। वह भी अपानवायु-के निकलनेसे दुर्गन्धपूर्ण रहता है। जो लोग उसमें रमण करते हैं, उन्हें नमस्कार है! भला, इससे बढ़कर दुस्साहस और क्या हो सकता है! विद्वान् संन्यासीके लिये न कोई कर्तव्य शेष रहता है और न चिह्नविशेषको धारण करनेकी आवश्यकता। वह ममतारहित, निर्भय, शान्त, निर्द्वन्द्व, वर्ण

आदिके अभिमानसे रहित एवं आहारोपार्जनकी चेष्टासे रहित होता है। संन्यासी मुनि कौपीन पहनकर रहे अथवा नंगा ही रहकर ध्यानमें तत्पर रहे। इस प्रकार ज्ञानपरायण योगी ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें समर्थ होता है। संन्यासका चिह्नविशेष होते हुए भी उसमें ज्ञान ही मोक्षका विशेष कारण है। प्राणियोंके लिये नाना प्रकारके चिह्नोंका धारण मोक्षसाधक ज्ञानके अभावमें निरर्थक ही होता है। जिसके विषयमें कोई भी यह नहीं जानता कि यह साधु है या असाधु, मूर्ख है या बहुत बड़ा विद्वान्, अथवा सदाचारी है या दुराचारी, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है। इसलिये विद्वान् संन्यासी किसी भी चिह्नविशेषको न धारण करके स्वधर्मका ज्ञान रखते हुए सर्वोत्तम ब्रह्मचिन्तन-व्रतका पालन करे। वह गूढ़ धर्मका आश्रय लेकर इस प्रकार आचरण करे, जिससे उसके आचरणके विषयकी कोई बात दूसरोंपर प्रकट न हो। समस्त प्राणियोंके लिये संदेहका विषय बना हुआ वह वर्ण और आश्रमसे रहित हो अन्ध, जड और मूककी भाँति पृथिवीपर विचरण करे। उस शान्तचित्त संन्यासीका दर्शन करके देवता भी वैसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये लालायित होते हैं। जब आत्मसत्ताके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुके अस्तित्वका चिह्न भी न रह जाय, तभी कैवल्य प्राप्त होता है। यही ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश है' ॥ २३—३६ ॥

तदनन्तर नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! संन्यासकी विधि क्या है, यह बतानेकी कृपा करें।' तब ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दी और इस प्रकार कहा—'आतुर-संन्यासमें अथवा क्रम-संन्यासमें चतुर्थ आश्रम स्वीकार करनेके लिये पहले प्रायश्चित्तरूपमें कृच्छ्र आदि व्रत करके फिर अष्टश्राद्ध करे। देवता, ऋषि, दिव्यमनुष्य, भूत, पितर, माताएँ और आत्मा—इन आठके निमित्त आठ श्राद्ध करना आवश्यक है। पहले 'सत्य' और 'वसु' नामके विश्वेदेवोंका आवाहन करे; फिर देवश्राद्धमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजीका; ऋषिश्राद्धमें देवर्षि, राजर्षि तथा मानवर्षियोंका; दिव्यश्राद्धमें आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों तथा बारह आदित्योंका; मनुष्य-श्राद्धमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार तथा सनत्सुजातका; भूतश्राद्धमें पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों, नेत्र आदि इन्द्रियों तथा जरायुज आदि चतुर्विध प्राणिसमुदायोंका; पितृश्राद्धमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहका; मातृश्राद्धमें माता, पितामही और प्रपितामहीका तथा आत्मश्राद्धमें अपना, अपने पिताका और पितामहका—यदि उसके पिता जीवित हों तो पिताको छोड़कर अपना, पितामह और प्रपितामहका आह्वान करे। आठों श्राद्धोंको एक ही यज्ञका अङ्ग बनाकर करनेपर प्रत्येक श्राद्धमें दो-दोके क्रमसे ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उनका विधिवत् पूजन करे। अथवा यदि आठ पृथक्-पृथक् यज्ञ किये जायँ तो ऐसी स्थितिमें अपनी शाखामें आये हुए मन्त्रोंद्वारा इन आठ श्राद्धोंको आठ दिनमें या एक दिनमें करे। पितृयाग (श्राद्धकल्प) में बताये हुए विधानके अनुसार ब्राह्मणोंके पूजनसे लेकर भोजनतक सब कृत्य विधिपूर्वक सम्पन्न करके पिण्डदान दे। फिर दक्षिणा और ताम्बूलसे ब्राह्मणोंको संतुष्ट करके उन्हें विदा करे और शेष कर्मकी सिद्धिके लिये सात या आठ छोड़कर शेष सभी केशोंको मुँड़वा दे। साथ ही मूँछ, दाढ़ी और नख भी कटवा दे। ऊपर बताये अनुसार सात केशोंको अवश्य बचा ले। काँख और उपस्थके केश भी न कटाये। क्षौरके पश्चात् स्नान करे। उसके बाद सायंकालीन संध्या-वन्दन करके एक सहस्र गायत्रीका जप करे। फिर ब्रह्मयज्ञ करके स्वतन्त्र अग्निकी स्थापना करे। फिर अपनी शाखाका उपसंहार करके उसमें बताये अनुसार आज्यभागपर्यन्त घीकी आहुति दे। हवनकी विधि पूरी करके तीन ग्रास सत्तूका प्राशन (भोजन) करे। फिर आचमन करके अग्निकी रक्षाके लिये उसमें ईंधन आदि रखकर स्वयं अग्निसे उत्तरकी ओर काले मृगचर्मपर बैठ जाय और पुराण-कथा सुनते हुए रातभर जागरण करे। रातके चौथे पहरके अन्तमें स्नान करके पूर्वोक्त अग्निमें चरु पकाये। फिर पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंद्वारा उस चरुकी सोलह आहुतियाँ अग्निमें डाले और विरजा-होम करके आचमनपूर्वक दक्षिणासहित वस्त्र, सुवर्ण, पात्र और धेनुका दान करे और इस प्रकार विधिको पूर्ण करे। इसके बाद ब्रह्माका विसर्जन करके—

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा ॥*

या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्।
अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि ॥
यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम्।
जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि ॥†

* अर्थात् मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति तथा अग्नि—ये सभी देवता मुझपर कल्याणकी वर्षा करें। ये अग्निदेव मुझे आयु, ज्ञान-रूपी धन तथा साधनकी शक्तिसे सम्पन्न करें, साथ ही मुझको दीर्घजीवी भी बनायें।

† हे अग्निदेव! जो तुम्हारा यज्ञिय (यज्ञोंमें प्रकट होनेवाला) स्वरूप है, उसी स्वरूपसे तुम यहाँ पधारो और मेरे लिये बहुत-से

—इन दो मन्त्रोंद्वारा अग्निके आधिदैविक स्वरूपको अपने आत्मामें स्थापित कर ले। फिर अग्निका ध्यान करके प्रदक्षिणा और नमस्कारपूर्वक अग्निशालामें उसका विसर्जन कर दे। तदनन्तर प्रातःसंध्योपासन करके सहस्र बार गायत्रीका जप और सूर्योपस्थान करे। तत्पश्चात् नाभितक जलमें प्रवेश करके उसमें बैठकर अष्ट दिक्पालोंको अर्घ्य दे। फिर गायत्रीका विसर्जन करके सावित्रीको व्याहृतियोंमें प्रविष्ट करे अर्थात् सावित्रीदेवीसे व्याहृतियोंमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना करे।

प्रार्थनाके मन्त्र इस प्रकार हैं—

'अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।' *

'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्॥†

शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥'‡

'दारैषणायाश्च धनैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्' 'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ भूर्भुवः सुवः संन्यस्तं मया' §

'इस प्रकार मन्द, मध्यम और उच्च स्वरसे वाणीद्वारा अथवा मन-ही-मन इन मन्त्रोंका उच्चारण करके तथा **'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहा'** (मेरी ओरसे सब प्राणियोंको अभयदान दिया गया, मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति होती है) इस मन्त्रसे जलका आचमन करके पूर्व दिशाकी ओर पूरी अञ्जलि भर जल डालकर **'ॐ स्वाहा'** कहकर शेष बचे हुए शिखाके बालोंको उखाड़ डाले। तत्पश्चात्—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रम्।
परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ॥*

—यह मन्त्र पढ़कर यज्ञोपवीत तोड़ डाले। और उसे जलाञ्जलिके साथ हाथमें लेकर **'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'** —इस मन्त्रके द्वारा जलमें ही होम दे। फिर **'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया'**—इस प्रकार तीन बार कहकर, तीन बार जलको अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करे। तत्पश्चात् **'ॐ भूः स्वाहा'** कहकर वस्त्र और कटिसूत्रको भी जलमें ही त्याग दे। तदनन्तर इस बातका स्मरण करते हुए कि मैं सब कर्मोंका त्यागी हूँ, दिगम्बर होकर स्वरूपका चिन्तन करते हुए ऊपर बाँह उठाये हुए उत्तर दिशाकी ओर चला जाय॥ ३७॥

'यदि पूर्ववत् विद्वत्-संन्यासी हो तो गुरुसे प्रणव और महावाक्यका उपदेश प्राप्त करके, मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है—इस निश्चयके साथ आनन्दपूर्वक विचरण करता रहे। फल, पत्र और जलका ही आहार करे। पर्वत, वन तथा देवमन्दिरोंमें संचरण करे। संन्यासके बाद यदि दिगम्बर हो गया तो वह अपने हृदयमें सदा केवल आनन्दस्वरूप आत्माकी अनुभूतिको ही भरकर कर्मोंसे अत्यन्त दूर रहनेमें ही लाभ मानता हुआ फलोंके रस, छिलके, पत्ते, मूल एवं जलसे प्राण धारण करे और केवल मोक्षकी ही अभिलाषा रखकर पर्वतकी कन्दराओंमें प्रणवका जप एवं ब्रह्मका चिन्तन करते हुए सर्वत्र संचरण करनेवाले अपने शरीरका त्याग कर दे॥ ३८॥

मनुष्योपयोगी विशुद्ध धन (साधन-सम्पत्ति) की सृष्टि करते हुए आत्मारूपसे मेरे आत्मामें विराजमान हो जाओ। तुम यज्ञरूप होकर अपने कारणरूप यज्ञमें पहुँच जाओ। हे जातवेदा! तुम पृथिवीसे उत्पन्न होकर अपने धामके साथ यहाँ पधारो।

* इस मन्त्रका अर्थ इसी अङ्कके पृष्ठ ३२८ पर देखिये।

†-‡ ये दोनों मन्त्र एक ही मन्त्रके भाग हैं। पूरे मन्त्रका अर्थ इसी अङ्कके पृष्ठ ३१८ पर देखिये।

§ इन वाक्योंका अर्थ इस प्रकार है—'मैं स्त्रीकी कामना, धनकी कामना और लोकमें ख्यातिकी कामनासे ऊपर उठ गया हूँ। मैंने भूलोकका संन्यास (पूर्णतः त्याग) कर दिया। मैंने भुवः (अन्तरिक्ष) लोकका परित्याग कर दिया तथा मैंने स्वर्गलोकको भी सर्वथा त्याग दिया। मैंने भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनोंको भलीभाँति त्याग दिया।'

* यह यज्ञसूत्र परम पवित्र है। यह पूर्वकालमें प्रजापतिके साथ ही प्रकट हुआ था। यह सर्वश्रेष्ठ आयुष्य (आयु बढ़ानेका साधन) है। इस यज्ञोपवीतको मेरे कण्ठमें पहना दो। यह शुभ्र यज्ञोपवीत मेरे बल और तेजको बढ़ानेवाला हो। यज्ञोपवीत बाहर न रहे। हे यज्ञमय सूत्र! तुम मेरे भीतर प्रवेशकर मेरे आत्माके साथ निरन्तर एक होकर रहो। तुम परम पवित्र हो। मुझे सुयश, बल, ज्ञान, वैराग्य तथा धारणाशक्ति प्रदान करो।

'यदि ज्ञानप्राप्तिकी इच्छासे संन्यासी हुआ हो तो वह सौ पग जानेके पश्चात् आचार्य आदि ब्राह्मणोंद्वारा यों कहकर बुलानेपर कि—'हे महाभाग ! ठहरो, ठहरो; यह दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु ग्रहण करो। तुम्हें प्रणव और महावाक्यका उपदेश ग्रहण करनेके लिये गुरुके निकट आना चाहिये।' उनके समीप आ जाय। फिर आचार्योंद्वारा देनेपर दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक शाटी (चादर) और एक कमण्डलु ग्रहण करे। दण्ड बाँसका होना चाहिये। उसकी ऊँचाई पैरसे लेकर मस्तक तककी हो। वह खरोंच अथवा छेदसे रहित, बराबर चिकना एवं उत्तम लक्षणोंसे युक्त हो। उसका रंग काला न हो। इन सब वस्तुओंको लेनेके पहले वह आचमन कर ले और—

सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय।*

—इस मन्त्रका उच्चारण करके दण्डको हाथमें ले। फिर—

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्य।

—इस मन्त्रके साथ प्रणवका उच्चारण करते हुए कमण्डलु ग्रहण करे। तत्पश्चात् **'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्'** यों कहकर कटिसूत्र ग्रहण करे; **'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्'** यों कहकर कौपीन ग्रहण करे तथा **'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्'** इस मन्त्रका उच्चारण करके वस्त्र ग्रहण करे। तदनन्तर पुनः आचमन करके योगपट्टाभिषिक्त हो 'मैं कृतार्थ हो गया,' यह मानता हुआ अपने आश्रमोचित सदाचारके पालनमें तत्पर हो जाय। यह उपनिषद् है॥ ३९॥

॥ चतुर्थ उपदेश समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम उपदेश

संन्यास और संन्यासीके भेद तथा संन्यास-धर्म और उसके पालनका महत्त्व

इसके बाद अपने पिता ब्रह्माजीसे देवर्षि नारदने पूछा—'भगवन् ! आपने ही बताया है कि संन्यास सब कर्मोंकी निवृत्ति करनेवाला है; फिर आप ही यह भी कहते हैं कि संन्यासी अपने आश्रमोचित आचारके पालनमें तत्पर हो जाय। (ये दोनों बातें परस्परविरुद्ध जान पड़ती हैं। इस विरोधका परिहार कैसे हो ?)' तब पितामहने कहा—'शरीरमें स्थित देहधारी जीवकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओंके अधीन होकर ही पुरुष कर्म, ज्ञान और वैराग्यके प्रवर्त्तक होते हैं। तथा समस्त प्राणी इन चार अवस्थाओंके अधीन होकर जब-जब जिस अवस्थामें स्थित होते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। (इसी प्रकार जो जिस आश्रममें स्थित होता है, वह उसीके अनुकूल आचरण करता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके द्वारा अनिवार्यरूपसे सेवन करनेयोग्य जो श्रौत-स्मार्त कर्म हैं, संन्यास उन्हीं कर्मोंका निवर्तक है। परंतु संन्यास-आश्रमके अनुकूल जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधन हैं, उनका त्याग वहाँ भी नहीं होता। इसी दृष्टिसे यह कहा गया है कि संन्यासी अपने आश्रमोचित सदाचारके पालनमें तत्पर हो जाय।' नारदजीने कहा—'भगवन् ! ठीक है। अब हमें यथार्थरूपसे यह बताइये कि संन्यासके कितने भेद हैं और उनके अनुष्ठानमें किस प्रकारका अन्तर है ?'

ब्रह्माजीने कहा—'बहुत अच्छा। संन्यास-भेदसे आचार-भेद कैसे होता है, यह जानना चाहते हो तो बतलाता हूँ; श्रवण करो। वास्तवमें तो संन्यास एक ही है; किंतु अज्ञानसे, असमर्थतावश और कर्मलोपके कारण तीन भेदोंमें विभक्त होकर वैराग्य-संन्यास, ज्ञान-संन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास और कर्म-संन्यास—इन चार भेदोंको प्राप्त होता है। वह सब इस प्रकार है। मनमें अनर्थकारी दुष्ट कामका अभाव होनेसे विषयोंकी ओरसे विरक्त होकर जो पूर्वजन्मके पुण्यकर्मके प्रभावसे संन्यास लेता है, वह वैराग्य-संन्यासी कहलाता है। जो शास्त्रको जाननेसे तथा पापमय एवं पुण्यमय लोकोंका अनुभव और श्रवण करनेसे प्रपञ्चकी ओरसे स्वभावतः विरक्त हो गया है, क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), अहंकार और अभिमान ही जिसके स्वरूप हैं, ऐसे समस्त संसारको अपने मनसे हटाकर, स्त्री-कामना धन-कामना' और लोकमें ख्यातिकी

* हे दण्ड ! तुम मेरे सखा (सहायक) हो, मेरी रक्षा करो। मेरे ओज (प्राणशक्ति) की रक्षा करो। तुम वही मेरे सखा हो, जो इन्द्रके हाथमें वज्रके रूपमें रहते हो। तुमने ही वज्ररूपसे आघात करके वृत्रासुरका संहार किया है। तुम मेरे लिये कल्याणमय बनो। मुझमें जो पाप हो, उसका निवारण करो।

कामना—इन त्रिविध स्वरूपोंवाली दैहिक वासनाको, शास्त्रवासनाको तथा लोक-वासनाको त्याग देता है; तथा जैसे साधारण लोग वमन किये हुए अन्नको त्याज्य समझते हैं, उसी प्रकार इन समस्त भोगोंको त्याज्य मानकर जो साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो संन्यास ग्रहण करता है, वही ज्ञान-संन्यासी कहलाता है। जो क्रमशः सब शास्त्रोंका अभ्यास करके, सब कुछ अनुभवमें लाकर ज्ञान और वैराग्यके द्वारा केवल अपने स्वरूपका ही चिन्तन करते हुए दिगम्बर हो जाता है, वही यह ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी है। जो ब्रह्मचर्यको समाप्त करके गृहस्थ होकर, तथा गृहस्थसे वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पूर्ण वैराग्य न होनेपर भी आश्रम-क्रमके अनुसार अन्तमें संन्यास ग्रहण करता है, वह कर्म-संन्यासी है। अथवा ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास लेकर संन्याससे जो दिगम्बर हो जाता है, वह वैराग्य-संन्यासी है। विद्वत्संन्यासी ज्ञान-संन्यासी है। तथा विविदिषा-संन्यासी कर्म-संन्यासी है ॥ १—७ ॥

"कर्म-संन्यास भी दो प्रकारका होता है—एक निमित्त-संन्यास और दूसरा अनिमित्त-संन्यास। आतुर-संन्यास निमित्त-संन्यास कहलाता है और क्रम-संन्यासको अनिमित्त-संन्यास कहते हैं। रोग आदिसे आतुर होनेके कारण जिसमें सब कर्मोंका लोप हो जाता है, अर्थात् जिसमें नित्य-नैमित्तिक आदि कोई कर्म नहीं बन सकते, तथा जो प्राणत्यागके समय स्वीकार किया जाता है, वह संन्यास निमित्त-संन्यास माना गया है। (इसीको आतुर-संन्यास भी कहते हैं।) शरीरके सबल होनेपर जो विचारके द्वारा यह निश्चय करके कि उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुएँ नश्वर हैं, देह आदि सबको त्याज्य मानता और—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥

'वह परमात्मा आकाशमें विचरनेवाला हंस (सूर्य) है, अन्तरिक्षचारी वसु है। वही होता और वेदीपर स्थापित अग्नि है। गृहस्थोंके घरोंमें अतिथिरूपसे आश्रय लेनेवाला भी वही है। मनुष्योंमें उसीकी सत्ता है। श्रेष्ठ वस्तुओंमें भी उसीका अस्तित्व है। सत्यमें उसीका निवास है। आकाशमें भी वही सत्य है। वही जलसे प्रकट होता है। वही गौ (पृथ्वी एवं वाणी) से प्रकट होनेवाला है। सत्यसे भी उसीका प्रादुर्भाव होता है। वही पर्वतोंसे प्रकट होता है तथा इन सबसे भिन्न एवं विलक्षणरूपमें वही एकमात्र महान् सत्य है।'

—इस मन्त्रके अनुसार केवल परब्रह्म परमेश्वरको ही सत्य समझता और ब्रह्मसे अतिरिक्त सब कुछ नश्वर है, इस निश्चयपर पहुँचकर क्रमशः संन्यास-आश्रम ग्रहण करता है, उसका वह संन्यास अनिमित्त-संन्यास कहा गया है। संन्यासी छः प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत। कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीतसे युक्त होता है। वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करता है। पिता, माता और गुरु—तीनोंकी सेवामें संलग्न रहता है। पिठर (पात्र), खनित्र (खनती) और झोली आदि साथ रखता है और मन्त्र-साधनमें लगा रहता है, एक ही जगह भोजन करता रहता है, श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है और त्रिदण्डी होता है। बहूदक भी कुटीचककी भाँति शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करते हैं। ललाटमें त्रिपुण्ड्र लगाते हैं। सबके प्रति समभाव रखते हैं और मधुकरी-वृत्तिसे कई घरोंसे अन्न लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करते हैं। हंसनामक संन्यासी जटा धारण करनेवाले, त्रिपुण्ड्रोर्ध्व-पुण्ड्रधारी, अनिश्चित घरोंसे मधुकरी लाकर भोजन करनेवाले तथा कौपीनखण्ड एवं तुण्ड (तूँबी) धारण करते हैं। परमहंस शिखा और यज्ञोपवीतसे रहित होते हैं। वे पाँच गृहोंसे अन्न लाकर केवल एक रात भोजन करते हैं अर्थात् दूसरे दिन दूसरे पाँच गृहोंका अन्न ग्रहण करते हैं। उनका हाथ ही पात्र होता है। अतएव वे 'करपात्री' कहलाते हैं। एक कौपीन धारण करते, एक ओढ़नेका वस्त्र रखते और बाँसका दण्ड धारण करते हैं। वे या तो एक चादर ओढ़कर रहते हैं या सब अङ्गोंमें भस्म रमाये रहते हैं। परमहंस सर्वत्यागी होते हैं। तुरीयातीत संन्यासी गोमुख होते हैं अर्थात् जैसे गायें दैवेच्छावश जो तृण आदि प्राप्त हो जाय, उसीसे निर्वाह करती हैं, उसी प्रकार वे दैवेच्छावश जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीको अपना ग्रास बनाते हैं। विशेषतः वे फलाहारी होते हैं। यदि अन्नाहारी हों तो केवल तीन घरोंका अन्न ग्रहण करते हैं। देहके सिवा और कुछ उनके पास शेष नहीं रहता। वे दिगम्बर रहते और मुर्दोंकी तरह शारीरिक चेष्टासे रहित होते हैं। अवधूत किसी नियमके बन्धनमें नहीं रहता। वह कलङ्कित और पतित मनुष्योंको छोड़कर शेष सभी वर्णोंके मनुष्योंसे अजगर-वृत्तिके अनुसार आहार ग्रहण करता है तथा सर्वदा अपने स्वरूपके चिन्तनमें लगा रहता है ॥ ८—१७ ॥

'आतुर पुरुष संन्यास लेनेके बाद यदि जी जाय तो उसे सम्पूर्ण विधियोंका पालन करते हुए क्रम-संन्यास ग्रहण करना चाहिये। कुटीचक, बहूदक और हंस—इन तीन प्रकारके संन्यासियोंकी संन्यास-विधि ब्रह्मचर्यादि आश्रमसे लेकर चतुर्था-

श्रमतककी भाँति है अर्थात् उनके लिये क्रम-संन्यासका विधान है। परमहंस आदि (अर्थात् परमहंस, तुरीयातीत एवं अवधूत—इन) तीन प्रकारके संन्यासियोंके लिये कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमण्डलु और दण्ड धारण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे सभी वर्णोंके घरसे एक बार भिक्षाटन कर सकते हैं, तथा उन्हें दिगम्बर होना चाहिये। यही उनके लिये सामान्य विधि है। संन्यास-ग्रहणके समय भी जबतक उनके भीतर अलंबुद्धि न हो जाय अर्थात् अबतक मैंने जो कुछ अध्ययन किया है, वह पर्याप्त है; उससे अधिक अध्ययन करनेकी अपने लिये कोई आवश्यकता नहीं है—ऐसी बुद्धि जबतक उत्पन्न न हो जाय, तबतक उन्हें अध्ययन करना चाहिये। उसके पश्चात् कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—सबका जलमें विसर्जन कर देना चाहिये। यदि वह दिगम्बर हो तो कन्थाका लेशमात्र भी अपने पास न रक्खे। न अध्ययन करे, न व्याख्यान दे और न कुछ श्रवण ही करे। प्रणवके सिवा और कुछ न पढ़े। न तर्कशास्त्र पढ़े, न शब्दशास्त्र। बहुत-से शब्दोंकी शिक्षा न दे। वागिन्द्रियके द्वारा वाणीका व्यर्थ अपव्यय न करे (अधिक न बोले)। हाथ आदिके इशारे-से बात करना या अन्य किसी भाषाविशेषके द्वारा भी बात करना निषिद्ध है। शूद्र, स्त्री, पतित एवं रजस्वलासे बातचीत न करे। यतिके लिये देव-पूजाका विधान नहीं है। उसे उत्सव नहीं देखना चाहिये तथा तीर्थ-यात्रा भी उसके लिये आवश्यक नहीं है॥ १८—२०॥

'अब पुनः संन्यासीके विशेष नियम बताये जाते हैं। कुटीचक संन्यासीके लिये ही एक स्थानपर भिक्षा ग्रहण करनेकी विधि है। बहूदकके लिये अनिश्चित घरोंसे मधुकरी ग्रहण करने-का विधान है। हंसके लिये आठ घरोंसे आठ ग्रास अन्न लेकर भोजन करनेका विधान है। परमहंसके लिये पाँच घरोंसे अन्न लेनेका नियम है। हाथ ही उसका पात्र है। तुरीयातीत-के लिये गोमुख-वृत्तिसे फलाहारका नियम है। अर्थात् जैसे गायको जो कुछ भी खिलाया जाय, वह मुँह खोलकर ले लेती है, उसी प्रकार दैवेच्छासे जो कुछ भी फल-फूल मिल जाय, उसीको वह ग्रहण करे। अवधूतके लिये सभी वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अजगरवृत्तिके अनुसार अन्न-ग्रहण करनेका नियम है। यति किसी गृहस्थके घर एक रात भी न ठहरे। किसीको भी नमस्कार न करे। तुरीयातीत और अवधूत—इन दोनोंमें अवस्थाके अनुसार कोई जेठा या छोटा नहीं होता। जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है, वह अवस्थामें बड़ा होनेपर भी छोटा ही है। संन्यासी अपने हाथसे तैरकर नदी पार न करे। पेड़पर न चढ़े। सवारीपर न चले। खरीद-बिक्री न करे। किसी वस्तुकी अदला-बदली भी न करे। दम्भी और असत्य-वादी न बने। यतिके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि है तो उसमें अन्य आश्रमोंके धर्मोंकी संकरताका दोष आता है। इसलिये संन्यासियोंका मनन आदिमें ही अधिकार है॥ २१॥

'आतुर और कुटीचकके लिये भूर्लोक और भुवर्लोककी प्राप्ति होती है। बहूदकको स्वर्गलोक, हंसको तपोलोक तथा परमहंसको सत्यलोक प्राप्त होता है। तुरीयातीत एवं अवधूतको अपने आत्मामें ही कैवल्य प्राप्त होता है। वह भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी भाँति निरन्तर स्वरूपका अनुसंधान करते रहनेके कारण आत्मरूप ही हो जाता है। मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए अन्तमें शरीरका त्याग करता है, उसी-उसीको वह प्राप्त होता है—यह बात अन्यथा नहीं है। यह श्रुतिका उपदेश है॥ २२-२३॥

'अतः यों जानकर संन्यासी आत्माके स्वरूपका चिन्तन छोड़कर और किसी आचारमें तत्पर न हो। भिन्न-भिन्न आचारोंका अनुष्ठान करनेसे तदनुकूल लोकोंकी प्राप्ति होती है; परंतु ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न संन्यासीकी अपने आपमें ही मुक्ति होती है। किसी भी अन्य आचारमें आसक्त न होना ही उसका अपना आचार है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें वह एकरूप होता है। जाग्रत्कालमें वही विश्व, स्वप्नकालमें तैजस और सुषुप्तिकालमें प्राज्ञ कहलाता है। अवस्था-भेदसे उन-उन अवस्थाओंके स्वामीमें भेद होता है। कार्य-भेदसे ही कारण-भेद माना जाता है। जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें चौदह करणोंकी[1] जो बाह्य वृत्तियाँ और अन्तर्वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान-कारण एक है। आन्तरिक वृत्तियाँ चार मानी गयी हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। उन-उन वृत्तियोंके व्यापार-भेदसे पृथक्-पृथक् आचार-भेद होता है॥ २४॥

'जाग्रत्-अवस्था और उसके स्वामी विश्वकी स्थिति नेत्रके भीतर है। स्वप्न और उसके अधिष्ठाता तैजसका कण्ठमें समावेश है। सुषुप्त और उसके स्वामी प्राज्ञकी स्थिति हृदयमें है तथा तुरीय परमेश्वरकी स्थिति मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) में मानी

१. श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, त्वचा, रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, चरण, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार अन्तःकरण—सब मिलकर चौदह करण कहे गये हैं।

गयी है। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंको प्रकाशित करते हुए तुरीयरूपमें जिसकी स्थिति बतायी गयी है, वह तुरीयस्वरूप अविनाशी परमात्मा मैं ही हूँ—यों जानकर जो जाग्रत्-अवस्थामें भी सुषुप्तकी भाँति रहता है; जो-जो सुनी और जो-जो देखी हुई वस्तु है, वह सब मानो अविज्ञात (अपरिचित)-सी है—इस प्रकार उनकी ओर ध्यान न देते हुए जो निवास करता है, उसकी स्वप्नावस्थामें भी वैसी ही अवस्था बनी रहती है। अर्थात् वह स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थोंको भी ग्रहण नहीं करता। ऐसा पुरुष जीवन्मुक्त है—इस प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं। समस्त श्रुतियोंके अर्थका प्रतिपादन भी यही है कि उसी-की मुक्ति होती है। भिक्षु इहलोक और परलोकके विषयोंकी भी अपेक्षा नहीं रखता। यदि उसमें अपेक्षा हो तो उसीके अनुरूप वह बन जायगा—अपने स्वरूपसे नीचे गिर जायगा। स्वरूपानुसन्धानको छोड़कर अन्य शास्त्रोंका अभ्यास उसके लिये उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे ऊँटकी पीठपर लदा हुआ केसरका भार। उसकी योगशास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उसे सांख्यशास्त्रका अभ्यास तथा मन्त्र-तन्त्रका व्यापार भी नहीं करना चाहिये। यदि संन्यासीकी प्रवृत्ति अन्यान्य शास्त्रों-में होती है, तो वह सब उसके लिये मुर्देको पहनाये हुए आभूषणके समान है। चमारकी भाँति सबसे अत्यन्त दूर रहकर कर्म, आचार और विद्यासे भी दूर रहे। प्रणवका भी उच्च स्वरसे कीर्तन न करे; क्योंकि मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उसका फल भी उसे भोगना पड़ता है। अतः सबको रेंड़ी-के तेलके फेनकी भाँति निःसार समझकर त्याग दे और परमात्मचिन्तनमें संलग्न मनोमय दण्ड तथा हाथरूपी पात्र धारण करनेवाले दिगम्बर संन्यासीका दर्शन करके—उसके आदर्शको सामने रखकर भिक्षु सब ओर विचरण करे। वह बालक, उन्मत्त तथा पिशाचकी भाँति जीवन अथवा मृत्युकी कामना न करे। आज्ञाकारी भृत्यकी भाँति भिक्षु केवल काल-की ही प्रतीक्षा करता रहे ॥ २५-२६ ॥

'जो तितिक्षा (सहनशीलता), ज्ञान, वैराग्य और शम-दम आदि सद्गुणोंसे शून्य रहकर केवल भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, वह संन्यासी संन्यास-वृत्तिका हनन करनेवाला है। केवल दण्ड धारण करने, मूँड़ मुँड़ाने, वेष बनाने और दिखावेके लिये किसी आचारका पालन करनेसे मोक्ष नहीं मिलता। जिसने ज्ञानरूप दण्ड धारण किया है, वही एकदण्डी कहलाता है। जिसने काष्ठका दण्ड तो धारण कर लिया है किंतु मनमें सम्पूर्ण कामनाओंको स्थान दे रक्खा है, तथा जो ज्ञानसे सर्वथा शून्य है, वह संन्यासी महारौरव नामक घोर नरकोंमें पड़ता है। महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरीकी विष्ठाके समान बताया है। अतः संन्यासी इस प्रतिष्ठाको त्यागकर, कीटकी भाँति सर्वत्र विचरण करे। दिगम्बर संन्यासी बिना माँगे जो मिल जाय, वही भोजन करे और वैसे ही वस्त्रसे अपने शरीरको ढँके। वह दूसरोंकी इच्छासे ही वस्त्र पहने और दूसरोंकी इच्छासे ही स्नान करे। जो स्वप्नमें भी जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति ही विशेषरूपसे सावधान हो वैसी ही चेष्टा करता है, वह श्रेष्ठ संन्यासी ब्रह्मवेत्ताओंमें वरिष्ठ (प्रधान) माना गया है। भिक्षा आदि न मिलनेपर विषाद न करे और मिल जानेपर हर्षसे फूल न उठे। भिक्षा उतनी ही ग्रहण करे, जितनेसे प्राण-रक्षा हो सके। शब्द आदि विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा दूर रहे। सम्मानकी प्राप्तिको वह सब प्रकारसे घृणाकी दृष्टिसे ही देखे। सम्मानका लाभ उठानेवाला संन्यासी मुक्त होनेपर भी बँध जाता है ॥ २७—३४ ॥

'जब चूल्हेकी आग बुझ जाय, घरके सब लोग भोजन कर लें, ऐसे समयमें संन्यासी उत्तम वर्णवाले गृहस्थोंके घर भिक्षा लेने जाय। भिक्षाका उद्देश्य प्राण-यात्राका निर्वाहमात्र होना चाहिये। हाथको ही पात्र बनाकर विचरनेवाला करपात्री यति बार-बार भिक्षा न माँगे। एक बारमें जो मिल जाय, उसे खड़े-खड़े पा ले या चलते-चलते भोजन करे। जबतक हाथका भोजन समाप्त न हो जाय, बीचमें आचमन (जलपान) न करे। संन्यासी समुद्रकी भाँति मर्यादाके भीतर ही रहते हैं। उनका आशय महान् होता है। वे महान् होकर भी सूर्यकी भाँति नियति (नियत मार्ग) का त्याग नहीं करते। जिस समय संन्यासी मुनि गौकी भाँति मुखसे आहार ग्रहण करने लगता है अर्थात् यदि कोई उसके मुखमें कुछ डाल दे, तभी वह भोजन करता है, उस समय सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति उसका समभाव हो जाता है और वह अमृतत्व (मोक्ष)-प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। जो घर निन्दनीय न हो, वहीं भिक्षा लेनेके लिये जाय। निन्दनीय घरोंको छोड़ दे। जिस घरका दरवाजा खुला हो, उसीमें प्रवेश करे। जिसका द्वार बंद हो, उस घरमें न जाय। वह धूलसे आच्छादित निर्जन घरोंमें आश्रय ले अथवा वृक्षकी जड़को ही अपना निवासस्थान बनाये। समस्त प्रिय और अप्रियकी भावनाओंको त्याग दे ॥ ३५—४० ॥

'संन्यासी मुनि जहाँ सूर्यास्त हो जाय, वहीं सो रहे। न तो अग्नि रक्खे और न कोई घर ही बनाये। दैवेच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीपर जीवन-निर्वाह करे। मन

और इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रक्खे। जो संन्यासी घरसे निकलकर वनका आश्रय ले इन्द्रिय-संयमपूर्वक ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करता है और कालकी प्रतीक्षा करता हुआ विचरता रहता है, वह निश्चय ही ब्रह्मभावको प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। जो मुनि सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान करके विचरता है, उसे भी किसी प्राणीसे कहीं भय उत्पन्न नहीं होता। जो मान और अहंकारका त्याग करके द्वन्द्वजनित विकारसे रहित हो जाता है; जिसके मनके संदेह नष्ट हो जाते हैं; जो न तो किसीपर क्रोध करता, न किसीसे द्वेष रखता और न वाणीसे कभी असत्य ही बोलता है; जो पुण्य-स्थानोंमें विचरता, किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता तथा समय प्राप्त होनेपर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। संन्यासी वानप्रस्थ और गृहस्थोंसे कभी संसर्ग न रक्खे। वह इस बातको चाहता रहे कि जिससे उसकी जीवन-चर्या दूसरोंपर प्रकट न हो। संन्यासीमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये। जैसे कीट सदा चलते रहते हैं, उसी प्रकार संन्यासी भी सूर्यके दिखाये हुए मार्गसे पृथिवीपर विचरता रहे अर्थात् रातको न चले॥ ४१—४६॥

'कामनासे युक्त, हिंसासे युक्त तथा लोक-संग्रहसे युक्त जो-जो कर्म हैं, उनको संन्यासी न तो स्वयं करे और न दूसरोंसे ही कराये। असत् शास्त्रोंमें कभी आसक्त न हो। कोई जीविकाका साधनभूत कर्म करके जीवन-निर्वाह न करे। अनावश्यक बात करना और तर्क करना छोड़ दे। वादी और प्रतिवादीमेंसे किसीका पक्ष ग्रहण न करे। शिष्योंका संग्रह न करे। बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करे तथा अपने पक्षकी सिद्धिके लिये खींचतानकी व्याख्याका उपयोग न करे। नये-नये आयोजन कभी न करे—सर्वथा निःसङ्कल्प होकर रहे। वह अपने आश्रमके चिह्नविशेष तथा अपने गूढ़ अभिप्रायको दूसरोंपर प्रकट न होने दे। मुनि होकर भी उन्मत्त और बालकोंकी भाँति चेष्टा करे। विद्वान् होते हुए भी मूककी भाँति रहे। मनुष्योंके समक्ष उन्हींकी दृष्टिके अनुसार अपनेको प्रदर्शित करे। वह न तो कुछ करे, न कुछ बोले और न भले अथवा बुरेका चिन्तन ही करे। अपने आत्मामें ही रमण करता रहे। संन्यासी मुनि इसी वृत्तिसे रहकर जड़की भाँति सर्वत्र विचरता रहे। इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए आसक्तिका सर्वथा त्याग करके वह अकेला ही इस पृथिवीपर भ्रमण करे। आत्मामें ही क्रीडा और आत्मामें ही रमण करने-वाला मनस्वी पुरुष सर्वत्र समान दृष्टि रक्खे। विद्वान् होकर भी बालककी भाँति क्रीडा करे। कार्यकुशल होकर भी मूर्खकी भाँति आचरण करे, उन्मत्तकी भाँति बात करे और वेदोंका विद्वान् होकर भी गौकी भाँति आचरण करे अर्थात् यह हो और यह न हो—इस बातके लिये कोई आग्रह न रक्खे। दुष्ट पुरुषोंके आक्षेप करने, अपमान करने, वञ्चना एवं दोषारोपण करनेपर भी सम रहे। उनके मारने, बाँध रखने या वृत्तिमें बाधा डालकर कष्ट पहुँचानेपर भी वह विचलित न हो। मूर्ख लोग शरीरपर या आसपास मल-मूत्रका त्याग कर दें अथवा और भी अनेक प्रकारके कष्ट देकर तंग करें, तो भी कल्याणकामी पुरुष चुपचाप सहन करे। संकटमें पड़नेपर भी वह अपने आत्माके द्वारा अपना ही उद्धार करे। लोगोंसे मिला हुआ सम्मान योग-सम्पत्तिकी बड़ी भारी हानि करता है। साधारण लोगोंद्वारा अपमानित योगी योगसिद्धिको अवश्य प्राप्त कर लेता है। योगी पुरुष सत्पुरुषोंके धर्मको कलङ्कित न करते हुए अवश्य ही ऐसा आचरण करे, जिससे साधारण लोग उसका अपमान ही करें और उसके सम्पर्कमें न आवें। संन्यासी योगयुक्त होकर मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा जरायुज और अण्डज आदि किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करे तथा सब प्रकारकी आसक्तियोंको त्याग दे। काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उनका परित्याग करके संन्यासी निर्भय हो जाता है॥ ४७—५९॥

'भिक्षाका अन्न भोजन करना, मौन रहना, तपस्या करना, विशेषतः ध्यानमें लगे रहना, उत्तम ज्ञान प्राप्त करना और वैराग्यवान् होना—यह भिक्षुका धर्म माना गया है। गेरुआ वस्त्र पहनकर संन्यासी सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहे। गाँवके किनारे, वृक्षके नीचे अथवा किसी देवालयमें निवास करे। वह नित्य भिक्षाके अन्नसे ही जीवन-निर्वाह करे। किसी एकके अन्नका भोजन तो वह कभी न करे। बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन अपने आश्रमोचित आचारका पालन करे और तबतक करता रहे जबतक, अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध न हो जाय। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर वह संन्यास लेकर जहाँ-कहीं भी स्वेच्छानुसार विचरण करे। संन्यासी बाहर और भीतर—सर्वत्र नारायणका दर्शन करते हुए वायुकी भाँति पाप-सम्पर्कसे रहित होकर मौनभावसे सब ओर विचरता रहे। वह सुख-दुःखमें समान भावसे रहे। मनमें क्षमा-भाव रक्खे। हाथपर जो कुछ आ जाय, उसीको भोजन करे। कहीं भी वैर न रखते हुए ब्राह्मण, गौ, घोड़े और मृग आदि सभी प्राणियोंमें समदृष्टि

रक्खे। मन-ही-मन सबके ईश्वर सर्वव्यापी परमात्माका चिन्तन करते हुए, 'मैं ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ, ऐसी भावना रक्खे। जो इस प्रकार जानकर, मनोमय दण्ड धारण करके, आशासे निवृत्त हो जाता है तथा दिगम्बर होकर सदा मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा समस्त संसारको त्यागकर, प्रपञ्चकी ओरसे मुँह मोड़कर भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी भाँति सदा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही संलग्न रहता है, वह मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद् है' ॥ ६०—६६ ॥

॥ पञ्चम उपदेश समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ उपदेश

तुरीयातीत पद और उसकी प्राप्तिके उपाय तथा यतिकी जीवनचर्या

तदनन्तर नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! भ्रमर-कीट-न्यायसे अपने स्वरूपका अनुसन्धान करनेपर मोक्ष प्राप्त होता है—यह आपने बताया; किंतु उस स्वरूपानुसन्धानका अभ्यास कैसे हो?' तब ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा—'सत्यवादी होकर ज्ञान और वैराग्यद्वारा इस शरीरकी आसक्तिको त्यागकर, शेष बचे हुए एक विशिष्ट शरीरमें स्थित होकर रहे ॥ १ ॥

''ज्ञान ही वह शरीर है। वैराग्यको ही उसका प्राण समझो। शम और दम—ये दो नेत्र हैं। विशुद्ध मन मुख है, बुद्धि कला है; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण तथा अव्यक्त प्रकृति—ये पचीस तत्त्व ही उस शरीरके अवयव हैं। समष्टिगत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ये पाँच अवस्थाएँ ही उस विशिष्ट शरीरके पाँच महाभूत हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये शरीरकी शाखा अर्थात् भुजाएँ हैं। अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ ही चार भुजाएँ हैं। पहले बताये हुए चौदह करण पङ्कमें स्थित कमजोर खंभोंके समान हैं। ऐसी स्थितिमें भी जैसे कीचड़में पड़ी हुई नावको भी अच्छा नाविक ढकेलकर उसे ठीक मार्गपर ला ही देता है, उसी प्रकार संसार-सिन्धुके पङ्कमें फँसी हुई इस जीवनरूपी नौकाको उत्तम बुद्धिके द्वारा वशमें रखकर पार लगाये—ठीक उसी तरह, जैसे हाथीवान् हाथीको अपने वशमें रखकर उसे ठीक रास्तेसे ले जाता है। ज्ञानमय विशिष्ट शरीरमें स्थित हुआ पुरुष 'मेरे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब कल्पित होनेके कारण नश्वर है'—यों समझकर सदा **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म ही हूँ) इस प्रकार उच्चारण करे। अपने आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु ज्ञातव्य नहीं है, ऐसा निश्चय करके जीवन्मुक्त होकर रहे। इस प्रकार रहनेवाला पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। व्यवहार-कालमें भी यों न कहे कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ।' अपितु निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस धारणाको ही पुष्ट करता रहे। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंको पार करके तुरीयावस्थामें पहुँचकर संन्यासी तुरीयातीत परमात्मपदमें प्रवेश करे ॥ २ ॥

'दिन जाग्रत्-अवस्था है, रात्रि स्वप्न है, अर्द्धरात्रि सुषुप्तिस्थानीय है। ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयमें हैं और तुरीयकी स्थिति तुरीयातीतमें है। इस प्रकार एककी अवस्थामें चार अवस्थाएँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—इन चार अन्तःकरणोंमेंसे प्रत्येकके अधीन जो नेत्र आदि चौदह करण हैं, उनके व्यापार बतलाये जाते हैं। नेत्रोंका काम है रूपको ग्रहण करना, श्रोत्रोंका कार्य है शब्दकी उपलब्धि; जिह्वाका कार्य है रसास्वादन, गन्धका अनुभव घ्राणेन्द्रियका काम है, बोलनेकी क्रिया वाक्-इन्द्रियका व्यापार है, हाथोंका काम है किसी वस्तुको ग्रहण करना, पैरोंका कार्य है चलना, मलत्याग गुदाका और विषयजनित आनन्दका अनुभव उपस्थका कार्य है। त्वचाका कार्य स्पर्शका अनुभव करना है। इनके अधीन विषय-ग्रहणकी बुद्धि है। बुद्धिसे जानता है। चित्तसे चेतना प्राप्त करता है। अहङ्कारसे अहंताका अनुभव करता है। इन सब भावोंकी विशेषरूपसे सृष्टि करके इनके समुदायरूपी शरीरमें आत्माभिमान करनेके कारण तुरीय-चेतन ही जीव हो जाता है। जैसे घरमें अभिमान करके मनुष्य गृहस्थ बनता है, उसी प्रकार शरीरमें अभिमान करके तुरीय-चेतन जीव होकर विचरता है। शरीरके भीतर जो अष्टदल कमलसे युक्त हृदय है, उसमें रहनेवाला जीव जब उक्त कमलके पूर्ववर्ती दलमें विचरता है, तब उसमें पुण्यानुष्ठानकी प्रवृत्ति होती है। आग्नेय कोणवाले दलमें जानेपर उसे निद्रा और आलस्य सताते हैं। दक्षिण दिशाके दलमें स्थित होनेपर उसमें क्रूरताका भाव आता है। नैर्ऋत्यकोणवाले दलका आश्रय लेनेपर उसमें पापबुद्धि जाग्रत् होती है। पश्चिम दलमें स्थिति होनेपर उसका क्रीडामें अनुराग होता है। वायव्यकोणके दलमें जानेपर उसकी बुद्धि गमनमें लगती है—वह इधर-उधर जानेका संकल्प

करता है। उत्तर दिशावाले दलमें प्रवेश करनेपर उसे शान्तिका अनुभव होता है। ईशान-दलमें जानेपर ज्ञान होता है। उस कमलकी कर्णिकामें स्थित होनेपर उसके भीतर वैराग्य-भाव जाग्रत् होता है तथा केसरोंमें स्थित होनेपर उसका मन आत्मचिन्तनमें लगता है। इस प्रकार चैतन्य ही जिसमें मुखकी भाँति प्रधान है, उस आत्मस्वरूपको जानकर विद्वान् पुरुष तुरीयातीत ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है॥ ३॥

'जीवकी चार अवस्थाओंमें प्रथम अवस्था जाग्रत् है, दूसरी अवस्था स्वप्न है, तीसरी अवस्था सुषुप्ति है, चौथी अवस्था तुरीय है तथा इन चारोंसे रहित तुरीयातीत है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ-भेदसे चार प्रकारका प्रतीत होता है। अतः 'एक ही परमात्मदेव सबके साक्षी एवं सत्त्वादि गुणोंसे रहित हैं और वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ' यों कहे। तुरीयातीत पुरुषको जाग्रत् आदि चारों अवस्थाओंके अनुभवसे परे मानना चाहिये। नहीं तो जैसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ होती हैं, स्वप्नमें स्वप्नादि चार अवस्थाएँ होती हैं, सुषुप्तिमें सुषुप्ति आदि चार अवस्थाएँ होती हैं तथा तुरीयमें तुरीयादि चार अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार तुरीयातीतमें भी इन अवस्थाओंके होनेकी सम्भावना हो सकती है। किंतु वास्तवमें तुरीयातीत-तत्त्व निर्गुण है, अतः उसमें इस प्रकारके अवस्था-भेद सम्भव नहीं हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ईश्वर हैं, उनके साथ सब अवस्थाओंमें एक ही साक्षी स्थित होता है। अथवा तटस्थ ईश्वर ही द्रष्टा हैं—यदि यों कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि तटस्थ पुरुष बीजोपाधिक (मायोपाधिक) ईश्वररूपसे देखे जाते हैं। अतः उनका भी कोई द्रष्टा होनेके कारण तटस्थको द्रष्टा नहीं माना जा सकता। इसलिये वह द्रष्टा नहीं है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये। फिर तो जीवको ही द्रष्टा मान लिया जा सकता है। नहीं, जीव द्रष्टा नहीं हो सकता; क्योंकि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व और अहङ्कार आदिसे संयुक्त है। जीवसे इतर जो तुरीयातीत परमात्मा हैं, वे उक्त दोषोंके सम्पर्कसे रहित हैं। यदि कहें जीव भी तो स्वरूपतः शुद्ध चैतन्य ही है, अतः वह भी कर्तृत्व आदिके संस्पर्शसे रहित है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि उसमें जीवत्वका अभिमान होनेसे इस शरीररूपी क्षेत्रमें भी उसका अभिमान है और शरीराभिमानके कारण ही उसमें जीवत्व है। परमात्मासे जीवत्वका व्यवधान वैसा ही है, जैसे महाकाशसे घटाकाशका। व्यवधानके कारण ही यह हंसस्वरूप जीव उच्छ्वास और निःश्वासके बहाने सदा 'सोऽहम्' इस मन्त्रका जप करते हुए अपने स्वरूपका अनुसंधान करता है। यों समझकर शरीरमें आत्माभिमान त्याग दे। जो शरीराभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म है, यह कहा जाता है। संन्यासी आसक्तिका त्याग करके क्रोधपर विजय प्राप्त करे, स्वल्पाहारी एवं जितेन्द्रिय हो तथा बुद्धिके द्वारा समस्त इन्द्रिय-द्वारोंको बंद करके मनको परमात्मचिन्तनमें लगाये। योगी सदा साधनमें संलग्न रहकर कहीं निर्जन स्थानोंमें, गुफाओं और वनोंमें बैठ जाय और भलीभाँति ध्यान आरम्भ करे। सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला योगवेत्ता पुरुष अतिथि-सत्कार, श्राद्ध और यज्ञोंमें तथा देवयात्रा-सम्बन्धी उत्सवोंमें जहाँ अधिक जनसमुदाय एकत्र होता हो, कदापि न जाय। योगी पुरुष योगमें प्रवृत्त होकर ऐसा बर्ताव करे, जिससे दूसरे लोग उसका अनादर और तिरस्कार करें। परंतु वह सत्पुरुषोंके मार्गको कलङ्कित न करे। वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड—ये तीन दण्ड सदा जिसके नियन्त्रणमें रहते हों, वह महासंन्यासी ही यथार्थ त्रिदण्डी है। जो यति धुआँ निकलना बंद हो जाने और अग्नि बुझ जानेपर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके घरसे मधुकरी लाकर उसका आहार करता है, वह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो बिना अनुराग ही संन्यास-धर्ममें स्थित रहकर दण्ड धारणपूर्वक भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, किंतु जिसे संसारसे वैराग्य नहीं होता, वह संन्यासी नीच श्रेणीका माना गया है। जिस घरमें उसे विशेषरूपसे भिक्षा मिलती है, उसमें वासनावश पुनः भिक्षाके लिये जो नहीं जाता, वही वास्तविक यति माना गया है—इससे विपरीत आचरण करनेवाला नहीं। जो शरीर और इन्द्रिय आदिसे रहित, सर्वसाक्षी, पारमार्थिक विज्ञानस्वरूप, सुखमय, स्वयम्प्रकाश एवं परमतत्त्वरूप परमात्माको अपने आत्मारूपसे जानता है, वही वर्ण और आश्रमसे अतीत यथार्थ संन्यासी है। देहमें वर्ण और आश्रम आदिकी कल्पना मायासे ही हुई है। 'मैं बोधस्वरूप आत्मा हूँ, मुझसे उन वर्ण और आश्रम आदिका किसी कालमें सम्बन्ध नहीं है'—इस प्रकार जो उपनिषदोंके अनुशीलनद्वारा भलीभाँति समझ लेता है, वही अतिवर्णाश्रमी (यथार्थ संन्यासी) है। अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेनेके कारण जिसके वर्ण और आश्रमसम्बन्धी आचार छूट गये हैं, वह समस्त वर्णों और आश्रमोंसे ऊपर उठकर अपने आत्मामें ही स्थित है। जो पुरुष अपने आश्रमों और वर्णोंसे ऊपर उठकर आत्मामें ही स्थित है, उसीको सम्पूर्ण वेदार्थका ज्ञान रखनेवाले ज्ञानी पुरुषोंने अतिवर्णाश्रमी (यथार्थ संन्यासी) कहा है। इसलिये नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी

भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते। नारद! ब्रह्मज्ञानी पुरुषों-के लिये न कोई विधि है न निषेध। उनके लिये अमुक वस्तु त्याज्य है और अमुक वस्तु त्याज्य नहीं है, इस तरहकी कल्पना नहीं होती। और भी नियम उनपर लागू नहीं होते ॥ ४–१९ ॥

'जिज्ञासुको चाहिये कि वह सम्पूर्ण भूतोंसे तथा ब्रह्मा-तकके पदसे भी विरक्त हो, सबमें, पुत्र और धन आदिमें भी प्रेम न रखते हुए मोक्षके साधनोंमें श्रद्धा करे और उपनिषदों-का ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हाथमें कुछ भेंट लेकर ब्रह्मवेत्ता गुरुकी सेवामें जाय। वहाँ दीर्घकालतक अपनी सेवाओंसे गुरुको संतुष्ट रखते हुए चित्तको भलीभाँति एकाग्र करके ध्यानपूर्वक उपनिषद्-वाक्योंके अर्थका श्रवण करे। ममता और अहङ्कार त्याग दे। सब प्रकारकी आसक्तियोंसे पृथक् रहे तथा शम-दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर अपनेमें ही आत्माका दर्शन करे। संसारमें सदा जन्म, मृत्यु और जरा आदि दोषोंका दर्शन करनेसे ही उसकी ओरसे विरक्ति होती है। और जो संसारसे विरक्त हो गया है, उसीके द्वारा यथार्थ-रूपसे संन्यासग्रहण सम्भव होता है। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला परमहंस उपनिषदोंके श्रवण आदिके द्वारा साक्षात् मोक्षके एकमात्र साधन ब्रह्मविज्ञानका अभ्यास करे। परमहंस-नामक यति ब्रह्मविज्ञानकी प्राप्तिके लिये शम-दम आदि सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न होवे। वेदान्तवेत्ता विद्वान् योगी सदा उपनिषदोंके अभ्यासमें तत्पर रहे। शम-दम आदिसे सम्पन्न हो मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें कर ले। भयको त्याग दे। कहीं भी ममता न रक्खे। सदा निर्द्वन्द्व रहे। परिग्रहको सर्वथा त्याग दे। सिरके बालोंको मुँड़ा ले। पुराने वस्त्रका कौपीन पहने अथवा दिगम्बर रहे। मनमें ममता और अहङ्कारको कभी स्थान न दे। जो मित्र और शत्रु आदिमें समान भाव रखता है तथा सम्पूर्ण जीवोंके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, जिसका अन्तःकरण सर्वथा शान्त है, वह एकमात्र ज्ञानी पुरुष ही संसार-समुद्रसे पार होता है, दूसरा—अज्ञानी नहीं ॥ २०–२९ ॥

'जिज्ञासु पुरुष गुरुके हितमें तत्पर रहकर वहाँ एक वर्ष-तक निवास करे। नियमोंके पालनमें कभी प्रमाद न करे तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि यमोंके पालनमें भी सतत सावधान रहे। इस प्रकार साधन करते हुए (गुरुकृपासे) वर्षके अन्तमें सर्वोत्तम ज्ञानयोगकी उपलब्धि करके धर्मानुकूल आचरण करते हुए इस पृथ्वीपर विचरण करे। ऊपर बताये अनुसार वर्षके अन्तमें सर्वोत्तम ज्ञानयोगकी प्राप्तिके अनन्तर ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमोंका त्याग करके अन्तिम आश्रम संन्यासको ग्रहण करे तथा गुरुकी आज्ञा लेकर इस पृथ्वीपर विचरण करे। वह आसक्तिको त्याग दे। क्रोधको काबूमें रक्खे। आहार स्वल्पमात्र करे और सदा जितेन्द्रिय बना रहे ॥ ३०–३३ ॥

'कर्म न करनेवाला गृहस्थ और कर्मपरायण भिक्षु—ये दोनों अपने आश्रमके विपरीत व्यवहार करनेके कारण कभी शोभा नहीं पाते। मनुष्य मदिराको तो पीनेपर मतवाला होता है, परंतु तरुणी स्त्रीको देखकर ही उन्मत्त हो उठता है। इसलिये दर्शनमात्रसे विषका-सा प्रभाव डालनेवाली नारीको संन्यासी दूरसे ही त्याग दे। स्त्रियोंके साथ बातचीत करना, उनके पास संदेश भेजना, नाचना, गाना, हास-परिहास करना तथा परायी निन्दा करना—संन्यासी इन सबका त्याग कर दे। नारद! यतिके लिये (नैमित्तिक) स्नान, जप, पूजा, होम तथा अग्निहोत्र आदि कार्य कर्तव्य नहीं हैं। उसके लिये देव-पूजन, श्राद्ध-तर्पण, तीर्थयात्रा, व्रत, धर्म-अधर्म तथा लोकाचारसम्बन्धी कार्य भी नहीं हैं। योगयुक्त संन्यासी सम्पूर्ण कर्मोंको त्याग दे, समस्त लोकाचारोंसे भी दूर रहे। विद्वान् यति अपनी बुद्धिको परमार्थमें लगाकर कृमि, कीट, पतङ्ग तथा वनस्पति आदि जीवोंकी कभी हिंसा न करे। वह सदा अन्तर्मुख रहे; बाहर और भीतरसे भी स्वच्छता रक्खे। अपने अन्तःकरणको पूर्णतः शान्त बनाये रहे तथा बुद्धिको आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण किये रहे। नारद! तुम भीतरसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका परित्याग करके संसारमें विचरते रहो। संन्यासीको अकेले किसी ऐसे प्रदेशमें नहीं घूमना चाहिये, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। संन्यासी स्तुति और नमस्कारसे दूर रहे। श्राद्ध और तर्पणसे भी अलग रहे। किसी शून्य भवनमें अथवा पर्वतकी गुफाओंमें आश्रय ले। संन्यासीको सदा स्वच्छन्दरूपसे विचरना चाहिये। यह उपनिषद् है' ॥ ३४–४२ ॥

॥ षष्ठ उपदेश समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम उपदेश

संन्यासीके सामान्य नियम और कुटीचक आदिके विशेष नियम

तदनन्तर नारदजीके यह पूछनेपर कि 'यतिका नियम कैसा होना चाहिये ?' ब्रह्माजीने इस प्रश्नको सामने रखकर उत्तर देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा, 'संन्यासी विरक्त होकर केवल वर्षाके चार महीनोंमें ही किसी निश्चित स्थानपर विश्राम करे। शेष आठ महीनोंमें एकाकी विचरण करे। कहीं एक स्थानपर अधिक दिनोंतक निवास न करे; क्योंकि वैसा करनेसे पतनका भय है। भ्रमरोंकी भाँति एक स्थानपर न ठहरे। अपने अन्यत्र जानेका यदि कोई विरोध करे तो संन्यासी उस विरोधको स्वीकार न करे। अपने हाथों तैरकर नदी पार न करे। पेड़पर भी न चढ़े। देव-उत्सवके निमित्त होनेवाले मेलेको न देखे। सदा एक घरका भोजन और आत्माके अतिरिक्त बाह्य देवताओंका पूजन न करे। आत्माके अतिरिक्त सबका त्याग करके मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा लाकर ग्रहण करे। शरीरको कृश बनाये रक्खे। मेदेकी वृद्धि न होने दे। घीको रुधिरके समान समझकर त्याग दे। एक घरके अन्नको मांसकी भाँति समझकर छोड़ दे। इत्र या चन्दन आदिके लेपको अशुद्ध मल-मूत्रादिके लेपकी भाँति मानकर उसका त्याग करे। क्षार (सोडा, साबुन आदि) को चाण्डालके समान अस्पृश्य समझे। कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य वस्त्रोंको जूठे बर्तनके समान समझकर उन्हें त्याग दे। अभ्यङ्ग (तेल आदि मलने) को स्त्रीके आलिङ्गनकी भाँति मानकर उससे दूर रहे। मित्रोंके आनन्ददायक सङ्गको मूत्रके समान त्याज्य समझे। किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये मनमें होनेवाली स्पृहाको अपने लिये गोमांसके समान वर्जनीय माने। परिचित स्थानको चाण्डालका बगीचा समझे। स्त्रीको सर्पिणीके समान भयङ्कर समझे। सुवर्णको कालकूट, सभा-स्थलको श्मशानभूमि, राजधानीको कुम्भीपाक नरक तथा एक स्थानके अन्नको मुर्देके लिये अर्पित पिण्डकी भाँति समझकर त्याग दे। देहको आत्मासे पृथक् देखना और प्रवृत्तिमें फँसना छोड़ दे। स्वदेशको त्याग दे और परिचित स्थानोंसे भी दूर रहे। अपनी आनन्दरूपताका निरन्तर चिन्तन करते हुए ऐसी प्रसन्नताका अनुभव करे मानो कोई भूली हुई बहुमूल्य वस्तु पुनः प्राप्त हो गयी हो। जहाँ जानेपर अपने शरीरमें ही आत्माभिमान जाग्रत् हो जाय, जिसमें अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले लोग रहते हों, उस प्रदेशको सदाके लिये भूल जाय। अपने शरीरको भी मुर्देकी भाँति त्याज्य मानकर उसमें आसक्त न हो। जैसे जेलखानेसे छूटा हुआ चोर लज्जावश अपनी जन्मभूमिको न जाकर कहीं दूर जा बसता है, उसी प्रकार संन्यासी जहाँ उसके पुत्र और माता-पितादि गुरुजन रहते हों, उस स्थानको छोड़कर वहाँसे दूर ही रहे। बिना यत्न किये ही जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीका आहार करे। ब्रह्मस्वरूप प्रणवके चिन्तनमें तत्पर रहकर अन्य समस्त कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाय। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता आदिको जलाकर त्रिगुणातीत हो जाय। क्षुधा, पिपासा आदि छः प्रकारकी ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। जन्म, वृद्धि आदि छः प्रकारके भावविकारोंसे भी अपना सम्बन्ध न माने। सत्य बोले, शरीर और मनसे पवित्र रहे तथा किसीसे भी द्रोह न करे। गाँवमें एक रात, नगरमें पाँच रात, किसी पुण्यक्षेत्रमें पाँच रात तथा तीर्थमें भी पाँच रातसे अधिक न रहे। कहीं भी अपने लिये घर न बनाये। बुद्धिको परमात्मचिन्तनमें स्थिर रक्खे। झूठ कभी न बोले। पर्वतकी गुफाओंमें निवास करे। भ्रमणकालमें सदा अकेला ही रहे। (चौमासेके समय) दो व्यक्तियोंके साथ भी रह सकता है। तीनके साथ रहनेपर तो गाँव-सा ही बन जाता है; और चारके साथ वहाँ नगर-सा बस जाता है। अतः संन्यासी अकेला ही रहे। अपने चौदह करणों (इन्द्रियों) को पृथक्-पृथक् विषयोंके चिन्तनका अवकाश न दे। अखण्ड बोधसे वैराग्य-सम्पत्तिका अनुभव करके 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है; मेरे सिवा दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है'—ऐसा मन-ही-मन विचार करके सब ओर अपने स्वरूपका ही साक्षात्कार करता हुआ जीवन्मुक्त-अवस्थाको प्राप्त करे। जबतक प्रारब्धके प्रतिभासका नाश न हो जाय, प्रणव-चिन्तनपूर्वक ओत, अनुज्ञातृ आदि चार स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होनेवाले तुरीय-तुरीयरूपमें स्थित अपने निर्विकल्प आत्माका सम्यक् बोध प्राप्त करे। स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर जबतक यह शरीर गिर न जाय, तबतक स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही कालयापन करता रहे॥ १॥

'कुटीचकके लिये तीनों काल स्नानका विधान है। बहूदक सायं-प्रातः दो बार स्नान करे। हंसके लिये दिनमें एक बार ही स्नानका नियम है। परमहंस मानसिक स्नान करे। तुरीयातीतके लिये भस्मस्नान बताया गया है। अर्थात् वह सारे शरीरमें केवल विभूति लगा ले। तथा अवधूतके लिये वायव्य-

स्नान कहा गया है। अर्थात् शरीरमें वायुके स्पर्शमात्रसे ही वह शुद्ध हो जाता है, उसे जलसे स्नान करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २ ॥

'कुटीचकके लिये ललाटमें ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगानेका विधान है। बहूदकके लिये त्रिपुण्ड्रका तथा हंसके लिये ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र दोनोंकी विधि है। परमहंस केवल विभूति धारण करे। तुरीयातीतके लिये तिलकपुण्ड्र कहा गया है। अवधूतके लिये किसी प्रकारका तिलक आवश्यक नहीं है अथवा तुरीयातीत एवं अवधूत दोनोंके लिये ही तिलक अनावश्यक है ॥ ३ ॥

'कुटीचक दो महीनेपर बाल बनवाये; बहूदक चार महीनेपर। हंस और परमहंसके लिये बाल बनवानेका विधान नहीं है। यदि है भी तो छः महीनेपर। तुरीयातीत और अवधूतके लिये तो क्षौरका नियम है ही नहीं ॥ ४ ॥

'कुटीचकके लिये एक स्थानका अन्न खानेकी विधि है। बहूदकको मधुकरीका अन्न खाना चाहिये। हंस और परमहंसके लिये हाथ ही पात्र है; उसपर जो कुछ आ जाय, उतना ही खाकर सन्तोष करे। तुरीयातीतके लिये गो-मुखवृत्ति है अर्थात् उसके मुखमें दूसरा कोई जो कुछ फल-फूल देना चाहे, उसे वह गायकी भाँति मुँह फैलाकर ले ले। अवधूतके लिये अजगर-वृत्ति है अर्थात् दैवेच्छा या परेच्छासे कभी जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीपर वह संतोष करे ॥ ५ ॥

'कुटीचकके लिये दो वस्त्र रखनेका विधान है। बहूदकके लिये एक चादर और हंसके लिये वस्त्रका एक टुकड़ा रखनेका नियम है। परमहंस दिगम्बर रहे अथवा एक कौपीनमात्र धारण करे। तुरीयातीत और अवधूतको तो दिगम्बर ही रहना चाहिये। हंस और परमहंसके लिये ही मृगचर्म रखनेका विधान है, अन्य संन्यासियोंके लिये नहीं ॥ ६ ॥

'कुटीचक और बहूदकके लिये प्रत्यक्ष देवपूजनका विधान है। हंस और परमहंस केवल मानसिक पूजन कर सकते हैं। तुरीयातीत और अवधूत केवल '**सोऽहमस्मि**' (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) यही भावना करें ॥ ७ ॥

'कुटीचक और बहूदकका मन्त्र-जपमें अधिकार है। हंस और परमहंस केवल ध्यानके अधिकारी हैं। तुरीयातीत और अवधूतका स्वरूपानुसंधानके सिवा और किसी कार्यमें अधिकार नहीं है। तुरीयातीत, अवधूत और परमहंस—इन तीनको ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके उपदेशका अधिकार प्राप्त है। कुटीचक, बहूदक और हंस—ये तीनों दूसरोंके लिये उपदेश देनेके अधिकारी नहीं हैं ॥ ८ ॥

'कुटीचक और बहूदकके लिये मानुषप्रणव अर्थात् बाह्य-प्रणवके चिन्तनका विधान है। हंस और परमहंसको अन्तः-प्रणवका तथा तुरीयातीत और अवधूतको ब्रह्मरूप प्रणवका चिन्तन करना चाहिये ॥ ९ ॥

'कुटीचक और बहूदकका प्रमुख साधन है—श्रवण। हंस और परमहंसका प्रमुख साधन है मनन तथा तुरीयातीत और अवधूतका प्रमुख साधन है निदिध्यासन। आत्मानुसंधानकी इन सभीके लिये विधि है ॥ १० ॥

'इस प्रकार मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला संन्यासी सदा संसार-सागरसे पार उतारनेवाले तारकमन्त्र (प्रणव) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर रहे। वह अधिकार-विशेषके अनुसार कैवल्य-प्राप्तिके उपायका अन्वेषण करे। यह उपनिषद् है' ॥ ११ ॥

॥ सप्तम उपदेश समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम उपदेश

प्रणवके स्वरूपका विवेचन

तत्पश्चात् नारदजीने भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! जन्म-मृत्युसे तारनेवाला मन्त्र कौन-सा है? मैं आपकी शरणमें हूँ, बतानेकी कृपा करें।' ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—'वत्स! ॐ यही तारक-मन्त्र है। यह ब्रह्मस्वरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनों प्रकारसे इसीका चिन्तन करना चाहिये।' नारदजीने पूछा—'भगवन्! व्यष्टि और समष्टि क्या है?' ब्रह्माजीने कहा—'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणवके अङ्ग हैं। एक ही ब्रह्म-प्रणवके तीन भेद माने

जाते हैं—एक संहार-प्रणव, दूसरा सृष्टि-प्रणव और तीसरा उभयात्मक प्रणव। उभयात्मक प्रणवके आन्तर और बाह्य—दो स्वरूप हैं। इसीलिये उसे उभयात्मक कहते हैं। अन्तः-प्रणवका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उपर्युक्त ब्रह्म-प्रणवका एक भेद व्यावहारिक प्रणव है। व्यष्टि-प्रणवका ही दूसरा नाम बाह्य-प्रणव है। इन सबके अतिरिक्त एक आर्षप्रणव भी है। अन्तर्-बाह्य—उभयस्वरूप जो ब्रह्म-प्रणव है, वही विराट्प्रणवके नामसे कहा गया है। संहार-प्रणव ब्रह्मादिसे अधिष्ठित होनेके कारण ही ब्रह्म-प्रणव माना गया है। स्थूल आदि भेदसे युक्त अकारादि चार मात्राएँ जिसका स्वरूप हैं, उस मात्रा-चतुष्टयात्मक प्रणवका नाम अर्द्धमात्रा-प्रणव है ॥ १ ॥

अब अन्तःप्रणवका स्वरूप बतलाते हैं। ॐ यह ब्रह्म

---

१. अर्द्धमात्रा, अकार और उकार जिसके अङ्ग हैं, ऐसा मकारमात्रा-प्रधान 'संहार-प्रणव' होता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इसके अधिष्ठाता हैं। अतः यह मात्रात्रयप्रधान माना गया है, जैसा कि कहा गया है—

त्रिमात्राकलनोपेतसंहारप्रणवासनाः। ब्रह्मविष्णवीश्वरा विश्वसर्गस्थित्यन्तहेतवः ॥
भवेयुर्यत एवायं संहारप्रणवो भवेत् ॥

२. उकार, मकार और अर्धमात्राको अङ्ग बनाकर अकारमात्रकी प्रधानतासे बोला जानेवाला प्रणव 'सृष्टि-प्रणव' कहलाता है। इसके अधिष्ठाता देवता ब्रह्माजी हैं; अतः यह एकमात्राप्रधान है। जैसा कि वचन है—

एकमात्रात्मकं तारमुपादाय चतुर्मुखः। यतः ससर्ज सकलं सृष्टितारो ह्यतो भवेत् ॥

३. उपर्युक्त संहार और सृष्टि-प्रणवके अतिरिक्त एक अन्तर्बाह्योभयस्वरूप प्रणव और होनेसे 'ब्रह्म-प्रणव' तीन प्रकारका होता है। संहार-प्रणवकी तीन मात्राएँ, सृष्टि-प्रणवकी एक मात्रा, अन्तःप्रणवकी आठ मात्राएँ तथा बाह्यप्रणवकी चार मात्राएँ—ये सब मिलकर सोलह होती हैं। इन सोलह मात्राओंसे विशिष्ट प्रणवको 'ब्रह्म-प्रणव' कहा जाता है। यद्यपि यह एक ही है, तथापि दृष्टिभेदसे अनेक भेदवाला हो जाता है।

४. जिसके गर्भमें (वर्णमालाके) पचास अक्षर छिपे हुए हैं, उस 'अकार' की प्रधानताको लेकर व्यवहृत होनेवाला प्रणव व्यावहारिक प्रणव कहलाता है। 'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिः व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (अकार ही समस्त वाणी है। यह अकार-मात्रा ही स्पर्श और ऊष्मा आदि वर्णोंके रूपमें व्यक्त होकर बहुत-सी होती है, अनेक रूपोंमें दिखायी देती है)—इस श्रुतिके अनुसार अकार ही समस्त वर्णोंका मूल है। पचास वर्णोंसे विभूषित एकमात्राप्रधान यह प्रणव है। वैखरी वाणीका, जिसके द्वारा मानवमात्र व्यवहार करते हैं, हेतु होनेसे इस प्रणवको 'व्यावहारिक' कहा गया है। दुर्गा आदि तथा इच्छा आदि तीन शक्तियोंसे यह युक्त है। वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण इसके अङ्ग हैं। नौ ब्रह्मा एवं पाँच ब्रह्मा इसके अधिष्ठाता देवता हैं। जैसा कि कहा गया है—

एकमात्रात्मकस्तारः पञ्चाशद्वर्णभूषितः। वैखरीकलनाहेतुर्व्यावहारिक ईरितः ॥
दुर्गादिशक्तित्रितयं तथेच्छादित्रिशक्तिकम्। वस्वादित्यरुद्रजातं नवब्रह्माधिदैवतम् ॥
तथा पञ्चब्रह्मदैवं तद्वाच्यार्थ इतीरितः।

५. विराट्-प्रणव समष्टिरूप है; इससे बाह्य व्यष्टि-प्रणव है, उसकी चार मात्राएँ हैं। उसीको 'बाह्य प्रणव' कहते हैं। विश्व या वैश्वानर ही इसका अधिष्ठाता है। कहा भी है—

व्यष्टेः समष्टिबाह्यत्वात्स्थूलातुर्यांशयोगतः। बाह्यप्रणव आम्नातो विश्वाद्या वाच्यतां गताः ॥

६. अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, कला और कलातीतरूपसे ऋषिमण्डलीद्वारा उपास्यमान सप्तमात्रात्मक प्रणवका नाम 'आर्षप्रणव' है। पञ्चब्रह्मा, विराट् और अन्तर्यामी इसके अधिष्ठाता हैं। कहा भी है—

सप्तमात्रात्मकः पञ्चब्रह्मान्तर्याम्यधिष्ठितः। ऋषिमण्डलसेव्यत्वादार्षप्रणव उच्यते ॥

७. आर्ष-प्रणवके अतिरिक्त एक स्थिति-प्रणव भी होता है; यह अकार-उकार—उभयमात्रारूप है। ब्रह्मा और विष्णु इसके अधिष्ठाता हैं। समष्टि अकार आदि मात्राचतुष्टयात्मक प्रणवको 'विराट्-प्रणव' कहते हैं। 'विराट्' आदि इसके अधिष्ठाता हैं। जैसा कि कहा है—

चतुःसमष्टिमात्रायुग् विराट्प्रणव उच्यते। विराडादिर्भवेद्वाच्यं तल्लक्ष्यं परमाक्षरम् ॥

८. स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चारकी मात्राओंसे युक्त 'अर्धमात्रा-प्रणव' होता है। ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप परमात्मा ही इसके अधिष्ठाता हैं।

है। 'ॐ' इस एकाक्षर मन्त्रको अन्तःप्रणव समझो। यह आठ भागोंमें विभक्त होता है। अकार, उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, बिन्दु, नाद, कला और शक्ति—ये ही उसके आठ भाग हैं। यह प्रणव केवल चार ही मात्राओंसे युक्त नहीं है; उसकी एक-एक मात्रा भी अनेकानेक भेदोंसे सम्पन्न है। केवल अकार ही दस हजार अवयवोंसे सम्पन्न है। उकारके एक सहस्र और मकारके एक सौ अवयव हैं। इसी प्रकार अर्द्धमात्रा-प्रणवका स्वरूप अनन्त अवयवोंसे युक्त है। विराट्-प्रणव सगुणरूप है, संहार-प्रणव निर्गुणरूप है और सृष्टि-प्रणव उभयात्मक है—वह सगुण-निर्गुण उभयरूप है। जैसे विराट्-प्रणव प्लुत अर्थात् अकार आदि चार मात्राओंकी समष्टिसे युक्त है, उसी प्रकार संहार-प्रणव प्लुत-प्लुत अर्थात् चतुर्थमात्रात्मक अर्द्धमात्रास्वरूप है ॥ २ ॥

विराट्-प्रणव अर्थात् विराट्स्वरूप ब्रह्म-प्रणव सोलह मात्राओंका है। यह छत्तीस तत्त्वोंसे परे है। वह षोडश मात्रारूप कैसे है, यह बताते हैं। अकार पहली मात्रा है, उकार दूसरी, मकार तीसरी, अर्द्धमात्रा चौथी, बिन्दु पाँचवीं, नाद छठी, कला सातवीं, कलातीता आठवीं, शान्ति नवीं, शान्त्यतीता दसवीं, उन्मनी ग्यारहवीं, मनोन्मनी बारहवीं, पुरी (वैखरी) तेरहवीं, मध्यमा चौदहवीं, पश्यन्ती पंद्रहवीं और परा सोलहवीं मात्रा है। यह सोलह मात्राओंवाला ब्रह्म-प्रणव ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप चतुर्विध तुरीयसे अभिन्न होनेके कारण पुनः चौसठ मात्राओं-वाला होता है। यही प्रकृति और पुरुषरूपसे पुनः दो भेदों-को प्राप्त होकर एक सौ अट्ठाईस मात्राओंवाला स्वरूप धारण करता है। इस प्रकार एक होकर भी ब्रह्म-प्रणव दृष्टिभेदसे अनेकविध सगुण और निर्गुण स्वरूपको प्राप्त होता है ॥३॥

(ॐकारको ब्रह्मस्वरूप बताया गया है। वह परब्रह्म परमात्मा कैसा है, यह बताते हैं।) ये ब्रह्म-प्रणवरूप परमात्मा सबके आधारभूत तथा परम ज्योतिःस्वरूप हैं। ये ही सबके ईश्वर और सर्वत्र व्यापक हैं। सम्पूर्ण देवता इन्हींके स्वरूप हैं। समस्त प्रपञ्चका आधार—प्रकृति भी इन्हींके गर्भमें है। ये सर्वाक्षरमय हैं— वर्णमालाके पचास वर्ण और उनके द्वारा बोध्य अर्थ, सब इनके स्वरूप ही हैं। ये कालस्वरूप, समस्त शास्त्र-मय तथा कल्याणरूप हैं। समस्त श्रुतियोंमें श्रेष्ठ तत्त्व पुरुषोत्तमरूपसे इनका ही अनुसंधान करना चाहिये। समस्त उपनिषदोंके मुख्य अर्थ ये ही हैं। इन्हींमें उपनिषदें गतार्थ होती हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंमें होनेवाला जो जगत् है तथा इन तीनों लोकोंसे परे जो कोई अविनाशी तत्त्व है, वह सब ॐकारस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है—यह जानो। श्रेष्ठ नारद ! ॐकारको ही मोक्षदायक समझो। प्रणवके वाच्यार्थभूत परमात्मा ही यह आत्मा हैं। **'अयमात्मा ब्रह्म'** (यह आत्मा ब्रह्म है)—इस श्रुतिद्वारा 'ब्रह्म' शब्दसे उन्हींका वर्णन हुआ है। ब्रह्मकी आत्माके साथ ॐकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके वह एकमात्र (अद्वितीय), जरारहित (मृत्युरहित) एवं अमृतस्वरूप चिन्मय तत्त्व ॐ है—इस प्रकार अनुभव करो। इस अनुभवके पश्चात् उस परमात्मस्वरूप ॐकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंवाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके—अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत्की कल्पना हुई है—विवेकद्वारा ऐसा अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा) ही है। तथा तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण यह अवश्य तत्स्वरूप (परमात्मरूप) ही है। इस प्रकार जगत्को 'ॐ' समझो अर्थात् इसे 'ॐ'के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डालो तथा त्रिविध शरीरवाले अपने आत्माको भी 'यह त्रिविध शरीररूप उपाधिसे युक्त ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करते हुए ब्रह्मरूप ही निश्चय करो। इस तरह आत्मा और परब्रह्मकी एकताका दृढ़ निश्चय हो जानेपर आत्मस्वरूप परब्रह्मका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। अब क्रमशः विश्व, तैजस आदिके वाचक प्रणवकी मात्राओंका क्रम बताया जाता है।

'स्थूल (विराट् जगत्स्वरूप) एवं स्थूल जगत्का भोक्ता होनेसे, सूक्ष्म (सूक्ष्म जगत्स्वरूप) एवं सूक्ष्म जगत्का भोक्ता होनेके कारण, एकमात्र आनन्दस्वरूप एवं आनन्द-मात्रका उपभोक्ता होनेसे तथा इन तीनोंकी अपेक्षा भी विलक्षण होनेके कारण वह आत्मा चार भेदोंवाला है। ये चार भेद ही उसके चार पाद हैं, अतः वह चार पादोंवाला है। जाग्रत्-अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्थान अर्थात् शरीर है—जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं, जिनका ज्ञान इस स्थूल (बाह्य) जगत्में सब ओर फैला हुआ है, जो इस समस्त विश्वके भोक्ता (रक्षक) हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मे-

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच शब्दादि विषय, चार अन्तःकरण, पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृति—ये छत्तीस तत्त्व हैं।

न्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि-करण ही जिनके मुख हैं; पाताल, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये आठ लोक ही जिनके आठ अङ्ग हैं; जो स्थूल जगत्के उपभोक्ता हैं; स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है; वे स्थूल विश्वमें सर्वत्र व्यापक एवं अखिल विश्वरूप वैश्वानर पुरुष ही विश्वविजेता प्रभुके प्रथम पाद हैं।

'स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत्में व्याप्त परमात्मा सूक्ष्मप्रज्ञ हैं—उनका विज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है। स्वतः वे पूर्वोक्तरूपसे आठ अङ्गोंवाले हैं। काम-क्रोधादि शत्रुओंको तपानेवाले नारद! वे स्वप्नलोकमें एकमात्र ही हैं, उनके सिवा दूसरा नहीं है। (उनके भी पूर्ववत् उन्नीस ही मुख हैं।) वे सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं। उनके भी पूर्ववत् स्थूल-सूक्ष्म आदि भेदसे चार स्वरूप हैं। उन्हें तैजस पुरुष कहते हैं; क्योंकि वे तेजोमय एवं प्रकाशके स्वामी हैं। वे समस्त भूतोंके स्वामी हिरण्यगर्भ हैं। पूर्वोक्त वैश्वानर तो स्थूल हैं और हिरण्यगर्भ अन्तःप्रदेशमें स्थित होनेके कारण सूक्ष्म बताये गये हैं। इन्हें परमात्माका द्वितीय पाद बताया जाता है ॥ ४—१३ ॥

'जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह स्पष्ट ही सुषुप्ति है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सम्पूर्ण विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है, अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है, जो एकीभूत (अद्वितीय) हैं—जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है, जो घनीभूत प्रज्ञानसे परिपूर्ण हैं, सुखी अर्थात् आनन्दस्वरूप हैं, नित्यानन्दमय हैं, सब जीवोंके भीतर स्थित अन्तर्यामी आत्मा हैं तथा अपने स्वरूपभूत आनन्दमात्रका उपभोग करनेवाले हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है, जो सर्वत्र व्यापक एवं अविनाशी हैं; ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है; वे प्राज्ञनामसे प्रसिद्ध ईश्वर ही परब्रह्म परमात्माके तृतीय पाद हैं ॥ १४—१६ ॥

'इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें वर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये सूक्ष्मरूपसे भावना (ध्यान) करने योग्य परमेश्वर ही अन्तर्यामी आत्मा हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं। जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओंमें लक्षित होनेवाला यह जगत् भी वास्तवमें सुषुप्तरूप ही है। यह सब प्रकारकी उपरतिमें बाधक बना रहता है। (सुषुप्तरूप इसलिये है कि इससे मोहित हुए मनुष्योंको कभी किसी वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता।) इसी प्रकार यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है; क्योंकि यहाँ वस्तुका प्रायः विपरीत ही ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, कुछ-का-कुछ प्रतीत होनेके कारण यहाँ सब कुछ मायामात्र ही है।

'उक्त तीनों पादोंके अतिरिक्त जो चौथा तुरीय पाद है, वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार भेदोंके कारण चार रूपवाला है। तुरीयरूपमें स्थित ये परमात्मा एकमात्र सच्चिदानन्दरूप हैं। ओत आदि चार भेदोंमें स्थित होनेपर भी चतुर्थ पाद 'तुरीय' ही कहलाता है, उसके चारों भेद तुरीय नामसे ही प्रतिपादित होते हैं; क्योंकि प्रत्येक रूपका तुरीयमें ही पर्यवसान—लय होता है। इस तुरीय पादमें भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञारूप तीन भेद हैं, वे विकल्प-ज्ञानके साधन हैं; अतः इन तीन विकल्पों (भेदों) को भी यहाँ पूर्ववत् सुषुप्ति एवं मनोमय स्वप्नके समान तथा मायामात्र ही समझना चाहिये। यों जानकर यह निश्चय करना चाहिये कि इन विकल्पोंसे परे जो निर्विकल्परूप तुरीय-तुरीय परमात्मा हैं, वे एकमात्र सच्चिदानन्दरूप ही हैं* ॥ १७—२० ॥

'मुने! इसके अनन्तर श्रुतिका यह स्पष्ट उपदेश है—जो सदा ही न तो स्थूलको जानता है, न सूक्ष्मको ही जानता है और न दोनोंको ही जानता है; जो न तो अधिक जाननेवाला है न नहीं जाननेवाला है, न अन्तःप्रज्ञ है न बहिःप्रज्ञ (न भीतरका ज्ञान रखनेवाला है न बाहरका); तथा जो प्रज्ञानका घनीभूत स्वरूप भी नहीं है; जिसे नेत्रोंद्वारा नहीं देखा गया; जिसका कोई लक्षण नहीं है; जो कभी पकड़में नहीं आ सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता; जिसका चिन्तन नहीं हो सकता; जिसे किसी परिभाषामें नहीं बाँधा जा सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका

* इस प्रसङ्गको स्पष्ट समझनेके लिये नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्का प्रथम खण्ड और वहाँ दी हुई टिप्पणियोंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

सार अथवा स्वरूप है; जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा परम कल्याणमय शान्त, अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्ण ब्रह्म परमात्माका चतुर्थ पाद है—यह ज्ञानी महात्मा मानते हैं। वही ब्रह्म-प्रणव है। वही जानने योग्य है, दूसरा नहीं। सर्वप्रकाशक सूर्यकी भाँति वही मुमुक्षुजनोंका जीवनाधार है। स्वयम्प्रकाश ब्रह्म परम आकाशरूप है। परब्रह्म होनेके कारण ही वह सदा सर्वत्र विराजमान है। यह उपनिषद्का गूढ़ रहस्य है' ॥ २१–२३ ॥

॥ अष्टम उपदेश समाप्त ॥ ८ ॥

नवम उपदेश

ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन; आत्मवेत्ता संन्यासीके लक्षण

तदनन्तर नारदजीने पूछा—'भगवन्! ब्रह्मका स्वरूप कैसा है?' तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'वत्स! ब्रह्म और क्या है, अपना स्वरूप ही तो है—(यह आत्मा ब्रह्म ही है—सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्मके सिवा कुछ नहीं है)। ब्रह्म दूसरा है और मैं दूसरा हूँ—इस प्रकार जो लोग जानते हैं, वे पशु हैं; जो स्वभावसे पशु-योनिमें उत्पन्न हैं, केवल उन्हींका नाम पशु नहीं है। उन परब्रह्म परमात्माको इस प्रकार सर्वात्मा और सर्वरूपमें जानकर विद्वान् पुरुष मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है। परमात्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला नहीं है' ॥ १ ॥

(ब्रह्मविषयक चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु आपसमें कहते हैं—) 'क्या काल, स्वभाव, निश्चित फल देनेवाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत या जीवात्मा (जगत्का) कारण है? इसपर विचार करना चाहिये। इन काल आदिका समुदाय भी इस जगत्का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वे चेतन आत्माके अधीन हैं (जड होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं हैं)। जीवात्मा भी इस जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दुःखोंके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन है। इस प्रकार विचार करके उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर अपने गुणोंसे ढकी हुई उन परमात्मदेवकी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिका साक्षात्कार किया, जो परमात्मदेव अकेले ही उन कालसे लेकर आत्मातक (पहले बताये हुए) सम्पूर्ण कारणोंपर शासन करते हैं। उस एक नेमिवाले, तीन घेरोंवाले, सोलह सिरोंवाले, पचास अरोंवाले, बीस सहायक अरोंसे तथा छः अष्टकोंसे युक्त, अनेक रूपोंवाले एक ही पाशसे युक्त, मार्गके तीन भेदोंवाले तथा दो निमित्त और मोहरूपी एक नाभिवाले चक्रको उन्होंने देखा। पाँच स्रोतोंसे आनेवाले विषयरूप जलसे युक्त, पाँच स्थानोंसे उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलनेवाली, पाँच प्राणरूप तरङ्गोंवाली, पाँच प्रकारके ज्ञानके आदिकारण मनरूप मूलवाली, पाँच भँवरोंवाली, पाँच दुःखरूप प्रवाहके वेगसे युक्त, पाँच पर्वोंवाली और पचास भेदोंवाली नदीको हमलोग जानते हैं। सबकी जीविकारूप, सबके आश्रयभूत इस विस्तृत ब्रह्मचक्रमें जीवात्मा घुमाया जाता है। वह अपने-आपको और सबके प्रेरक परमात्माको अलग-अलग जानकर उसके बाद उन परमात्मासे स्वीकृत होकर अमृतभावको प्राप्त हो जाता है। ये वेदवर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय और अविनाशी हैं। उनमें तीनों लोक स्थित हैं। वेदके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष यहाँ (हृदयमें) अन्तर्यामीरूपसे स्थित उन ब्रह्मको जानकर उन्हींके परायण हो उन परब्रह्म परमात्मामें ही लीन हो गये। विनाशशील जडवर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा—इन दोनोंके संयुक्त रूप व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप इस विश्वका परमेश्वर ही धारण और पोषण करते हैं तथा जीवात्मा इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण प्रकृतिके अधीन हो इसमें बँध जाता है और उन परमदेव परमेश्वरको जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञ और अज्ञानी, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दो अजन्मा आत्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्यसामग्रीसे युक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है। (इन तीनोंमें जो ईश्वरतत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है; क्योंकि) वे परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाले और कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है, तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन विनाशशील जडतत्त्व और चेतन आत्मा दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखते हैं; (इस प्रकार जानकर) उनका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उन्हींमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे मनुष्य अन्तमें उन्हें प्राप्त कर लेता है; फिर तो समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। उन परमदेव

का निरन्तर ध्यान करनेसे उन प्रकाशमय परमात्माको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। (अतः वह) शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है। अपने ही भीतर स्थित इन ब्रह्मको सदा ही जानना चाहिये। इनसे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और उनके प्रेरक परमेश्वर—इन तीनोंको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार इन तीन भेदोंमें बताया हुआ यह सब कुछ ब्रह्म ही है। आत्मविद्या और तपस्या ही जिसकी प्राप्तिके मूल साधन हैं, वह उपनिषद्-वर्णित परमतत्त्व ही ब्रह्म है। (दृष्टिभेदसे वह द्विविध या त्रिविध बताया जाता है; परंतु वास्तवमें भेद-दृष्टि अज्ञान-मूलक है, अतः सब रूपोंमें वह एक ही ब्रह्म विराजमान है) ॥ २–१३ ॥

जो इस प्रकार जानकर निरन्तर अपने स्वरूपभूत ब्रह्मका ही चिन्तन करता है, उस एकत्वदर्शी ज्ञानीको वहाँ क्या शोक है और क्या मोह। इसलिये भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें प्रकट होनेवाला यह विराट् जगत् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप ही है। यह सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और महान्‌से भी परम महान् परमात्मा इस जीवकी हृदयरूपी गुहामें स्थित है। सबकी सृष्टि एवं रक्षा करनेवाले परमात्माकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको तथा उसकी महिमाको भी देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित हो जाता है। वह परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला तथा वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोंके बिना ही वह सब कुछ देखता है। कानोंके बिना ही वह सब कुछ सुनता है। वह जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुओंको जानता है; परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे पुरातन महान् पुरुष (पुरुषोत्तम) कहते हैं। वह इन अनित्य शरीरोंमें नित्य एवं शरीररहित होकर स्थित है; उन सर्वव्यापी महान् परमात्माको जान लेनेपर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता। वह सबका धारण-पोषण करनेवाला है, उसकी अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति अचिन्त्य है, सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तरूपसे स्वीकृत अर्थविशेष—परमात्माके रूपमें वही जाननेयोग्य है। परात्पर परब्रह्मरूपमें भी वही ज्ञातव्य है तथा सबके अवसानमें अर्थात् सम्पूर्ण जगत्‌का प्रलय होनेपर सबके संहारकरूपमें भी उसीको जानना चाहिये। वह कवि (त्रिकालज्ञ), पुराण-पुरुष तथा सबसे उत्तम पुरुषोत्तम है। वही सबका ईश्वर तथा सम्पूर्ण देवताओं-द्वारा उपासना करनेयोग्य है। वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित है, उसका कभी विनाश नहीं होता। वही शिव, विष्णु तथा कमलजन्मा ब्रह्मारूपी वृक्षोंको प्रकट करनेवाला महान् भूधर (पर्वत) है। जो पञ्चभूतात्मक है तथा पाँच इन्द्रियों-में विद्यमान रहता है, जिसने अनन्त जन्मोंके विस्तारकी परम्पराको बढ़ा रक्खा है, उस सम्पूर्ण प्रपञ्चको उस परमात्माने पञ्चभूतोंके रूपोंमें प्रकट किये हुए अपने ही अवयवोंद्वारा स्वयं ही व्याप्त कर रक्खा है; फिर भी वह स्वयं इन पञ्चभूतात्मक अवयवोंसे आवृत नहीं है। वह परसे भी पर और महान्‌से भी महान् है। वह स्वरूपतः स्वतः प्रकाशमय, सनातन एवं कल्याणरूप है। जो दुराचारसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ अशान्त हैं—वशमें नहीं हैं, जो एकाग्रचित्त नहीं हुआ है तथा जिसका मन पूर्णतः शान्त नहीं हो पाया है, वह इस परमात्माको उत्तम ज्ञानद्वारा नहीं पा सकता (उसके भीतर आत्मज्ञानका उदय होगा ही नहीं)। वह पूर्ण ब्रह्म न भीतर जानता है, न बाहर जानता है, न बाहर-भीतर—दोनोंको ही जानता है; वह न स्थूल है न सूक्ष्म है; न वह ज्ञानरूप है, न अज्ञानरूप है, वह पकड़में आनेवाला तथा व्यवहारका विषय नहीं है। वह अपने भीतर स्वयं ही स्थित है। जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है—इस प्रकार भगवान् ब्रह्माजीने उपदेश दिया ॥ १४–२२ ॥

अपने स्वरूपको जाननेवाला संन्यासी अकेला ही विचरता है। वह भयभीत मृगकी भाँति कभी एक स्थानपर नहीं ठहरता। अन्यत्र जानेका यदि कोई विरोध (अथवा न जानेका अनुरोध) करता है, तो उसे वह स्वीकार नहीं करता। अपने शरीरके सिवा अन्य सब वस्तुओंको त्यागकर वह मधुकरी-वृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करता है। सदा अपने स्वरूपका ही चिन्तन करते हुए उसकी सबके प्रति अनन्य बुद्धि हो जाती है—वह सबको अपना आत्मा ही समझता है तथा इस प्रकार अपने-आपमें ही स्थित रहनेवाला वह यति सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। वह परिव्राजक सम्पूर्ण क्रियाओं और कारकोंसे भेद-बुद्धि त्याग देता है। गुरु (शास्ता), शिष्य और शास्त्र

आदिकी त्रिपुटीसे भी वह मुक्त हो जाता है। समस्त संसारको त्यागकर वह कभी उसके दुःखसे मोहित नहीं होता। परिव्राजक कैसा हो? वह लौकिक धनसे रहित होनेपर ही सुखी होता है। वह ब्रह्मात्मज्ञानरूप धनसे सम्पन्न हो ज्ञान-अज्ञान दोनोंसे ऊपर उठ जाता है। सुख-दुःख दोनोंके पार पहुँच जाता है। वह आत्मज्योतिसे ही प्रकाश ग्रहण करता है। सब ज्ञातव्य पदार्थ उसे ज्ञात हो जाते हैं। वह सर्वज्ञ, सब सिद्धियोंका दाता और सर्वेश्वर हो जाता है। क्योंकि 'सोऽहम्' (वह ब्रह्म मैं हूँ)—इस महावाक्यके उपदेशमें उसकी सहज स्थिति हो जाती है। वह परब्रह्म ही भगवान् विष्णुका परमधाम है; जहाँ जाकर योगी पुरुष वहाँसे इस संसारमें नहीं लौटते। वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश फैलाता है। उस परम पदको प्राप्त होनेवाला वह महात्मा इस संसारमें नहीं लौटता, इस संसारमें नहीं लौटता। वही कैवल्यपद है। इतना ही यह उपनिषद् है॥ २३॥

॥ नवम उपदेश समाप्त ॥ ९ ॥

॥ अथर्ववेदीय नारदपरिव्राजकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अमृतत्वकी प्राप्तिका साधन

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः। निःसङ्गतत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः॥
पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्क्रमेत्। छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा॥
यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥
अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते। सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तं तु न बध्यते॥

(क्षुरिकोपनिषद्)

तपके द्वारा जिसने चित्तको जीत लिया है, उसे शब्दरहित एकान्त स्थानमें स्थित होकर सङ्गशून्य तत्त्वके लिये योगका ज्ञाता बनना और धीरे-धीरे अपेक्षारहित बनना चाहिये। जैसे बन्धनको काटकर हंस आकाशमें निःशङ्क उड़ जाता है, वैसे ही जिसके बन्धन कट गये हैं, वह जीव संसारसे सदाके लिये तर जाता है। जैसे दीपक बुझनेके समय सारे तेलको जलाकर बुझ जाता है, वैसे ही योगी समस्त कर्मोंको जलाकर ब्रह्ममें लीन हो जाता है। साधक जब समस्त कामनाओंसे छूट जाता है और सारी एषणाओंसे रहित हो जाता है, तब वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। यों संसार-बन्धनको काट डालनेके बाद वह बँधता नहीं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

आरुणिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

संन्यासग्रहणकी विधि तथा संन्यासके नियम

ॐ—प्रजापतिके उपासक अरुणके पुत्र आरुणि ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास गये। वहाँ जाकर बोले—'भगवन्! किस प्रकार मैं समस्त कर्मोंका त्याग कर सकता हूँ?' ब्रह्माजीने उनसे कहा—'अपने पुत्र, भाई-बन्धु आदिको, शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ एवं स्वाध्यायको तथा भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक एवं अतल, तलातल, वितल, सुतल, रसातल, महातल और पातालको—इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका त्याग कर दे। केवल दण्ड, आच्छादनके लिये वस्त्र तथा कौपीन धारण करे। शेष सब कुछ त्याग दे ॥ १ ॥

'गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो या वानप्रस्थ हो, यज्ञोपवीतको भूमिपर अथवा जलमें छोड़ दे। लौकिक अग्नियोंको अर्थात् अग्निहोत्रकी तीनों अग्नियोंको अपनी जठराग्निमें लीन करे तथा गायत्रीको अपनी वाणीरूपी अग्निमें स्थापित करे। कुटीमें रहनेवाला ब्रह्मचारी अपने कुटुम्बको छोड़ दे, पात्रका त्याग कर दे, पवित्री (कुशा) को त्याग दे। दण्डों और लोकोंका त्याग करे—इस प्रकार उन्होंने कहा। इसके बाद मन्त्रहीनके समान आचरण करे। ऊर्ध्वगमन अर्थात् ऊर्ध्वलोकोंमें जानेकी इच्छा भी न करे। औषधकी भाँति (स्वाद-बुद्धि न रखकर, केवल शरीर-रक्षाके लिये) अन्न ग्रहण करे, तीनों सन्ध्याओंके पूर्व स्नान करे। सन्ध्याकालमें समाधिमें स्थित होकर परमात्माका अनुसन्धान करे। सब वेदोंमें आरण्यकोंकी आवृत्ति (पाठ एवं मनन) करे, उपनिषदोंकी आवृत्ति करे। उपनिषदोंकी आवृत्ति करे ॥ २ ॥

'निश्चय ही ब्रह्मको सूचित करनेवाला सूत्र—ब्रह्मसूत्र मैं ही हूँ, यों समझकर त्रिवृत्सूत्र अर्थात् उपवीतका त्याग करे। इस प्रकार समझनेवाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्, मया संन्यस्तम्, मया संन्यस्तम्' (मैंने संन्यास लिया, मैंने सर्वत्याग कर दिया, मैंने सब कुछ छोड़ दिया)—यों तीन बार कहकर—

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि
वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय ॥*

—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित बाँसका दण्ड और कौपीन धारण करे; ओषधिकी भाँति भोजन करे; ओषधिकी भाँति अल्पमात्रामें भोजन करे; जो कुछ मिल जाय वही खा ले। आरुणि! ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा सत्यकी यत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो ॥ ३ ॥

* सब (हिंस्र तथा अहिंस्र) प्राणियोंको अभय प्राप्त हो—किसीको भी मुझसे भय न हो; क्योंकि मुझसे ही सारा विश्व प्रवर्तित होता है। दण्ड! तुम मेरे मित्र हो, मेरे ओजकी रक्षा करो। तुम मेरे मित्र हो, वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रके वज्र हो। वज्र! मुझे सुख प्रदान करो। मुझे संन्यास-धर्मसे गिरानेवाला जो भी पाप हो, उसका निवारण करो।

'इसके पश्चात् परमहंस परिव्राजकोंके लिये भूमिपर ही आसन और शयन आदिका, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहनेका तथा मिट्टी-का पात्र, तूँबी अथवा काष्ठका कमण्डलु रखनेका विधान है। संन्यासियोंको काम, क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, परनिन्दा, ममता, अहङ्कार आदिका भी परित्याग कर देना चाहिये। वर्षा ऋतुमें एक स्थानमें स्थिर होकर रहे; शेष आठ महीने अकेला विचरण करे, अथवा एक और साथी लेकर, दो होकर विचरे, दो होकर विचरे॥ ४॥

'इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् (संन्यासी होना चाहे) वह उपनयनके अनन्तर अथवा पहले भी उपर्युक्त विधिसे अपने माता-पिता, पुत्र, अग्नि, उपवीत, कर्म, पत्नी अथवा अन्य जो कुछ भी हो—सबका परित्याग कर दे। संन्यासियोंको चाहिये कि हाथोंको ही पात्र बनाकर अथवा उदरको ही पात्रके रूपमें लेकर भिक्षाके लिये गाँवमें प्रवेश करे। उस समय 'ॐ हि ॐ हि ॐ हि' इस उपनिषद्-मन्त्रका उच्चारण करे। यह उपनिषद् है; जो इस उपनिषद्को निश्चयपूर्वक यों जानता है, वही विद्वान् है। पलाश, बेल, पीपल अथवा गूलरके दण्ड, मूँजकी मेखला तथा यज्ञोपवीत (अर्थात् द्विजत्वके बाह्य उपकरणों) को त्यागकर जो इस प्रकार जानता है, वही शूरवीर है। जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परम व्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परम धामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं। साधनामें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परम पद कहते हैं। वह परम पद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है। यह महा उपनिषद् है'॥ ५॥

॥ सामवेदीय आरुणिकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

दो विद्याएँ

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥

(ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १७-१८)

दो विद्याएँ जाननेकी हैं—'शब्दब्रह्म' और 'परब्रह्म'—शास्त्रज्ञान और भगवान्का यथार्थ स्वरूपज्ञान। शास्त्रज्ञानमें निपुण हो जानेपर मनुष्य भगवान्को भी जान लेता है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ग्रन्थका अभ्यास करके उसके ज्ञान-विज्ञानरूप तत्त्वको प्राप्त कर ले, फिर उस ग्रन्थको वैसे ही त्याग दे, जैसे धान चाहनेवाला मनुष्य धानको लेकर पुआलको खलिहानमें छोड़ देता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

जाबाल्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पाशुपत-मतके अनुसार तत्त्वविचार; भस्म-धारणकी विधि तथा माहात्म्य; त्रिपुण्ड्रकी तीन रेखाओंका अर्थ

हरिः ॐ। एक बार भगवान् जाबालिके पास पिप्पलादके पुत्र पैप्पलादि मुनि गये और उनसे बोले—'भगवन् ! मुझे परमतत्त्वका रहस्य बतलाइये। क्या तत्त्व है, कौन जीव है, कौन पशु है, कौन ईश्वर है और मोक्षका उपाय क्या है ?' भगवान् जाबालिने उनसे कहा—'तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है, जैसा मुझे ज्ञात है, वह सब निवेदन करूँगा।' फिर पैप्पलादि मुनिने उनसे पूछा—'आपको यह किसके द्वारा ज्ञात हुआ ?' वे पुनः उनसे बोले—'श्रीकार्तिकेयजीसे।' पैप्पलादिने फिर पूछा—'षडाननको किससे ज्ञात हुआ ?' वे बोले—'श्रीमहादेवजीसे।' पैप्पलादिने फिर उनसे पूछा—'महादेवजीसे उन्होंने किस प्रकार जाना ?' तब जाबालिने उत्तर दिया—'महादेवजीकी उपासनाके द्वारा।' फिर पैप्पलादिने जाबालिसे कहा—'भगवन् ! कृपापूर्वक हमें यह सब कुछ रहस्यसहित बतलाइये।' उनके द्वारा पूछे जानेपर जाबालिने सब तत्त्व बतलाया—'पशुपति ही अहङ्कारसे युक्त होकर जब सांसारिक जीव बनते हैं, तब पशु कहलाते हैं। पाँच कृत्योंसे सम्पन्न सर्वज्ञ, सर्वेश्वर महेश्वर ही पशुपति हैं।' 'पशु कौन हैं ?' यह पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि 'जीव ही पशु कहलाते हैं।' उनके पति होनेके कारण महेश्वर पशुपति हैं। पैप्पलादिने फिर पूछा—'जीव कैसे पशु कहलाते हैं और महेश्वर कैसे पशुपति ?' भगवान् जाबालिने उनसे कहा—'जिस प्रकार घास-चारा खानेवाले, अविवेकी—जड, दूसरोंके द्वारा हाँके जानेवाले, खेती आदिके काममें नियुक्त, सब दुःखोंको सहनेवाले तथा अपने स्वामीके द्वारा बाँधे जानेवाले गौ आदि पशु होते हैं, वैसे ही जीव भी पशु कहलाते हैं। तथा उनके स्वामीके समान होनेके कारण सर्वज्ञ ईश्वर ही पशुपति हैं।' 'उनका ज्ञान किस उपायसे होता है ?' तब भगवान् जाबालिने उत्तर दिया 'विभूति धारण करनेसे।' 'उसकी क्या विधि है ? कहाँ-कहाँ उसे धारण करना चाहिये ?' भगवान् जाबालि पुनः उनसे कहने लगे—'सद्योजातादि' पाँच ब्रह्मसंज्ञक मन्त्रोंसे* भस्म

---

* ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः ।
भवे भवेनातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥

ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मथाय नमः ॥

ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥

ॐ ईशानः सर्वविद्यानाम् ईश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणो ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम् ॥

संग्रह करे। 'अग्निरिति भस्म'* इस मन्त्रसे भस्मको अभिमन्त्रित करे, 'मा नस्तोके०'† इस मन्त्रसे उठाकर जलसे मले, 'त्र्यायुषम्०'‡ इत्यादि मन्त्रसे मस्तक, ललाट, वक्षःस्थल और कन्धोंपर त्रिपुण्ड्र करे। 'त्र्यायुषम्०' तथा 'त्र्यम्बकम्०'§ इन दोनों मन्त्रोंको तीन-तीन बार पढ़ते हुए तीन रेखाएँ खींचे। यह 'शाम्भव' व्रत है, सम्पूर्ण वेदोंमें वेदज्ञोंद्वारा कहा गया है। मुमुक्षु आवागमनसे बचनेके लिये इसका सम्यक् आचरण करे।' तदनन्तर सनत्कुमारने इन रेखाओंका परिमाण पूछा। त्रिपुण्ड्र-धारणकी तीन रेखाएँ ललाटभरमें चक्षु और भ्रुवोंके मध्यतक होती हैं। इनमें जो प्रथमा रेखा है, वह गार्हपत्य-अग्निका प्रतीक, प्रणवका अकार, रजोगुणस्वरूप, भूर्लोक, देहात्मा, क्रियाशक्ति, ऋग्वेद, प्रातःकालीन सवन और ब्रह्मादेवताका स्वरूप है। इसकी जो द्वितीय रेखा है, वह दक्षिणाग्निका प्रतीक, उकार, सत्त्वगुण, अन्तरिक्ष, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद, माध्यन्दिन सवन और विष्णुदेवताका स्वरूप है। जो इसकी तृतीय रेखा है, वह आहवनीय अग्निका प्रतीक, मकार, तमोगुण, द्युलोक, परमात्मा, ज्ञानशक्ति, सामवेद, तृतीय सवन और महादेवदेवताका स्वरूप है। यों समझकर जो भस्मका त्रिपुण्ड्र धारण करता है, वह विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—जो भी कोई हो, महापातक और उपपातकोंसे मुक्त हो जाता है। सब देवताओंके ध्यानका फल उसको मिलता है। उसे सब तीर्थोंके स्नानका फल प्राप्त हो जाता है। वह समस्त रुद्रमन्त्रोंके जापका फल प्राप्त कर लेता है। वह पुनः आवागमनमें नहीं पड़ता, पुनः आवागमनमें नहीं पड़ता। ॐ सत्यम्—यह उपनिषद् है।

॥ सामवेदीय जाबाल्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

शिवका उपासक धन्य है

सर्गादिकाले भगवान् विरिञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य।
तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोपास्योपासको भवति धाता ॥(दक्षिणामूर्ति० २०)

सृष्टिके आदिकालमें भगवान् ब्रह्मा इन (शिव) की उपासना करनेसे सामर्थ्य प्राप्तकर और मनोऽभिलषित अर्थको पाकर सन्तुष्ट होते हैं। इन उपास्य (शिव) का उपासक धन्य है; क्योंकि वह भी धाता (सबका धारण-पोषण करने-वाला) हो जाता है।

---

* ॐ अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म व्योमेति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म ॥

† मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान्रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ (यजुर्वेद १६। १६)

‡ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् ॥ (यजुर्वेद ३। ६२)

§ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ (यजुर्वेद ३। ६०)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

वासुदेवोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गोपीचन्दनका महत्त्व, उसके धारणकी विधि और फल

देवर्षि नारदने सर्वेश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करके उनसे पूछा—भगवन् ! द्रव्य, मन्त्र, स्थान आदि (देवता, रेखा, रंग एवं परिमाण) के साथ मुझे ऊर्ध्वपुण्ड्रकी विधि बतलाइये ।

तब देवर्षि नारदसे भगवान् वासुदेव बोले—'जिसे ब्रह्मादि मेरे भक्त धारण करते हैं, वह वैकुण्ठधाममें उत्पन्न, मुझे प्रसन्न करनेवाला विष्णुचन्दन मैंने वैकुण्ठधामसे लाकर द्वारकामें प्रतिष्ठित किया है । कुङ्कुमादिसहित विष्णुचन्दन ही चन्दन है । मेरे अङ्गोंमें वह चन्दन गोपियोंद्वारा उपलेपित और प्रक्षालित होनेसे गोपीचन्दन कहा जाता है । मेरे अङ्गका वह पवित्र उपलेपन चक्रतीर्थमें स्थित है । चक्र (गोमतीचक्र) सहित तथा पीले रंगका वह मुक्ति देनेवाला है । [चक्रतीर्थमें जहाँ गोमती-चक्रशिला हो, उस शिलासे लगा पीला चन्दन ही गोपी-चन्दन है । शिलासे पृथक् तथा दूसरे रंगका नहीं ।]

पहले गोपीचन्दनको नमस्कार करके उठा ले, फिर इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—

गोपीचन्दन पापघ्न विष्णुदेहसमुद्भव ।
चक्राङ्कित नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव ॥

'हे विष्णुभगवान्के देहसे समुत्पन्न पापनाशक गोपी-चन्दन ! हे चक्राङ्कित ! आपको नमस्कार है । धारण करनेसे मेरे लिये मुक्ति देनेवाले होइये ।'

इस प्रकार प्रार्थना करके 'इमं मे गङ्गे०'[1] इस मन्त्रसे जल लेकर 'विष्णोर्नु कम्०'[2] इस मन्त्रसे (उस चन्दनको) रगड़े । फिर 'अतो देवा अवन्तु नो०'[3] आदि ऋग्वेदके मन्त्रोंसे तथा

---

१. 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥'

(ऋक्० १० । ७५ । ५)

इस मन्त्रके सिन्धुद्वीप ऋषि हैं, मन्त्रोक्त सब नदियाँ देवता हैं, जगती छन्द है, जलदानमें इसका विनियोग है ।' इन ऋषि आदिका न्यास करना चाहिये ।

२. 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥'

(ऋक्० १ । १५४ । १)

इस मन्त्रका 'विष्णोर्नु कमिति मन्त्रस्य दीर्घतमा ऋषिः नारायणो देवता त्रिष्टुप् छन्दः मर्दने विनियोगः ।' इस प्रकार विनियोग है। इन ऋषि आदिका न्यास करना चाहिये ।

३. 'अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे । पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥'
'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ।'

(ऋक्० १ । २२ । १६, २०-२१)

इन तीनों मन्त्रोंको पढ़े । इनका विनियोग वाक्य यह है—'अतो देवा

विष्णुगायत्री[1]से तीन बार अभिमन्त्रित करे। तदनन्तर—

शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष मां पाहि शरणागतम्॥

'हाथोंमें शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण किये, द्वारकाधाममें रहनेवाले हे अच्युत! हे कमललोचन गोविन्द! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा करो।'

इस प्रकार मेरा ध्यान करके गृहस्थ अनामिका अंगुलिद्वारा ललाट आदि (ललाट, उदर, हृदय, कण्ठ, दोनों भुजाएँ, दोनों कुक्षि, कान, पीठका (पेटके पीछेका) भाग, गर्दनके पीछे तथा मस्तक—इन) बारह स्थानोंपर विष्णुगायत्रीसे अथवा केशव आदि बारह नामों[2]से (चन्दन) धारण करे। ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ (अनामिकासे ही) ललाट, कण्ठ, हृदय तथा बाहुमूल (कन्धोंके पास बाहुके कूल्हों) पर विष्णुगायत्रीके द्वारा अथवा कृष्णादि पाँच नामों[3]से (चन्दन) धारण करे। संन्यासी तर्जनी अँगुलीसे सिर, ललाट तथा हृदयपर प्रणवके द्वारा (चन्दन) धारण करे।

ब्रह्मादि (ब्रह्मा, विष्णु, शिव), तीनों मूर्तियाँ, तीनों (भूः भुवः स्वः) व्याहृतियाँ, तीन (गण-छन्द, मात्रा-छन्द तथा अक्षर-छन्द) छन्द, तीनों (ऋक, यजुः एवं साम) वेद, तीनों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) स्वर, तीनों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) अग्नियाँ, तीनों (चन्द्र, सूर्य, अग्नि) ज्योतिष्मान्, तीनों (भूत, वर्तमान, भविष्य) काल, तीनों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) अवस्थाएँ, तीनों (क्षर, अक्षर, परमात्मा) आत्मा, तीनों पुण्ड्र (अकार, उकार, मकार—प्रणवकी ये तीन मात्राएँ)—ये सब प्रणवात्मक तीनों ऊर्ध्वपुण्ड्रके स्वरूप हैं। अतः ये तीन रेखाएँ एकत्रित होकर ॐके रूपमें एक हो जाती हैं (अर्थात् तीनों पुण्ड्र मिलकर प्रणवरूप होते हैं)। अथवा परमहंस प्रणवद्वारा एक ही ऊर्ध्वपुण्ड्र ललाटपर धारण करे। वहाँ (ललाटमें) दीपके प्रकाशके समान अपने आत्माको देखता हुआ तथा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी भावना करता हुआ योगी मेरा सायुज्य (मोक्ष) प्राप्त करता है और दूसरे (परमहंसके अतिरिक्त) कुटीचक, त्रिदण्डी, बहूदक आदि संन्यासी हृदयपरके ऊर्ध्वपुण्ड्रके मध्यमें या हृदयकमलके मध्यमें अपने आत्मतत्त्वकी भावना (ध्यान) करें।

उस हृदयकमलके मध्यमें नीले बादलके मध्यमें प्रकाशमान विद्युल्लताकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म ऊर्ध्वमुखी अग्निशिखा स्थित है। वह नीवारके शूक (सिके—कोंपलमूल) की भाँति पतली, पीतवर्ण तथा प्रकाशमय अणुके समान है। उसी अग्निशिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित हैं। पहले हृदयके ऊपरके ऊर्ध्वपुण्ड्रमें (अग्निशिखाके मध्य परमात्माकी भावनाका) अभ्यास करे। उसके पश्चात् हृदय-कमलमें (उसी ध्यानका) अभ्यास करे। इस प्रकार क्रमशः अपने आत्मरूपकी मुझ परम हरिरूपसे भावना करे।

जो एकाग्र मनसे मुझ अद्वैतरूप (जिसके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं, उस) हरिका हृदय-कमलमें अपने आत्मरूपसे ध्यान करता है, वह मुक्त है; इसमें सन्देह नहीं। अथवा जो भक्तिद्वारा मेरे अव्यय, ब्रह्म (व्यापक), आदि-मध्य एवं अन्तसे रहित, स्वयंप्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूपको जानता है (वह भी मुक्त है, इसमें सन्देह नहीं)।

मैं एक ही विष्णु अनेक रूपवाले जङ्गमों तथा स्थावर भूतोंमें भी ओतप्रोत होकर उनके आत्मरूपसे

इति त्र्यृचस्य काण्वो मेधातिथि ऋषिः विष्णुः देवता गायत्री छन्दः अभिमन्त्रणे विनियोगः।' पूर्ववत् न्यास करे।

१. (विष्णुगायत्री)—नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

२. ललाटे केशवं विद्यान्नारायणमथोदरे।
माधवं हृदये न्यस्य गोविन्दं कण्ठकूपके॥
विष्णुश्च दक्षिणे कुक्षौ तद्भुजे मधुसूदनम्।
त्रिविक्रमं कर्णदेशे वामे कुक्षौ तु वामनम्॥
श्रीधरं तु सदा न्यस्येद् वामबाहौ नरः सदा।
पद्मनाभं पृष्ठदेशे ककुद्दामोदरं स्मरेत्॥
वासुदेवं स्मरेन्मूर्ध्नि तिलकं कारयेत् क्रमात्।

ललाटमें केशव, उदरमें नारायण, हृदयमें माधव, कण्ठकूपमें गोविन्द, दाहिनी कुक्षिमें विष्णु, दाहिनी भुजामें मधुसूदन, कानोंमें त्रिविक्रम, बायीं कुक्षिमें वामन, वामबाहुमें श्रीधर, पीठमें पद्मनाभ, ककुत् (गर्दनके पीछे) में दामोदर, मस्तकपर वासुदेव—इस प्रकार भगवन्नामका न्यास करते हुए तिलक करे।

३. 'कृष्णः सत्यः सात्वतः स्याच्छौरिः शूरो जनार्दनः।'

अथवा—

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥

कृष्ण, सत्य, सात्वत, शौरि एवं जनार्दन अथवा कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्दगोपकुमार और गोविन्द—इन नामोंसे तिलक करे।

निवास करता हूँ। जैसे तिलोंमें तेल, लकड़ीमें अग्नि, दूधमें घी तथा पुष्पमें गन्ध (व्याप्त है), वैसे ही भूतोंमें उनके आत्मरूपसे मैं अवस्थित हूँ। जगत्में जो कुछ भी दिखायी पड़ता है अथवा सुना भी जाता है, उस सबको बाहर और भीतरसे भी व्याप्त करके मैं नारायण स्थित हूँ। मैं देहादिसे रहित, सूक्ष्म, चित्प्रकाश (ज्ञानस्वरूप), निर्मल, सबमें ओतप्रोत, अद्वैत परम ब्रह्मस्वरूप हूँ।

ब्रह्मरन्ध्रमें, दोनों भौंहोंके मध्यमें तथा हृदयमें चेतनाको प्रकाशित करनेवाले श्रीहरिका चिन्तन करे। इन स्थानोंको गोपीचन्दनसे उपलिप्त करके (वहाँ गोपीचन्दनका तिलक करके) तथा ध्यान करके साधक परमतत्त्वको प्राप्त करता है। ऊर्ध्वदण्डी, ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी), ऊर्ध्वपुण्ड्र (धारी) तथा ऊर्ध्वयोग (उत्तम गति देनेवाले योग) को जाननेवाला—इस ऊर्ध्व-चतुष्टयसे सम्पन्न संन्यासी ऊर्ध्वपद (दिव्यधाम) को प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह निश्चित ज्ञान है। यह मेरी भक्तिसे स्वयं सिद्ध हो जाता है। नित्य गोपीचन्दन धारण करनेसे एकाग्र भक्ति प्राप्त होती है। वैदिक ज्ञानसम्पन्न सर्वश्रेष्ठ सभी ब्राह्मणोंके लिये पानीके साथ घिसकर गोपीचन्दनके ऊर्ध्वपुण्ड्र (करने) का विधान है। जो मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा रखनेवाला) है, वह अपरोक्ष आत्मदर्शनकी सिद्धिके लिये गोपीचन्दनके अभावमें (गोपीचन्दन न हो, तब) तुलसीके जड़की मिट्टी (से) नित्य (तिलक) धारण करे। जिसका शरीर गोपीचन्दनसे लिप्त रहता है, उसके शरीरकी हड्डियाँ निश्चय ही (दधीचिकी हड्डियोंके समान) दिनोंदिन चक्र (वज्रके समान सुदृढ़) होती जाती हैं।

(दिनमें तो गोपीचन्दनका ऊर्ध्वपुण्ड्र करे) और रात्रिको अग्निहोत्रकी भस्मसे **'अग्नेर्भस्मासि०'**[1] आदिसे (भस्म लेकर) **'इदं विष्णु०'**[2] आदि मन्त्रसे मलकर तथा **'त्रीणि पदा०'**[3] आदि मन्त्रसे, विष्णुगायत्रीसे तथा (यदि साधु हो तो) प्रणवसे उद्धूलन करे (सम्पूर्ण शरीरको मले)।

जो इस विधिसे गोपीचन्दन धारण करता है, अथवा जो इस (उपनिषद्) का अध्ययन करता है, वह समस्त महापातकोंसे पवित्र हो जाता है। उसे पाप-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। वह सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान कर चुकता है। (सब तीर्थोंके स्नानका पुण्य प्राप्त कर लेता है।) सम्पूर्ण यज्ञोंका यजन करनेवाला (उनके यजनके फलको प्राप्त) होता है। सम्पूर्ण देवताओंसे पूजनीय हो जाता है। उसकी मुझ नारायणमें अचला भक्ति वृद्धिको प्राप्त होती है। वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके भगवान् विष्णुका सायुज्य (मोक्ष) प्राप्त करता है। फिर (संसारमें) लौटकर नहीं आता, नहीं आता।

आकाशमें व्याप्त हुए सूर्यकी भाँति भगवान् विष्णुके उस परमपदको सूक्ष्मदर्शी (ज्ञानी) सदा अपने हृदयाकाशमें देखते (साक्षात् करते) हैं। भगवान् विष्णुका वह जो परम पद है, उसे लोक-व्यवहारमें अनासक्त एवं साधनके लिये सदा जाग्रत् रहनेवाले विप्रगण ध्यानमें प्रकाशित करते हैं। (ध्यानमें उसका साक्षात् दर्शन करते हैं।)

॥ सामवेदीय वासुदेवोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

---

१. 'अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितः स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम्।' (वाजसनेयिसंहिता १२। ४६)

२. 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥' (ऋक्० १। २२। १७)

३. 'त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।' (ऋक्० १। २२। १८)

उपनिषदोंमें श्रीसर्वेश्वर

(लेखक—विद्याभूषण, सांख्य-साहित्य-वेदान्ततीर्थ श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य)

वेदेषु यत्किमपि गुह्यमनन्ततत्त्वं
ब्रह्मात्मसत्पुरुषशब्दमुखैर्विनीतम् ।
नत्वेह निर्गुणमशेषगुणाश्रयं तं
सर्वेश्वरं श्रुतिगिरा सुविभावयामि ॥

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक विश्वम्भर परमपिता परमेश्वर-तत्त्वकी वेद एवं उपनिषदोंमें जो मीमांसा की गयी है, वह ब्रह्म, आत्मा, विष्णु, रुद्र, शिव, केवल, सर्वज्ञ, इन्द्र, उपेन्द्र, नारायण, नृसिंह, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द, परमात्मा, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, वासुदेव, राम, यम, काल, ईश्वर, प्राण, आकाश, कं, खं, ॐ, सत्, असत्, चित्, आनन्द और अक्षर आदि अनेकों नामोंसे की गयी है। उपर्युक्त सभी नाम सार्थक हैं। इन सभीमें श्रीसर्वेश्वरके ही स्वरूप-गुणोंकी झाँकी होती है; क्योंकि शब्द और अर्थका तादात्म्य-सम्बन्ध माना जाता है। अतः शब्दके उच्चारण होते ही उसका अर्थ भाषित हो जाता है; परंतु जो व्यक्ति शब्दकी शक्तिसे अनभिज्ञ हों, उनको बारंबार उच्चारण करनेपर भी इन शब्दोंका अर्थ ज्ञात नहीं हो पाता। जबतक शब्दशक्तिको द्योतन करनेवाले साधनोंकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक अर्थ चाहे स्वयं मूर्तिमान् बनकर भी किसीके सामने उपस्थित हो जाय, अबोध व्यक्तिको यह पता नहीं चल सकता कि यह कौन वस्तु है, इसका क्या महत्त्व है एवं यह किस उपयोगमें आती है। जैसे नवजात शिशुको उसके माता-पिता, भाई आदि तत्तद्व्यक्तियोंको दिखलाकर जबतक बारंबार उनके नाम नहीं सुनाये जाते, तबतक वह शिशु अपने जनक-जननी आदि परमहितैषी आत्मीयोंको भी नहीं जान पाता। परंतु उनका ज्ञान हो जानेपर वह अपने उन माता-पिता-भ्राता आदिको उन-उन नामोंसे पुकारने लगता है और उनमें आत्मरक्षाका अभिनिवेश बना लेता है। अतएव जब कभी कोई भी आपत्ति आती दीखती है, तो वह तत्क्षण तल्लीन होकर रोता है और अपने उन पोषक-रक्षक माता-पिता आदिको पुकारता है और वे अपने कर्तव्यानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा करते हैं। अवस्था बढ़ जानेपर भी जबतक उस व्यक्तिको किसी विशिष्ट शक्तिशाली संरक्षकका ज्ञान नहीं होता, तबतक वह उन्हीं भौतिकविग्रही माता-पिता आदिपर निर्भर रहता है। यही कारण है कि कुछ लोग वृद्ध हो जानेपर भी दुःखके अवसरपर अरी मैया! अरे बाप! आदि शब्दोंके वाच्यार्थको ही अपना संरक्षक मानते हैं। अतः ईश्वर आदि शब्दोंसे पुकार न करके अरी मा! आदि-आदि सम्बोधनोंके साथ-साथ ही रुदन करते देखे जाते हैं। यह लौकिक ज्ञानका उदाहरण शास्त्रीय ज्ञानके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जैसे माता-पिता शब्दोंके प्रतिपाद्य व्यक्ति अपने पालनीयोंकी जहाँतक जितनी रक्षा करते हैं, वैसे ही उस सर्वाधार सर्वनियन्ता सर्वेश्वर प्रभुके ब्रह्म आत्मा आदि अन्यान्य नाम एवं उन नामोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला तत्तद्गुणशक्ति-विशिष्ट परमात्म-तत्त्व भी वहींतक उतनी ही रक्षा करता है, जितनी मात्रामें कि उन-उन नामोंसे परमात्म-शक्तिका आविर्भाव होता है, क्योंकि 'सर्वे शब्दा ब्रह्मवाचकाः' इस उक्तिके अनुसार माता-पिता, मैया आदि सभी शब्द ब्रह्म (परमेश्वर) के ही वाचक होनेपर भी उनसे परिसीमित त्राणरूप ही फल मिलता है। अतः असीम रक्षाके लिये माता-पिता आदि शब्दोंके अतिरिक्त किसी दूसरे ही शब्दका अवलम्ब लिया जाता है; किंतु परमात्माके नाम अनन्त हैं। क्रमशः एक-एक नामकी उपासना करते-करते सहस्रों मानवजन्म व्यतीत हो जायँ तब भी, निर्हेतुक असीम कृपाकारक सर्वोच्च परमात्मतत्त्व-प्रतिपादक नामका प्राप्त होना कठिन है। अतः उपनिषदोंमें उस अनन्त ब्रह्माण्डनायक सर्वाधार सर्वेश्वर प्रभुके कुछ ऐसे विशिष्ट नामोंका उल्लेख है कि जिनका क्रम पूर्ण होकर एक ही जन्ममें मनुष्यको सर्वोच्च नामकी प्राप्ति हो सकती है, जिसके प्रयोगसे असीम रक्षा सुलभ हो जाती है और फिर अन्य नामादिका अन्वेषण भी अवशिष्ट नहीं रहता।

वेद, उपनिषद् आदि समस्त निगमागममें ऐसा एक महान् शब्द 'श्रीसर्वेश्वर' है, जिसका उच्चारण करते ही साधकको सर्वोच्च परमात्मतत्त्वकी झाँकी हो जाती है। किंतु यह शब्द, इस शब्दकी महिमा, इस नामकी प्रतिमा और उसकी उपासना—ये सब प्राचीन कालसे ही बड़ी गोपनीय वस्तु मानी गयी हैं। यही कारण है कि जैसे लोकमें विशेष गोप्यवस्तु, जो अत्यन्त अभीष्ट हो उसका अत्यन्त गोपन (छिपाव) किया जाता है, वैसे ही वेद और उपनिषदोंमें 'श्रीसर्वेश्वर' शब्दका अत्यन्त गोपन किया गया है। अर्थात्

ब्रह्म, आत्मा आदि अन्यान्य परमात्मवाचक शब्दोंकी अपेक्षा 'श्रीसर्वेश्वर' शब्दका प्रयोग अत्यन्त स्वल्प संख्यामें ही हुआ है। दूसरा हेतु यह भी माना जा सकता है कि ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द अनेकार्थ-द्योतक हैं और सर्वेश्वर शब्द केवल एक ही सर्वोच्च पारमार्थिक पदार्थका प्रतिपादक है। अतएव उनका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें होनेके कारण अधिक स्थलोंमें एवं अधिक रूपेण हुआ है और 'सर्वेश्वर' शब्दका प्रयोग उसी स्थलमें हुआ है, जहाँ कि एक सर्वोच्च पारमार्थिक परमात्मतत्त्वके प्रतिपादनकी आवश्यकता हुई। इसलिये अन्यान्य उपनिषदोंमें प्रयुक्त 'सर्वेश्वर' शब्दकी चर्चा न करके केवल माण्डूक्य और बृहदारण्यक उपनिषद्में पठित सर्वेश्वर शब्दका ही पाठकोंको दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।' (माण्डूक्य० १।५)

'यही सर्वेश्वर प्रभु हैं, जो चराचरके शासक और भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालत्रयमें बाहर-भीतरकी समस्त वस्तु और भावोंके ज्ञाता हैं। अतएव ये ही अन्तर्यामी हैं और ये ही प्रभु समस्त चराचरके उपादान और समस्त भूत-प्राणियोंके निमित्तकारण तथा संहारक भी ये ही हैं।' यद्यपि कुछ महानुभाव इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए यहाँके 'सर्वेश्वर' शब्दको वैसे ही परब्रह्मका प्रतिपादक नहीं मानते हैं, जैसा कि उन्होंने परब्रह्म मान रक्खा है, तथापि उपक्रमोपसंहारादिपर विचार करनेसे उनकी वह व्याख्या असंगत-सी हो जाती है। क्योंकि इस उपनिषद्के आरम्भमें ही ॐकारपदवाच्य परब्रह्मकी प्रस्तावना की गयी है, फिर उस परब्रह्मको सुगमरूपसे जाननेके लिये उसी परब्रह्मके चार पादोंकी गणना की गयी है। यद्यपि वह परमात्मतत्त्व एक ही है। किसी प्रकारसे विभक्त नहीं होता तथापि स्थानादिके विभेदसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय आदि उसकी अनेकों संज्ञाएँ हो जाती हैं। उपर्युक्त सभी संज्ञाएँ सापेक्ष हैं, इनमें अन्तर्यामिता एवं सर्वेश्वरता सर्वत्र निरपेक्षरूपेण विद्यमान रहती है। जाग्रत्-अवस्थामें आत्मा, इन्द्रिय, शरीर—ये सब सञ्चरित रहते हैं। अतः इस अवस्थामें वह अन्तर्यामी 'विश्व' कहलाता है। जब सब इन्द्रियोंकी शक्ति मनमें लीन हो जाती है, तब उस स्वप्नावस्थामें वह अन्तर्यामी प्रभु 'तैजस' कहलाता है, क्योंकि वहाँ मनका ही अन्तर्नियमन करता है। जब वह मन भी आत्मामें लीन हो जाता है, तब उस सुषुप्ति-अवस्थामें केवल जीवात्माका ही अन्तर्नियमन करनेसे वह अन्तर्यामी प्रभु 'प्राज्ञ' कहलाता है। जब वह प्रभु जाग्रत् आदि समस्त भेदोंको अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे अपनेमें लीन करके योगनिद्रास्थ होता है—तब वही 'तुरीय' कहलाता है। यद्यपि जाग्रदादि अवस्थाएँ बदलती रहती हैं; किंतु परब्रह्मका सच्चिदानन्दात्मक वास्तविक स्वरूप चारों पादों (अवस्थाओं) में अनुस्यूत रहता है। अतः सभी पादों (अवस्थाओं) के अन्तर्यामीमें सर्वेश्वरत्व भी निर्बाध है ही। यदि इस उपनिषद्में स्वप्रतिपाद्य चतुर्थ पादमात्र ही परब्रह्मत्वेन अभीष्ट होता तो आरम्भमें 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' ऐसी प्रतिज्ञा न करके 'चतुर्थपाद एव ब्रह्म' ऐसी प्रतिज्ञा की जाती। अतः तृतीय पादके पश्चात् और चतुर्थ पादके पूर्वपठित 'सर्वेश्वर' शब्द देहली-दीपकन्यायसे दोनों पादोंके साथ ही अन्वित हो सकता है—यह नहीं, अपितु चारों पादोंके साथ ही अन्वित समझना चाहिये। उपनिषदोंमें जहाँ कहीं किसी श्रुतिके शब्दार्थमें सन्देह प्रतीत होता है, वह अन्यत्र दूसरी श्रुतिमें स्पष्ट हो जाता है, अतएव यही 'सर्वेश्वर' शब्द बृहदारण्यक उपनिषद्में स्पष्टतया उसी परात्पर ब्रह्मका प्रतिपादन करता हुआ दृष्टिगत होता है, जैसा कि समस्त व्याख्याकारोंने उच्च-से-उच्च परात्मतत्त्व मान रक्खा है। क्योंकि इसके अतिरिक्त फिर और कोई उपनिषत्-प्रतिपाद्य सर्वोच्च तत्त्व है ही नहीं।

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान् एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।' (बृहदारण्यक० ४।४।२२)

'वह यही परमपिता परमेश्वर महान् अज है, जिसका शास्त्रोंमें अनेकों नामोंसे उल्लेख मिलता है। यही प्रभु शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राणादिमें विज्ञान (प्रकाश) मयरूपसे विराजमान है, अन्तर्यामीरूपसे हृदयान्तर्वर्ति-आकाशमें सदा स्थित रहता है। अतएव समस्त प्राणी इसीके वशमें हैं; इसीकी प्रेरणासे प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि यही प्रभु सबके शासक हैं एवं चराचरके अधिपति हैं। यद्यपि प्रत्येक जीव और समस्त सदसद् वस्तुओंके भीतर यह प्रभु विराजमान है तथापि उनके गुण-दोषोंसे एवं भले-बुरे कर्मोंसे लिप्त नहीं होता, पक्षपातरहित, न्यायकर्ता और सर्वत्र समान दयालु होनेके कारण यही सर्वेश्वर है, यही सर्वेश्वर प्रभु समस्त भूतप्राणियोंका अधिपति, पालक और सेतुस्वरूप सर्वाधार है। इसीके आश्रित

रहनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म जीवसमूह और परमाणु आदि वस्तुओंका साङ्कर्य नहीं होता। विद्वान् भक्त वेदादि सच्छास्त्रों-द्वारा एवं यज्ञ-दान-तप आदि साधनोंसे इसी सर्वेश्वर प्रभुको जानने एवं प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं; क्योंकि इसी सर्वेश्वर प्रभुको जानने एवं प्राप्त करनेमें जीवनकी परम सफलता है।'

प्राचीन समयमें सभी मुनिजन 'श्रीसर्वेश्वर' नाम और श्रीसर्वेश्वरकी ही उपासना करते थे। श्रीसर्वेश्वर-प्राप्तिके लिये लौकिक प्रपञ्चको त्यागकर विरक्तिका अवलम्ब लेते थे। श्रीसनकादि-जैसे मुनिजनोंने पुत्रादि लौकिक एषणाओं-को छोड़कर श्रीसर्वेश्वरको ही अपना परमाराध्य एवं परम प्राप्य माना है; क्योंकि श्रुतियोंमें 'नेति-नेति' कहकर जिस तत्त्वको सर्वोच्च बतलानेका संकेत किया है, वह यही सर्वेश्वर-तत्त्व है। अतएव इसी तत्त्वके उपासक प्राचीन ऋषि-मुनि सर्वेश्वरवादी कहलाते थे। श्रीहंसभगवान्ने श्रीसनकादिको इसी सर्वेश्वर-तत्त्वका उपदेश किया था। फिर सनकादिने श्रीनारदजीको इसी तत्त्वकी उपासनाका उपदेश दिया—जो छान्दोग्य-उपनिषद्में भूमाविद्याके नामसे वर्णित है। बृहदारण्यक उपनिषद्में वही भूमाविद्या सर्वेश्वरविद्याके रूपसे उपदिष्ट हुई है। देवर्षि श्रीनारदजीने श्रीनिम्बार्क आदि मुनिवरोंको इसी सर्वेश्वर-उपासना (विद्या) का उपदेश किया। इस प्रकार परम्पराके रूपमें यह विद्या चली आ रही है। श्रीनिम्बार्काचार्य-के परवर्ती सभी आचार्योंने इसे अपनी परम गोप्य विद्या मानकर केवल उत्तमोत्तम अधिकारियोंको ही इसका उपदेश किया, जिससे उत्तरोत्तर यह विद्या विरलप्रचार बनती गयी। अन्यान्य नामोंसे इस विद्याका विशेष विस्तार हुआ।

श्रीभगवान्के सभी नाम सर्वविधि कल्याणप्रद एवं समान ही हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। तथापि नामोंमें प्रकृति-प्रत्ययात्मक विशेषता कुछ-न-कुछ अवश्य माननी पड़ती है। क्योंकि जिन-जिन नामोंमें जैसा-जैसा प्रकृति-प्रत्ययका योग है, उन-उन नामोंसे वैसे ही शक्तिविशेषका विकास होता है। इसलिये उन-उन नामोंसे उपासना करनेवाले साधकोंको उन्हीं अर्थोंके अनुसार फल-प्राप्ति होती है। अतएव वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, इतिहास, पुराण आदि शास्त्रोंमें ध्यान, यजन, पूजन, कीर्तन आदि विभिन्न-विभिन्न युगोंके विशेष साधनोंकी भाँति परमात्माके नामोंकी उपासनाका भी क्रम देखा जाता है; जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस-किस अवसरपर किन-किन ऋषि-मुनियोंने किन-किन नामोंसे परमात्माकी उपासना की।

जिस प्रकार 'ब्रह्म' 'विष्णु' आदि व्यापकत्व-प्रतिपादक शब्द प्रकृति-प्रत्ययके तात्पर्यानुसार उस परमात्म-तत्त्वकी व्यापकताको सूचित करते हैं। 'आत्म' शब्द निरन्तर स्थिति और 'सत्' शब्द अस्तिता, 'पुरुष' शब्द पुरीरूप समस्त क्षेत्रोंमें स्थिति और 'असत्' शब्द सूक्ष्म-कारणत्व प्रदर्शित करता है। 'अक्षर' शब्द अविनाशिता एवं 'राम' शब्द योगियोंके रमण-स्थलका द्योतन करता है। तथा 'कृष्ण' शब्द अपनी ओर आकर्षित कर संसारसे निवृत्तिकारिता प्रकटित करता है। 'रुद्र' शब्द भयदर्शकत्व, 'शिव' शब्द मङ्गलमयता, 'शङ्कर' शब्द कल्याण-कारकता, 'इन्द्र' शब्द आह्लादकत्व, 'सूर्य' शब्द प्रकाशकत्व, 'काल' शब्द गणनात्मकता, 'यम' शब्द नियामकता, 'प्रजापति' शब्द प्रजापालकता, 'गणपति' शब्द गणोंका आधिपत्य द्योतित करता है। 'महादेव' शब्द एक बड़े प्रकाशात्मक स्वरूपका निर्देश करता है और 'ईश्वर' शब्द शासकता प्रकटित करता है। 'विश्वेश्वर' शब्द प्राकृत विश्वकी शासकता प्रदर्शित करता है। 'पुरुषोत्तम' और 'परमात्म' शब्द भी सदा स्थित रहनेवालोंमें सर्वोच्च आत्मत्व-का प्रदर्शन कराते हैं। उसी प्रकार 'सर्वेश्वर' शब्द समस्त प्राकृत-अप्राकृत वस्तुजातकी शासकता एवं नित्य-निरतिशय ऐश्वर्य आदि सर्वोपरि शक्तिका प्रकाश करता है। यद्यपि 'ईश्वर' शब्दके साथ अखिल और निखिल शब्दोंके योगसे भी उपर्युक्त अर्थ सम्भावित हो सकता है; किंतु उपनिषदोंमें ऐसे विशेषणविशिष्ट शब्द सर्वोच्च-तत्त्व प्रतिपादनके अवसरपर कहीं नहीं अपनाये गये। इसलिये यही निश्चित होता है कि उपनिषदोंमें 'सर्वेश्वर' शब्द सर्वोच्च परमात्मतत्त्वका प्रतिपादक है। क्योंकि 'ब्रह्म' 'विष्णु' 'रुद्र' आदि जितने भी परमात्मतत्त्वके वाचक शब्द हैं, उन सभीकी शक्ति एक 'सर्वेश्वर' शब्दमें समाविष्ट है।

इसलिये प्रभुको प्रसन्न कर अपनी समस्त आपत्तियोंको मिटाने एवं नित्य निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिके लिये, किस अवसरपर प्रभुके किस नामसे किस स्वरूपकी उपासना (प्रार्थना) करनी चाहिये—यह समझकर इस महान् धार्मिक सङ्कटके समय, उपनिषदोंके सर्वस्वरूप रहस्यात्मक इसी 'सर्वेश्वर' मन्त्रका उपयोग करना विशेष हितकर है। श्रीसर्वेश्वर प्रभुमें अपनी रक्षाके लिये ऐसा घनिष्ठ अभिनिवेश कर लेना चाहिये कि—

मां चेन्न पास्यसि ततो भगवन्ममैव
हानिर्भवेदिति तु नो मननीयमीश।
सर्वेश्वरस्य करुणादिगुणामृताब्धे-
र्दासो हि सीदति जना इति वै क्षिपेयुः॥

हे भगवन्! हे ईश! आप यदि मेरी रक्षा न करेंगे तो आप यह न समझें कि उससे केवल मेरी ही हानि होगी, किंतु 'अहा देखो, सर्वेश्वरका सेवक होकर भी दुःख पा रहा है' यह कहकर जनता आपको भी उलाहना दिये बिना नहीं रहेगी।

ऐसे विश्वासी भक्तोंपर ही सर्वेश्वर प्रभु शीघ्रातिशीघ्र द्रवित होते हैं।

उपनिषदोंमें आत्मानुभव

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

सृष्टिके पूर्व जो जगत्की अनिर्वचनीय अव्याकृत अवस्था[1] है, उसीको 'अव्यक्त' कहते हैं। यह 'अव्यक्त' ही परमेश्वरकी 'माया'[2] नामक शक्ति है। सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माद्वारा जो सृष्टिविषयक ईक्षण[3] (आलोचन) होता है, उसका नाम समष्टि 'बुद्धि' (महत्तत्त्व) है। अथवा यों कहिये कि सृष्टि-रचनाविषयक परमेश्वरका ज्ञान ही 'ईक्षण' है। ईक्षणके अनन्तर 'अहं बहु स्याम्' (मैं बहुत रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ)—इस प्रकारका जो परमेश्वरीय संकल्प है, वही 'अहङ्कार'[4] कहलाता है। उस अहङ्कारसे ही आकाशादि-क्रमसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई है[5]।

ये पञ्चमहाभूत तमःप्रधान प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं। इन सबके जो पृथक्-पृथक् सत्त्व-अंश हैं, उनसे श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका प्रादुर्भाव हुआ है। इन पाँचों सत्त्वांशोंका संघात ही अन्तःकरण है। इसी प्रकार आकाश आदि पाँचों भूतोंके जो पृथक्-पृथक् राजस अंश हैं, उनसे क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। उक्त पाँचों राजस अंशोंके मेलसे प्राणका प्रादुर्भाव हुआ, जो वृत्तिभेदसे मुख्यतः पाँच प्रकारका माना गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंका समुदाय ही सूक्ष्म शरीर है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके लिये पाँचों भूतोंका पञ्चीकरण हुआ। पञ्चीकृत भूतोंसे बना हुआ यह स्थूल शरीर 'अन्नमय कोष' कहलाता है। सूक्ष्म शरीरके रजोमय अंश—पाँच प्राण एवं पाँच कर्मेन्द्रियोंका समुदाय मिलकर 'प्राणमय कोष' है। मन तथा सात्त्विक अंशभूत ज्ञानेन्द्रियाँ 'मनोमय कोष'के अन्तर्गत हैं। निश्चयात्मिका बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियाँ 'विज्ञानमय कोष' हैं। कारण शरीर ही 'आनन्दमय कोष' है। यही संक्षेपसे सृष्टिकी प्रक्रिया है (पञ्चदशी तत्त्व-विवेक १७। ३६)। पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न विषयोंका ही दर्शन-स्पर्श आदि होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपनेसे संबन्ध रखनेवाले केवल एक ही विषयको ग्रहण करती है; इसलिये सम्पूर्ण इन्द्रियग्राह्य विषय पाञ्चभौतिक होनेके कारण विनश्वर हैं। उनकी उत्पत्ति होती है, अतः विनाश भी अवश्यम्भावी है। आत्मा नित्य-सिद्ध चेतन है; इन विनाशशील जड वस्तुओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह इनसे सर्वथा पृथक् एवं विलक्षण है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे आत्माको इन भूतोंसे पृथक् और अपना ही स्वरूप जानकर उसमें स्थिति प्राप्त की जा सकती है। आत्मस्थिति प्राप्त होनेपर ही जीव कृतकृत्य होता है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे इस शरीरके रहते हुए ही आत्माका अनुभव होता है; और प्रयत्न करनेपर सबको हो सकता

१. 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्माकी अपनी ही शक्तिका, जो अपने गुणोंसे आच्छादित (अव्यक्त) है, साक्षात्कार किया)—श्वेताश्वतर० १। ३। यह श्रुतिप्रतिपादित अव्यक्त है।

२. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता० ४। ९) यह श्रुति परमेश्वरकी शक्तिका नाम 'माया' बतलाती है।

३. 'तदैक्षत' इति ईक्षणरूपा बुद्धिः।

४. 'बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दो० ४। ९) इति बहुभवन-संकल्परूपः अहङ्कारः।

५. तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्ति० ३। १) इति पञ्चभूतानि श्रौतानि।

है। अतः प्रस्तुत लेखमें इसी विषयका दिग्दर्शन कराया जाता है।

गीतोपनिषद्‌में आत्माको 'ज्योति' कहा गया है—**'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** (गीता १३। १७)। 'ज्योति'शब्दका अर्थ है—अवभासक, प्रकाशक अथवा चैतन्य। आत्मा सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी मन तथा बुद्धिके द्वारा गम्य नहीं है। उसे 'अस्ति' या 'नास्ति' भावसे बुद्धिका विषय नहीं बनाया जा सकता। वह अप्रमेय है, बुद्धि उसे माप नहीं सकती। लौकिक बुद्धिसे आत्माका रहना और न रहना—दोनों समान जान पड़ते हैं; क्योंकि बुद्धिकी पहुँच वहाँतक है ही नहीं। आत्मा सबका आश्रय है; किंतु वह आश्रय-आश्रित-सम्बन्धसे लिप्त नहीं है। उसका आश्रय-भाव भी कल्पित ही है। आत्मा एक सर्वविलक्षण वस्तु है। भेद-अभेद, विभक्त-अविभक्त किसी भी लक्षणद्वारा उसे यथार्थतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। श्रीगुरुके मुखसे आत्मतत्त्वका इस प्रकार प्रतिपादन सुनकर शिष्य चकित हो उठता है और पूछता है—'भगवन्! यदि सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी आत्माकी उपलब्धि सम्भव नहीं है, तब तो वह परमाणु आदिकी भाँति जडरूप ही हो जायगा?' इस शङ्काका समाधान करते हुए श्रीगुरुदेव कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(गीता १३। १७)

बुद्धि अथवा इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध न होनेसे ही आत्माको 'जड' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह उन बुद्धि आदिकी पहुँचसे परे है। इन्द्रियोंद्वारा जिन रूप आदि विषयोंका ग्रहण होता है, उन सबसे रहित होनेके कारण ही आत्माकी उनके द्वारा उपलब्धि नहीं होती। अतः उसका इन्द्रियाग्राह्यत्व उचित ही है। **'तत्'** वह ज्ञेय ब्रह्म **'ज्योतिषामपि ज्योतिः'** प्रकाशकोंको भी प्रकाश देनेवाला है। सूर्य आदि बाह्य ज्योति हैं और बुद्धि आदि आन्तरिक ज्योति हैं—इन सबका वह प्रकाशक है। चैतन्य-ज्योति ही जड-ज्योतिकी प्रकाशिका है—चैतन्यसे ही जडका प्रकाश होता है। यदि ऐसा न हो तो जड निःसाक्षिक होकर अप्रकाशित ही रह जाय।

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**

—इत्यादि श्रुतियोंसे तथा—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता १५। १२)

—इत्यादि भगवद्वाक्योंसे भी यही बात सिद्ध होती है। यदि कहें, आत्मा स्वरूपतः चैतन्य होते हुए भी जडसे संसर्ग-युक्त तो है ही; तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह **'तमसः परम्'** है—अविद्याकल्पित जडवर्गसे परे है। जड अविद्याका कार्य होनेसे असत् है और आत्मा नित्य सत् है; अतः उससे उसका संसर्ग नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे सत् और असत्‌का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। सम्बन्धकी प्रतीति भी अज्ञानके ही कारण होती है। **'उच्यते'**—यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंद्वारा वर्णित है। यथा—

'अक्षरात् परतः परः' (मुण्डक० २। १। २)

निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते॥*

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। ८)

अर्थात् आत्मा आदित्यवर्ण और तमसे परे हैं। यहाँ **'आदित्यवर्ण'**का अर्थ है—आदित्य (सूर्य) जिस प्रकार अपने प्रकाशके लिये अन्य किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने प्रकाशके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् वह सर्वप्रकाशक तथा स्वयंप्रकाश है। वह आत्मा 'स्वयंज्योतिः' अर्थात् जड़वर्गके साथ असंसृष्ट होनेसे **'ज्ञानम्'**—ज्ञानस्वरूप है। तात्पर्य यह कि प्रमाणजन्य जो चित्तवृत्ति है अर्थात् वेदान्त-श्रवणादि-रूप शब्द-प्रमाणसे जो चित्तवृत्ति विशेष उत्पन्न होती है, उस अविद्या-कालुष्यरहित चित्तवृत्तिमें जो संवित् (चेतना या ज्ञान) अभिव्यक्त होती है वह आत्मा (ब्रह्म) की ही एक झलक है; वह आत्मा संवित्-स्वरूप है और इसीलिये वह चेतन ही **'ज्ञेयम्'**—ज्ञेय है; क्योंकि वही अविद्यासे आवृत रहनेके कारण अज्ञात है। जड़ वस्तुकी अज्ञातता न रहनेसे वह ज्ञेय नहीं कही जा सकती।†

* असङ्ग एवं निर्विकार आत्माका आसक्तियुक्त विकारी अनात्माके साथ वास्तविक सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है।

† अभिप्राय यह कि आवृत वस्तु ही अज्ञात होती है, ज्ञानके द्वारा आवरणभङ्गमात्र होता है। जड वस्तुका आवरण नहीं स्वीकार किया गया है; क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य है। अनावृत होनेसे वह अज्ञात नहीं है, अतएव ज्ञेय भी नहीं है; क्योंकि अज्ञात ही ज्ञातव्य होता है, जो ज्ञात है, वह ज्ञातव्य नहीं।

अब प्रश्न होता है, यदि वह ज्ञानके योग्य है तो सभी लोग उसे क्यों नहीं जान सकते ? इसके उत्तरमें कहते हैं— **'ज्ञानगम्यम्'**—वह ज्ञानगम्य है अर्थात् **'अमानित्व'**से लेकर **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** (गीता १३ । ७—११) पर्यन्त जिस साधन-कलापको ज्ञानका हेतु कहा है, ज्ञानशब्दवाच्य उन साधन-समूहोंसे ही आत्मा गम्य (प्राप्य) है, अन्यथा उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। फिर प्रश्न होता है कि यदि आत्मा साधनोंसे ही गम्य होता है तो क्या वह किसी दूर स्थानमें मिलेगा? इसका उत्तर है—नहीं **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'**—वह सबके हृदयमें अर्थात् निखिल प्राणियोंकी बुद्धिरूप हृदय-गुहामें ही स्थित है। सूर्यके प्रकाशके सर्वत्र सामान्यभावसे रहनेपर भी जैसे वह दर्पण किंवा सूर्यकान्तमणि आदिमें विशेष रूपसे अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार वह आत्मा भी सर्वत्र सामान्यभावसे रहनेपर भी उस हृदयकन्दरारूप बुद्धि-गुहामें विशेष रूपसे प्रकाशित होता है। वह वस्तुतः व्यवधानरहित है, परन्तु भ्रान्ति (अविद्या)के कारण व्यवहित प्रतीत होता है तथा सब प्रकारके भ्रमका कारण जो अज्ञान है, उसकी निवृत्ति होनेपर प्राप्त हुआ-सा ज्ञात होता है। ज्ञानक्रियाका कर्म, जो ज्ञेय वस्तुका जानना है, उस प्रकार ज्ञानके फलरूपसे ज्ञेय न होनेपर भी वह आत्मा सबके हृदयमें अधिष्ठित है तथा स्वयं साक्षात् ज्ञानस्वरूप है। अमानित्वादि साधनोंसे प्रतिबन्ध दूर होकर इसका प्रकाश होनेके कारण इसे 'ज्ञेय' कहा गया है। आत्मा स्वप्रकाशस्वरूप स्वयंसिद्ध है, अतएव वह आवरण-भङ्गरूप वृत्तिव्याप्तिका ही विषय है; उसमें फल-व्याप्ति कैसे हो सकती है?

स्वप्रकाशस्वरूपत्वात् सिद्धत्वाच्च चिदात्मनः।
वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्तु फलव्याप्तिः कथं भवेत् ॥
(सदाचारा० ५)

अर्थात् उसमें फल-व्याप्ति नहीं हो सकती। अस्तु, जाग्रदादि सभी अवस्थाओंमें एक अद्वितीय निर्मल ज्ञान (सत्ता) ही सदा भास रहा है; परंतु उस सर्वव्यापक निरवधिक, केवल शुद्ध विज्ञानघनस्वरूपको मन्द भाग्यवाले नहीं जान सकते—

ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम्।
मन्दभाग्या न जानन्ति स्वरूपं केवलं बृहत् ॥
(सदाचारानुसन्धानम् ३१)

जो संकल्पका साक्षी ज्ञानस्वरूप है, जो सब चराचर प्राणियोंका जीवनरूप है 'चेतनश्चेतनानाम्' है, वही आत्मा है और वही 'मैं हूँ' इस प्रकार जो जानता है और अनुभव करता है, वह मुक्त और कृतकृत्य है—इसमें कुछ भी संशय नहीं। प्रमाता (अन्तःकरणविशिष्ट जीवात्मा), प्रमाण (प्रत्यक्षादि), प्रमेय (घट-पट आदि) तथा (वृत्तिज्ञान) प्रमा जिस चैतन्य-प्रकाशसे प्रतीत होते हैं, उस चैतन्य-ज्ञानके लिये कौन प्रमाण चाहिये अर्थात् वह चैतन्य वस्तु स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश है, प्रमाणान्तरसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि वही तो प्रमाणोंका भी प्रमाण है अर्थात् प्रमाण भी उस चैतन्यसे ही प्रकाशित होकर प्रमाणित होते हैं।

इसी आत्माको—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

'समस्त प्राणियोंमें एक ही देव स्थित है। वह सर्वव्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है।' इस श्रुतिमें 'साक्षी' कहा गया है। श्रीगीताजीमें भी **'उपद्रष्टानुमन्ता च'** (१३ । २२) कहा गया है अर्थात् देह, चक्षु, मन और बुद्धिरूप दृश्य-पदार्थोंमें रहकर भी उन देह, चक्षु, मन और बुद्धि आदिके समस्त व्यापारोंको एवं दृश्योंको अविक्रियरूपसे वह देखता है। इसलिये 'उपद्रष्टा' है और उन देह, इन्द्रिय प्रभृतिको अपने-अपने व्यापारमें अपनी-अपनी इच्छानुसार प्रवृत्त होनेपर उन्हें रोकता भी नहीं—वह केवल साक्षीरूपसे सब कुछ देखता है—अतः आत्मा स्वभावसे ही साक्षी एवं द्रष्टा है। इसलिये द्रष्टाभाव आत्माका स्वरूप है। इसकी गाढ़ अवस्थामें सविकल्प समाधि लगती है। अतः सब कालमें विराजमान सच्चिदानन्दघन निर्गुण निर्विकार निराकार आत्माका द्रष्टाभाव रखना ब्रह्माभ्यास ही है तथा यह उच्चकोटिकी साधना है।

चित्तगत काम, संकल्प प्रभृति वृत्तियाँ दृश्य हैं, आत्म-चैतन्य उनका द्रष्टा है, इस भावसे आत्मचैतन्यका ध्यान करना चाहिये अर्थात् उन काम-संकल्पादि वृत्तियोंमेंसे प्रत्येक वृत्तिको द्रष्टाका दृश्यरूप जानकर तथा जो चैतन्य उन वृत्तियोंका साक्षी हुआ है, उस द्रष्टा साक्षीको ही अपना यथार्थ स्वरूप जानना चाहिये। मैं असङ्ग, सच्चिदानन्द स्वयंप्रकाश हूँ तथा सब प्रकारके काम-संकल्पादि द्वैतसे वर्जित हूँ; स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेदसे शून्य अन्तरात्मस्वरूप साक्षी

हूँ—इस प्रकारका भाव सदा जागरित रखना चाहिये और मैं अन्तरात्मस्वरूप चैतन्य-मात्र, द्रष्टा, साक्षी हूँ—इस चिन्तन-धाराको ऐसे प्रवाहित करना चाहिये कि तार न टूटने पावे। इस प्रकारका अभ्यास सहज होनेपर स्वरूपभूत ज्ञानानन्दका आविर्भाव होकर आत्मस्थितिपूर्वक जीव कृतकृत्य हो जाता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर० ६। २३)

'जिसकी परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमात्मामें है वैसी ही श्रीगुरुदेवमें भी है, उसीके अन्तःकरणमें इन तत्त्वोंका प्रकाश होता है।'

निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

मनुष्य-जीवनका चरम और परम उद्देश्य है—अखण्ड पूर्ण आनन्द तथा सनातन शान्तिरूप भगवान्‌को प्राप्त करना। जीवनके अन्य सारे कार्य इसी एकमात्र चरम लक्ष्यकी सिद्धिके लिये किये जाने चाहिये। हमारे उपनिषद् इसी परम लक्ष्यके स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिके विविध अनुभवपूर्ण साधनोंका उपदेश करते हैं। हम भारतीय आज इस अपने घरके दिव्य परमोज्ज्वल प्रकाशको छोड़कर अज्ञानान्धकारके नाशके लिये दूसरोंकी टिमटिमाती चिराग़पर मुग्ध हुए जा रहे हैं! हमारा यह मोह दूर हो। हम उपनिषदोंका किसी अंशमें यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्यसे 'उपनिषद्-अङ्क'के प्रकाशनका हमारा यह क्षुद्र प्रयास है।

उपनिषदें ज्ञानकी खानें हैं। जीवनकी सभी दिशाओंमें प्रकाश देनेवाली अखण्ड परम ज्योति हैं। परमात्माके पुनीत मार्गकी पथप्रदर्शिका हैं और परमात्मा परमेश्वरके विभिन्न रूपोंके निर्भ्रान्त और समन्वयात्मक स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाली हैं। उपनिषदोंकी महिमा इसलिये नहीं है कि दाराशिकोहने इनसे प्रकाश प्राप्त किया या शोपेनहर, मैक्समूलर एवं अन्यान्य पाश्चात्त्य विद्वानोंने इनकी प्रशंसा की है। यह उनका सौभाग्य है, जो उन्हें उपनिषदोंका कुछ आभास प्राप्त हुआ। वे उपनिषदोंको न जान पाते, जानकर भी प्रशंसा न करते या कोई इन्हें व्यर्थ बताकर निन्दा भी करता तो इससे उपनिषदोंका महत्त्व तो अक्षुण्ण ही रहता। क्योंकि उनकी महिमाका आधार उनका निर्मल मङ्गलमय-प्रकाशमय स्वरूप ही है।

आजकल काल-निर्णयकी पद्धति चली है, और पाश्चात्त्य विद्वानोंके मतोंका अनुकरण करके भारतीय विद्वान् भी उसी पद्धतिके अनुसार चल रहे हैं। इसीसे उपनिषदोंका निर्माण-काल ईसासे सात-आठ सौ वर्ष पूर्व बतलाते हैं। पर उन्हें यह समझना चाहिये कि ब्रह्मसूत्रमें उपनिषदोंकी व्याख्या है और ब्रह्मसूत्रका श्रीमद्भगवद्गीतामें उल्लेख है, इससे यह सिद्ध है कि भगवद्गीतासे पूर्व उपनिषदोंका अस्तित्व था। श्रीमद्भगवद्गीताका प्रादुर्भाव ईसासे ३१०० वर्ष पूर्व महाभारत-युद्धमें हुआ था—यह प्रायः निर्णीत हो चुका है। ऐसी अवस्थामें दूसरोंके अन्धेरेमें काल टटोलनेकी यह पद्धति कहाँतक समीचीन है, इसपर विद्वान् सज्जन विचार करें। वस्तुतः उपनिषदोंकी महत्ता कालपर नहीं है, वह तो उनकी महान् ज्ञानराशिको लेकर है, जो वेदोंके सारके रूपमें ऋषियोंद्वारा श्रुत और संगृहीत है एवं जो नित्य, सत्य और सनातन है।

उपनिषदोंमें तत्त्वज्ञान या ज्ञानके परम साध्य तत्त्वके स्वरूपका साक्षात्कार ही नहीं है, वहाँतक पहुँचनेके विभिन्न रुचिके अधिकारियोंके अनुकूल विविध साधनोंका भी वर्णन है, और साथ ही मनुष्यको ऊँचे उठानेवाले उस सदाचारका भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जिसे जानकर प्रत्येक मनुष्य अपनेको ऊँचा उठानेका प्रयत्न कर सकता है। यह भारतीयोंकी परम निधि है और किसी दिन इन्हींके प्रकाशसे विश्वमें यथार्थ सुख-शान्तिका प्रसार होगा।

उपनिषद् सैकड़ों हैं। उनमें बारह प्रधान मानी जाती हैं। इन बारहमेंसे—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर इन नौ उपनिषदोंको तो मूल, पदच्छेद, अन्वय तथा व्याख्यासहित प्रकाशित किया जा रहा है। समय-संकोचसे शेष तीन—छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतकि-ब्राह्मणपर व्याख्या नहीं लिखी जा सकी।

अतएव उन तीनोंका तथा बयालीस अन्य उपनिषदोंका केवल हिंदी-भाषान्तर दिया गया है। यों इस अङ्कमें कुल ५४ उपनिषदें आ गयी हैं। **नौ उपनिषदोंकी जो पदच्छेद-अन्वयसहित व्याख्या प्रकाशित हुई है, वह 'कल्याण' पाठकोंके सुपरिचित गीताशाङ्करभाष्य और गीता-रामानुजभाष्यके अनुवादक भाई श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाकी उनके अपने दृष्टिकोणसे लिखी हुई है और उसमें प्रकाशित मतके लिये वे ही उत्तरदाता हैं।** शेष उपनिषदोंमें, कुछ स्थलोंको टिप्पणियाँ आदि देकर स्पष्ट करनेके अतिरिक्त प्रायः सभीका अक्षरानुवाद देनेका प्रयत्न किया गया है। विषय गहन है, हमलोगोंका ज्ञान सीमित और अल्प है तथा समय भी कम था, इसलिये यह निश्चित है कि यथासाध्य बहुत सावधानी बर्तनेपर भी अनुवादमें तथा छपाईमें भूलें रही हैं। इसलिये हम अपने कृपालु पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं। उपनिषदोंके अतिरिक्त इस अङ्कमें उपनिषदोंपर कुछ प्रबन्ध भी प्रकाशित किये गये हैं। निबन्धलेखक परमादरणीय आचार्यों एवं विद्वानोंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे विचार प्रकट किये हैं। उनमें भी विभिन्न मत हैं और उनके लिये वे लेखक महानुभाव ही उत्तरदाता हैं।

यह सत्य है कि गतवर्षके 'नारी-अङ्क' के सदृश 'उपनिषद्-अङ्क' की सामग्री 'कल्याण' के सभी पाठकोंके लिये सरलतासे समझने योग्य नहीं है। तथापि यह एक ऐसी महान् और परम आवश्यक वस्तु है कि जिसपर प्रत्येक भारतीयको गर्व है और जो प्रत्येक भारतीयके घरमें परम प्रिय तथा अत्यन्त समादरणीय अमूल्य रत्नकी भाँति सुरक्षित रहनी चाहिये। इससे अपनी-अपनी योग्यता, रुचि और अधिकारके अनुसार जो लोग जितना भी प्रकाश प्राप्त कर सकेंगे, उनके लिये वह उतना ही परम कल्याणकारी होगा। इस हेतुसे, विश्वास है कि सभी श्रेणीके पाठक इस अङ्कका हृदयसे विशेष सत्कार तथा स्वागत करेंगे। और जिस उत्सुकताके साथ तथा जिस बड़ी संख्यामें पुराने तथा नये ग्राहकोंके पत्र इस अङ्कको प्राप्त करनेके लिये आ रहे हैं, उसे देखनेसे हमारा विश्वास सर्वथा सफल प्रतीत होता है।

उपनिषदोंका भाषान्तर तथा इस अङ्कका सम्पादन करनेमें सम्पादक-मण्डलके सदस्योंने तो न्यूनाधिकरूपसे पर्याप्त परिश्रम किया ही है, भाई श्रीहरिकृष्णदासजीने नौ उपनिषदोंपर व्याख्या लिखकर, अन्यान्य कतिपय हमारे पूज्य महानुभावोंने संशोधन आदिमें पूरा सहयोग देकर तथा विद्वान् लेखकोंने लेख भेजकर जो सहायता की है, उसके लिये हम उन सभीके हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस अङ्कमें जो कुछ अच्छापन है, उसका श्रेय तो वस्तुतः उपनिषदोंको ही है और है उन महानुभावोंको, जिन्होंने अपना समय और मस्तिष्क लगाकर सहायता की है और लेख भेजे हैं। और भ्रम, प्रमाद, अज्ञान तथा असावधानीसे जो दोष रह गये हैं, वे सब निश्चय ही हमारे हैं। विज्ञ पाठकगण हमारे इस प्रयासको बाल-प्रयास समझकर प्रसन्न ही होंगे, ऐसी आशा है। हमारा तो यही सौभाग्य है कि इस अङ्कके सम्पादनका अनिच्छित भार आ पड़नेसे जीवनका कुछ समय महान् ज्ञानार्णवमें गोते लगानेके प्रयासमें बीता, यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि हमलोग, अपनी अयोग्यतावश गहरे गोते लगानेमें असमर्थ ही रहे। पर यह जो कुछ हुआ, सब केवल भगवत्कृपा और संत-कृपाका ही प्रसाद है। हमारा यह अनुभव है कि हमपर भगवान्‌की तो असीम और अपार कृपा है, परन्तु हमारी असीम अयोग्यता और नीचता भी कम नहीं है। परन्तु विश्वास यही है कि भगवत्कृपामें इतनी अपरिमित शक्ति है कि उसके सामने हमारी अयोग्यता और नीचता परास्त होकर ही रहेगी।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ६≊) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ८॥≈) (१३ शिलिंग) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तब-तकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क जनवरीका ही तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) छः आना एक साधारण संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≈) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१३) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१५) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१६) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नंबर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे भेजने चाहिये।

(१८) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

भगवान् ही सब कुछ हैं

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥

(कैवल्योपनिषद् ८—१०)

वे (परात्पर परब्रह्म परमेश्वर ही) चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, वे ही पञ्चमुख शिव हैं, वे ही देवराज इन्द्र हैं, वे ही अक्षर परमात्मा हैं, वे ही चतुर्भुज विष्णु हैं, वे प्राण हैं, वे काल हैं, वे अग्नि हैं, वे चन्द्रमा हैं। जो कुछ हो चुका और जो कुछ आगे होनेवाला है, सब वे ही हैं। उन सनातन भगवान्‌को जानकर जीव मृत्युके परे चला जाता है। इसके अतिरिक्त मुक्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। जो इन परमात्माको सब चराचर भूत-प्राणियोंमें देखता है और सब भूतप्राणियोंको परमात्मामें देखता है अर्थात् सब प्रकारसे एक भगवान्‌को ही सदा सर्वत्र देखता है, वह उन पर-ब्रह्मको प्राप्त करता है। दूसरे किसी उपायसे उनकी प्राप्ति नहीं होती।


वर्ष २३
अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥≡) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



सेवाके आदर्श श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।



वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००५, फरवरी १९४९ | संख्या २, पूर्ण संख्या २६७

सेवाके आदर्श

बसे रघुनंदन कानन जाय ।
जनकलली लछिमन दोउ सेवत संतत सहज सुभाय ॥
प्रमुदित-मन पदकमल पलोटति सीय सहित अनुराग ।
निरखति नित निरुपम छबि माधुरि भरि नयनन्हि, बड़भाग ॥
सूर संत सौमित्रि अन्न-निद्रा-तियदर्शन त्याग ।
सदा सचेत धनुष कर धारे रहे रैन-दिन जाग ॥
अतुलित मूर्तिमंत सेवा जनु शोभित उभय शरीर ।
सर्वभाव सर्बस करि अर्पन भजत सदा रघुबीर ॥

याद रक्खो—श्रीभगवान्के आश्रय बिना सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि सद्गुण वैसे ही नहीं ठहर सकते, जैसे बिना प्राणोंके शरीरकी इन्द्रियाँ। भगवान्का आश्रय न होनेपर सद्गुणोंसे मनुष्यके मनमें वह अभिमान उत्पन्न होता है, जो समस्त सद्गुणोंका नाशक और दुर्गुणोंका जनक है और तुरंत ही अपने परिवारको फैलाकर सद्गुणोंको हृदयसे निकाल देता है।

याद रक्खो—अभिमान मनुष्यको अपने दोष देखनेका अवसर ही नहीं आने देता, वह निरन्तर उसे अंधा बनाये रखता है, जिससे मनुष्य अपनी तनिक-सी भी सच्ची समालोचना, जो उसके लिये परम हितकर होती है, नहीं सह सकता; एवं इसलिये सहज ही दोषोंका घर बन जाता है।

याद रक्खो—जो मनुष्य अभिमानके वशमें होकर केवल जगत्-सम्मानके लिये लालायित हो उठता है, उसमें एक ऐसी दुर्बलता आ जाती है जो उसके हृदयमें एक विषाक्त क्षत कर देती है। फिर वह सम्मानके लोभसे अपने अपराध, पाप, दोष, स्वार्थपरता, कृतघ्नता, नीचाशयता, परस्वापहरणता, परसुखकातरता आदि जघन्य वृत्तियोंको छिपाकर अपनेको सत्पुरुष प्रसिद्ध करनेके लिये न मालूम कितनी नयी-नयी झूठ बोलता है, कितने सुन्दर स्वाँग बनाता है और कितने उपदेश करता है, इससे उसको परिणाममें सम्मान तो मिलता ही नहीं; प्रत्युत उसके भीतरका घाव बढ़ता ही जाता है एवं अन्तमें ऐसी स्थिति हो जाती है कि एक दिन उसकी भीषण यन्त्रणासे छटपटाकर उसे आर्त पुकार करनी पड़ती है, परंतु फिर उसकी रक्षाका कोई सहज साधन नहीं रह जाता।

याद रक्खो—जो अपने अपराधोंको छिपाता है और दूसरोंपर सहस्रों नये-नये दोष मढ़नेका प्रयत्न करता है—वह बड़ा ही अभागा है। उसमें कभी सद्गुण आ ही नहीं सकते। सद्गुणोंको लाना और उन्हें स्थायीरूपसे अपने अंदर बसाना हो तो समस्त सद्गुणोंके समुद्र भगवान्को हृदयमें बसा लो।

याद रक्खो—भगवान्के हृदयमें आते ही समस्त दुर्गुण वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्यका उदय होते ही अन्धकार मर जाता है। जगत्का यह सूर्य तो फिर छिपता भी है, परंतु भगवान् एक बार जिसके हृदयमें उदय हो जाते हैं—फिर वे कभी छिपते ही नहीं; एक बार जिसके हृदयमें आ बसते हैं, फिर वहाँसे निकालनेपर भी नहीं निकलते।

याद रक्खो—दुर्गुणोंका ही परिणाम दुःख है, जब दुर्गुण नहीं रहेंगे, तब दुःख भी नहीं रहेंगे। और सद्गुण आ जायँगे तो सद्गुणोंका स्वाभाविक परिणाम सुख भी अनायास ही आवेगा। साथ ही भगवान्की निवासभूमिमें सद्गुण उनके स्वभावगत होनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि ये सद्गुण फिर कभी नष्ट नहीं होंगे, इसलिये सुख भी स्थायी और आत्यन्तिक होगा।

याद रक्खो—वस्तुतः सुख किसी सद्गुणमें नहीं है या सद्गुणका परिणाम भी नहीं है। यह तो भगवान्में स्वभावगत वैसे ही है, जैसे सूर्यमें स्वभावतः ही प्रकाश और उष्णता होती है और उनसे अन्धकार एवं सर्दीका स्वाभाविक नाश होकर विलक्षण दृष्टिशक्ति और स्फूर्ति प्राप्त होती है। भगवान्से रहित जो सद्गुण हैं, वे वस्तुतः सद्गुण ही नहीं हैं। वे तो वैसे ही नकली गुण हैं जैसे मिट्टीपर रंग चढ़ाये हुए नकली आम, अमरूद, संतरे, सेब आदि खिलौने होते हैं। जो ऊपरसे फल-से दीखते हैं परंतु वे हैं केवल मिट्टी-ही-मिट्टी। इसी प्रकार भगवान्से रहित सद्गुण केवल

कल्पनामात्र होते हैं। इस बातको समझो और समझकर निरन्तर अपने हृदयमें भगवान्‌को बसानेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—भगवान् तो सभीके हृदयमें हैं; परंतु तुम इस बातपर विश्वास नहीं करते, इसीसे नित्य निवास करनेवाले भगवान् भी वहाँ प्रकट नहीं हो पाते। और इसीसे सद्गुण टिक नहीं पाते तथा दुर्गुणोंका परिवार बढ़ता रहता है। भजनके द्वारा विश्वास प्राप्त करो और फिर विश्वासकी आँखोंसे देखो, भगवान् तुम्हारे अंदर प्रकट हो जायँगे। उनके प्रकट होते ही तुम सब प्रकारसे निहाल हो जाओगे।

'शिव'

संसारका वास्तविक स्वरूप

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च स्वप्नवत् है, फिर भी अबाधित चिरकालानुवृत्त होनेके कारण उसमें दृढ़ प्रत्यय होता है, अचित् बाधित होनेसे स्वप्नमें इतना दृढ़ प्रत्यय नहीं होता। कभी किसी दीर्घ स्वप्नमें अभिनिवेशाधिक्यसे जागनेपर भय-कम्पादि होता रहता है, सहसा उसकी सत्तामें अविश्वास नहीं होता। प्राणियोंके भोगारम्भक शुभाशुभ अदृष्ट भी कुछ प्रत्यय-दार्ढ्यमें हेतु हो जाते हैं। यह बात अलग है कि सब स्वप्न एक-से नहीं होते, उनकी विचित्रता स्पष्ट ही है। भ्रममें कोई भी बात असम्भव नहीं है। समुद्रमें बड़वानलके समान जलमें अग्नि, आकाशमें नगर, शिलामें पङ्कज, शिलाके भीतर सृष्टि, शिलाओंका उड़ना आदि भी सम्भव होते हैं। यन्त्रपुमान्‌के समान अचेतनका भी कर्म करना दृष्ट है। स्वप्ननिमग्नबुद्धि प्राणी स्वप्नकी स्थिरता और सत्यताका जैसे अनुभव करता है, वैसे ही सर्गनिमग्नबुद्धि प्राणी सर्गको सत्य और स्थिर देखता है। स्वप्नसे स्वप्नान्तरगमनके समान ही सर्गभ्रमण भी होता है।

इसी सम्बन्धमें 'योगवाशिष्ठ'का भिक्षूपाख्यान है। समाधिसम्पन्न भिक्षुके शुद्ध चित्तके सङ्कल्पसे लीलया एक जीवट नामक सामान्य मनुष्य उत्पन्न हुआ। वही स्वप्नमें अपने-आपको वेदपाठी ब्राह्मण देखने लगा। ब्राह्मणने भी निद्रामें पड़कर स्वप्नमें अपनेको सामन्त देखा। सामन्तने स्वप्नमें अपनेको सम्राट् देखा। सम्राट् स्वप्नमें अप्सरा हो गये। अप्सरा भी स्वप्नमें मृगी बन गयी। मृगी स्वप्नमें लता बन गयी। लता कटकर भ्रमर बन गयी और पद्मिनीमें आसक्त होकर मदान्ध गजद्वारा कमलिनीके साथ ही वह भी नष्ट होकर मदान्ध गज बन गया। गज भी मरकर भ्रमरोंको देखता-देखता भ्रमर हो गया और फिर गजपादसे चूर्णित हो गया। हंसकी भावनासे वही हंस हो गया। हंस मरकर सारस हो गया, सारसने रुद्रको देखकर रुद्र होना चाहा और रुद्र हो गया (यहाँ रुद्रका अर्थ रुद्रसारूप्यप्राप्त रुद्रगण है)। रुद्र होते ही जब सर्वज्ञता आ गयी, तब अपने अनेकानेक जन्मों और स्वप्नोंकी सब कथा उसकी स्मृतिमें आयी। अहो ! असत्या ही जगन्मोहिनी माया मरुभूमिमें यद्यपि जलके समान ही है, तथापि कितनी विचित्रता इसमें है। जो मैं प्रथम केवल चिन्मात्र था, वह चित्त बना। गगनादि प्रपञ्चकी भावना करके जीव बना। फिर भिक्षु, फिर स्वप्नसे स्वप्नमें भटकते हुए कहाँसे कहाँ गया। यह सब भावना और सङ्कल्पके अभ्यासका ही परिणाम है। देहादिप्राप्तिमें भी सङ्ग, सङ्कल्प, भावना ही निमित्त होती है। यह भावना आदि विचार करने-

पर कुछ भी नहीं ठहरते। इस सम्पूर्ण संसारभ्रमका एकमात्र असंवेदन ही मार्जन है। यह सब विचारकर रुद्र-ने शयान भिक्षुको जगाया। जागकर तत्त्वज्ञ भिक्षुने विचित्र स्वप्नपरम्पराका स्मरण किया। पुनः दोनों मिलकर जीवटके पास गये, उसे प्रबुद्ध किया। ये सब पृथक्-पृथक् सर्गके ही आकाशमें थे। फिर उन तीनोंने विप्रके संसारमें जाकर उसे जगाया। इस तरह सामन्त, राजा, सुराङ्गना आदि पूर्वोक्त सभी मिलकर अन्तमें रुद्रभावको प्राप्त हुए। सभी निरावरण चित्स्वरूप होकर अवेदनात्मक मोक्षको प्राप्त हुए।

संवेदन ही सर्ग और बन्ध है, अवेदन ही मोक्ष है। सर्वसाधारणके सङ्कल्पमें अभ्यासाभावसे शक्ति नहीं होती, तथापि एकाग्रतासे दृढ़ सङ्कल्प करनेवाले योगी-लोग एक क्षणमें ही अनेक देहोंका निर्माण कर लेते हैं। जैसे क्षीरसागरमें रहते हुए शेषशायी भगवान् अन्यत्र सहस्रों अवतारकार्य करते हैं, वैसे ही सिद्धसङ्कल्प योगियोंके सङ्कल्पानुसार ही सृष्टिपरम्परा चल पड़ती है। दूसरे प्राणी प्राक्तन शुभाशुभ कर्मानुसारी दृढ़ सङ्कल्पके अनुसार संसारको प्राप्त होते हैं। इस तरह कर्मानुसार सभी जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें भटक रहे हैं। शान्त, निर्विकार ब्रह्मभावका बोध होनेपर प्राणरोध, इन्द्रियरोधके बिना, दृश्य प्रपञ्चके अस्तगमनके बिना भी सब कुछ सर्वदा शान्त, शुद्ध, मौन ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। प्रयत्नानपेक्ष इसी अवस्थाको सौषुप्त-मौन कहा है। इसमें यथास्थित वस्तुके बोधमात्रसे यथास्थित अनाद्यनन्त उदयास्तवर्जित, आकाशसे भी परम सूक्ष्म, शिलासे भी अनन्त घन, निरवकाश, ठोस, शुद्ध, अमल ब्रह्म अपने आपमें ही स्थित रहता है।

वासनामात्र ही चित्त है। चित्तके अभावमें ही परम-पद है। रज्जु-सर्पभ्रमके समान इस संसृतिका विवेक-मात्रसे बाध हो जाता है। एकार्थाभ्यास, प्राणरोध, मनोनाश ये सब संसृतिसमाप्तिमें कारण हैं। प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त होता है, मनःस्पन्दके शान्त होनेपर प्राणस्पन्द भी शान्त होता है। ये दोनों आपसमें रथ-रथीके समान हैं। एकके अभावमें दोनोंका ही अभाव हो जाता है। अनन्तात्मतत्त्वका विचार करके उसीका दृढाभ्यास करनेसे मनको ब्रह्माकार बनाना चाहिये। अज्ञान और ज्ञान दोनोंका ही बाध होनेसे अधिष्ठानतत्त्व ही रह जाता है। सम्पूर्ण द्वैत अविद्यामात्र है। अविद्या भी चित्तमात्र है। चित्त भी स्वभासक अधिष्ठानमात्र है। विचारसे क्षणमें जीव अजीव, चित्त अचित्त हो जाता है। मृगतृष्णा-जलके समान ही मन और अहन्तादि संसार उपलब्ध होता है। सब असत् ही है। किञ्चिन्मात्र विचारसे इसका बाध हो जाता है।

जीवन जलके बुद्बुदेके समान है

फूले फूले फिरत कहौ तौ तुम कापै अहो याकी तो महत्ता सत्ता सब कछु जानी है।
कहै 'रतनाकर' विडंबना विचित्र जेती जीवनके चित्र सौं न अधिक प्रमानी है॥
हाँ सौं नहीं होति औ नहीं सौं होति हाँ है सदा तातैं हाँ चहैयनि नहीं सौं रुचि मानी है।
इहिं भवसागर मैं स्वास आस ही पै बस पानीके बबूले-सी थिरानी जिंदगानी है॥

हमारे अंदर ये तीन बातें होनी चाहिये । वास्तवमें ही प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलसे ही भरा होता है, प्रत्येक परिस्थितिकी ओटमें उनके मङ्गलमय हाथ छिपे हैं । लोगोंको ऐसी अनुभूति होती है, हो चुकी है, हमें भी ऐसा अनुभव हो सकता है, यह दृढ़ विश्वास हमारे अंदर हो । तथा इस विश्वासके अनन्तर इसे प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये हमारा प्रयत्न आरम्भ हो । प्रयत्नका रूप सर्वथा सबके लिये एक नहीं हो सकता । अधिकारी-भेदसे उसके अनेकों रूप बन सकते हैं । पर अधिकांशके लिये लाभकारी एक साधन यह है—

हमारा जीवन कितना भी व्यस्त क्यों न हो, हमें चाहिये कि प्रतिदिन हम कुछ समय निकालकर यथासम्भव किसी एकान्तस्थानमें जा बैठें । सुखपूर्वक बैठकर अपने नेत्र बंद कर लें । निद्रा आ जानेकी सम्भावना हो तो नेत्र खुले ही रक्खें । तदनन्तर मनकी वृत्तियोंको सब ओरसे बटोरकर शान्तिसे मन-ही-मन इन भावोंकी आवृत्ति आरम्भ करें—

'हमारे चारों ओर इस निर्मल आकाशके अणु-अणुमें प्रभु ओतप्रोत हैं, वायुके प्रत्येक स्पन्दनमें प्रभु भरे हैं, सूर्य-चन्द्रकी किरणोंमें, अग्निमें प्रभुकी ही ज्योति भरी है, जल प्रभुके ही रससे परिपूर्ण है, पृथ्वीके कण-कणमें प्रभु विराजित हैं, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें प्रभुका निवास है, सबकी सत्ता प्रभुकी सत्तापर ही निर्भर है, हमारी इन्द्रियोंमें समस्त शक्तियाँ सर्वशक्तिमान् प्रभुकी ओरसे आ रही हैं । नेत्र प्रभुकी शक्तिसे देख पाते हैं । कान प्रभुकी शक्तिसे श्रवण करते हैं । त्वचा प्रभुकी शक्तिसे स्पर्शका अनुभव करती है । नासा प्रभुकी शक्तिसे गन्ध ग्रहण करती है । रसना प्रभुकी शक्तिसे रस लेती है । हाथोंमें काम करनेकी शक्ति प्रभुकी ओरसे आ रही है । पैरोंमें चलनेकी शक्ति प्रभु देते हैं । हमारा मन प्रभुकी शक्तिसे मनन करता है । हमारी बुद्धि प्रभुकी शक्तिसे निश्चय करती है । समस्त जगत्में जहाँ जिसमें, जो कुछ भी हलन-चलन क्रिया है, सब प्रभुकी सत्ता एवं शक्तिसे ही हो रही है । प्रभु अनन्त मङ्गलमय हैं, उनमें सर्वथा सदा मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है । प्रभु एवं प्रभुका विधान दो वस्तु नहीं है । जो प्रभु है, वही प्रभुका विधान है । विधाता और विधान, लीलामय और लीला एक ही है । अतः मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान अनन्त असीम मङ्गलसे भरा है । जगत्में जो कुछ हुआ है, हो रहा है, होगा—सबमें मङ्गल भरा है । अबतक मेरे लिये जिसने जो भी जैसी भी चेष्टा की है, कर रहा है, करेगा—सबमें मेरे प्रभु भरे हैं, उनकी मङ्गलमयता भरी है ।'

इस प्रकारके भावोंकी, कुछ देर पुनः-पुनः रस ले-लेकर आवृत्ति करते रहें । इस भावनाका परिणाम यह होगा कि ये विचार हमारे चारों ओर फैल जायँगे तथा अन्य समयमें भी, जब कि हम दूसरे-दूसरे कार्योंमें व्यस्त रहेंगे, ये रह-रहकर हमारे मनमें स्फुरित होते रहेंगे । जैसे-जैसे एकान्तका अभ्यास दृढ़ होगा, वैसे-वैसे व्यवहारके समय ऐसी स्फुरणाएँ अधिकाधिक होने लगेंगी । आज जो हमारा वातावरण प्रभुसे शून्य है, वह प्रभुसे भरने लगेगा । क्षण-क्षणमें क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनामें अमङ्गलकी भावना होकर हमें जो प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है, वह मिटने लगेगी । पद-पदपर जो हमारा अहङ्कार जाग उठता है, वह भी शिथिल पड़ने लगेगा । शत्रु-मित्र, दुष्ट-साधु, ऊँच-नीच—सर्वत्र सबमें समानरूपसे एकमात्र प्रभुकी सत्ता स्फुरित होने लगेगी । अन्तमें प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता नहीं बच रहेगी । बस, उसी समय हमारी प्रतिकूलताका भी अन्त हो जायगा, हमारा दुःख भी सदाके लिये जाता रहेगा ।

किंतु यह स्थिति प्राप्त होगी पूरी लगनसे इस अभ्यासमें जुट पड़नेपर ही । आज किया, कल नहीं; दो दिन भावना की, चार दिन नहीं—ऐसे अभ्याससे सफलताकी आशा नहीं है । प्रतिदिन नियमपूर्वक

कोई भी व्यतिक्रम न करके ऐसी भावनाके अभ्यासमें जब हम लगेंगे, तभी हमारे उद्देश्यकी सिद्धि होगी। अन्यथा प्रतिकूल परिस्थिति सामने आते ही ठीक अवसर-पर ही हमें इस भावनाकी विस्मृति हो जायगी तथा स्वभाववश पूर्वकी भाँति ही प्रतिकूलताका अनुभव करके हम दुखी होते रहेंगे।

इस अभ्यासका क्रम निभता रहे, इसके लिये अपने अंदर प्रभुकी दी हुई शक्तियोंका सदा सदुपयोग हो, दुरुपयोग कदापि न हो जाय, इसके लिये भी सावधानी रखना आवश्यक है। जबतक हममें अहङ्कार है, तबतक हम सदा सजग रहें—व्यवहारके समय हमारे नेत्र सदा उचित, आवश्यक, पवित्र, निर्मल दृश्य-को ही अपने अंदर भरें; कदापि अनुचित, अनावश्यक अशुद्ध मलिनको स्थान न दें। श्रवणेन्द्रिय सदा पवित्र शब्द ही ग्रहण करे, कदापि अश्लील अनावश्यक शब्दों-की ओर न झुके। घ्राण, त्वक्, रसना, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सभी शुभमें प्रवृत्त हों; भूलकर भी घ्राण शौकीनीके लिये किसी गंदी गन्धसे न जुड़ जाय; ऐश-आरामकी भावना लेकर त्वक् कदापि अनुचित अवैध स्पर्शमें न संलग्न हो जाय; स्वादकी आसक्तिवश रसना अखाद्य-में तो प्रवृत्त हो ही नहीं, खाद्यमें भी चटोरी न बन जाय। कर्मेन्द्रियाँ अनावश्यक क्रियाशील कदापि न हों; हमारा मन अनर्थक सङ्कल्प-विकल्पोंमें न लगे। बुद्धि क्षणभरके लिये भी व्यर्थ बातोंका निर्णय देनेमें निश्चय करनेमें न फँस जाय। इस प्रकार हमारे अंदर प्रभुकी दी हुई सम्पूर्ण शक्तियोंको हम नियन्त्रित करके अपने निश्चित उद्देश्यकी सिद्धिमें लगा दें। इनका सदुपयोग करें, दुरुपयोग नहीं। फिर प्रत्येक घटनाको ठीक-ठीक ग्रहण करनेकी—प्रभुसे जुड़ी हुई देखनेकी योग्यता हमारे अंदर उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। क्षोभ—दुःखके प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी क्रमशः दुःखका भाव कम होता जायगा।

हम कह सकते हैं कि ठीक है, बाहरकी घटनाओंमें तो हमारा प्रतिकूल भाव ही हमारे दुःखमें हेतु है, उसके प्रति भावना परिवर्तन करनेसे हमारा दुःख मिट सकता है; किंतु मान लें, हमारे शरीरमें कहीं भयङ्कर फोड़ा हो गया, उसकी पीड़ासे हम व्याकुल हो रहे हैं। हमें दुःख हो रहा है। ऐसे अवसरपर तो हमें प्रतिकूलताकी अनुभूति होगी ही, दुःख होगा ही। यह दुःख तो घटनाजन्य ही है, इसमें हमारा भाव कैसे हेतु हुआ? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ भी हमारे दृष्टिकोणका ही अन्तर है। साथ ही यह भी समझ रखनेकी बात है कि पीड़ाका अनुभव होना और बात है तथा दुःख होना दूसरी बात है। यदि हमारा दृष्टिकोण बदल जाय, इस घटनाको भी हम ठीक-ठीक ग्रहण करना सीख जायँ तो पीड़ाकी अनुभूति तो होगी, पर दुःख हमें सर्वथा नहीं होगा। यदि किसी प्रकार फोड़ेके प्रति हमारी यह भावना हो जाय कि यह तो प्रभुका प्रसाद है, दयामयके विधानसे आया है, और आया है मेरे दुष्कर्मोंका भार हलका करनेके लिये; नहीं-नहीं, स्वयं ही प्रभु इस रूपमें मुझे स्पर्श कर रहे हैं—ऐसा हमारा दृष्टिकोण हो जाय तो फिर सच मानें, पीड़ाकी अनुभूतिके साथ-ही-साथ एक परम सात्त्विक सुखकी अनुभूति होगी; दुःख तो रत्तीमात्र भी नहीं होगा। ऐसी भावना हो जाना अथवा इस भावना-की बातको अच्छी तरह समझ लेना मात्र भी कठिन अवश्य है। पर कठिनाई भी इसीलिये है कि हमने कभी भी सच्चे मनसे प्रभुकी सत्ताको स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया है, उनके लिये यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है। उन्हें इसके आचरणमें ऐसी भावना करने-में परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। प्रभुके अस्तित्वकी स्वीकृति उन्हें स्वतः ऐसे भावना-राज्यमें पहुँचा देती है।

बृहदारण्यक श्रुति है—

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमः हैव लोकं जयति य एवं वेद।

'कोई ज्वरादि व्याधियोंसे अत्यन्त पीड़ित है, शरीर ज्वरके तापसे जल रहा है। उसे ऐसी भावना करनी चाहिये कि यही मेरे लिये परम तप है, मैं तप कर रहा हूँ। जो ऐसा मानता है वह इस भावनाके फलस्वरूप परम लोकको जीत लेता है।'

ऐसे ही यदि हम फोड़ेमें अथवा शरीरकी अन्य व्याधियोंमें, शरीरसम्बन्धी प्रत्येक प्रतिकूल घटनामें प्रभुके प्रसादकी, स्वयं प्रभुकी भावना करके उस घटनाके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल लें, तो पीड़ाकी अनुभूति होनेपर भी हमारा दुःख तो निश्चय ही जाता रहे।

लोकमें भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्यक्ति आत्मशुद्धिके लिये किसी दिन व्रत रखकर उपवास करता है, वही किसी दिन संयोग-क्रमसे भोजनकी व्यवस्था न होनेके कारण भूखा रह जाता है। दोनों ही दिन भूखकी पीड़ा तो उसे समान भावसे होती है; किंतु व्रतवाले दिन वह पीड़ाको सुखपूर्वक सहन करता है, साथ ही व्रतका पालन हो रहा है, इस सुखका अनुभव करते हुए उस दिन होनेवाले उत्सवमें वह उल्लास-पूर्वक सम्मिलित भी होता है। भूखकी पीड़ा होते हुए भी उसके अन्तरमें दुःखकी छाया भी नहीं है। पर वही व्यक्ति दूसरे दिन भोजन न मिलनेके कारण दुखी है, चिन्तित हो रहा है कि क्या करें, भोजनकी व्यवस्था अभीतक नहीं हो सकी है, सन्ध्या होने जा रही है। उस दिन अन्य कार्योंमें भी उसका मन नहीं लगता। भूखकी पीड़ासे मन-ही-मन व्यथित होकर वह सारा उत्साह खो बैठता है। ऐसा क्यों? भूखका अनुभव तो दोनों दिन समान भावसे ही होता है? ऐसा इसीलिये कि पहले दिन वह भूख, भूखकी पीड़ा उसके लिये अनुकूल है, और दूसरे दिन प्रतिकूल। दृष्टिकोणमें भेद होनेसे ही एक ही प्रकारकी घटना एक दिन सुख और दूसरे दिन दुःखका कारण बन जाती है। कदाचित् वह दृष्टिकोण बदल सके; ऐसा सोच ले कि मङ्गलमय प्रभु-के विधानसे ही आज मुझे भोजन नहीं मिला, इसमें निश्चय ही मेरा कोई अत्यन्त मङ्गल छिपा है, तो वह तत्क्षण सुखी हो जाय।

अबतकके विवेचनका सारांश यह है कि घटनामें दुःख नहीं है। घटनाके प्रति प्रतिकूल भावना ही हमारे दुःखका सृजन करती है। अतः यदि हम अपना दुःख मिटाना चाहते हों तो घटनाकी ओर न देखकर उसमें ओतप्रोत प्रभुकी ओर दृष्टि स्थिर करें। उनकी ओर दृष्टि लगी कि बस, वे-ही-वे दीखने लगेंगे, सर्वत्र उनके ही मङ्गलमय कर-कमल काम करते दीखेंगे। फिर हमारी प्रतिकूलता मिट जायगी और हमारा दुःख भी सदाके लिये समाप्त हो जायगा। दुःखनाशका यही अमोघ उपाय है।

दुःखसे तरनेका उपाय

जो नर दुखमें दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष-सोकतें रहै नियारो, नाहिं मान-अपमाना॥
आसा-मनसा सकल त्यागिकै, जगतें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहिं घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहिं नरपै कीन्ही, तिन यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंदसों, ज्यों पानी सँग पानी॥

—नानकजी

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

[वर्ष २२, पृष्ठ १४५६ से आगे]

(२८)

कज्जलमिश्रित अश्रुप्रवाह उनके कपोलोंको सिक्त कर रहा है, आकुल नेत्र बारंबार आभीरसुन्दरियोंसे कुछ मूक विनय, दया-याचना-सी कर रहे हैं; कुन्तलराशि मुखचन्द्रपर बिखर गयी है—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय करुण-अवस्थामें ऊखलसे बँधे खड़े हैं। गोपसुन्दरियाँ उन्हें घेरे खड़ी हैं। सभी चाहती हैं—व्रजेश्वरी अब द्रवित हो जायँ, स्वल्प अपराधके लिये पर्याप्त दण्ड वे अपने नीलमणिको दे चुकीं। एकने यशोदारानीसे बन्धन खोल देनेकी प्रार्थना की—

जसुदा तेरौ मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै॥

दूसरी समझाने लगी—

जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखिकौ जायौ।
कहा भयौ जो घरकैं ढोटा, चोरी माखन खायौ॥

तीसरीने भी समझाया—

जसुदा यह न बूझिकौ काम।
कमलनैनकी भुजा देखि धौं, तैं बाँधे हैं दाम॥
पुत्रहु ते प्यारौ कोउ है री, कुल-दीपक मनि-धाम।
हरि पर वारि डारि सब तन, मन, धन गोरस अरु ग्राम॥

एक वृद्धा गोपीमें तो कुछ दैवी आवेश हो गया, उसके नेत्रोंमें रोष भर आया, सारे अङ्ग किसी विचित्र तेज:पुञ्जसे व्याप्त हो गये। वह यशोदारानीकी भर्त्सना करती हुई भगवत्तत्त्वकी बातें बताने लगी और श्रीकृष्ण-चन्द्रको छोड़ देनेके लिये व्रजेश्वरीको शपथ देने लगी—

(जसोदा !) तेरौ भलौ हियौ है माई।
कमल-नैन माखनकैं कारन, बाँधे ऊखल ल्याई॥
जो संपदा देव-मुनि-दुर्लभ सपनेहुँ देइ न दिखाई।
याही तैं तू गर्ब भुलानी, घर बैठे निधि पाई॥
जो मूरति जल-थल मैं व्यापक निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तैं अपनैं आँगन, चुटकी दै जु नचाई॥
तब काहू सुत रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घरके लरिका सौं इती करति निठुराई॥
बारंबार सजल लोचन करि चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ छोरि तू, तेरी सौंहँ दिवाई॥
सुर पालक, असुरनि उर सालक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास प्रभुकी यह लीला, निगम नेति नित गाई॥

किंतु व्रजेश्वरीका हृदय तो आज मानो पाषाण बन गया है। वे किसीकी बातसे तनिक भी द्रवित नहीं होतीं। अपि तु सबका इतना आग्रह देखकर उलटे खीझ जाती हैं और कहने लगती हैं—

जाहु चली अपनैं-अपनैं घर।
तुमहिं सबनि मिलि ढीठ करायौ, अब आईं छोरन बर॥
मोहिं अपने बाबाकी सौंहैं, कान्हहिं अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपनैं-अपनैं सब, लागति हौं मैं पाउँ॥
मोकौ जनि बरजौ जुवती कोउ, देखौ हरिके ख्याल।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, बड़े नंदके लाल॥

व्रजरानी इतनी कठोर तो कभी नहीं थीं ! उन्होंने इतना रूक्ष व्यवहार तो हम सबसे आजतक कभी नहीं किया! गोपरामाओंके हृदयमें ठेस-सी लगती है। उन सबमें रोषका सञ्चार हो जाता है। वे बोलीं—

ऐसी रिस तोकौं नँदरानी।
भली बुद्धि तेरैं जिय उपजी, बड़ी बैस अब भई सयानी॥
ढोटा एक भयौ कैसैंहु करि, कौन-कौन करबर बिधि भानी।
क्रम-क्रम करि अब लौं उबर्‌यौ है, ताकौं मारि पितर दै पानी !
को निरदई रहै तेरैं घर, को तेरैं सँग बैठै आनी॥

तथा हृदयमें दु:खका भार लिये, अत्यन्त उदास, अतिशय खिन्न वे अपने घरकी ओर चल पड़ीं—

सुनहु सूर कहि-कहि पचि हारीं, जुवती चलीं घरनि बिरुझानी॥

पुरसुन्दरियाँ मुझे जननीके अनुशासनसे, जननी-प्रदत्त बन्धनसे मुक्त कर देंगी—श्रीकृष्णचन्द्रकी यह आशा टूट गयी। अब वे अश्रुपूरित कण्ठसे अग्रज बलरामका

नाम ले-लेकर पुकारने लगते हैं; किंतु अग्रज यहाँ कहाँ ? वे तो जननीके साथ उपनन्द-गृहमें हैं। फिर भी अनुजका आह्वान व्यर्थ नहीं होता। रोहिणी मैया कुछ भी न जान सकीं, पर रोहिणीनन्दन बलरामके हृत्तन्तुओंपर श्रीकृष्णचन्द्रका करुण क्रन्दन झङ्कृत हो उठा। वे व्याकुल हो उठे। माताके लौटनेमें तो अभी पहरभरका विलम्ब है। इतना धैर्य राममें कहाँ ? वे भाग चले, क्षणोंमें ही निर्विघ्न नन्दभवनके समीप जा पहुँचे। मार्गमें कोई बाधा नहीं आयी; क्योंकि योगमायाने उपनन्दपत्नी एवं श्रीरोहिणीके स्मृति-पथमें, 'राम यहीं खेल रहा है, या कहीं चला गया ?' इसके सामने एक झीनी चादर डाल दी थी। अस्तु—

नन्दप्राङ्गणसे लौटती हुई कुछ व्रजपुरन्ध्रियोंने बलरामकी ओर देखा एवं बलरामने उनकी ओर। एक अतिशय व्यथित गोपी चटपट श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखल-बन्धनकी सारी बात रामको सुनाने लगी—

हलधरसौं कहि ग्वालि सुनायौ।
प्रातहिं तैं तुम्हरौ लघु भैया, जसुमति ऊखल बाँधि लगायौ॥

फिर तो रोहिणीनन्दन दौड़ पड़े, श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आये। पर आह ! अनुजकी दशा देखकर रोहिणीनन्दनके नेत्र तो छल-छल करने लगे—

यह सुनिकै हलधर तहँ धाए।
देखि स्याम ऊखल सौं बाँधे, तबहीं दोउ लोचन भरि आए॥

बलराम अपने हाथसे यशोदारानीका अञ्चल धारणकर गद्गद कण्ठसे बोले—

स्यामहिं छोरि मोहिं बाँधै बरु, निकसत सगुन भले नहिं पाए।
मेरे प्रान-जिवन-धन कान्हा, तिनकें भुज मोहिं बँधे दिखाए॥

ओह ! अग्रजकी बात सुनते ही यशोदारानीके प्राणोंमें टीस-सी चलने लगी। उन्हें भान हुआ कि अब कठोरताके इस झूठे स्वाँगका निर्वाह करना उनके लिये तो असंभव है; किंतु नहीं, उसी क्षण अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके मनको अपने हाथोंमें ले लिया। व्रजेश्वरी तो उमड़ते हुए वात्सल्य-सिन्धुमें बहने जा रही थीं, पर लीलाशक्ति उन्हें बाहर निकाल ले आयीं तथा उनपर अपना हाथ फेरकर कुछ समयके लिये धैर्य धारण करने योग्य बना डाला। अवश्य ही मैया अग्रजको बोलकर उत्तर न दे सकीं। केवल उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए अपना सिर किञ्चिन्मात्र हिला पायीं।

अब तो रोहिणीनन्दनको क्रोध हो आया। नेत्र और भी अरुण हो उठे। कुछ क्षण तिरछी चितवनसे जननीकी ओर देखकर वे बोले—

काहे कौं कलह नाध्यौ, दारुन दाँवरि बाँध्यौ,
कठिन लकुट लै तैं, त्रास्यौ मेरैं भैया।
नाहीं कसकत मन, निरखि कोमल तन,
तनिक-से दधि-काज, भली री तू मैया॥
हौं तौ न भयौ री घर, देखत्यौ तेरी यौं अर,
फोरतौ बासन सब, जानति बलैया।
सूरदास हित हरि, लोचन आए हैं भरि,
बलहू कौं बल जाकौं सोई री कन्हैया॥

इस बार जननी मन-ही-मन हँस पड़ती हैं। साथ ही यह अनुभव करती हैं कि अब यहाँ और रुकना उचित नहीं; अन्यथा वे अपना धैर्य खो बैठेंगी; तथा इस प्रकार अबतकका सारा प्रयास निष्फल हो जायगा। इस विचारसे व्रजेश्वरी पार्श्ववर्ती प्राङ्गणमें चली जाती हैं। यहाँ रह जाते हैं—गोपशिशुओंसे आवृत, ऊखलमें निबद्ध श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी ओर सकरुण दृष्टिसे देखते हुए रोहिणीनन्दन बलराम। इनके अतिरिक्त अन्तरिक्षमें अवस्थित हैं अमरवृन्द, जो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस भक्तवत्सलताको निहार-निहारकर आनन्दसिन्धुमें डूब-उतरा रहे हैं। क्यों न हों ? सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका जननीके प्रति यह आत्मसमर्पण इस योग्य ही है। समस्त लोकपालोंके सहित यह परिदृश्यमान जगत् जिनके वशमें है, जिनपर किसीका बन्धन—शासन नहीं है, जो नित्य परम स्वतन्त्र हैं, उन

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन, यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने जननीके द्वारा दिये हुए बन्धनको स्वीकार कर आज वास्तवमें अपनी भक्ताधीनताको प्रत्यक्ष प्रकट जो कर दिया है—

एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥
(श्रीमद्भा० १०।९।१९)

जिस कृपा-वैभवका आस्वाद व्रजेश्वरीने पाया, उसे आजतक नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न, प्रापञ्चिक भक्तोंके आदिगुरु जगत्-विधाता ब्रह्माने भी न पाया, आत्मस्वरूप शङ्करने भी कभी उसे अनुभव न किया, वक्षःस्थल-विलासिनी लक्ष्मीको भी वह न मिला। मुक्तिपर्यन्त पुरुषार्थदाता श्रीकृष्णचन्द्रसे जो प्रसाद गोपमहिषीने पाया, वह किसीने नहीं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

आज यह भी प्रत्यक्ष हो गया—यशोदानन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको अनायास सुखपूर्वक पा लेनेका मार्ग कौन-सा है? व्रजवासियोंके समान केवल प्रेमके लिये ही प्रेम करनेवाले भक्तोंको वे जितने सुलभ हैं, उतने सुलभ किसी भी प्राणीके लिये नहीं और तो क्या अपने आत्मभूत तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी नहीं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२१)

यह सब प्रत्यक्ष देखकर, अनुभव कर देववृन्द तो आनन्दमत्त हो गये हैं; किंतु यशोदारानीके ध्यानमें बस, इतनी-सी बात है कि अपने चञ्चल नीलमणिको उन्होंने कुछ क्षणोंके लिये ऊखलसे बाँध दिया है। 'भर्त्सनासे अपमानित मानकर, रूठकर कहीं वह वनकी ओर एकाकी भाग न जाय, इसकी उचित व्यवस्थामात्र मैंने की है।' वे तो इतना ही जानती हैं। इसीलिये दूसरे कक्षमें जाकर निश्चिन्त मनसे गृहकार्यमें संलग्न हो गयी हैं।

इधर अनुजके प्रति इतनी कठोरता एवं अपनी प्रार्थनाकी जननीकृत उपेक्षा—दोनों ही रोहिणीनन्दनके लिये असह्य हो जाती है। वे क्रोधसे दाँत पीसने लगते हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका क्रन्दन क्रमशः शान्त होने लगता है। जबतक गोपसुन्दरियाँ थीं, जननी उपस्थित थीं, तबतक तो वे अत्यन्त व्याकुल थे। पर उनके जानेके कुछ क्षणोंके पश्चात् ही वे शान्त होने लगे। धीरे-धीरे क्रन्दन समाप्त हो जाता है; और अब तो उसके बदले उनके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है। अवश्य ही अभी यह मुसकान व्रजरानीके वात्सल्य-रसपानसे मत्त हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको विस्मृत हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी नहीं है, यह मुसकान है उनके अधरोंकी ओटमें उनके लीलामञ्चकी अधिष्ठात्री योगमायाकी! वह व्यक्त हुई है अतिशय व्याकुल बलरामको आश्वासन देनेके लिये, क्षणभरके लिये बलराममें उनके अनुजके अनन्त असमोर्द्ध्व ऐश्वर्यका उन्मेष कर उनकी चिन्ता हर लेनेके लिये, साथ ही रसपानप्रमत्त श्रीकृष्णचन्द्रमें एक सुदूर अतीतकी—अपने परमभक्त नारदके द्वारा दी हुई प्रतिश्रुतिकी स्मृति जगानेके लिये। उस मुस्कानने रोहिणीनन्दनकी चिन्ता हर ली। ठीक वैसी ही एक किरण उनके अधरोंपर भी व्यक्त हो जाती है, तथा नेत्रोंमें ऐश्वर्यका चित्रपट भर जाता है—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बाँधै, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जाने॥
उतपति प्रलय करत हैं येई, सेष सहस-मुख सुजस बखाने।
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने॥
असुर-सँहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव-भक्तिके, अति हित जसुमति हाथ बिकाने॥

श्रीकृष्णचन्द्र भी मानो जाग-से उठते हैं। नन्दसदनके समीप खड़े गगनचुम्बी यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर उनकी दृष्टि चली जाती है। उसी क्षण बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी सर्वज्ञता-शक्ति सङ्केत करने लगती

है—'लीलाविहारिन् ! दामोदर ! देखो नाथ ! देव-परिमाणसे शतवर्ष पूर्व ये युग्म अर्जुन-वृक्ष यहाँ आकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुबेरपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव ही वृक्ष बनकर तुम्हारी कृपाकी बाट देख रहे हैं। धनमदने इन्हें अन्धा कर दिया था; किंतु तुम्हारे परम भक्त देवर्षि नारदकी इनपर कृपा हुई। देवर्षिने शाप देकर इन्हें वृक्ष-योनि दे दी, अनुग्रह करके तुम्हारे क्रीडा-प्राङ्गणके किनारे निवास दे दिया। तबसे बारंबार ग्रीष्मके आतपका, पावसकी झड़ीका, शिशिरके हिमका और पवनके प्रचण्ड झंझावातका उपभोग करते हुए ये अपनी सारी मलिनता धो चुके हैं। अब समय पूर्ण हो चुका है, नाथ ! अपना पावन स्पर्श दानकर इन्हें कृतार्थ करो, प्रभो ! अवसर भी सुन्दर है, जननी गृहकार्यमें व्यस्त हैं।'—

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २२-२३)

सर्वज्ञताशक्तिके उपर्युक्त सङ्केतपर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी स्वीकृति दे देते हैं—

हरि चितए जमलार्जुनके तन।
अबहीं आजु इन्हैं उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन॥
× × × ×
ये सुकुमार, बहुत दुख पायौ, सुत कुबेरके तारौं।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन, यह बंधन निरवारौं॥

श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद

[एक विहङ्गम-दृष्टि]

(साहित्यमहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' साहित्य-व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, बी० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

आचार्य श्रीरामानुजकी दार्शनिक चिन्तन-धारा श्रीशङ्कराचार्यके अद्वैतवाद और मायावादके विरोध और प्रतिक्रियाका परिणाम है। इनकी दार्शनिक अट्टालिकाके तीन स्तम्भ हैं—चित् (जीव), अचित् (जड-समूह) और पुरुषोत्तम। उनका ईश्वर अचिन्त्यानन्त-कल्याण-गुणाकर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और स्वतःप्रकाश है। वह सृष्टि-स्थिति-पालनका एकमात्र नियन्ता है। स्थूल, सूक्ष्म—चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। अनन्त जीव और जगत् उसीके शरीर हैं।

श्रीप्रज्ञानन्द सरस्वतीने (यतीन्द्रमतदीपिका—प्रथम परिच्छेदके आधारपर) अपने वेदान्त-दर्शनके इतिहास, द्वितीय भागमें ऊपरके तीनों तत्त्वोंके समर्थनके लिये निम्नलिखित विषयोंपर विचार किया है।

१. स्थूल-सूक्ष्म—चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्मका एकत्व।
२. द्वैत और अद्वैत श्रुतिका अविरोध।
३. ब्रह्मका सगुणत्व और विभुत्व—ब्रह्म सविशेष।
४. ब्रह्मके निर्गुणत्व और निर्विशेषत्ववादका खण्डन।
५. जीवका अणुत्व, ब्रह्मस्वभावत्व और दासत्व।
६. जीवका बन्धन और उसका कारण—अविद्या।
७. जीवका मोक्ष और उसका उपाय—विद्या।
८. उपासनारूपी भक्तिका श्रेष्ठत्व और मोक्षसाधनत्व।
९. मुक्तावस्थामें जीवकी ब्रह्मस्वभाव-प्राप्तिका निरसन।
१०. शाङ्करमतकी अविद्या या मायावादका खण्डन।
११. अनिर्वचनीयतावादका खण्डन।
१२. जगत्की तुच्छताका खण्डन और सत्यताका स्थापन।
१३. जीव और जगत्का ब्रह्म अथवा ईश्वर-शरीरत्वका निरूपण।

आचार्य रामानुजके मतानुसार प्रमाण तीन प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रमेय दो प्रकारके हैं—द्रव्य और अद्रव्य। और पदार्थसमूह प्रमाण-प्रमेयके भेदसे दो प्रकारके हैं। द्रव्यके दो भेद हैं—जड और अजड। जडके दो भेद हैं—प्रकृति और काल। प्रकृति चतुर्विंशत्यात्मिका (२४ प्रकारकी) है और काल तीन प्रकारके हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। पराक् और प्रत्यक्के भेदसे अजडके दो प्रकार हैं—नित्य विभूति और धर्मभूत ज्ञानरूप पराक् तथा जीव और ईश्वर—प्रत्यक् कहलाते हैं। बद्ध, मुक्त और नित्यके भेदसे जीव तीन प्रकारके हैं। बद्धके दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु दो प्रकारके

हैं—'अर्थकामपरायण' और 'धर्मपरायण'। मुमुक्षु भी दो प्रकारके हैं—कैवल्यपर और मोक्षपर।

आचार्य रामानुजके छः प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह—इसमें श्रीशङ्कराचार्य और भास्कराचार्यके मतवादोंका खण्डन है। (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्रकी लघ्वक्षरटीका। (३) वेदान्त-दीप—ब्रह्मसूत्रकी वेदान्तसारसे विस्तृत टीका। (४) गद्यत्रय—इसमें ईश्वरका, प्रपत्तिका उत्कृष्ट वर्णन है। (५) गीताभाष्य—वेदान्तदेशिककृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका और (६) श्रीभाष्य—यह श्रीरामानुजके दार्शनिक पाण्डित्यका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तोंकी विस्तृत और प्रामाणिक आलोचना की गयी है।

श्रीरामानुजके चित्, अचित् और ईश्वर—पदार्थत्रयकी कल्पना मौलिक नहीं है। बल्कि श्वेताश्वतर-उपनिषद्के भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता ब्रह्मके आधारपर प्रतिष्ठित है। ईश्वर पाँच प्रकारके हैं—पर, विभु, व्यूह, अन्तर्यामी और अर्चावतार। पर—एक नारायण हैं। व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके भेदसे चार हैं। केशवादि व्यूहान्तर हैं। मत्स्य-कच्छपादि अनन्त विभव हैं। अन्तर्यामी प्रत्येक शरीरमें स्थित है। जीव नित्य पदार्थ होते हुए भी ईश्वराधीन है। अर्चावतार—श्रीरंगम्, वेंकट और वरदराजादि स्थूल-मूर्तिविशेष हैं। अद्रव्य—दस प्रकारके हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

आचार्य रामानुजके मतानुसार जगत्में निर्गुण वस्तुकी कल्पना असम्भव है। अतएव सगुण या सविशेष ब्रह्म ही उपनिषत्प्रतिपाद्य है। जगत्के सभी पदार्थ परिदृश्यमान और गुणविशिष्ट होते हैं। अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें भी सगुण या सविशेष वस्तुकी प्रतीति होती है।

श्रीरामानुजके मतसे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्रमाण हैं। प्रमाका करण ही प्रमाण है और यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। शुक्ति (सीप) में रजत-ज्ञान भी ज्ञानपद-वाच्य हो सकता है। उसकी निवृत्तिके लिये व्यवहारानुगुण शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रमाणके बलसे तत्काल ही ज्ञानोत्पत्ति होती है। सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे प्रत्यक्ष दो प्रकारके होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रक्रिया—जैसे, आत्मा मनके साथ युक्त होता है और इन्द्रियाँ विषयोंके साथ। ज्ञानोत्पत्तिका यही क्रम है। अथ च ज्ञान विषयावगाही है। निर्गुण या निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। कारण, स्मृति भी प्रत्यक्षके ही अन्तर्भुक्त है। पूर्वानुभूत वस्तुके संस्कारसे स्मृति जगती है, अतएव वह कोई प्रमाण नहीं। प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। अभाव भावान्तररूप है। अतएव वह भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। पुण्यवान् मनुष्यकी प्रतिभा (योगजज्ञान) भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। इनके मतसे सभी ज्ञान सत्य और सविशेषविषयक हैं*, आचार्य श्रीरामानुज विशिष्टाद्वैतके प्रवर्तक हैं। अतएव इनकी ईश्वर-कल्पना शाङ्करमतकी कल्पनासे बिल्कुल भिन्न है। इनके मतानुसार अन्तर्यामी ईश्वर और जगत्प्रपञ्चका निर्माता ईश्वर दोनोंमें तत्त्वतः एकता है। इसी तात्त्विक एकताके कारण एक विशेषणसे विशिष्ट ईश्वर तदन्यविशेषणसे विशिष्ट ईश्वरके साथ बिल्कुल अभिन्न है। यह नितान्त अभिन्नता अर्थात् एकता विशिष्ट (ईश्वर) की है। 'अथ च विशिष्टयोरैक्यम्'—सूत्रके अनुसार आचार्य श्रीरामानुजद्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

श्रीरामानुजकी 'अपृथक्सिद्धि' से भी विशिष्टाद्वैतका ही समर्थन होता है। उन्होंने द्रव्य और गुण अथवा द्रव्य और अन्य द्रव्यमें विद्यमान रहनेवाले सम्बन्धको स्वीकार किया है। उनका यह स्वीकृत सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक-सम्मत होते हुए भी समवायकी अनुरूपताके कारण उससे प्रभिन्न है। समवाय बाह्य और अपृथक्सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है।† शरीर वही है, जिसे आत्मा धारण करती है, नियमन करती है और कार्यमें प्रवृत्त करती है।

ईश्वर भी उसी प्रकार चित् (जीव) और अचित् (जडसमूह) को आश्रित और कार्यमें प्रेरित करता है। इनमें जो प्रमुख है, वही नियामक होता है और विशेष कहलाता है। जो गौण होता है, वह नियम्य होता है और विशेषण कहलाता है। नियम्य और गौण होनेसे जीव 'विशेषण' तथा नियामक और प्रधान होनेसे ईश्वर 'विशेष्य' कहलाता है। चित् और अचित् उस विशेष्य भूतके ही विशेषण हैं। विशेषण विशेष्यसे पृथक् नहीं हो सकता। अथ च विशेषणयुक्त विशेष्यकी एकत्व-कल्पना युक्तिसंगत है और विशिष्टाद्वैतका यही गूढार्थ है।

अपौरुषेय और नित्य वेदवाक्य ही रामानुजका शब्द-प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य रामानुजने

* 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥' (श्वेता० १। १२)।

† श्रीभाष्य।

जैमिनिकी पूर्वमीमांसाके मतके सामञ्जस्यकी रक्षा की है। जैमिनिके मतानुसार सभी वेदवाक्य प्रामाणिक हैं और आचार्यके मतसे सभी सिद्ध ब्रह्मपर-वाक्य उपासनारूप कार्यान्वयी हैं।

ज्ञान—श्रीशङ्करके मतानुसार निरपेक्ष और रामानुजके मतानुसार आपेक्षिक है। शङ्करके मतसे ज्ञान स्वप्रकाश और निर्विशेष है। ज्ञानका सविशेषत्व उपाधिकृत है और ज्ञान प्रत्यगात्मस्वरूप है; किंतु रामानुजके मतसे ज्ञान सविशेष-विषयक हैं। दोनोंमें दर्शनगत यही मौलिक भेद है। शङ्करके मतसे माया अथवा अज्ञान एक ही पदार्थ है। संशय, विपर्यय और मिथ्या ज्ञान सभी अज्ञान हैं। रामानुजके मतसे माया भगवान्‌की शक्ति है। माया और अज्ञान एक ही पदार्थ नहीं। माया भगवान्‌की आश्रिता है और अज्ञान ज्ञानका अभाव है और वह जीवाश्रित है। दोनोंके दार्शनिक सिद्धान्तोंमें यह मौलिक पार्थक्य है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार कर्म-सम्बन्धमें जिसका ज्ञान है, वही व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है। जैसे—पहले वेदाध्ययन, वेदाध्ययनके फलस्वरूप कर्मके अनित्य फलका ज्ञान, उसके बाद मुक्तिकी ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है। कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा—दोनोंका मूल एक ही वेद है। वेदमें प्रथम कर्मकाण्ड और पश्चात् ज्ञानकाण्ड है। अथ च मुक्तिका प्रथम साधन कर्ममीमांसा है। ब्रह्ममीमांसा द्वितीय साधन है। ज्ञान और कर्ममें कार्य-कारण-भाव विद्यमान है। निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है। सुतरां ज्ञान कार्य या उत्पाद्य है और कर्म उसका कारण या उत्पादक है।

रामानुजके मतानुसार कहीं भी निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि या प्रतीति नहीं होती। यहाँतक सुषुप्ति, मत्तता और मूर्च्छाकालीन अनुभव भी निर्विशेषमें नहीं होता। वह भी सविशेष ही है। यहाँतक कि शब्द और शास्त्र भी निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन नहीं कर सकते; क्योंकि शब्द और पद वाक्यरूपमें परिणत होकर ही अर्थबोधक होते हैं। अथ च शब्द सगुण—सविशेष वस्तुके प्रतिपादनमें ही समर्थ हैं; क्योंकि पद प्रकृति और प्रत्ययके योगसे सिद्ध होता है। प्रकृति और प्रत्यय एक नहीं हैं। यही कारण है कि कोई भी विशिष्टार्थके प्रतिपादनका परित्याग नहीं कर सकता है। अर्थभेदके कारण पद-पार्थक्य होता है। अथ च निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन करना शब्दकी सामर्थ्यसे बाहर है।

आचार्य शङ्करके मतानुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है। श्रुति निषेधमुखसे ही उसका प्रतिपादन करती है। उसका इदमित्थं या इदन्तया प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। कारण, वह अवाङ्मनसगोचर है। वह प्रत्यगात्मस्वरूप है। ब्रह्म ज्ञानकी वस्तु नहीं है। ज्ञानके विषय जड पदार्थ हैं। ज्ञान प्रकाशक है और जड दृश्य—प्रकाश्य। यदि ब्रह्म ज्ञानका विषय हो तब तो वह भी दृश्य हो जाता है और दृश्य होते ही वह जड हो जायगा। अथ च ब्रह्मका जडत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शङ्करके मतसे ब्रह्मका गुणमय भाव मायिक है—निर्गुण-भाव ही पारमार्थिक है। ब्रह्मको सगुण और ज्ञानका विषयी-भूत स्वीकार करते ही ब्रह्म मूर्त वस्तु बन जाता है और मूर्त वस्तुका परिणाम अनिवार्य विनाश है; अतएव ब्रह्म निर्गुण है।

इसके उत्तरमें रामानुजका तर्क है कि ब्रह्म या पुरुषोत्तम प्रतिपाद्य और शास्त्र प्रतिपादक है। शास्त्र सगुण और सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है। निर्विशेष वस्तुकी प्रतिपत्ति (या प्रपत्ति) असम्भव है। साथ ही अनुमानादिकी सहायतासे ब्रह्मका निर्णय नहीं किया जा सकता।

ईश्वर सम्पूर्ण जगत्‌का निमित्त और उपादान-कारण है। यह कारण न तो अविद्या-कर्मनिबन्धन है और न परनियोग-मूलक। यह स्वेच्छाजन्य है। सृष्टिका प्रयोजन केवल लीला है। आचार्य रामानुजके मतानुसार ब्रह्म सविशेष और सगुण है। माया ब्रह्मकी शक्ति है। जीव और जगत् दोनों उसके शरीर हैं और दोनों ही नित्य हैं। ब्रह्मके गुणोंकी इयत्ता नहीं और न उसमें कोई दोष है। वही सृष्टिकर्ता है—वही कर्मफलदाता है। वही नियन्ता है—वही सर्वान्तर्यामी है। प्रकृति पुरुषसे भिन्न है। तद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण ही पुरुषोत्तम है। शिव प्रभृति पुरुषोत्तम या परब्रह्म नहीं हैं। परंतु शङ्करके मतमें शिव ही परब्रह्म है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार अविद्या-निवृत्तिका प्रयोजन है, क्योंकि जीवमें अज्ञान है। उपासनाके बलसे ब्रह्म-साक्षात्कार होनेपर अज्ञान विदूरित हो जाता है। जीव मुक्त होकर भी ईश्वरका दास बना रहता है और वह ईश्वरकी अपार लीलामें आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मरूपता ही परमानन्दस्वरूपता है। अविद्या शङ्कर और रामानुज दोनोंको मान्य है। शङ्करके मतसे ज्ञान होनेपर अविद्या या अज्ञान लुप्त हो जाता है और रामानुजके मतसे ईश्वरकी उपासनासे

अविद्याका नाश होता है; परंतु शङ्करके मतानुसार अज्ञान ज्ञानका अभाव नहीं, बल्कि वह भाव वस्तु है।

रामानुजका ईश्वर विभु है। विभुका अर्थ है व्यापक। ईश्वरका व्यापकत्व तीन प्रकारका है—स्वरूपतः, धर्मभूत-ज्ञानतः और विग्रहतः। वह अनन्त है। अनन्तका अर्थ त्रिविध परिच्छेदशून्य है। देश, काल और वस्तु ही त्रिविध परिच्छेद हैं।

आचार्य रामानुजके मतानुसार ब्रह्म ही जगत्का सूक्ष्म-रूपमें कारण है। स्थूलरूपमें वह जगत् है। जगत्‌रूपमें परिणत होते हुए भी वह अविकृत है। जगत् सत् है—मिथ्या नहीं।

जीव ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु और जीव अणु है। दोनोंमें सजातीय या विजातीय भेद नहीं है। फिर भी स्वगतभेद है। जीव कार्य और ईश्वर कारण है। ब्रह्म पूर्ण और जीव खण्डित (अंश) है। दोनों ही स्वयंप्रकाश हैं।

दोनों चेतन और ज्ञानाश्रय हैं। जीव तीन प्रकारके हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। जिसकी संसारसे निवृत्ति नहीं हुई है, वह बद्ध है। देवता, मनुष्य, तिर्यग्, वनस्पति और अचरादि सभी बद्ध हैं। अविद्या जीवके बन्धनका कारण है। वह बीजाङ्कुरन्यायेन अनादि है। भक्ति या उपासनासे अविद्या-का नाश होता है। भक्तिमार्गमें त्रिवर्णका अधिकार है।

श्रीरामानुजके मतानुसार भगवान्‌का कैङ्कर्य मिलना ही मुक्ति है। प्राकृत देहके छूट जानेपर अप्राकृत देहसे नारायणके समान उपभोग करना ही मुक्ति है। वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला देवियोंके साथ नारायणकी सेवा करना ही परम पुरुषार्थ है। जीव स्वभावतः नित्य है। जीव नित्य दास है—वह नित्य अणु है। वह अणु है—अतएव विभु कभी नहीं हो सकता। मुक्त जीव अपने प्रयोजनवश ही नित्य नैमित्तिक भगवान्‌की आज्ञाका कैङ्कर्य साधन करता हुआ देहावसानके समय पुण्य और पाप, मित्र और शत्रु—सभीको समर्पण कर देता है।

हाँ, एक बात और है। रामानुज योगशास्त्रपर भी चर्चा करना नहीं भूले हैं। मुक्तिद्वारभूत सुषुम्ना नामकी हृदय-नाड़ीमें प्रविष्ट होकर जीव ब्रह्मरन्ध्र नाड़ीसे उत्क्रमण करता है। हृदयस्थित देवताओंके साथ वह सूर्य-किरणके द्वारा अग्निलोकमें प्रवेश करता है। रास्तेमें दिन, पूर्वपक्ष, (कृष्ण-शुक्ल) उत्तरायण और संवत्सर प्रभृति अभिमानी देवताओंके द्वारा सत्कृत होकर सूर्यमण्डलका भेद करता है। तत्पश्चात् चन्द्र, विद्युत्, वरुण और इन्द्रादि लोकोंका अतिक्रमण करता हुआ वैकुण्ठ-सीमा-परिच्छेदक 'विरजा' उत्तीर्ण होता है। यहाँ आनेपर सूक्ष्म शरीर छूट जाता है। तब मानवीय स्पर्श नहीं रह जाता। वहाँ दिव्य—अप्राकृत देह प्राप्त होती है। चतुर्भुज होकर ब्रह्मालङ्कारोंसे अलङ्कृत इन्द्र और प्रजापति नामके द्वारपालोंकी अनुमतिसे वह वैकुण्ठनगरमें उपनीत होता है। वहाँ पहुँचकर गरुड़ और अनन्तयुक्त ध्वजाओंसे अलङ्कृत—दधि-प्रासादवेष्टित गोलोकमें वह प्रवेश करता है। वहाँ 'ऐरम्मद' नामक सरोवर और 'सोम-सवन' नामक अश्वत्थ वृक्षके दर्शनके उपरान्त अप्सराओंसे अभिनन्दित होता है। अनन्त, गरुड़ और विष्वक्सेन प्रभृतिको प्रणाम करनेके पश्चात् अपने आचार्यगणको प्रणाम करता है। उसके बाद पर्यङ्कके समीप पहुँचाया जाता है। उसी पर्यङ्कपर—धर्म्यादि पीठकमलके ऊपर नानाभरणाभूषित, अपरिमित उदार, कल्याण-गुण-गण-सागर, श्री, भू, लीलासेवित भगवान् विराजमान हैं।

श्रीशङ्करके मतानुसार उत्क्रान्ति-गति-वर्जित ब्रह्मस्वरूपता ही मुक्ति है। अविद्याका अस्त होना ही मोक्ष है। शङ्कर जीवन्मुक्तिको स्वीकार करते हैं। उनके मतसे मुक्ति क्रिया-साध्य नहीं—आत्मा नित्य मुक्त है। केवल अज्ञानका नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूपमें प्रकाशित होता है। मुक्ति आप्य है—संस्कार्य, उत्पाद्य या विकार्य नहीं।

उन्होंने सबल युक्तियोंसे जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन किया है; परंतु रामानुजने उसका खण्डन किया है। उनका मत है कि मुक्तावस्थामें भी जीव ब्रह्मका दास ही है; क्योंकि एक ईश है, दूसरा अनीश। एक असीम है—दूसरा ससीम। एक प्राज्ञ है—दूसरा अज्ञ। जिस प्रकार स्फुलिङ्ग (चिनगारी) अग्निका अंश है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्मका अंश है। अतएव जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव या विशेषण-विशेष्य-भाव है।

रामानुजका 'तत्त्वमसि' भी इस प्रसङ्गमें उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य जीव और ब्रह्मका अभिन्नताबोधक नहीं है; किंतु आचार्य शङ्करके मतानुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य सामानाधिकरण्यके बलसे निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्यपर है। रामानुजने सामानाधिकरण्यको स्वीकार किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि 'तत्' और 'त्वम्' सविशेष ब्रह्मपरक है। 'त्वम्' पदार्थका साधारणतः जीवको ही प्रतीक

माना जाता है। पर 'विशिष्टाद्वैत' में 'त्वम्'का अर्थ है विशिष्ट जीव—शरीरवाला ब्रह्म। 'तत्' पदसे सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्प और जगत्कारण ईश्वरसे ही अभिप्राय है। साथ ही विशेषण-विशेष्य-भावापन्न 'त्वम्' पद भी जडसहकृत जीव-शरीरधारी ब्रह्मका ही बोधक है। कारण, विभिन्न पदार्थोंकी एकार्थबोधकता ही सामानाधिकरण्य है। 'तत्' और 'त्वम्'—पदोंमें यदि प्रकार-गत भेद स्वीकार न किया जाय, तब तो शब्द-व्यवहारमें जो प्रधान कारण है, वह प्रवृत्ति-निमित्तमें प्रभेद न रहनेसे दोनों ही पदोंका सामानाधिकरण्य छोड़ना होगा। पक्षान्तरमें दोनों पदोंका मुख्यार्थ बाधित होनेके कारण गौणार्थकी भी लक्षणा या कल्पना करनी पड़ेगी; किंतु मुख्यार्थ सम्भव हो तो लक्षणा दोषावह हो जाती है।

आचार्य रामानुजने शङ्कराचार्यके—'सोऽयं देवदत्तः'—वह देवदत्त यही है—का इस प्रकार खण्डन किया है। कहा है कि यहाँ लक्षणा करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं। कारण, एक ही देवदत्तमें अतीत और वर्तमानकालकी प्रतीति-में कुछ भी विरोध नहीं है। भिन्न देशोंमें अवस्थितिसे भी ऐक्य-प्रतीतिमें बाधा नहीं पड़ती। कारण, एक ही व्यक्ति विभिन्न समयमें—विभिन्न स्थानमें बिना किसी बाधाके रह सकता है। विशेषतः 'तत्' शब्दका निर्विशेषत्व-अर्थ ग्रहण कर लेनेपर जिस उपक्रममें 'तदैच्छत्, बहु स्याम्' श्रुतिमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके साथ भी विरोध घटित होता है। यहाँ-तक कि 'एकविज्ञाने सर्वविज्ञानम्'-जैसी प्रतिज्ञा भी नहीं टिक सकती। अतएव रामानुजके मतसे 'तत्' और 'त्वम्' इन पदोंसे जीव जिसका शरीर है और जो जगत्का कारण है, उसीका बोध होता है।

परंतु आचार्य शङ्करका कहना है कि 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् यह वही देवदत्त है—ऐसा कहनेपर लक्षणाके बिना तो इस वाक्यका अर्थ ही नहीं सङ्गत होता। कारण, 'तत्' शब्दका साधारण अर्थ अतीतकालीन इन्द्रियोंका अगोचर कोई पदार्थ है और 'अयम्' शब्दका अर्थ वर्तमान और नेत्रादि इन्द्रियोंका ग्राह्य पदार्थ है। जो इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य और अतीत है, वही फिर इन्द्रियग्राह्य और वर्तमान किस तरह रह सकता है? फलतः एक ही पदार्थ, एक ही समयमें कभी अतीत और कभी वर्तमान रह ही नहीं सकता।

अतएव 'सः अयम्' वाक्योक्त सामानाधिकरण्यमें विरोध पड़ता है। अथ च 'सः' और 'अयम्' पदोंका मुख्य अर्थ परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि विशेष-विशेष धर्मोंको छोड़कर केवल देवदत्तरूपी एकमात्र विशेष्यरूप अर्थमें लक्षणा करनी पड़ती है। अतएव 'तत्त्वमसि' वाक्यमें भी उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदोंके विरोधी अंशोंको छोड़कर केवल एक निर्विशेष चैतन्य आत्मामें लक्षणा करनेसे ही विरोधका परिहार हो सकता है।

जीव-पक्षमें ईश्वरकी शरणागति और ईश्वर-पक्षमें जीवके प्रति 'अहैतुकी' कृपा है—ये श्रीरामानुजके दर्शनमें दो सबसे बड़ी खूबियाँ हैं। जीवके शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य—ये तीन भेद हैं। शुद्धसत्त्वमें रजोगुण और तमोगुणका लेश भी नहीं रहता। मिश्रसत्त्व रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित रहता है और यही सृष्टिका उपादानकारण है। सत्त्वशून्य तत्त्वको ही 'काल' कहते हैं।

न्यासविद्या रामानुजके शब्दमें प्रपत्ति है। आनुकूल्यका सङ्कल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन ही प्रपत्ति है। संक्षेपमें भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना ही प्रपत्ति है। उनके 'गद्यत्रय' में इसपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। साथ ही इसमें शरणापत्तिके विषय भी प्रतिपादित हुए हैं। आत्मनिवेदनका भाव इसमें सर्वत्र परिस्फुटित—ओतप्रोत है। श्रीरामानुजकी भक्तिमें भावुकता अधिक है।

शङ्करके मतानुसार मायावादकी प्रधानता सर्वोपरि है। रामानुजके मतानुसार शङ्करकी माया या अविद्या एक कल्पना-मात्र है और यह कल्पना सात प्रकारसे अनुपपन्न की गयी है। शङ्करके मतानुसार अविद्या सत् भी हो सकती है। कारण, सत्पदार्थकी कोई भी बाधा नहीं हो सकती; किंतु अविद्या या अज्ञानकी बाधा ज्ञानोदय है। अतएव अविद्याको सत् (Existing) क्योंकर कहा जा सकता है?

फिर भी अविद्याको असत् कैसे कहा जाय? कारण, असत् वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे—आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र और शशक-शृङ्ग। विशेषतः जिसका अस्तित्व था ही नहीं, उसकी बाधा कैसी? जिसकी सत्ता है, अवस्था-भेदसे उसकी बाधा हो सकती है। अविद्याकी जब प्रतीति होती है, तब वह नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्रीरामानुजने शङ्कराचार्यके अनिर्वचनीयतावादका खण्डन किया है। श्रीशङ्करके मतसे सदसद्-विलक्षण होनेके कारण ही माया अनिर्वचनीय है। कारण, सीपमें चाँदीका भ्रम होता है और वहाँ सचमुच ही चाँदीकी तत्काल सृष्टि हो जाती है। शुक्ति-अविच्छिन्न जो चैतन्य है, वही चैतन्यनिष्ठ है और जो

अज्ञान है, वही अज्ञान रजतका उपादान और शुक्ति उसका अधिष्ठान या आश्रय है। यह रजत 'प्रातिभासिक' और अनिर्वचनीय है।

इसपर श्रीरामानुजका तर्क है कि अनिर्वचनीयता युक्तियुक्त नहीं हो सकती। कारण, एक वस्तुकी अन्य आकारमें प्रतीति ही भ्रम है। इस प्रकारका भ्रम तो अनिर्वचनीयतावादियोंको भी मानना पड़ेगा। शुक्तिमें उत्पन्न प्रतीतिको, जो इस तरहका भ्रम स्वीकार कर लिया जायगा—जब कि पूर्वोक्त प्रतीति, प्रवृत्ति और बाध-व्यवहारादि सङ्गत हो सकते हैं—तो अनुभवविरुद्ध और प्रत्यक्षादिके प्रमाणोंसे अग्राह्य अनिर्वचनीयताको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? विशेषतः वह रजत, जो अनिर्वचनीय है, लोकप्रसिद्ध रजतसे सर्वथा भिन्न है, ऐसा तो कोई भी दर्शक उस समय अनुभव नहीं कर पाता। यदि ऐसी अनुभूति हो सकती तो यह भ्रम ही किस प्रकार हो सकता था? अथ च कहना पड़ता है कि वास्तवमें सीप ही मिथ्या चाँदीके रूपमें प्रकाशित होती है। अतएव अनिर्वचनीयतावाद अयौक्तिक और अश्रौत है।

साथ ही श्रीरामानुजने इस प्रकरणमें असत् ख्याति—माध्यमिक बौद्धोंकी, आत्मख्याति—योगाचार बौद्धोंकी, अख्याति—प्रभाकरनामक पूर्वमीमांसककी, अन्यथाख्याति नैयायिकोंकी—का खण्डन किया है। उनके मतमें निर्विकल्पक ज्ञान न्याय, शाङ्करमत, सांख्य और पातञ्जल मतसे पृथक् है। न्यायके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान विशेष्य-विशेषण-भावरहित वस्तु-स्वरूपमात्र ज्ञान है। शङ्करका मत भी प्रायः वैसा ही है। पातञ्जलकी असम्प्रज्ञात समाधिमें निरवलम्ब स्वरूपमात्रनिष्ठ ज्ञानका उदय होता है; परंतु रामानुजके मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञानका आश्रित है। निर्विकल्पक विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो ही नहीं सकता।

नाथ-भागवत

(लेखक—श्रीवि० हर्षे एम्० ए०, 'साहित्य-विशारद')

संतशिरोमणि एकनाथजीका लिखा हुआ 'नाथ-भागवत' मराठीके धार्मिक साहित्यका एक अमर ग्रन्थ-रत्न है। यह श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धकी एक विस्तृत टीकाके रूपमें है। श्रीमद्भागवतके प्रथम दस स्कन्धोंतक चला आता हुआ कथा-सूत्र एकादश स्कन्धमें लुप्त-सा हो जाता है। इस स्कन्धमें केवल अध्यात्म-चर्चाको ही स्थान दिया गया है। इसमें परमार्थके विविध अङ्गोपाङ्गोंका जो विस्तृत विवरण है, कदाचित् उसीके कारण श्रीएकनाथजीकी अध्यात्म-प्रवण बुद्धिको इस स्कन्धमें अनुपम माधुरी दीख पड़ी होगी और सम्भवतः इसीलिये अपने प्रवचनके लिये उन्होंने इस स्कन्धका चुनाव किया होगा। इसमें कुल ३२ अध्याय हैं। इन अध्यायोंके प्रत्येक श्लोकपर श्रीएकनाथजीने मराठीमें विस्तृत टीका लिखी है। टीका पद्यबद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थकी छन्द-संख्या १८००० के ऊपर है। इसीसे ग्रन्थ-विस्तारकी कल्पना की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि इस ग्रन्थमें कई छन्द ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ पूर्णरूपसे समझने-समझानेके लिये विवेचनात्मक व्याख्याकी आवश्यकता पड़ जाती है। अतः अर्थबोधकी दृष्टिसे ग्रन्थका विस्तार और भी अधिक हो जाता है। इस द्विविध विस्तार और भाषाकी क्लिष्टताके कारण सहस्रों अध्यात्मप्रेमी इस ग्रन्थकी माधुरीका आस्वाद नहीं ले सकते। इसीलिये नाथ-भागवतका सारांश एक लेख-मालामें देनेका विचार है। यद्यपि ऐसी इच्छा करना बौनेका आकाश छूना है; और जिस ग्रन्थको समझनेके लिये विस्तृत टीकाकी आवश्यकता है, उसीको संक्षिप्त करके छोटा बनाना उल्टी गङ्गा बहाना है, तथापि जिस प्रकार परम पावनी श्रीगङ्गाजीका थोड़ा-सा भी जल समस्त पाप-ताप-नाशनमें समर्थ है, उसी प्रकार नाथ-भागवतका सारांश भी परम कल्याणमय होगा।

अपनी टीकामें श्रीएकनाथजीने संस्कृत-श्लोकोंका केवल अनुवाद ही नहीं किया है। कुछका अनुवाद, कुछका विस्तार और कई स्थानोंपर परिवर्तन भी किया है। जहाँ मूल श्लोकोंका केवल अनुवाद है, उन स्थानोंपर प्रस्तुत लेख-मालामें विशेष प्रकाश नहीं डाला जायगा, क्योंकि उन्हें तो हिंदी-टीकाद्वारा हिंदी-भाषी जान सकते हैं; किंतु श्रीएकनाथजीने जिन आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका वैशिष्ट्यपूर्ण प्रतिपादन किया है तथा जिन सिद्धान्तोंको उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्तोंद्वारा हृदयङ्गम करनेके योग्य बना दिया है, उन्हीं सिद्धान्तोंका यहाँपर संक्षेपमें सारांश दिया गया है। आज इस प्रथम लेखमें एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायोंकी चर्चा की जाती है।

एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायोंका मुख्य विषय नारदकथित 'जनक और नौ ऋषियोंका संवाद' है। एक बार महामुनि नारदजी भगवान् श्रीकृष्णके पिता वसुदेवजीके यहाँ

गये। वसुदेवजीने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। उनकी पूजा करनेके बाद वसुदेवजीने उनसे प्रार्थना की, 'हे मुनीश्वर ! जिन धर्मोंके आचरणका सहारा लेकर मनुष्य समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है, उन धर्मोंका उपदेश आप हमें कीजिये।' वसुदेवजीके इस प्रश्नका साङ्गोपाङ्ग उत्तर देनेके उद्देश्यसे नारदजीने उन्हें उस संवादका वृत्तान्त सुनाया जो राजा जनकका नौ ऋषियोंके साथ एक यज्ञ-सत्रमें हुआ था। इस संवादमें राजा जनकने उन नौ ऋषियोंसे अध्यात्मविषयक नौ प्रश्न पूछे थे, जिनके उत्तर ऋषियोंने दिये थे। इन प्रश्नोत्तरोंमें एक प्रकारसे समस्त अध्यात्म-शास्त्रका सार आ जाता है। इसीलिये श्रीएकनाथजीने समूचे एकादश स्कन्धमें इस पञ्चाध्यायीको परमोच्च स्थान दिया है। उनका कहना है कि ये पाँच अध्याय ही एकादश स्कन्धके पञ्च-प्राण हैं, और भगवद्भक्तोंको उपदेशामृत पिलानेके लिये ही इनका आविर्भाव हुआ है। एकादश स्कन्धरूपी सुहावनी वसंत ऋतुमें यह पञ्चाध्यायी कोयलका मधुर पञ्चम स्वर है और पाठकगण अलिकुलके समान हैं। इस प्रकारके काव्यात्मक वर्णनके अनन्तर श्रीएकनाथजी कहते हैं कि जो इस जनक-नौ ऋषि-संवादका अध्ययन करके उसका रहस्य समझ लेगा, उसका अन्तःकरण विशुद्ध हो जायगा, उसका जीव-ईश्वर-भेद नष्ट हो जायगा एवं आत्मज्ञानके प्रकाशसे वह आनन्दमय परब्रह्मस्वरूप बन जायगा। इस दृष्टिसे श्रीएकनाथजीने इन पाँच अध्यायोंका सावधान चित्तसे अध्ययन करनेका आदेश किया है।

राजा जनकने नौ ऋषियोंसे निम्नाङ्कित नौ प्रश्न पूछे थे।

१. भागवत-धर्म कौन-सा है ?
२. भागवतोंके लक्षण क्या हैं ?
३. माया क्या है ?
४. मायासे छूटनेका क्या उपाय है ?
५. ब्रह्म क्या है ?
६. कर्मयोग क्या है ?
७. परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं ?
८. अभक्तोंकी गति कौन-सी है ?
९. किस युगमें, किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये।

मूल भागवतके एकादश स्कन्धमें इन प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

प्रश्न १—भागवत-धर्म कौन-सा है ?

इस प्रश्नका उत्तर उन नौ ऋषियोंमेंसे 'कवि'नामक ऋषिने इस प्रकार दिया—

जिस धर्मके आचरणसे मायाग्रसित मनुष्यको आत्मज्ञान हो जाता है, वही भागवत-धर्म है। इस धर्मके सहारे आँखें बंद करके भी चलनेसे मनुष्यका पतन नहीं होता। मायाके कारण द्वन्द्वाभासकी उत्पत्ति होती है। इस मायाको लाँघकर निर्द्वन्द्व स्थितिमें पहुँचनेके लिये ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करना तथा ईश्वर-भक्ति करना ही भागवत-धर्मका आचरण करना है। भक्तिसे ईश्वर-प्रीति बढ़ती है एवं पञ्चमहाभूतात्मक इस विश्वमें ईश्वरका रूप प्रकट होता है। भक्तिकी परिपक्व दशामें साधकको भक्ति-ज्ञान-वैराग्य एक साथ ही प्राप्त होते हैं। अन्तमें ईश्वर और भक्त एकरूप हो जाते हैं। यह भागवत-धर्मका स्वरूप है।

प्रश्न २—भागवतोंके लक्षण क्या हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर द्वितीय ऋषि 'हरि'ने इस प्रकार दिया—

जो भक्त जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा, अहंभाव आदि मायोत्पादित विकारोंसे पूर्णतया मुक्त है, जो सारे कर्म निष्काम बुद्धिसे करता है, जो सर्वत्र परमेश्वरका स्वरूप देखता है एवं जो विषयभोगोंसे अलिप्त है वह भागवतोत्तम कहलाता है। उसमें देहात्मबुद्धि नहीं रहती। उसका जाति-वर्ण-वैभव-ज्ञान आदिका अभिमान नष्ट हो जाता है। त्रिभुवनकी सम्पत्तिके लिये भी उसका चित्त भगवत्स्मरणसे विचलित नहीं होता। परम भक्तिरूपी रज्जुसे वह ईश्वरको बाँध लेता है। परमेश्वरकी पादकिरणोंकी चन्द्रिकासे उसके काम-क्रोधादि सब तम-ताप नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न ३—माया क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि अन्तरिक्षने इस प्रकार दिया—

अव्यक्त परब्रह्मसे पञ्चमहाभूत, पञ्चधातु, त्रिगुण आदि-की और इनसे दृश्य-जगत्‌की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् आत्माभिमानके कारण काम्य-कर्म करनेवाला जीव जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है। यही माया है। इसी प्रकार यह दृश्य, साकार सगुण जगत् विपरीत क्रमसे पुनः अव्यक्त परब्रह्ममें विलीन हो जाता है। ब्रह्माण्डकी इन अवस्थाओंकी कारणभूत शक्ति ही माया है।

प्रश्न ४—मायासे छूटनेके क्या उपाय हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर प्रबुद्ध ऋषिने इस प्रकार दिया—

जो मायाके ऊपर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने मनमें गृह, अपत्य, पशु आदि ऐहिक विषयोंके प्रति अनासक्ति उत्पन्न करनी चाहिये। उसके बाद उसे

शाब्दिक ज्ञान एवं स्वसंवेद्य विज्ञानमें निष्णात सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये और उनसे भागवत-धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय आदि यम-नियमोंसे अपना अन्तःकरण शुद्ध कर लेना चाहिये । इसके पश्चात् समस्त कर्मोंको ईश्वरार्पण करना, ईश्वरके प्रति अनन्य प्रीति, ईश्वर-भक्ति तथा आत्मानुभूति आदिके द्वारा सर्वत्र ईश्वरके रूपका साक्षात्कार करना चाहिये । इस प्रकार साधक सहजमें ही मायासे मुक्त हो सकता है ।

प्रश्न ५—ब्रह्म क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि पिप्पलायनने इस प्रकार दिया—

जो स्थिति, उद्भव और प्रलयका कारण है, जो मन-बुद्धि आदि इन्द्रियोंसे परे है, जो वाणीका विषय नहीं हो सकता, जो प्राणका भी आधार है एवं जो जन्म-मरण आदि विकारोंसे अलिप्त रहता है, वह ब्रह्म है तथा वही सबका मूल-तत्त्व है । वह सबमें है और सब उसमें हैं ।

प्रश्न ६—कर्मयोग क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि आविर्होत्रने इस प्रकार दिया—

निःसङ्ग होकर तथा कर्मफलकी इच्छा न करते हुए वेदोक्त कर्म करना कर्मयोग है । वेदोक्त कर्मका त्याग करना दोषाई है । अतः ईश्वरप्राप्तिके लिये उसकी विधिपूर्वक अर्चा करके तथा ध्येयमूर्तिसे तदाकार होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये । इसे नैष्कर्म्य कहते हैं और यही कर्मयोग है ।

प्रश्न ७—परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर मुनि द्रुमिलने इस प्रकार दिया—

परमेश्वरके गुणकर्मोंकी गणना करना धूलिकणोंकी गणना करनेके समान असम्भव है । तो भी यह कहा जा सकता है कि ईश्वरने इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि रजोगुणसे की । उसकी रक्षा वह सत्त्वगुणसे करता है और उसका नाश तमोगुणसे करता है । ईश्वरके प्रथमावतारोंमें मुनि नारायणकी गणना की जाती है । इन्द्रप्रेषित अप्सराओंके मोह-जालमें न फँसकर उन्होंने अपने वैराग्यकी रक्षा की । उसके बाद हंसावतारमें ईश्वरने आत्मज्ञानका उपदेश किया । तत्पश्चात् मत्स्य, कूर्म, वामन आदि अवतार हुए । उनमें श्रीरामचन्द्रजीका अवतार मुख्य है । इस समय श्रीकृष्णावतार चल रहा है ।

प्रश्न ८—अभक्तोंकी गति कौन-सी है ?

इस प्रश्नका उत्तर मुनि चमसने इस प्रकार दिया—

जो परमेश्वरको सबका कर्ता नहीं मानते, जो ज्ञानाभिमानके कारण ईश्वर-सेवासे विमुख रहते हैं तथा जो स्त्रैण एवं कामी हैं, वे अभक्त कहलाते हैं । ज्ञान, विभूति, त्याग आदिमें अपनेसे जो श्रेष्ठ हैं, उन भगवद्भक्तोंकी वे अभक्त अवहेलना करते हैं । वे विषयोंका उपभोग करनेमें धार्मिक बन्धनोंका उल्लङ्घन किया करते हैं । इस प्रकार धर्मसे विमुख होनेके कारण उन्हें मानसिक शान्ति कभी नहीं मिलती । धीरे-धीरे ऐहिक सुखभोगोंसे भी वे वञ्चित हो जाते हैं । अन्तमें मायारूपी अन्धकारमें वे सदाके लिये डूब जाते हैं ।

प्रश्न ९—किस युगमें, किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि करभाजनने इस प्रकार दिया—

कृतयुगके निर्वैर, शान्त, वल्कलधारी, श्वेतवर्णमय ईश्वरको हंस, सुपर्ण आदि नामोंसे पुकारते हैं तथा शम, दम आदि तपसे उसका अर्चन करते हैं । त्रेतायुगके सर्वत्र ईश्वरका स्वरूप देखनेवाले, ब्रह्मवादी, स्रुक्-स्रुवा धारण करनेवाले, रक्तवर्ण परमेश्वरको विष्णुयज्ञ आदि नामोंसे पहचानते हैं और विद्याके द्वारा उसका अर्चन करते हैं । द्वापरयुगके जिज्ञासु, मर्त्यनिवासी, श्रीवत्सलाञ्छनधारी, पीतवसन, श्यामवर्ण ईश्वरको नारायण, पुरुष आदि नामोंसे जानते हैं तथा वेदमन्त्रोंसे उसका अर्चन करते हैं । कलियुगमें बुद्धिमान् मनुष्य कृष्णवर्ण श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामचन्द्रजीको नाम-सङ्कीर्तनद्वारा पूजते हैं । कलियुगमें नाम-सङ्कीर्तन ही एकमात्र पर्याप्त साधन है । यही कारण है कि अन्य युगवाले जीव कलियुगमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं ।

एकादश स्कन्धके मूल पञ्चाध्यायीका संक्षेपमें यही सारांश है । अब उसीकी श्रीएकनाथजीकृत मराठी टीका 'नाथ-भागवत' की व्याख्या देखिये ।

ग्रन्थके आरम्भमें श्रीएकनाथजीने गणेश प्रभृति देव, सद्गुरु, पूर्ववर्ती साहित्याचार्य एवं अपने पूज्य पूर्वज आदिको नमन किया है । इसके पश्चात् उन्होंने उस घटनाका वर्णन किया, जिसके कारण वे ग्रन्थ-रचनाके लिये उद्यत हुए । उन्होंने लिखा है—'एक बार साधुवृन्दने मुझसे कहा कि पुराणोंमें भागवत सबसे श्रेष्ठ है । उसमें भी श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद तो बहुत ही मनोहर है । उस कथाको हमें सुनाओ । हमें हरि-कथा-श्रवणकी चाह तो पहलेसे ही थी । अब तेरे-जैसा रसिक वक्ता मिल गया तो मानो दूधमें शक्कर मिल गयी । संतोंके इन कृपापूर्ण वचनोंको सुनते ही मैं फूला नहीं समाया और उसी प्रकार हर्षित हुआ जिस प्रकार मेघ-

गर्जनसे मयूर अथवा चन्द्रमाको देखकर चकोर हर्षित होता है। योग्य न होते हुए भी मैंने संतोंके प्रोत्साहन एवं सद्गुरु पूज्यपाद श्रीजनार्दन स्वामीजीकी कृपासे ग्रन्थ आरम्भ कर दिया, जो भगवत्कृपासे पूरा भी हो गया।'

श्रीएकनाथजीने इस प्रकारकी विनययुक्त भूमिका लिखी है। इसके पश्चात् उन्होंने भाषाके प्रश्नको उठाया है। आध्यात्मिक ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें करना तत्कालीन विचारधाराके सर्वथा विरुद्ध था; किंतु उन्होंने इसका खण्डन करके प्राकृत भाषाका सबल समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है, 'संस्कृतमें ग्रन्थ-रचना करनेवाले यदि महाकवि बन सकते हैं तो प्राकृत-भाषामें कविता करनेवाले महाकवि क्यों नहीं हो सकते? स्वर्णका पुष्प नया हो या पुराना, उसके मूल्यमें अन्तर नहीं पड़ सकता। कपिला धेनुका दूध 'दूध' कहलायेगा और दूसरी गायोंका दूध क्या 'पानी' कहलायगा? जो तत्त्वज्ञान संस्कृतमें लिखनेसे पवित्र रहता है, वह दूसरी भाषामें लिखनेसे अपवित्र कैसे हो जायगा? प्राकृत भाषाओंमें प्रादेशिक रूपके कारण शब्दों या पदोंमें भले ही कुछ अन्तर हो जाय; किंतु इस भाषा-भेदके कारण राम-कृष्ण आदि परम पावन विभूतियोंमें तो अन्तर नहीं पड़ सकता? हरि-कथा किसी भी भाषामें हो, वह परम पावन होगी। हरि-कथाके लिये जिस किसी भाषाका उपयोग किया जायगा, वह संस्कृत हो या अन्य कोई भाषा, उसी भाषाके साधनसे सत्यके आविष्कारका कार्य ही होगा।

इतनी प्रस्तावनाके बाद श्रीएकनाथजीने प्रथम अध्यायमें साम्बका स्त्रीवेष, ऋषियोंका शाप, यादवकुलका नाश एवं श्रीकृष्ण-निर्याण आदि घटनाओंका वर्णन किया है। तत्पश्चात् लोकोद्धारके लिये अपनी कीर्ति जगत्में रखकर श्रीकृष्णके स्वधाम पधारनेके अनन्तर प्रथम अध्याय समाप्त होता है। मुख्य विषयका प्रारम्भ द्वितीय अध्यायसे होता है। दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक श्रीएकनाथजीने जनक-नौ ऋषि-संवादके प्रश्नोत्तरोंका सविस्तर विवेचन किया है। प्रथम पाँच अध्यायोंका महत्त्वपूर्ण विषय भी यही है। उन नौ प्रश्नोत्तरोंपर श्रीएकनाथजीकी टीकाका सारांश आगे दिया जाता है।

प्रश्न १—भागवत-धर्म कौन-सा है?

भागवत-धर्मकी व्याख्यामें श्रीएकनाथजीने सामान्य मानवकी द्वन्द्वस्थितिसे मुक्त पुरुषकी निर्द्वन्द्व अवस्थातक शास्त्रोक्त धर्मोंके आचरणसे जो उत्क्रान्ति होती है, उसका विस्तृत वर्णन किया है। उनका कहना है कि जो देहमें आत्म-बुद्धि रखता है, उसे सुख कभी नहीं मिल सकता। वह सदा आधि-व्याधिके महार्णवमें डूबा रहेगा। दुःखसागरसे पार होनेका प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको विषयलोलुप इन्द्रियों-का दमन करते ही बीतता है। मनके लिये विषयोंका आकर्षण इतना प्रबल है कि उसको वशमें रखना कठिन हो जाता है। आध्यात्मिक साधनामें विषय-सुखोंकी इच्छा सदा बाधक होती है। इन मायिक विषयोंपर विजय प्राप्त करके आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये यदि कोई मार्ग है तो वह ईश्वरभजन है। माया भी ईश्वरीय शक्ति है, अतः उसे जीतनेके लिये ईश्वरकी कृपा आवश्यक है। इस भव-भयनाशक भगवद्भजनका रहस्य समझनेके लिये सद्गुरुकी कृपा चाहिये, क्योंकि भक्तिभण्डार-की कुंजी उन्हीं सद्गुरुके पास ही है। सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होनेपर विषयोंका चिन्तन करनेवाला चञ्चल मन अपनी चञ्चलता खो बैठता है। इस अवस्थामें मन जिन-जिन विषयोंका ध्यान करता है, वे विषय ही भगवद्रूप हो जाते हैं। तब साधकके सब कर्म निष्काम और मोक्षप्रद हो जाते हैं; किंतु जबतक इस प्रकारकी सद्गुरु-कृपा न प्राप्त हो जाय, तबतक भक्तिके मार्गोंका ही अनुसरण करना चाहिये।

श्रीएकनाथजी कहते हैं कि भगवद्भजन अपनी सभी इन्द्रियोंके द्वारा होना चाहिये। मनसे भगवान्का चिन्तन करना, कानोंसे हरि-कथा सुनना, जिह्वासे अहर्निश हरि-कीर्तन करना, हाथोंसे हरि-पूजन करना, पैरोंसे तीर्थ एवं हरि-मन्दिरोंमें जाना तथा नासिकासे भगवत्-निर्माल्यकी सुगन्ध लेना आदि उपायोंसे हरि-कृपा प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकारकी भक्तिसे अन्तःकरणमें प्रभु-प्रीति बढ़ती है। हरि-कथाका मननयुक्त श्रवण करनेसे मनमें अनुपम शान्तिका सञ्चार होता है और लोक-लाज छोड़कर भगवद्भक्त कीर्तनानन्दमें बेसुध होकर नाचने लगता है। हरि-नामकी परम पावन और मधुर ध्वनिमें निरभिमान होकर वह तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार बढ़ते हुए पुण्यके प्रभावसे वह सद्गुरु-की कृपाका अधिकारी हो जाता है। इसके अनन्तर जब वह आत्मज्ञानके भव्य प्राङ्गणमें प्रवेश करता है, तब उसे वहाँ जीव-ईश्वर-सम्मिलन दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार बहुत दिनोंसे खोया हुआ बालक अपनी माताको देखते ही उससे चिपककर सिसकने लगता है, उसी प्रकार चिर-विरही जीवका ईश्वरके साथ सम्मिलन देखकर भक्तकी आँखोंसे हर्ष-की अश्रुधारा बहने लगती है। परमात्माके आलिङ्गनसे भक्त-को रोमाञ्च हो जाता है। जिस भक्तिके साधनसे उसे इस अनुपम सुखकी प्रत्यक्षानुभूति मिली, उस भक्तिकी वह मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करता है। उस समय वह समदृष्टि हो जाता है और हैतुक अथवा अहैतुक सभी कर्म भगवान्को अर्पण कर देता है। जिस प्रकार सतरंजकी गोटें राजा, हाथी, ऊँट, प्यादे सब काष्ठ-ही-काष्ठ हैं, उसी प्रकार भगवद्भक्तके सब संकल्प-विकल्प भी भगवद्रूप बन जाते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और

सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें उसका परमात्मानुसन्धान नहीं छूटता। जैसे घरमें दीपक जलानेसे उसका प्रकाश गवाक्ष-द्वारोंसे सभी ओर फैलता है, वैसे ही जब हृदयमें परम ज्योति प्रकाशमान होती है तब उसका प्रकाश भगवद्भक्तकी सभी इन्द्रियोंमें प्रतीत होता है। वह समझ जाता है कि जिसके कारण पुष्पको पुष्पत्व प्राप्त हुआ, उसीके कारण उस पुष्पमें सुगन्ध आयी और तब घ्रेय, घ्राता एवं घ्राण आदि त्रिपुटी-का नाश हो जाता है। सब कर्मोंका ब्रह्मार्पण होनेसे भागवतों-के सब बन्धन छूट जाते हैं। उसकी बुद्धि आत्मरूप चिन्तन-में निरवधि निमग्न रहनेके योग्य हो जाती है। उसकी लीला ईश्वरकी महापूजा है और उसके निरर्थक शब्द भी ईश्वरकी स्तुति हैं। आत्मस्वरूपके चिन्तनसे ऐसे भक्तोंके हृदयमें प्रतिक्षण आनन्दकी लहरें उठती हैं। जिस प्रकार बीजरूपसे एक होते हुए भी वटवृक्षकी लटकती सोरोंसे दूसरे वटवृक्ष बन जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि मूल-चैतन्यसे ही सरितारूप अनेक धाराएँ निकलती हैं तथापि वे सब भी चैतन्यरूप ही हैं। जिस प्रकार चन्द्रबिम्बमें अमृत बिम्बरूपसे रहता है, उसी प्रकार इस नामरूपभासात्मक जगत्‌में सर्वव्याप्त ईश्वर-का रूप यह भक्त सभी जगह देखता है। जैसे लवण सागरमें एकरूप होकर रहता है, वैसे ही वह सर्वभूतनिवासी परमात्मा-से अभिन्न रूपसे रहता है। इस प्रकारकी निर्द्वन्द्व स्थिति जिसे प्राप्त हो गयी, उसे भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्राप्ति एक साथ ही मिल जाती है और वह 'जीवन्मुक्त' अभिधानका पात्र हो जाता है।

प्रश्न २—भागवतोंके क्या लक्षण हैं?

भागवतोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीएकनाथजीने विषय-विरक्ति, निरभिमानता, जगदीश्वरैक्यकी भावना एवं प्रीतियुक्त ईश्वरभक्ति—इन चारोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जिस प्रकार कल्पनाके सरोवरमें स्नान करनेवालेका अन्तर्बाह्य शुष्क ही रहता है, उसी प्रकार सब इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका उपभोग करते हुए भी भागवतके मनमें सुख-दुःखका उद्भव नहीं होता। विषयसुखोंकी क्षणभङ्गुरता वह अच्छी तरह जानता है; किंतु साथ-ही-साथ यह भी है कि यदि भागवत विषयोंका उपभोग करता है तो स्वयं विषय ही भगवद्रूप बन जाते हैं। उसकी दृष्टि पड़ते ही दृश्य-वस्तु नारायणरूप हो जाती है। कानोंमें पड़ते ही ध्वनि नारायणरूप हो जाती है। इस प्रकार भागवतके सब विषय नारायणरूप हो जानेसे उसे बाँधनेवाले नहीं होते। विषयोंसे आसक्ति हटते ही जीव और ईश्वरमें भेद दिखानेवाला देहाभिमान नष्ट होने लगता है। उसे यह प्रतीत होने लगता है कि जन्म-मरण तो देहकी उपाधि है। जिस प्रकार अपनी छायाको पालकीमें बिठाकर सुख पहुँचानेकी इच्छा कोई नहीं करता, उसी प्रकार देहके सम्मान या अपमानके विषयमें भागवत सर्वथा निरीह हो जाता है। उसकी देहमें अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है। वह समझता है कि स्वर्णको अँगूठीका आकार देनेसे स्वर्ण अँगूठीपनमें विलीन नहीं होता। देह-प्रेम नष्ट होनेसे भक्त ईश्वरसे प्रेम करने लगता है और फिर स्वयं भगवान् उस निरभिमान भक्तकी देख-भाल ऐसे करते हैं, जैसे मा अपने नन्हे बच्चेका सारा भार वहन करती है।

ऐसे भक्तको धीरे-धीरे भगवत्कृपासे निर्द्वन्द्व आत्मतत्त्वका बोध होने लगता है। वह अपनेको सभी भूतोंमें और सभी भूतोंको अपनेमें देखता है। क्षणमात्रके लिये भी वह आत्म-चिन्तनसे विलग नहीं होता। जैसे निशानाथके उदय होनेसे उनकी शीतल चन्द्रिकाके कारण किसी प्रकारका ताप नहीं रह जाता, वैसे ही हृदयाकाशमें परमात्मस्वरूपका उदय होनेसे कामादि ताप भक्तको नहीं सता सकते। इस प्रकारका भगवद्भक्त 'भागवतोत्तम' कहलानेका अधिकारी है। जो अनन्य-भावसे परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी प्रीतिमें भगवान् बँध जाते हैं। जो प्रेमोल्लासके साथ हरिनामकीर्तनमें मस्त रहता है, उसका सारा भार स्वयं भगवान् अपने सिरपर लेते हैं। भगवान् अत्यन्त करुणापूर्ण हैं। वे भक्तोंके प्रेममें बँध जाते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें जिसकी अनन्य भक्ति है, वही आध्यात्मिक उन्नतिके परमोच्च शिखरतक पहुँच सकता है। अतः वह धन्य है। इस प्रकारका भगवद्भक्त या भागवत सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न ३—माया क्या है?

मायाका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने कहा है कि मायाका वर्णन करना अनुत्पन्न बालककी श्राद्धविधि करनेके समान है, अथवा अश्वशृङ्गसे आकाशको चीरना है, या वन्ध्यापुत्रकी जन्मपत्रिका बनाना है, या मृगमरीचिकाका पान करके प्यास बुझाना है, या वायुको पीसकर आटा बनाना है, अथवा आकाश-कुसुमकी सुगन्ध या निर्गन्धके विषयमें तर्क करना है। ये सब जितने निरर्थक हैं, उतना ही निरर्थक मायाके स्वरूपकी चर्चा करना है, क्योंकि अस्तित्व न होते हुए भी वह भासमान होती है। इस प्रकार यद्यपि मायाका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं किया जा सकता तो भी उसकी कल्पना उपलक्षणोंसे की जा सकती है।

इतनी प्रस्तावनाके पश्चात् श्रीएकनाथजीने मायाका आभासकत्व, उसका स्वरूप और कार्य—इन तीनोंकी चर्चा की है। मायाके विषयमें उनका पहला सिद्धान्त यह है कि 'माया आभासात्मक है।' जिस प्रकार आकाशमें नीलिमा दृश्यमान होती है; किंतु खोजनेसे वहाँ तनिक भी नहीं मिलती,

उसी प्रकार सत्यरूप परब्रह्ममें मायाका आभास होता है। अथवा जिस प्रकार देहके साथ मिथ्या छाया रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मके साथ मिथ्या माया रहती है। मृगजलकी महानदी किस पर्वतसे निकली है—जैसे यह बताना असम्भव है वैसे ही मायाके उद्गमस्थानका पता लगाना असम्भव है। वह कल्पनाके सहारे बनाया हुआ एक आभासमात्र है। भ्रम मायाका मूल है और भ्रान्ति उसका फल है। यदि मायाको सत्य मानें तो उसका नाश होता है, अतः ऐसा कहना ठीक नहीं। यदि उसे असत्य कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भासमान होती है। इसलिये यही कहना उचित है कि अज्ञानावस्थामें उसका अस्तित्व है; किंतु ज्ञानावस्थामें उसका अस्तित्व नहीं है। दर्पणमें कोई प्रतिबिम्ब नहीं रहता, उसमें देखनेवाला अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है। इसी प्रकार अपने ही संकल्प-विकल्पोंसे उत्पन्न होनेवाली माया एक शक्ति है। शुद्ध ब्रह्ममें कोई विकल्प या द्वन्द्व नहीं है। फिर भी अहंकी जो भावना स्फुरित होती है, वही माया है।

मायाके स्वरूपके पश्चात् श्रीएकनाथजीने मायाके कार्यका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मायाके कारण निर्विकार आत्मतत्त्वकी विस्मृति हो जाती है। देह और मैं—इन दोनोंमें अभिन्नताका अभिमान पैदा हो जाता है। इसी अभिमानके मूलसे अखिल संसारकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी कारणभूता शक्ति माया ही है। इन्द्रियाँ और विषय—इन दोनोंमें चराचरव्यापी ईश्वर प्रकाशमान है, तो भी मायाके कारण ही देहात्मबुद्धिसे मनुष्य विषयोंका सेवन करता है। देहाभिमानसे इन्द्रियोंकी विषयासक्ति बढ़ती है तथा आत्मवृत्ति लुप्त होती है। वह देहको ही 'अहं' कहता है। अपने भाई, बन्धु, सम्बन्धी, मित्र आदिको अपनाता है और विषयोंके लिये लालायित रहता है। विषयकामनासे किये हुए कर्मोंमें बन्धन आ जाता है। धर्माधर्म, पाप-पुण्य-आदिके प्रश्न खड़े होते हैं। कर्म और उनके फलोंसे बद्ध होकर वह जन्म-मरणके चक्करमें फँस जाता है। जैसे आँखोंपर पट्टी बँधी होनेसे तेलीका बैल लगातार अपनी वर्तुलाकार-लीकमें घूमता रहता है, वैसे ही विवेकपूर्ण आँखोंपर अज्ञानका परदा डालकर, अपने काम्य-कर्मोंका फल भोगते हुए संसारके विविध सुख-दुःखोंका अनुभव करते-करते बेचारा मानव विकल हो जाता है, परंतु जन्म-मरणके अटल चक्रसे नहीं छूटता। जन्म-मरणकी अनन्त यात्रामें उसे सुख-दुःखोंके आवर्त और मोह-शोकोंकी विकराल गुफाएँ मिलती हैं। अनन्त यातनाओंका अनुभव करके वह निरन्तर कालके भयसे भीत रहता है। इस प्रकार मायाके आक्रमणसे परास्त होकर वह अनन्त जन्मोंतक आत्मज्ञानसे वञ्चित रहता है।

प्रश्न ४—मायासे छूटनेके क्या उपाय हैं ?

मायासे मुक्त होनेकी विधिका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने उसे तीन भागोंमें विभक्त किया है—(१) विषय-विरक्ति, (२) सद्गुरुकी शरणागति और (३) भागवत-धर्मोंका आचरण।

विषय-विरक्तिके विषयमें वे लिखते हैं कि जहाँ विषयोंके लिये मन लालायित है, वहाँ विरक्तिका पूर्णतया अभाव ही होगा। उस दशामें मायासे छूटना असम्भव ही है। अतः साधकको पहले समझ लेना चाहिये कि विषय मूलतः नश्वर हैं और उनसे जो सुख मिलता है वह दुःखमूलक और बन्धनकारक है। देह और इन्द्रियाँ जो विषयभोगोंके साधन हैं, दोनों क्षणभङ्गुर हैं। अतः विषय भी वैसे ही होंगे। इतनेपर भी अज्ञानी मनुष्य विषयसुखके लिये, स्त्रीसुखके लिये तथा धनोपार्जनके लिये अविरत श्रम करता है। यहाँतक कि यज्ञादि धार्मिक कृत्य भी स्वर्गके विषय-भोगोंकी इच्छासे करता है। वह इसे समझता है कि बार-बार उन्हीं विषयोंको भोगनेपर भी तृप्ति नहीं होती, फिर भी विषयोंका वास्तविक स्वरूप उसके ध्यानमें नहीं आता। यही मायाकी मोहिनी शक्ति है। वासनामय किसी भी कर्मका फल बन्धनकारक ही होता है। परिणामतः जन्म-मरणके फंदेमें उसे फँसना ही पड़ता है।

अतः साधकको सबसे पहले यह ज्ञान होना चाहिये कि विषयोंमें चिरशान्ति देनेकी शक्ति नहीं है। यदि मिट्टीकी दीवारको जलसे धोवें तो दीवार तो स्वच्छ होगी नहीं, उलटे जल और हाथ मैले होंगे। विषयोंसे सुख पानेकी लालसा कभी पूरी नहीं हो सकती। वेश्या कितना भी साज-शृङ्गार करे, किंतु तो भी उसके निर्भ्रान्त रमणीय सौन्दर्यसे सुखकी उत्पत्ति नहीं होती, वरं धनकी हानि होती है। विषयोंके संगसे मनुष्य अधिकाधिक दुखी होता है। अतः जो लोग सांसारिक अथवा स्वर्गीय विषयभोगोंकी इच्छासे काम्य कर्म करते हैं, वे मायाके फंदेमें फँसे हुए हैं। उनका अमूल्य मानव-जन्म व्यर्थ गया समझिये। इस घोर पतनका कारण है विषयोंका संग। (शेष आगे)

दीनता

(लेखक—पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

दीनता, दरिद्रता और निर्धनता इत्यादि ऐसे जितने शब्द हैं, उन सबका प्रायः एक ही अर्थ है। यद्यपि कोषकारोंने नम्रताको भी इसी श्रेणीमें रक्खा है; किंतु मेरे इस लेखका अभिप्राय अर्थहीनता अर्थात् गरीबी है। वास्तवमें दरिद्रता बुरी वस्तु है। देखा गया है गरीबका अपना भी पराया हो जाता है, कहीं उसका आदर नहीं होता। पग-पगपर उसे अपमानित होना पड़ता है। निर्धनका जीवन कष्टमय होता है। 'कष्टं निर्धनजीवनम्', 'सर्वशून्यं दरिद्रता', 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं' आदि कहावतें इसके ऊपर पूर्णरूपसे चरितार्थ होती हैं। दूसरी ओर धनवान्‌का आदर सर्वत्र होता है; और दूसरे भी उसके सगे हो जाते हैं। अगस्त्यजीने लक्ष्मीजीकी स्तुति करते हुए लक्ष्मीवान्‌का चित्र बड़े अच्छे ढंगसे चित्रित किया है—

लक्ष्मि त्वयालङ्कृतमानवा ये
पापैर्विमुक्ता नृपलोकमान्याः।
गुणैर्विहीना गुणिनो भवन्ति
दुःशीलिनः शीलवतां वरिष्ठाः॥

'लक्ष्मी! तुमसे अलङ्कृत मनुष्य पाप अर्थात् दुःखसे मुक्त होते हैं, राजदरबारमें और लोकमें आदर पाते हैं। गुणहीन होते हुए भी गुणवान् माने जाते और बुरे स्वभावके होते हुए भी शीलवानोंमें श्रेष्ठ गिने जाते हैं।'

यह अक्षरशः सत्य है कि दीनजनोंकी बड़ी दुर्गति होती है, उन्हें अनेक प्रकारकी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, किंतु दीनजनोंका एक सहायक दीनबन्धु, दीननाथ, दीनदयालु होता है। श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदजीने दीनोंके सम्बन्धमें यह कहा है कि—

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति॥

(१० । १० । १५—१७)

'दरिद्र पुरुषके मनमें 'मैं हूँ', 'मेरा है' इस प्रकारका अहंभाव नहीं रहता, वह सब प्रकारके मदोंसे मुक्त रहता है। उसे अनायास जो कष्ट मिलता है, वही उसका परम तप है। अन्नहीन दरिद्र पुरुषका शरीर क्षुधा सहनेसे निर्बल और क्षीण हो जाता है, इन्द्रियोंकी भी प्रबलता जाती रहती है, जिससे हिंसाकी प्रवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। समदर्शी साधुगण दरिद्रोंसे ही मिलते हैं। उन साधुओंके संगसे सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर दरिद्र पुरुष शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं।'

देवर्षि नारदजीके उपर्युक्त शब्दोंमें जितना तथ्य है, वह प्रत्यक्ष है पर दरिद्रतासे सभी डरते हैं। हाँ, कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनको दीनता प्रिय है। सहजोबाई गरीबीकी प्रशंसामें कहती हैं—

भली गरीबी नवनता, सकै न कोई मार।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार॥

यह ठीक है कि दीनतामें दुःख बहुत है; किंतु गरीब अपने सत्कर्तव्योंको करता हुआ सदाचार तथा सन्तोषके साथ जीवनयापन करता है, यही उसकी शोभा है। गरीबीके कारण धनवान् बननेकी लालसासे जो असत्-मार्गका अनुसरण करता है, वह पथभ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त होता है। दीनजनोंको चाहिये कि वे अपने प्रारब्धको बनायें। अच्छे-से-अच्छा भाग्य सत्कर्मोंसे बनता है और निष्काम सत्कर्मोंके द्वारा ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है। दीनोंके लिये धैर्य ही उनके कष्टोंके काटनेका एकमात्र

अस्त्र है। दुःख सहते हुए ईश्वरपर विश्वास रखना ही उनका परम तप है। प्रारब्ध बलवान् होता है, उसीके बन्धनमें बँधा जीव अपने किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखोंको भोगा करता है।* ऐसी दशामें ईश्वरको छोड़कर गरीब क्यों इधर-उधर भटके, क्यों दूसरोंका मुँह देखे। रैदासजी तो दीनोंसे जोर देकर यह कहते हैं कि—

हरि-सा हीरा छाँड़ि कै, करै और की आस।
सो नर जमपुर जायँगे, सत भाषै रैदास॥

रैदासजीसे भी जोरदार शब्दोंमें किसी कविने कहा है—

धीरज ना छोड़ो औ जाओ नहिं धाम धाम
दीन वचन कहे नाहिं दीनता सरैगी।
चिंता ना करो चित्त, चातुरी न छाँड़ो मीत,
नीचनको नवाये सिर ना आपदा टरैगी॥
अधमनके आगे रहिये ना अधीन ह्वै कै,
सेखी के छाँड़े नाहिं संपदा जुरैगी।
जा दिन दीनानाथ हाथ छाया तरे छत्र धरैं
ता दिन प्रारब्ध आय पाँयन परैगी॥

वास्तवमें यह बिल्कुल ठीक है कि कोई किसीको कुछ दे नहीं सकता, भले ही गरीब इधर-उधर दर-दरकी ठोकरें खाय। प्रारब्धका अन्न खलिहानसे स्वयं उठकर आ जाता है। यह देखा गया है कि जबतक मनुष्य किसीसे याचना नहीं करता, तभीतक सब कुछ है। माँगते ही मर्यादा नष्ट हो जाती है। विद्वानोंका मत है कि दूसरेके घर जाकर माँगनेसे अपना रहस्य प्रकट हो जाता है और अपमानित भी होना पड़ता है। रहीमजी कहते हैं कि—

'रहिमन' पर घर जायके दुःख न कहियो रोय।
अपनो भरम गँवायके बात न पूछै कोय॥

यह स्वतः सिद्ध है कि ईश्वर ही जब विश्वका भरण-पोषण करता है और यह भी प्रत्यक्ष है कि उससे की गयी याचना कभी निष्फल नहीं होती। फिर एकको छोड़कर अनेकोंके पास क्यों ठोकर खायँ। प्रयागीय महाकवि अकबरने बड़ी खूबसूरतीसे यह फरमाया है कि—

जो कुछ माँगना हो खोदासे माँग ऐ 'अकबर'।
यही वह दर है कि जिल्लत नहीं सवाल के बाद॥

इन्हीं सब बातोंको पढ़-सुनकर दीनजनोंको ईश्वरपर निष्ठा और विश्वास रखना चाहिये। ईश्वर ही सबका सुखदाता है और दीन हुए बिना वह किसीसे मिलता भी नहीं। जीवन उसीका सफल है, जो भगवान्‌का भक्त बनता है तथा ईश्वरप्राप्तिका उपाय किया करता है। बड़े-बड़े सम्राट्, धनवान् और बलवान् ईश्वरकी कृपा-कोरके अभिलाषी रहते हैं, फिर गरीब क्यों न गरीब-निवाजका आश्रय ग्रहण करे।

सुदामा दीन थे। घरमें न खानेको अन्न था, न तन ढाँकनेको वस्त्र ही। उनकी पत्नीने किसी धनवान्‌के पास धनके माँगनेकी सलाह नहीं दी। उसने दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णके पास यह कहकर पतिको भेजा कि—

हरिहैं दुख-दारिदके हर्ता, कर्ता सुखके सो कृपा करिहैं।
करिहैं यदुनाथ सनाथ जबै अघ ओघ सबै छनमें टरिहैं॥
टरिहैं मनके दुख औ दुबिधा जनके हिय तोष सुधा भरिहैं।
भरिहैं धन सों पिय भवन भँडार दरिद्र तुम्हार हरी हरिहैं॥

फिर जितना ही जिनके पास धन अधिक है, उतना ही उसका हृदय अधिक जलता रहता है। धनियोंके हृदयकी बात जाननेवालोंसे उनका अपार दुःख छिपा नहीं है। वास्तवमें संसारभरका ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर

* यह सत्य है कि मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप ही सुख-दुःखका भोग करता है। दुःखमें पड़े हुए मनुष्यको यही मानना चाहिये। परंतु जो सुखमें है, उसके लिये तो यही कर्तव्य है कि वह दुखी प्राणीके दुःखको उसके प्रारब्धका फल मानकर टाल न दे, बल्कि उसके दुःखमें सच्चे हृदयसे साथ देकर उसे दूर करनेका प्रयत्न करे। यही समझे कि हमारा सुख वस्तुतः दुखियोंकी ही धरोहर है और उसे उनको तुरंत सहर्ष लौटा देनेमें ही कल्याण है।—सम्पादक

भी प्राणी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता। ('न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' कठ०) सुख-शान्तिकी प्राप्ति तो संतोषसे होती है। विषयोंके त्यागका नाम ही संतोष है। इसीको भगवान् श्रीकृष्णने महारानी रुक्मिणीका संदेश ले जानेवाले ब्राह्मणसे कहा था—

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून्भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत्॥
(श्रीमद्भा १० । ५२ । ३२-३३)

'जो कोई बार-बार अभिलषित पदार्थ पाकर भी असन्तुष्ट रहता है, वह इन्द्रकी पदवी पाकर भी सुख-शान्ति नहीं पा सकता; क्योंकि उसके मनमें संतोष-रूपी वृक्षकी शीतल छाया नहीं है और जो दरिद्र होते हुए भी सुखसे अपने जीवनको बिताते हैं, वे साधु हैं, सब प्राणियोंके परम बन्धु हैं, अहङ्कारशून्य हैं और शान्त हैं। उन ब्राह्मणोंको सिर झुकाकर मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।' यह हैं भगवद्वाक्य, जो कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इसी संतोषके सम्बन्धमें तुलसीदासजी कहते हैं कि—

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोष मन, सब धन धूरि समान॥

प्राणीकी एक ऐसी भी अवस्था होती है जब उसका धन-बल, जन-बल और शरीर-बल भी काम नहीं देता। इसे भी दीनावस्था कहा जाता है। देखिये, जगदम्बा जानकीजीके हरणके समय रावणके हाथोंसे बूढ़ा जटायु आहत होकर पड़ा था, उस समय वह दीनकी तरह असहाय था। ऐसे अवसरोंपर दीनबन्धु ही कृपा किया करते हैं। किसीने बड़े अच्छे ढंगसे कहा है कि—

दीन मलीन अधीन है अंग बिहंग पर्‌यो छिति खिन्न-दुखारी।
राघव दीनदयाल कृपालु कों देख दुखी करुणा भई भारी॥
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि नैन सरोजनमें भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायुकी धूरि जटान सों झारी॥

द्रौपदीके पाँच बलवान् पति थे, किंतु जिस समय वह भरी सभामें दुर्योधनकी आज्ञासे नंगी की जा रही थी, उस समय उसने दीनकी तरह यह कहकर दीनबन्धु दीननाथको पुकारा था—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन!
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
(महा० सभा० ६७ । ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन! हे गोपीजनवल्लभ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझपर जो अत्याचार कर रहे हैं, इस बातको क्या आप जानते नहीं हैं? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये। श्रीकृष्ण! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं। आप सर्वस्वरूप और सबके जीवनदाता हैं। हे गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिर-कर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी ही तरह गजराजकी भी दयनीय दशा थी और वह भी दीनोंकी तरह यह कहकर चिल्लाया था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥
(श्रीमद्भा० ८ । २ । ३३)

'जो कोई सर्वसमर्थ ईश्वर अधिक बलवान् एवं बड़ी तीव्र गतिसे दौड़ रहे कालरूप भयङ्कर सर्पके भयसे घबड़ाये हुए, आपत्तिमें पड़े हुए प्राणीकी रक्षा करते हैं और जिनके डरसे काल अपने कार्यमें लगा हुआ है, मैं उन्हीं ईश्वरकी शरणमें हूँ।'

कहते हैं कि द्रौपदीकी पुकारकी तरह गजकी

टेर भी खाली नहीं गयी। भगवान्‌ने अपने वाहनको छोड़कर शीघ्र-से-शीघ्र गजके पास पहुँचकर ग्राहको मारकर गजकी रक्षा की।

गजकी टेर सुनते ही परमधाममें हलचल मच गयी—

**पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मरन्नुत्तानोऽपि गदागदेति निगदन् पद्मामनालोकयन्।
निर्गच्छन्नपरिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽवतु
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः॥**

'ग्राहके चंगुलमें फँसे हुए गजराजका उद्धार करनेके लिये भगवान् श्रीहरि इतने उतावले हो उठे कि लक्ष्मीजीकी बिछायी हुई सुखदायिनी शय्याको भी तत्काल त्यागकर चल पड़े। सामने सेवाके लिये आये हुए पार्षदोंको भी कुछ नहीं गिना। गलेमें कौस्तुभ मणि पहननेकी भी सुध न रही; उतान सोये थे, उसी दशामें 'गदा! गदा!' कहते हुए सहसा उठकर खड़े हो गये। प्रियतमा लक्ष्मीकी ओर भी दृष्टि नहीं डाली। पक्षिराज गरुड़की पीठपर बिना गद्दी कसे ही सवार हो गये और बड़े वेगसे गजराजके पास जा पहुँचे।'

इसलिये दीन होना बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि इसी स्थितिमें दीनबन्धुकी कृपाका प्रसाद मिलता है, जो मदान्ध धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है।

ऊपर जो बातें लिखी हैं, उन्हें मैंने अपनी ओरसे नहीं लिखा है, यह बातें शास्त्र तथा विद्वानोंकी हैं। ऐसी दशामें मुझे कोई कारण नहीं दिखलायी पड़ता कि इन बातोंपर दीनजन विश्वास न करें। यह सत्य है कि दरिद्रके समान कोई बड़ा दुःख नहीं होता; किंतु 'निर्बलके बल राम' तो होते ही हैं। व्यासजी तो डंकेकी चोटपर कहते हैं—

**केचिद् वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः
केचिद् वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः।
व्यासो वदत्यखिलवेदपुराणविज्ञो
नारायणस्मरणहीनजनो जघन्यः॥**

वैदिक-साहित्यका परिचय

ऋग्वेद-संहिता

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

छन्दों और चरणोंसे युक्त मन्त्रोंको ऋक् वा ऋचा कहा जाता है। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। ऋचाओंका जो ज्ञान है, उसे ऋग्वेद कहते हैं। गुप्त कथनका नाम मन्त्र है। किसी देवताकी स्तुतिमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थके स्मरण करानेवाले वाक्यको भी मन्त्र कहा जाता है। संहिता मन्त्रोंके संग्रहका नाम है।

अनेक पुराणों और पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) आदिके अनुसार ऋग्वेदकी २१ संहिताएँ वा शाखाएँ हैं; परंतु इन दिनों केवल एक शाकल-संहिता ही उपलब्ध है। देश-विदेशमें यही छपी है। इसके विभाग दो तरहसे किये गये हैं—(१) मण्डल, अनुवाक और वर्ग तथा (२) अष्टक, अध्याय और सूक्त। सारी संहितामें १० मण्डल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग (वालखिल्यके १६ सूक्तोंको छोड़कर) हैं तथा ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०१७ सूक्त हैं। १४ छन्दोंमें समस्त मन्त्र गाये गये हैं। सब १०४६७ मन्त्र हैं। केवल दो चरणवाले १७ और एक चरणवाले ६ मन्त्र हैं। स्वरपर ३५८९, कवर्गपर ४०७, चवर्गपर १४२, तवर्गपर १८३३, पवर्गपर १३७७, अन्तःस्थ अक्षरोंपर १७६३ और ऊष्म-अक्षरोंपर १३५६ मन्त्र हैं। शौनक ऋषिकी 'अनुक्रमणी' के अनुसार तो १०५८०$\frac{1}{4}$ मन्त्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं। औसतसे प्रत्येक सूक्तमें १० मन्त्र और प्रत्येक मन्त्रमें ५ अक्षर हैं; परंतु शाकल-संहिताके कितने ही संस्करणोंके मन्त्रोंकी गणना करनेपर उक्त 'अनुक्रमणी' के मन्त्रों, शब्दों और अक्षरोंकी संख्या कम मिलती है। सम्भव है, कुछ मन्त्र लुप्त हो गये हों। ऋग्वेद (१०।११४।८) में जो ऋग्वेदकी १५००० मन्त्र-संख्या मानी गयी है, उससे भी कुछ मन्त्रोंके लोप होनेका अनुमान होता है। ऋग्वेद संसारकी सबसे प्राचीन पुस्तक है—ऐसा विश्वकी चोटीके ऐतिहासिक भी मानते हैं। कुछ ऐतिहासिक कहते हैं कि 'कोणाकार लिपिमें लिखी असी-

रियाकी खण्डित धर्म-पुस्तक ऋग्वेदके समयकी है; परंतु अब तो इस मतका प्रामाणिक खण्डन हो चुका है। ऋग्वेदकी भाषा ऐसी है कि केवल लौकिक संस्कृतका ज्ञाता मन्त्रोंका अर्थ नहीं समझ सकता। इसीलिये संहिताओंके आधारपर बने संस्कृत-साहित्यके अच्छे विद्वान् भी संहिताओंसे उदासीन रहते हैं—वेद-प्रचारसे दूर भागते हैं; यद्यपि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' की 'रट' लगाने और 'वैदिक-धर्मानुयायी' बननेका इनका मन बना रहता है। जिसने वैदिक संहिताओंका सविधि स्वाध्याय नहीं किया, वह भला वेद-धर्म समझने और उसका अनुयायी बननेका अधिकारी कैसे हुआ? संस्कृतके विद्वानों और वेदधर्मानुयायी कहलानेवालोंकी यह स्थिति बहुत ही कारुणिक है।

वेदार्थ समझनेके साधन सायण-भाष्य, ब्राह्मण-ग्रन्थ, प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी, कल्पसूत्र, निरुक्त, जैमिनीय मीमांसा आदि हैं—सायण, स्कन्द-स्वामी, उद्गीथ, वेङ्कट-माधव, उव्वट और महीधरके भाष्य भी हैं; परंतु शाकल-संहितापर सायणाचार्यके सिवा किसीका भी भाष्य पूर्ण नहीं है। इसलिये एकमात्र आधार सायण ही हैं। सन् १३५० से १३७९ ई० तकमें सायणने वेदों (शाकल, तैत्तिरीय, काण्व, कौथुम, शौनक आदि संहिताओं), ब्राह्मणों (ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ, ताण्ड्य, सामविधान, गोपथ आदि), आरण्यकों (ऐतरेयारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक आदि) और साम-प्रातिशाख्यपर भाष्य लिखा था। इस महाकार्यमें हरिहर आदि अनेक सत्पुरुष सायणाचार्यके सहायक थे। विजय-नगराधिपति बुक्करायके समयमें भाष्य-लेखन समाप्त हुआ और विजयनगरमें ही ऋग्वेद-भाष्य सर्वप्रथम प्रकाशित भी हुआ।

वेदाध्ययनसे विमुख हो केवल वाणी-मात्रसे वेद-भक्त बननेवाले कुछ लोग कहते हैं कि, 'अनेक जन्म तपस्या किये बिना और जीवन्मुक्ति प्राप्त किये बिना कोई भी न तो वेदोंका अर्थ ही समझ सकता है और न उनके बारेमें कोई राय ही दे सकता है।' किन्तु इन पङ्क्तियोंके लेखकमें न तो ये गुण ही हैं, न लेखक इस मतका समर्थक ही है। यह बात तो अवश्य है कि नैरुक्त, नैदान, ऐतिहासिक, ब्रह्मवादी, याज्ञिक, परिव्राजक, स्वरमुक्तिवादी आदि कितने ही ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो वेदार्थके सम्बन्धमें विभिन्न मत रखते हैं। औपमन्यव, कौत्स, यास्क, उद्गीथ, स्कन्दस्वामी, भरतस्वामी, रावण, भट्टभास्कर, वेङ्कट माधव, उव्वट, महीधर, सत्यव्रत सामश्रमी, स्वा० दयानन्द, लो० तिलक, अविनाशचन्द्रदास, राथ, ग्रिफिथ, मैक्डानल, मैक्समूलर, लुड्विग, लांगलोआ, ग्रासमान रेले, दाराशिकोह आदि-आदि वेद-समीक्षकोंकी वेदार्थ-सम्बन्धिनी अनेक सम्मतियाँ भी हैं; परंतु सारे मत इन तीन वर्गोंमें ही आ जाते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनों ही मत वेदोंमें यथास्थान विन्यस्त हैं। इनमेंसे किसी एकको लेकर और सारे मन्त्रोंकी खींचतान करके एक-सा ही अर्थ निकालना साम्प्रदायिक वा एकपक्षीय मनोवृत्तिका परिचायक है। निरपेक्षता, उदारता और दृष्टि-व्यापकताका नहीं। प्रयोग, निरीक्षण, व्यवहार, निर्वचन, अभ्यास, समनुगमन आदिका विचार किये बिना केवल अध्यात्मवादकी काल्पनिक उड़ान उड़ने और ग्रीक, लैटिन भाषाओंका कोरा अभ्यास करनेसे कोई भी वेदार्थ नहीं समझ सकता।

वेदोंमें आध्यात्मिक आदि तीनों ही अर्थ हैं और सायणाचार्यने निरपेक्ष होकर तीनों ही अर्थोंको यथास्थान लिखा है। वेदोंमें समाधिभाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषा—तीनों ही भाषाओंका प्रयोग है और सायणने यथास्थान तीनोंका ही रहस्य बताया है। इसीलिये उन्होंने इन्द्रका अर्थ ईश्वर, देव, ज्ञान, विद्युत्तत्क लिखा है और वृत्रका अर्थ असुरराज, असुर, अज्ञान और मेघतत्क। जहाँ जिस भाषा और जिस वादका कथन है, वहाँ उसीका उल्लेख करके सायणने अर्थ-समन्वय किया है।

यह सब होते हुए भी देश और विदेशमें सायण-द्रोहियोंकी कमी नहीं है। विदेशी वेदाभ्यासियोंमें 'Los von Sayana' (सायणका बहिष्कार करो) की आवाज कई बार उठायी गयी। ऋग्वेदके सायण-भाष्यके प्रकाशक मैक्समूलरने भी सायणको 'Blind man's stick' (अन्धेकी लकड़ी) कहा है। 'वैदिक कोष' लिखनेवाले राथ और ग्रासमानका सायण-द्रोह तो विश्व-विदित है ही; परंतु लेखकके मतसे ये सारे द्रोह-विद्रोह निरर्थक हैं; क्योंकि—

१—वेदार्थ-निर्णय करनेमें सायणने आर्य-जातिकी प्राचीन मर्यादा और परम्पराका पालन किया है।

२—स्कन्द स्वामी, वेङ्कट माधव और उद्गीथ आदि ऋग्वेदके प्राचीन टीकाकारोंका सायणने अनुगमन किया है।

३—सायण-भाष्यका समर्थन सारे वैदिक साहित्य, प्राचीन इतिहास और आर्यजातिके आचार-विचारोंसे होता है।

४—विश्वकी विविध भाषाओंमें प्रकाशित वेद-सम्बन्धी ग्रन्थोंके प्रणेता सायणानुयायी हैं।

५–सनातन धर्मानुयायी सदासे सायण-भाष्यको आर्य-जातिकी संस्कृति, सभ्यता और रीति-नीतिके अनुयायी मानते हैं।

६–सायण-भाष्यके सिवा ऋग्वेदपर किसीका भी पूर्ण भाष्य नहीं है। इसलिये सायण-भाष्यके अभावमें ऋग्वेदका न तो सम्यक् अर्थ-ग्रहण होता, न रोठराचार्य (राथ) की 'पीटर्सबर्ग लेक्जिकन' नामक कोष-पुस्तक बन पाती और न ग्रासमानका 'वैदिक-कोष' ही लिखा जाता।

फलतः जिन विद्वानोंकी धारणा है कि ग्रीक और लैटिन भाषाओंका ज्ञान और साधारण संस्कृत-ज्ञान रहनेसे मनुष्य वेदार्थ समझ सकता है, वे भारी भ्रममें हैं। हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और हिंदू-शास्त्रोंका मर्म समझनेवाले सायणभाष्यसे वेदार्थ समझनेमें जो सहायता मिलेगी, उसकी टुकड़ी सहायता भी ग्रीक और लैटिनके ज्ञानसे अथवा लांगलोआ (फ्रेंच), लुड्विग (जर्मन) और ग्रीफिथ (इंगलिश) के किये वेदार्थसे नहीं मिलेगी। इसलिये वैदिक-साहित्यका परिचय पानेके लिये सायण-भाष्य प्रधान सहायक है। इन पङ्क्तियोंका लेखक सायण-भाष्यके अनुकूल वेद-परिचय देना उत्तम समझता है। इसीलिये यहाँ सायणके सम्बन्धमें थोड़ी-सी चर्चा की गयी।

ऋग्वेदकी यह शाकल-शाखा वैदिक-साहित्यमें रत्न है। यद्यपि 'अनुवाकानुक्रमणी'में लिखा है कि 'शाकलासे वाष्कलामें केवल ८ सूक्त अधिक हैं; परंतु 'वाष्कल-संहिता' का पता नहीं चलता। यह कहीं भी नहीं छपी। कहते हैं, 'बर्लिन-लाइब्रेरी (जर्मनी) में ४० हजार और इंडिया हाउस (लंदन) में ३० हजार हस्तलिखित संस्कृत-पुस्तकें हैं। पता नहीं, इनमें वाष्कल-संहिता है कि नहीं। जबतक वाष्कला नहीं छपती, तबतक तो शाकला ही वैदिक-साहित्यका खजाना और विराट् पुस्तक मानी जायगी। इसके सामने सामवेदकी कौथुमसंहिताका प्रायः अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि कौथुममें शाकलके ही सारे मन्त्र हैं—केवल ७५ मन्त्र ही कौथुमके अपने हैं। अथर्ववेदकी शौनकसंहितामें शाकलसंहिताके १२०० मन्त्र पाये जाते हैं। शौनकके बीसवें काण्डके सारे मन्त्र (कुन्ताप-सूक्त और दो अन्य मन्त्रोंको छोड़कर) शाकलके हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहितामें भी शाकलके बहुत मन्त्र हैं। इसलिये ऋग्वेदसंहिता (शाकल-शाखा) के अन्तर्गत ही प्रायः तीनों वेद हैं और इसके सविधि अध्ययनसे प्रायः चारों वेदोंका स्वाध्याय हो जाता है। इसीलिये ऋग्वेद सब-से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अनेक लोगोंने तो इसके अध्ययन-में अपना सारा जीवन ही खपा डाला है।

करोड़ों हिंदुओंका विश्वास है कि वेद ईश्वरका श्वास है, इसलिये वेद ईश्वरकी ही तरह नित्य है, शाश्वत है, अपौरुषेय है और ऋषियोंने समाधि-दशामें अपने विशुद्धान्तःकरणमें वेदको उसी रूपमें प्राप्त किया था, जिस रूपमें—छन्द, वाक्य, शब्द और अक्षरके रूपमें—वह इन दिनों पाया जाता है। अनन्त हिंदुओंकी धारणा है कि वेद ईश्वरकृत है। बहुतों-का विश्वास है—

'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।'

'वेदसे ही धर्म निकला है।' इसीलिये अनन्त कालसे लाखों हिंदू वेद-विद्याकी रक्षाके लिये अपने प्राणतक देते आये हैं।

लोग पूछते हैं—'क्या वेदकी नित्यतामें प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण है?' परंतु, हमारे यहाँ शङ्कराचार्य आदिने प्रत्यक्ष और अनुमानका खण्डनकर शब्द-प्रमाणको ही स्थापित किया है। (शारीरक-भाष्य २ । ३ । १) क्षुद्रतम मानव-मस्तिष्क अज्ञेय-कालके तत्त्वोंका कैसे प्रत्यक्ष करेगा और अनन्त समयकी बातोंकी कैसे अनुमिति करेगा? इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिपर हिंदुओंका दृढ़ विश्वास है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(गीता १६ । २४)

'इसलिये कार्य और अकार्यकी व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके निमित्त तेरे लिये शास्त्र प्रमाण हैं।'

और हिंदुओंके समस्त शास्त्र वेदको नित्य मानते हैं। जैमिनीय मीमांसामें ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे वेदकी नित्यता सिद्ध होती है। कौषीतकिब्राह्मणके मतसे (१० । ३०) वेद-मन्त्र देखे गये हैं, बनाये नहीं। ऐतरेय ब्राह्मणसे (३ । १९) मालूम होता है कि गौरवीतिने सूक्तों वा मन्त्रसमूहोंको देखा था। ईश्वरतकका खण्डन करनेवाले सांख्यने लिखा है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।

(वेद अपौरुषेय है; क्योंकि वेद-कर्ताका अभाव है।)

बृहदारण्यकका कहना है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः।

—इत्यादि। अर्थात् वेद भगवान्का श्वास है।

श्वेताश्वतर (६ । ८) का कहना है—

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(ब्रह्माको पहले उत्पन्न कर ईश्वर ब्रह्माको लोक-शिक्षाके लिये वेद देता है।) स्मृति-ग्रन्थोंमें तो वेदकी नित्यताके अनेकों प्रमाण हैं। सायणाचार्य भी वेदको नित्य मानते हैं।

ये ही कारण हैं कि वेदपर हिंदू-जातिकी अविचल श्रद्धा है और वेदके प्रत्येक शब्दको मानना हिंदुत्व और हिंदू-धर्मका लक्षण है—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु। (लो० तिलक)

यही नहीं, वेद हिंदुओंकी प्रायः समूची कलाओं और विद्याओंका मूल भी है—

सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। (मनु)

मनुष्य-जातिके प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम, राष्ट्र, धर्म, सदाचार, कला, त्याग, सत्य आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन वेद ही है। वैदिक ग्रन्थोंमें ऋग्वेद, सभी दृष्टियोंसे सर्वश्रेष्ठ और विशाल है।

शाकल-संहिताके प्रत्येक सूक्तके ऊपर उसके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग लिखे रहते हैं। वेदार्थ जाननेके लिये इन चारोंका ज्ञान रखना आवश्यक है। शौनककी अनुक्रमणी (११)में लिखा है कि 'जो ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगका ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, हवन, यजन, याजन आदि करते हैं, उनका सब कुछ निष्फल हो जाता है और जो ऋष्यादिको जानकर अध्ययनादि करते हैं, उनका सब कुछ फलप्रद होता है तथा ऋष्यादिके ज्ञानके साथ जो वेदार्थ भी जानते हैं, उनको अतिशय फल प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य और व्यासने भी अपनी स्मृतियोंमें ऐसा ही लिखा है।

'ऋषिर्दर्शनात्' अर्थात् मन्त्रको देखनेवाले या साक्षात्कार करनेवालेको ऋषि कहा जाता है।(निरुक्त, नैगमकाण्ड २।११) महर्षि कात्यायनने भी 'सर्वानुक्रमसूत्र'में ऋषिको स्मर्ता वा द्रष्टा बताया है। याज्ञवल्क्यने भी ऐसा ही लिखा है। जिन ऋषिने जिस सूक्तका आविष्कार किया, उनका वा उनके वंशका ही सूक्तके ऊपर नाम रहता है।

ऋग्वेद (शाकलसंहिता)के दस मण्डलोंमेंसे द्वितीय मण्डलके गृत्समद, तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भारद्वाज और सप्तमके वसिष्ठ और इनका परिवार ऋषि हैं। अष्टम मण्डलके ऋषि कण्व और उनके वंशज तथा उनके गोत्रज हैं। आश्वलायनने प्रगाथ-परिवारको अष्टमका ऋषि माना है; परंतु षड्गुरु शिष्यने प्रगाथको कण्व ही माना है। नवम मण्डलके ऋषि अनेक हैं। आश्वलायनने लिखा है कि 'दशम मण्डलके ऋषि क्षुद्रसूक्त और महासूक्त हैं।' परंतु वस्तुतः दशम मण्डलके ऋषि और उनके वंशज अनेकानेक हैं। प्रथम मण्डलके तो २३ ऋषि हैं।

सब ऋषि ब्राह्मण थे; परंतु ऐतिहासिक कहते हैं कि 'दशम मण्डल'के इन सूक्तोंके बनानेवाले ये राजर्षि भी थे—सूक्त ३१ कवष ९१ आरुण वैतहव्य, १३३ सुदास पैजवन और १३४ मान्धाता यौवनाश्व। ४६ वें सूक्तके ऋषि वत्सप्रि भालन्दन वैश्य थे और १७५ सूक्तके ऋषि ऊर्द्ध्वग्रावा अनार्य थे। परंतु यह विषय अभी सन्दिग्ध है।

निरुक्तकारने लिखा है—

देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा।

(दैवत १।५)

लोकोंमें भ्रमण करनेवाले, प्रकाशित होनेवाले या भोज्य आदि सारे पदार्थ देनेवालेको देवता कहा जाता है। तीन प्रकारके देवोंको निरुक्तकारने माना है—पृथिवी-स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थान वायु वा इन्द्र और द्युस्थान सूर्य। इन्हींकी अनेक नामोंसे स्तुतियाँ की गयी हैं। जिस सूक्त वा मन्त्रके ऊपर जो देवता लिखे रहते हैं, उस सूक्त वा मन्त्रके वे ही प्रतिपादनीय और स्तवनीय हैं। जहाँ ओषधि, जल, शाखा आदि जड पदार्थोंको देवता लिखा गया है, वहाँ ओषधि आदि वर्णनीय हैं और उनके अधिष्ठाता देवता स्तवनीय हैं। आर्यलोग प्रत्येक जड पदार्थका एक अधिष्ठाता देवता मानते थे। इसीलिये उन्होंने जडकी स्तुति चेतनकी ही तरह की है। मीमांसक कहते हैं, 'जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उसमें उसीकी-सी दिव्य शक्ति अनादि कालसे निहित है। मीमांसा मन्त्रमें ही देवत्व-शक्ति मानती है।

ऋग्वेद (१।१३९।११)से मालूम पड़ता है कि पृथिवीस्थानीय ११, अन्तरिक्षस्थानीय ११ और द्युस्थानीय ११—सब ३३ देवता माने गये हैं। कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता (१।४।१०१)में भी यही बात है। ऋग्वेदके अनेक स्थानों (१।३४।११; १।४५।२; ९।९२।२; १०।५५।३ आदि)में तथा शतपथ ब्राह्मण (४।५।७।२) और ऐतरेय ब्राह्मण (२।२८) में ३३ देवोंका उल्लेख है। शतपथमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, आकाश और पृथिवी—ये ३३ देवता हैं और ऐतरेयमें ११

प्रयाज देव, ११ अनुयाजदेव और ११ उपयाजदेव—३३ देवता हैं। विष्णुपुराणके मतसे ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, प्रजापति और वषट्कार—ये ३३ देवता हैं। परंतु ऋग्वेदके दो स्थानों (३ । ९ । ९ और १० । ५२ । ६)में ३३३९ देवताओंका कथन है। सायणाचार्यने लिखा है कि देवता तो ३३ ही हैं; परंतु देवोंकी विशाल महिमा बतानेके लिये ३३३९ देवोंका उल्लेख किया गया है।

जो मनुष्योंको प्रसन्न करे और यज्ञादिकी रक्षा करे, उसे छन्द कहा जाता है (निरुक्त, दैवत १ । १२)। मुख्य छन्द २१ हैं। २४ अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरतक ये सब छन्द होते हैं।

जिस कामके लिये मन्त्रका प्रयोग होता है, उसे विनियोग कहा जाता है। मन्त्रमें अर्थान्तर वा विषयान्तर होनेपर भी विनियोगके द्वारा अन्य कार्यमें उस मन्त्रको विनियुक्त किया जा सकता है—पूर्वाचार्योंने ऐसा माना है। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थसे भी अधिक आधिपत्य मन्त्रोंपर विनियोगका है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्पसूत्रोंसे ऋषि, देवता आदि जाने जाते हैं।

विदेशी, विधर्मी और संशयात्मा लोग कहते हैं कि 'आर्योंको परमात्माका ज्ञान नहीं था। उनकी पहुँच देवोंतक ही थी। प्राकृतिक शक्तियों (अग्नि, वायु आदि) में अद्भुत शक्ति देखकर वे इन्हें ही चेतन शक्तिवाले देवता समझते थे। इसीलिये उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, आदित्यगण, विष्णु, मरुत्, स्वर्ग, सोम, रुद्र, अदिति, ब्रह्मणस्पति, भग, बृहस्पति, त्वष्टा, ऋभुगण आदि-आदिको देवता मान लिया। (ऋग्वेद १० । ६५ । १) प्रकृतिकी लोल-लीलाओंको न समझनेके कारण आर्योंने इन्हें देवता जान लिया।'

परंतु उनका कथन निराधार है—देवता-रहस्य न समझनेका फल है। देवताका रहस्य 'बृहद्देवता' बताती है। उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोकों (६१–६५) से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डकी जड़में एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उसी एकको नाना रूपोंमें—विविध शक्तियोंके अधिष्ठातृरूपोंमें—स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है; इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसी बातको यास्कने (निरुक्त, दैवत-काण्ड, ७ अध्यायमें) कितनी सुन्दरतासे कहा है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥

इसी तरह—

तस्या महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।

(नि० दै० १ । ५)

ऐतरेयारण्यक (३ । २ । ३ । १२) ने भी कहा है कि ऋग्वेदी लोग एक ही सत्ताकी उपासना ऋग्वेदीय मन्त्रों (उक्थों) में करते हैं। दूर न जाकर यदि ऋग्वेदको ही देखें, तो इस बातके अनेकानेक प्रमाण मिलेंगे।

ऋग्वेद तृतीय मण्डल ५५वें सूक्तमें २२ मन्त्र हैं और सबके अन्तमें 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' वाक्य आया है। तात्पर्य यह है कि देवोंकी शक्ति (असुरत्व=बल) एक ही है, दो नहीं अर्थात् महाशक्तिका विकास होनेके कारण देवोंकी शक्ति पृथक् नहीं—स्वतन्त्र नहीं है।

ऋषियोंने जिन प्राकृत शक्तियोंकी स्तुति वा प्रशंसा की है, उनके स्थूल रूपकी नहीं की है, प्रत्युत उनकी शासिका वा अधिष्ठात्री चेतन-शक्तिकी की है। इस चेतन-शक्तिको वे परमात्मासे पृथक् या स्वतन्त्र नहीं मानते थे—परमात्मरूप ही मानते थे। उन्होंने ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें ही अग्निकी स्तुति की है; परंतु अग्निको परमात्मासे स्वतन्त्र मानकर नहीं। वे स्थूल अग्निके रूपके ज्ञाता होते हुए भी सूक्ष्म अग्नि—परमात्मशक्ति-रूप—के स्तोता और प्रशंसक थे। वे मरणशील अग्निमें व्याप्त अमरताके उपासक थे। इसीलिये उन्होंने गाया है—

अपश्यमहं महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।

(ऋ० १० । ७९ । १)

'मरणशील प्रजामें मैंने अमर अग्निकी महिमाको देखा है इसी तरह इन्द्रको वे देवता मानते हुए भी इन्द्रकी सूक्ष्म शक्तिको परमात्मशक्तिसे पृथक् नहीं समझते थे—परमात्मरूप समझते थे।' तभी तो उन्होंने कहा है—'इन्द्र मनुष्योंके धारक हैं। उनकी महिमा समुद्रोंसे भी अधिक है। इन्द्र तेजसे सारे संसारको पूर्ण कर देते हैं।' (ऋ० १० । ८९ । १) 'स्तुत्य, नाना मूर्तियोंवाले, दीप्तियुक्त, अनुपम प्रभु और श्रेष्ठ आत्मीय इन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ।' (ऋ० १० । १२० । ६) 'जो इन्द्र सृष्टिकर्ताओंके भी कर्ता हैं, जो भुवनोंके अधिपति हैं, जो रक्षक और शत्रुविजेता हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ।' (ऋ० १० । १२८ । ७)

भला, परमात्माके सिवा किसकी महिमा समुद्रोंसे भी

अधिक हो सकती है ? कौन संसारको तेजसे पूर्ण कर सकता है ? कौन नाना मूर्तियोंवाला और अनुपम प्रभु हो सकता है ? दूसरा कौन भुवनाधिपति और सृष्टिकर्ताका भी कर्ता है ?

इसी तरह सूर्य, विष्णु, वाग्देवी, अदिति वा जितने देवता हैं, सबको वे उसी तरह परमात्मरूप समझते थे, जिस तरह एक ही धागेमें मालाकी सारी मनियाँ ओतप्रोत रहती हैं और केवल माला ही कहाती हैं ।

यह कहना तो बिल्कुल व्यर्थ है कि 'आर्योंको परमात्माका ज्ञान नहीं था ।' परमात्मतत्त्वका जैसा गहन-गम्भीर ज्ञान उनको था, वैसा तो आजतक प्रायः किसी भी मनुष्यजातिको नहीं हुआ । लो० तिलकने ठीक ही लिखा है कि 'ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें जितनी स्वाधीन उच्चतम चिन्ता है, उतनी आजतक मनुष्यजाति नहीं कर सकी ।' नासदीय सूक्तमें ही नहीं, ऋग्वेदके अनेक स्थानोंमें ऐसी ही गम्भीर चिन्ताएँ हैं । दो-चार उदाहरण देखिये—

ऋग्वेद १ मण्डल, १६४ सूक्तके ६ और २० मन्त्रोंमें परमात्माका स्पष्ट निर्वचन है । ३ । ५५ । ३ और ५ । ८५ । १ में ईश्वरीय सत्ताका अनुभव है । १० । २७ । ९ में ऋषि समाधि-दशाका अनुभव करते हुए कहते हैं—'संसारमें घास और अन्न खानेवाले जितने मनुष्य हैं, सब मैं ही हूँ । हृदयाकाशमें जो अन्तर्यामी ब्रह्म अवस्थित हैं, वह मैं ही हूँ ।' भला, इससे बढ़कर अद्वैतवादकी अनुभूति क्या होगी ? १० । ३१ । ८ में कहा गया है—'ईश्वर प्रजाका बनानेवाला और द्यावापृथिवीका धारण करनेवाला है । इससे अधिक ईश्वरत्वका ज्ञान किस धर्मको है ?'

कुछ मन्त्र और देखिये—'परमात्मा एक हैं परंतु क्रान्तिदर्शी विद्वान् उनकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं ।' (१० । ११४ । ५) जो देवता-तत्त्व नहीं जानते, वे इस मन्त्रको बार-बार पढ़नेका कष्ट करें । १०वें मण्डलका ९० सूक्त 'पुरुषसूक्त' कहाता है । यह सारा सूक्त ही ईश्वरमय है । नमूनेके तौरपर इसका दूसरा मन्त्र देखिये—'जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब ईश्वर है । ईश्वर देवताके स्वामी हैं । प्राणियोंके भाग्यके निमित्त वे अपनी कारणावस्थाको छोड़कर जगदवस्थाको प्राप्त होते हैं ।' इसमें स्पष्ट ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उद्घोष है । इसमें यह भी बता दिया गया है कि जैसे जीवात्माके स्वामी होते हुए भी परमात्मा और जीवात्मा एक हैं, उसी तरह देवोंके स्वामी होते हुए भी ईश्वर और देवता एक हैं । इससे यह भी सूचित होता है कि जीवोंके कर्मफलभोगके लिये ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं । आगे देखिये—'उस समय—प्रलयावस्थामें—मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिनका भेद भी नहीं था । वायुशून्य और आत्मावलम्बनसे श्वास-प्रश्वासयुक्त केवल एक ब्रह्म थे । उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।' (१० । १२९ । २) 'चूँकि सृष्टि-कालमें कर्मफल-बीज था; इसलिये परमात्माके मनमें प्रथम सिसृक्षा उत्पन्न हुई । (१० । १२९ । ४) 'जिनसे ज्योतिर्मय सूर्य उत्पन्न हुए हैं, वे ही सबसे ज्येष्ठ हैं । उनके पहले कोई नहीं था ।' (१० । ११४ । ७) 'परमात्माके चौदह भुवन हैं ।' १० । ११४ । ७) दसवें मण्डलका एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' कहाता है । यह भी ईश्वरमय है । इसके दसों मन्त्र कण्ठस्थ करनेयोग्य हैं ।

इन समस्त उद्धृत मन्त्रोंपर विचार करनेसे विदित होता है कि ऋग्वेदसे बढ़कर ईश्वरवादका स्पष्ट विवरण किसी भी धर्म, धर्मशास्त्र वा पुराणमें नहीं है । जिनकी अन्तर्दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, वे सभी लेखकके इस मतका समर्थन करेंगे ।

(शेष आगे)

किसके द्वार जायँ

जैयें कौनके अब द्वार ।
जो जिय होय प्रीति काहूके, दुख सहिये सौ बार ॥
घर-घर राजस, तामस बाढ्यो धन-जोबनकौ गार ।
कामबिबस ह्वै दान देत नीचनकौं होत उदार ॥
साधु न सूझत, बात न बूझत, ये कलिके ब्यौहार ।
व्यासदास कत भाजि उबरियै परियै माँझीधार ॥

—व्यासजी

तथा एक सीमातक सहन कर सकें ।' बड़े स्नेहसे कंधेपर हाथ रक्खा उन्होंने । भला ऐसे पुरुषसे कौन उद्विग्न होगा ।

'अरे, किसीने स्मरणतक नहीं किया ।' एकने मुखपर अंगुली रखकर सङ्केत किया और वह उन्मुक्त हास्य, अनर्गल प्रलाप, सब सहसा बंद हो गया । कूपकी पश्चिम दिशामें अस्तंगत भगवान् आदित्यकी ओर मुख किये वे ध्यानस्थ बैठे थे । सन्ध्याकी अरुणिमा उनके भव्य भालपर अन्तरका अनुराग लेकर प्रतिविम्बित हो रही थी । शिक्षकोंका भी उपहास करनेवाले वे उद्धत इस प्रकार शान्त एवं मृदुपदोंसे चले जा रहे थे जैसे अपराधी बालक गुरुजनोंके समीपसे दूर जानेका प्रयत्न करते हैं ।

'हमने प्रमादवश बाधा दी आपकी सायं-उपासनामें ।' सन्ध्यासे उठते ही मण्डलीने उनको घेर लिया । 'हाकीके उल्लासमें हममेंसे किसीको स्मरण नहीं रहा कि आप समीप ही पूजा कर रहे हैं । खेलमें कोलाहल तो होना ही था । अब कलसे पीछेके पार्कमें सब जाया करेंगे ।' सब समझ रहे थे कि यदि उनकी आराधनामें बाधा पहुँची तो शीघ्र चले जायँगे । पता नहीं क्यों, एक ऐसा सौहार्द हो गया था कि कोई नहीं चाहता था कि वे जायँ ।

'इस प्रकार सङ्कुचित वातावरणमें तो मुझसे नहीं रहा जायगा ।' हँसकर उन्होंने आशङ्का दूर कर दी । 'यदि मेरे कारण सबको सदा सशङ्क रहना पड़े तो मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये । मैं भी तुमलोगोंमेंसे ही एक हूँ । मनुष्यको इस कोलाहलपूर्ण विश्वमें ही रहना है । वह कहाँ-कहाँसे उद्वेग प्राप्त करता रहेगा । यदि खेलका कोलाहल मुझे बाधा पहुँचाता तो कमरेमें आसन लगा लेता । अपने मनके भीतर उद्विग्नता न हो तो बाहरसे कोई उद्विग्न नहीं कर सकता । मनमें उद्विग्नता हो तो वनमें भी भ्रमर, पक्षी, बंदर आदि उद्विग्नताके निमित्त बन जाते हैं ।' यह तत्त्वज्ञान छात्रोंके मस्तिष्कमें उतरनेवाला नहीं था । उनके लिये यही बहुत था कि उनके आदरणीय अतिथिको कष्ट नहीं हुआ है और कलसे तो वे अपने खेलका स्थान बदल ही देंगे ।

× × × ×

[२]

घरपर वृद्ध पिता हैं और छोटा भाई है । थोड़ेसे खेत हैं । भाई खेतीका प्रबन्ध कर लेता है । एक वर्ष अनावृष्टि और फिर अतिवृष्टि । इस वर्ष आशा थी कि कुछ हो जायगा । विशेषतः ईख अच्छी लगी थी । ऋणसे छुटकारा मिल जायगा । पिछले वर्षका लगान भी देना है । सारी आशाएँ भगवती जाह्नवीकी बाढ़में बह गयीं । इतनी बड़ी बाढ़ अभी कई वर्षोंमें नहीं आयी थी । अब क्या हो ? यदि इस वर्ष लगान न दिया जा सका तो पूर्वजोंकी सम्पत्ति जो थोड़ी-सी भूमि है, वह भी चली जायगी । वर्षभर पेटकी ज्वालाको भी शान्त करना ही होगा । घरका बीज भी तो गङ्गाजी ले गयीं । सोचा था कि इस वर्ष आचार्यका खण्ड देंगे । परिस्थितिने विवश किया । कहीं कामके अन्वेषणमें नगरमें भ्रमण प्रारम्भ हुआ । वह तो अपने ग्रामका छात्र है एक छात्रावासमें । अध्ययन छोड़नेपर कौन अपने यहाँ रहने देता । छात्रावास ही पण्डित मदनमोहनजीका आश्रयस्थल बन गया है इस समय ।

'आपका प्रार्थना-पत्र स्वीकार हो गया है ।' कितना उल्लास था सुनानेवालेमें । छात्रोंने घेर लिया । उन सबको अत्यन्त प्रसन्नता थी । अब वे उनके ही विद्यालयमें संस्कृतका अध्यापन करेंगे ।

'आपके द्वारा मैं तो अब संस्कृत पढ़ूँगा ।' यहाँके छात्र संस्कृतको मृत-भाषा मानते हैं । प्रायः संस्कृत अध्यापकको दो-चार छात्र ही मिलते हैं और वे भी विद्यालयमें 'खूसट' समझे जाते हैं । शेष सब अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञानको महत्त्व देते हैं । 'मैं भी' एक

साथ कई कण्ठ-स्वरोंने आवृत्ति की। पण्डितजीके कारण संस्कृतका स्नेह उमड़ पड़ा था।

'मैं सन्ध्या करनेके लिये कुछ समय चाहता हूँ।' स्थिर शान्त शब्दोंमें सबसे उन्होंने आग्रह किया। आज-तक जिस स्थानपर दो-दो, तीन-तीन विषयोंके आचार्य ही नियुक्त होते रहे हैं, उस स्थानपर एक शास्त्रीकी नियुक्ति और वह भी ऐसे व्यक्तिकी जो इधर दो सप्ताह-से छात्रावासका अतिथि हो रहा है। दस, पंद्रह रुपये-के स्थानोंके लिये दिन-दिनभर नगरमें यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। एक बार भी नहीं पूछा गया कि नियुक्तिकी सूचना कैसे मिली। प्रार्थना-पत्र कैसे स्वीकृत हुआ। सन्ध्याके आसनपर पहुँच चुके थे और कुछ क्षण भी व्यर्थ खोने अब सह्य नहीं थे।

'आप हमलोगोंको मिठाई कब खिलायेंगे?' छात्रों-का उत्साह शिथिल नहीं हुआ था। वे अबतक यही सोच रहे थे कि किस प्रकार अपने नये शिक्षकका सत्कार किया जाय। आयोजनोंकी रूप-रेखा अभी सम्पूर्ण नहीं हुई थी। सन्ध्यासे उठते ही पण्डितजीको उन्होंने पुनः घेर लिया।

'मेरे भगवान् तो मिठाई खाते नहीं।' हँस रहे थे वे। 'प्रसाद सबको नित्य प्राप्त ही होता है और मिठाई ही खानी हो तो प्रतीक्षा करनी चाहिये, जबतक मैं प्रथम पारिश्रमिक कहींसे प्राप्त करूँ।' यह प्रसङ्ग यहीं समाप्त करके उन्होंने पुस्तक उठायी अपने आसन-पर पहुँचकर। इस समय गीता पढ़ाया करते हैं वे कई छात्रोंको।

पानी पड़े या पत्थर—उनका कार्य चलता रहेगा अपनी स्वाभाविक गतिसे। दूसरे तो उनके समान नहीं हैं। छात्रोंका मन गीतामें नहीं लग रहा था। अन्तरका उल्लास दबाना उन्होंने सीखा नहीं है। जीवनके जटिल भारके नीचे जबतक हृदयका उन्मद ओज पिस नहीं जाता; दया, करुणा, ममता, त्याग एवं कष्टको सहनेका उत्साह तभीतक रहता है। युवक प्रेरणाशील होता है। वह प्रेरणाको गम्भीरतासे ग्रहण करता है और उसीमें शक्ति होती है आदर्शपर मिट जानेकी। उसे भ्रान्त आदर्शसे प्रेरित करना समाजको विनाशके हाथोंमें सौंप देना है। एक बार जब युवक उल्लसित हो जाता है, उसका वेग अदम्य होता है। उसकी श्रद्धा उमड़ती है और जहाँ भी उमड़ती है, सम्पूर्ण वेग होता है, उसमें।

जिसके हर्षका समय था, वह तो आज एकाकी हो गया था। पता नहीं अपने तख्तेपर बैठा किस अज्ञात-का ध्यान कर रहा था। हर्ष जैसे उसके लिये अस्पृश्य है। जब वह प्रातः उठा तो समझते देर न लगी कि छात्रोंके उल्लासने बहुत रात्रितक उन्हें जाग्रत् रक्खा है और इसीलिये उनमेंसे प्रत्येक अभी गम्भीर निद्रामें निमग्न है।

'आदेशको सञ्चालकने पुनः निरीक्षणके लिये माँगा है।' सबसे प्रथम छात्र पहुँचे विद्यालयके अध्यक्षके समीप। वे नियुक्तिपत्रको पढ़ लेना चाहते थे। उन्हें कुछ खिन्नता हुई इस उत्तरसे। 'मैं स्वयं चाहता हूँ पण्डित मदनमोहनजीकी नियुक्ति। अपनी सम्मतिके साथ शीघ्रता करनेको भी लिखा है मैंने।' छात्रोंको आश्वस्त करना चाहा उन्होंने। उनको विश्वास था कि कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। एक बार जो बात निश्चित हो चुकी है, उसे पुनः देखनेकी सञ्चालककी इच्छा कुछ अस्वाभाविक अवश्य प्रतीत होती थी; किंतु आशंकाका कोई कारण नहीं जान पड़ता था। छात्रों-को सन्तोषप्रद उत्तर मिले वहाँसे।

'आपके साथ अन्याय हुआ है!' सायंकाल छात्रोंमें प्रबल असन्तोष था। ज्ञात हुआ था कि सञ्चालकने नियुक्ति परिवर्तित कर दी है। 'अच्छी मोटी रकम दी गयी होगी या किसी 'बड़े' का दबाव पहुँचा होगा!' अनुमानने निश्चयका रूप लिया और कुछ लोगोंने तो यहाँतक बता दिया कि किस प्रलोभनने सञ्चालकसे यह दुष्कृत्य करा लिया है।

'भाई दिनेशचन्द्र मुझसे अधिक योग्य हैं।' पण्डितजीको न दुःख था और न रोष। 'वे मेरे सहाध्यायी रहे हैं। उनके किसी सद्गुणके कारण ही उन्हें सञ्चालकजीने उपयुक्त समझा है। हमें स्वार्थ एवं पक्षपातके कारण दूसरोंपर आक्षेप नहीं करना चाहिये।' जान-बूझकर भी उन्होंने नहीं बताया कि दिनेशचन्द्र द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए हैं और कक्षामें भी सबसे पीछे ही बैठना अपने लिये उपयुक्त समझा करते थे वे।

'उनका सबसे बड़ा सद्गुण यह है कि वे सञ्चालकजीके सम्बन्धीके पुत्र हैं!' एक छात्र रोषसे उबल पड़ा। 'लेकिन विद्यालय तथा हमारे हितका यह दमन हमलोग नहीं करेंगे।' प्रदर्शन तथा हड़तालके निश्चयके साथ विद्यालयसमितिके सदस्योंके समीप आवेदन करना भी स्थिर हो गया।

'मैं इस परिस्थितिमें अपनेको उलझाना नहीं चाहता और यदि मुझे सन्तुष्ट करके तुमलोगोंको मेरा सहयोग अभीष्ट है तो शान्त रहना चाहिये। यदि असन्तोष व्यक्त किया गया तो मुझे छात्रावास छोड़ना होगा और तब तुम्हारे प्रयत्नोंका कोई अर्थ ही नहीं होगा।' उन्होंने एकदम शान्त कर दिया सबको। 'मेरे एक सहपाठीको यह पद प्राप्त करनेका अवसर मिला है, मैं इससे प्रसन्न हूँ। मेरे कष्ट, मेरी कठिनाइयाँ और यही सब उनके सम्मुख भी तो होंगी। वे अपनी विकट परिस्थितियोंसे किसी प्रकार छूटें तो सही।' कौन जानता था छात्रोंमें कि दिनेशचन्द्र सर्वदा उन्हें अपमानित किया करते थे। उनसे द्वेष रखते तथा शिक्षकसे उनकी निन्दा करते रहते थे। इस ईर्ष्याका कारण था उनकी प्रतिभा। कक्षामें दिनेश कभी उनके समकक्ष न हो सके। आवश्यकता न होनेपर भी अध्यापनका स्थान उन्होंने प्राप्त किया था, केवल मदनमोहनजीकी ईर्ष्याके कारण। सञ्चालक उनके सम्बन्धी थे और यह सह्य नहीं हुआ कि अपने प्रतिस्पर्धीको वे इस पदपर प्रतिष्ठित देखें।

'आप क्या करेंगे?' हतोत्साह छात्रोंने प्रश्न किया।

'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ और यही प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।' स्वर शान्त था। 'प्रत्येक जल-सीकर तथा प्रत्येक अन्न-कणपर—विश्वके प्रत्येक पदार्थपर नामाङ्कन कर रक्खा है स्रष्टाने। जो जिसके प्रारब्धका है, केवल वही उसे प्राप्त कर सकता है। मनुष्यका लोभ, अमर्ष व्यर्थ है।' मदनमोहनजीके सन्ध्याका समय हो गया था और वे आसन उठा चुके थे।

'अपने पुस्तकालयमें एक स्थान रिक्त है!' एक छात्रने सूचना दी।

'तुम चाहते हो कि पण्डितजी अपने सहपाठीके निरीक्षणमें काम करें?' दूसरेने डाँटा। पुस्तकालयके निरीक्षणका भार संस्कृत-अध्यापकके ऊपर होता है और वही उस विभागके कर्मचारियोंको नियन्त्रित करता है।

'मैंने उसके लिये प्रार्थना कर दी है!' उन्होंने पीछे मुख किये बिना ही सूचित किया। 'ग्रन्थावलोकन तथा अध्ययनका अवकाश है उसमें। जब कार्य करना है तो किसीके भी नियन्त्रणमें कार्य करना अपमानका कारण नहीं हो सकता।' छात्रोंको आश्चर्य हुआ। इस प्रकारके निर्लिप्त पुरुषके परिचयमें वे प्रथम बार आये थे।

'आप ग्रन्थोंकी पुरानी सूची देख लें! मिला लें और नवीन सूची बना लें।' नवीन संस्कृत अध्यापकने प्रार्थनापत्र स्वीकार कर लिया था। कक्षामें जिससे सदा वे पीछे रहे, उसीपर शासन करनेकी भावनाने उदार बना दिया उन्हें। पहले ही दिन उन्होंने आदेश दिया—'जिन ग्रन्थोंके आवरण-पृष्ठ नष्ट या अस्त-व्यस्त हुए हैं, उन्हें सुधर जाना चाहिये। एक व्यवस्थित सूचीपत्र चाहिये कि किन आवश्यक ग्रन्थोंका अभाव है।' आज ग्रन्थोंके प्रति उनमें अनुराग जाग्रत् हो गया था। अध्ययनकालमें की गयी उपेक्षाका जैसे पूरा प्रायश्चित्त कर लेना चाहते हों। मदनमोहनजीने शान्तिपूर्वक सावधानीसे समस्त आदेश स्वीकार कर लिये।

× × ×

[३]

'आपको रहना चाहिये। कम-से-कम एक व्यक्ति तो रहे विद्यालयके निरीक्षणार्थ !' दिनेशचन्द्रने आज स्वरको नम्र बना लिया था। 'ग्रामशिविरमें पुस्तकालय ले जाना अनावश्यक है और ऐसे समय यह बहुत निश्चित है कि मरे हुए चूहोंकी दुर्गन्धिसे वह भर जायगा। आपके रहनेसे उसकी सँभाल रहेगी और साथ ही सँभाल रहेगी विद्यालयकी भी।' नगरमें प्लेग फैल चुका था। नागरिकोंमेंसे अधिकांश बाहर जा चुके थे और जो रह गये थे, भागनेकी चिन्तामें थे। विद्यालयके तंबू-खेमे आदि नगरसे दूर भेजे जा चुके थे। दूसरे ही दिन विद्यालय वहाँ चला जायगा।

'क्लेश और मृत्यु—दोनों प्रारब्धके भोग हैं। यदि उन्हें आना है तो वन रोक नहीं सकता और नहीं आना है तो नगर उन्हें बुलानेमें समर्थ नहीं !' पण्डित मदन-मोहनजीने शान्तिपूर्वक स्वीकृति दी। 'मैं अपने दायित्वका अनुभव करता हूँ। आप निश्चिन्त होकर जा सकते हैं !' घरसे बार-बार आग्रहभरे पिताके पत्र आ रहे थे कि इस समय वे घर चले आवें; किंतु ऐसे कठिन समयमें विद्यालयको छोड़ना उपयुक्त नहीं जान पड़ा उनको।

'गणेशजीके एक वाहन इधर पड़े हैं !' मध्याह्नमें सेवकने सूचित किया। वह पुस्तकोंको स्वच्छ करनेमें लगा था।

'रुको !' पण्डितजी जानते थे कि अशिक्षित जन आशङ्कासे अधिक आक्रान्त हुआ करते हैं। 'अब यहाँ काम करना बंद कर दो !' उन्होंने स्वयं एक कागजपर चूहेको उठाया और दूर ले जाकर अग्निसंस्कार कर दिया। स्नान तो करना ही था इसके पश्चात्।

'तड़-तड़ तड़-तड़ !' कोई मुख्य द्वारपर आघात कर रहा था। पण्डितजीको साधारण ज्वर हो आया था। वे उठे। दीपककी बत्ती ऊँची हुई। 'कौन है ?' ज्ञात हो रहा था कि एक पूरी भीड़ खड़ी है बाहर। खिड़कीके छेदोंसे उन्होंने देखा। अन्धकारमें पता नहीं भालोंके नोक चमक रहे थे या नंगी तलवारें। लाठियोंकी खटपट सुनायी पड़ती थी। द्वारका प्रकाश आततायियोंने नष्ट कर दिया था।

'द्वार खोलो !' बाहरसे किसी भारी कण्ठने क्रुद्ध स्वरमें आदेश दिया। जनहीन नगरमें कई स्थानोंपर गतरात्रि ताले टूटनेकी बात सुनी जा चुकी है। 'तुम लोगोंने बड़ा ऊधम मचा रक्खा है ! तुम्हारे संग्रहालयमें सुनते हैं, दूसरोंके धर्मग्रन्थोंकी खोज हो रही है और इस तरह तुम हमारी खिल्ली उड़ाया करते हो ! हमें महज अपनी चीजोंसे मतलब है और तुम सीधे उन्हें दे दो, यह तुम्हारे भलेके लिये है।' विद्यालयके प्रति एक वर्ग रुष्ट रहा करता है और विशेषतः उसके साहित्यिक अन्वेषण-विभागसे। आज अवसर पाकर आततायी बन गया है वह समूह।

'आपलोग लौट जायँ ! जबतक मैं यहाँ हूँ, आप भीतर आनेका व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं !' एक ज्वरार्तके कण्ठस्वर-जैसा नहीं था वह स्वर। यह समझ लिया गया था कि यदि द्वार खोला गया तो पुस्तकालय अग्निकी लपटोंमें होगा। आततायियोंके हाथोंके जलते उल्मुक उन्हें रात्रिमें पिशाच बनाये हुए थे।

'अच्छा, देखेंगे हम !' द्वारपर आघात और प्रबल हो गया। 'काफिरको कुत्तेकी मौत न मारा तो आना ही बेकार हुआ।' गालियोंकी बीभत्सताका वर्णन व्यर्थ है।

'मैं अन्तिम बार कहता हूँ, आपलोग हट जायँ !' भय जब मनुष्यके मानसको अव्यवस्थित नहीं करता, स्थिर बुद्धि स्वतः आपत्तिमेंसे मार्ग निकाल लेती है। द्वारके ऊपरसे पण्डितजीका निश्चयात्मक स्वर सुनायी पड़ा। 'अब मैं यहाँसे ईंटें डाल रहा हूँ नीचे और उससे आहतोंका उत्तरदायित्व स्वयं उनपर होगा।' एक क्षण—एक धमाका और एक कोई आह करके बैठ

गया। मुख्य द्वारके ऊपरके कमरेसे सचमुच पण्डितजीने एक ईंटा छोड़ दिया था।

'अच्छा, देख लेंगे!' क्रुद्ध आततायी पीछे हटनेको विवश हो गये। एक ब्राह्मणने उन्हें इस प्रकार नीचा दिखाया, इसका बदला लेंगे वे। पण्डितजी परिस्थिति न समझते हों, ऐसी बात नहीं। वे जानते थे कि ये लोग विद्यालयके समीपके घरोंसे ही आये हैं। छिपकर उनका आघात कभी भी सम्भव है। कोई कबतक अपनेको विद्यालयके घेरेमें बन्दी रक्खेगा। यह ठीक होकर भी ठीक नहीं था। पण्डितजी जानते हैं कि विश्व-नियन्ताकी इच्छाके विरुद्ध कोई कुछ कर नहीं सकता। ऐसा विश्वासी हृदय भयके लिये कभी उन्मुक्त नहीं होता।

'पण्डितजी! आप विद्यालयके आदर्शको जानते हैं!' दिनेशचन्द्रजीने नगरमें पहुँचते ही व्यङ्गवर्षा प्रारम्भ कर दी। आभार मानना तो किसीका उन्होंने सीखा ही नहीं है। 'आपसे आशा थी कि अपनेको उसके अनुकूल बना लेंगे। हमें इन ट्रेडमार्कोंकी अब आवश्यकता नहीं है।' यह आक्षेप था तिलकपर। उनकी पूजा-पाठका तो प्रायः परिहास किया जाता रहा है।

'मेरे व्यक्तिगत आचरणोंका कोई अनिष्ट प्रभाव मेरे कार्यपर नहीं पड़ता।' पण्डितजीका एक नियमित उत्तर रहा है।

'आपके द्वारा छात्रोंके सम्मुख एक भ्रान्त आदर्श उपस्थित होता है।' जो आक्षेप करनेपर ही उतारू हो, उसके लिये निमित्तोंका क्या अभाव। 'इसी छूत-छातके खटरागके कारण देशका सर्वनाश हुआ और आप यहाँ भी वही रोग संक्रामक बना रहे हैं। आपका यह नाक दबाना और घंटी हिलाना, यहाँके सुसंस्कृत वातावरणके उपयुक्त नहीं है।' इधर कई छात्र पूजाके अवसरपर ही उन्हें स्पर्श कर दिया करते हैं। कई बार स्नान करना पड़ता है। भोजनालयमें भी उच्छृङ्खलता होने लगी है। फलतः कई समय फलोंपर रहना पड़ता है। इस सबमें जिसका गुप्त संकेत है, वह अज्ञात नहीं।

'मैं समीपमें कोई स्थान देख रहा हूँ।' पण्डितजीने शान्तिसे सूचित कर दिया। 'शीघ्र ही छात्रावाससे वहाँ अपना आसन बदल लूँगा और तब आपको कोई अवसर नहीं प्राप्त होगा।' एक मकान उन्होंने देख भी लिया है। पड़ोस अच्छा नहीं। आसपासके लोग द्वेष करते हैं उनसे। उनके कारण ही उस रात्रिमें विफल जो लौटना पड़ा था। जो भी हो, स्थान तो बदलना ही होगा।

अब भी गिल्टियोंमें पीड़ा है मन्द-मन्द। ज्वरने छोड़ दिया; किंतु शरीरमें शक्ति नहीं लौटी। नवीन स्थान अनुकूल तो क्या पड़ेगा, जो छात्रों और विद्यालयके सेवकोंकी सहायता मिल जाती थी, उससे भी वञ्चित हो गये। अब अपने ही हाथों सब कार्य करना है। ठीक समयसे तनिक भी विलम्ब हुआ पुस्तकालय पहुँचनेमें तो बहुत कठोर शब्द मिलेंगे स्वागतमें। इधर एक और आपत्ति आ गयी। कभी आँगनमें अस्थिखण्ड मिलता है और कभी मांसके टुकड़े। पड़ोसियोंका रोष इस रूपमें प्रकट हुआ है। पूरा स्थान प्रक्षालित करना और फिर स्नान करना। दिनमें दो बार यह करनेमें भोजन बनानेको समय कहाँ रह जाता है।

'दिनेशचन्द्रजीको तो गिल्टियाँ आ गयी हैं।' पहुँचते ही किसीने सूचित किया। दो दिनसे संस्कृतके अध्यापक ज्वरमें पड़े थे। पण्डितजी उनकी दिनमें दो बार पूछ-ताछ कर आते थे। शीघ्रतासे उनके निवासपर पहुँचे। वहाँ उनके पिता आ गये थे और पुत्रको घर ले जानेकी व्यवस्था हो रही थी।

'भाई मदनमोहनजी!' बहुत दिनोंपर दिनेशजीके मुखसे ये शब्द निकले थे। 'मैंने जो नीच व्यवहार किया है, उसके लिये क्षमा करना।' जो कोई नहीं

समझा सकता था, रोग एवं मृत्यु-भयने उसे समझा दिया।

'भाई ! लज्जित न करो मुझे ।' पण्डितजी बैठ गये उनके सिरहाने । 'तुम स्वस्थ हो जाओ ! मैं हृदयसे चाहता हूँ, तुम अच्छे हो और यदि मेरे कोई सत्कर्म तुम्हारी सहायता कर सकें, तो तुम्हारे लिये मैं उन्हें अर्पित करता हूँ ।' तबतक वे वहीं रहे, जबतक दिनेशकी मोटर चली नहीं गयी वहाँसे ।

'मालिक आपका भला करे !' दिनेशजीके यहाँसे लौटकर वे इस बुढ़ियाके घर जानेको विवश हुए । क्या हुआ जो इसी मकानसे हड्डी और मांसके टुकड़े गिरते रहे हैं, उनके यहाँ । क्या हुआ जो स्थान सर्वथा दूषित, दुर्गन्धित एवं अशुद्ध है । वे कुछ थोड़ा-सा उपचार जानते हैं और एक वृद्धाका एकमात्र पुत्र रोग-शय्यापर पड़ा था । रात्रिभर रोगीके सिरहाने जागते हुए व्यतीत करके लौटे हैं वे । 'आपकी दुआसे बच्चेने आँखें खोल दी हैं और बुखार कम हो गया है ।' बेचारी बुढ़िया कृतज्ञताके आवेशमें पैरोंपर पड़ते समय भूल ही गयी कि पण्डितजी स्नान करके पूजापर बैठने जा रहे हैं ।

'उहूँ, तुम्हारी यह छोटी-सी माला हमारे गलेमें नहीं आवेगी । डाल दो इसे चरणोंपर !' दुबारा स्नान करके पण्डितजी आसनपर बैठे । यह क्या हो रहा है आज । उनके श्रीविग्रह तो इतने बड़े नहीं हैं। अहा ! ये ज्योतिर्मय अरुण चरण ! यह स्निग्ध धवल प्रकाश और यह मन्द-मुसकानसे वह नटखट कह क्या रहा है । हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगपर विजय पाकर जो कर्तव्य एवं आर्तोंकी सेवामें अपनेको समर्पित कर चुका है, सर्वस्वरूप आज उसके सम्मुख नवजलधर श्यामके रूपमें घनीभूत हो गया था ।

शान्तिकी खोज

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मनुष्य जबतक पूर्ण परात्पर परमात्मामें ही बुद्धि स्थिरकर उन्हींमें निवास नहीं करता, तबतक पूर्ण शान्ति अथवा परमानन्दका अनुभव कहीं नहीं कर सकता, उसे नित्य किसी-न-किसी अभावसे दुखी रहना पड़ता है । सभी प्रकारके अभाव—दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका साधन सत्याधार परमात्माका पूर्ण योगानुभव है ।

परमानन्दस्वरूप परमात्माके योगानुभवसे सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगजनित सुख-दुःख मिट जाते हैं। संसारके सुख तथा दुःख ही तो प्राणीके बन्धनका कारण हैं। अब प्रश्न उठता है कि परमात्माका योगानुभव किस तरह हो, तो इसका साधन परमात्माके प्रति प्रगाढ़ भक्ति है। इस प्रकारकी भक्तिका साधन प्रगाढ़ ध्यान है। ध्यान करना नहीं पड़ता है, स्वतः ही होता रहता है और वही सच्चा ध्यान है। इस तरहके ध्यानका साधन प्रगाढ़ प्रेम है, प्रेम होनेपर स्वतः ध्यान रहता है और प्रेम वह है जिसमें प्रेमपात्रके अतिरिक्त अन्य किसीके लिये हृदयमें स्थान न रहे, अपने तन-मनके सुख-दुःखका भी ध्यान न रहे । इस प्रकारके प्रेमका साधन परम प्रभु परमात्माकी नित्य कृपाका अनुभव है । सांसारिक सम्बन्धियोंमें जिसकी जितनी अधिक सुखमय कृपाका अनुभव होता है, उतना ही उससे प्रगाढ़ स्नेह होता है । विचार-दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि परमात्माकी हमपर अनन्त कृपा है, वे तो हमारा कभी त्याग या तिरस्कार करते ही नहीं हैं, उन्हींमें रहकर उन्हींकी सत्तासे हम अपनी सभी प्रकारकी वासनाओं, कामनाओंकी पूर्ति करते हैं । नाना प्रकारके सुख भोगते हैं; अज्ञानवश अपने सुखकी प्राप्तिके लिये हम चाहे जितने पाप-अपराध करें फिर भी उन्हींसे नित्य जीवनकी शक्ति पाते हैं । इस तरहकी कृपाका जितना ही अधिक अनुभव होता है, उतना ही परम प्रभुके प्रति प्रेम बढ़ता जाता है । इस प्रकार कृपानुभवका साधन

परमाधार प्रभुका ज्ञान है। परमाधार परमात्माको जाननेका साधन सूक्ष्मबुद्धि और सद्गुरुदेवके प्रति सात्त्विक श्रद्धा है। कदाचित् किसीकी बुद्धि मन्द है तो ज्ञानी सत्पुरुषका समागम करते हुए भी अधिक कालतक ज्ञान नहीं होता। यदि किसीकी बुद्धि तीव्र है परंतु सद्गुरुके प्रति शुद्ध श्रद्धा नहीं है तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। श्रद्धाके अभावमें अपनी सीमित जानकारीका अभिमान ज्ञानके उच्च सोपानोंमें नहीं बढ़ने देता। शुद्ध ज्ञानके लिये ज्ञानीके प्रति श्रद्धा और तीव्र बुद्धि दोनोंका होना अत्यावश्यक है। इस प्रकारकी श्रद्धा तथा तीव्र बुद्धिका साधन संत-महात्माओंका सत्संग है। संगके अनुसार ही बुद्धि बनती है और बुद्धिके अनुसार ही न्यूनाधिक ज्ञान होता है।

मनुष्यको अपने जन्मके साथ ही किसी-न-किसी तरहका संग अवश्य मिलता है, जिस प्रकारके भाव-विचार और भाषा-भूषावाले लोगोंका संग सुलभ रहता है उसी प्रकारके भाव-विचार, वेष-भूषा आदि मनुष्यमें दृढ़ हो जाते हैं। यदि किसीको जन्म लेनेके साथ ही यथार्थ-दर्शी ज्ञानी महात्माओंका संग सुलभ हो जाता है तो निस्सन्देह उसकी बुद्धिमें उन्हीं ज्ञानी पुरुषोंका ज्ञान बढ़ता जाता है। यह भी समझ लेना आवश्यक है कि संगका आशय शरीरमात्रकी समीपतासे ही नहीं है अपि तु शरीरके साथ इन्द्रिय-मन और बुद्धिके संयोगसे है, क्योंकि किसीका शरीर कदाचित् ज्ञानी पुरुषके समीप रहने लगे और मन-बुद्धि किसी अज्ञानी प्रपञ्चोपासक व्यक्तिमें लगे रहें तो उसके मन-बुद्धिपर प्रपञ्चीका ही प्रभाव पड़ेगा, जिसमें मन लगा होता है, जिसमें बुद्धि स्थिर होती है उसीका प्रभाव पड़ता है, उसीका ज्ञान होता है; इसीलिये ज्ञानी संत-महात्माओंका मनोयोगपूर्वक बुद्धिसे संग होना चाहिये। ऐसा होनेपर ही ज्ञानी पुरुषोंकी कृपासे बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती जाती है और गुरुदेवके प्रति श्रद्धा भी शुद्ध और स्थिर होती है।

ज्ञानी संत-महात्माओंके सुसंगका साधन सञ्चित पुण्य है, मन्दभागीको संत-समागम सुलभ नहीं होता, पाप संतोंके प्रति झुकने नहीं देते हैं। जब कभी पुण्य बन गये तो उन्हींके प्रभावसे संत-महात्माओंके प्रति आकर्षण होता है, उनका सुयोग सुलभ हो जाता है। पुण्य-प्राप्तिका साधन दूसरोंकी सेवा और हित है।

सेवा करनेवालोंको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि सेवा करते हुए दूसरोंको केवल बाहरसे सुखी करनेका ही पक्ष लिया जाता है और उसके हितका ध्यान नहीं रक्खा जाता है तो वह कभी-कभी पुण्य न होकर पाप एवं अपराध बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान्को दूसरेके सुखका ही ध्यान न रखकर उसके हितका ध्यान रखना चाहिये। हितमूलक सेवाका परिणाम अत्यन्त सुखमय होता है। सुखकी अनुभूति इन्द्रिय-मन आदि निम्नक्षेत्रोंद्वारा होती है और हितका ज्ञान बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय क्षेत्रसे होता है। पुण्यवान् होनेके लिये सेवारूप साधनमें यदि निर्बलता बाधक बने तो निर्बलता दूर करनेका साधन तप है। तपका अर्थ है—सभी प्रकारके कष्टोंको धैर्यपूर्वक सहते चलना। यदि कष्ट सहनेकी शक्ति न हो तो शक्ति-प्राप्तिका साधन संयम है। मर्यादाके भीतर आहार-विहारमें संयमसे देहमें कष्टसहिष्णुताकी शक्ति बढ़ती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादिमें संयम रखनेसे इन्द्रियोंमें शक्ति दौड़ती है, इसी प्रकार सङ्कल्प, विकल्प, वासना और इच्छामें संयम रखनेसे मनोबलकी वृद्धि होती है और विचारोंमें संयम रखनेसे बुद्धिमें योग्यता आती है। संयमीको अपनी शक्तिका कहीं भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये और यह तभी सम्भव है जब साधक सद्गुणोंसे सम्पन्न हो जाय। सद्गुणोंसे सम्पन्न होनेका साधन मोह-माया, मान, लोभ और क्रोधादि विकारोंका त्याग है। विकाररहित एवं निरभिमान होनेका साधन विनम्रतापूर्वक निर्विकार ज्ञानी पुरुषकी उपासना है। ज्ञानी पुरुषके निकटस्थ होनेपर ही साधक अपने दोषोंको देख पाता है और

अपने दोषोंको ही समस्त दुःखोंका कारण समझकर सदाके लिये उनका त्याग कर देता है। निर्दोष जीवन पूर्णानन्दकी प्राप्तिका साधन है। इस प्रकारका जीवन ही भगवान्‌को अति प्रिय होता है। निर्दोष जीवन अपने सर्वाङ्गोंसे पवित्र होनेके कारण ही भगवान्‌को पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमें सफल होता है। वह निर्दोष शरीरसे सर्वरूपमय भगवान्‌के साकार रूपकी सेवा करता है, अपने निर्दोष नेत्रोंसे भगवान्‌की विश्व-व्याप्त सुन्दरताको देखता रहता है और उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर निरन्तर मनन करते हुए परम संतुष्ट रहता है। इसी प्रकार अपनी निर्दोष बुद्धिसे नाम-रूपमय जगत्‌के पीछे रहनेवाली सर्वाधार भगवान्‌की सत्ताको जानते हुए निर्भर रहता है और अपने निर्दोष अहंसे भगवान्‌के अखण्ड चिन्मात्र स्वरूपका अनुभव करते हुए बिन्दुकी भाँति आनन्दसिन्धुमें तन्मय रहता है। और इस तरह अपूर्ण संसारमें अभावग्रस्त जीवात्मारूपी साधक अपने निर्दोष जीवनरूपी साधनके द्वारा पूर्णानन्दस्वरूप जगदाधार परमात्माको प्राप्त करता है। यही पूर्ण-सिद्धावस्था है, इसमें पहुँचे बिना संसारमें किसीको कहीं भी परम शान्ति नहीं मिल सकती।

पक्षी

[कहानी]

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर 'साहित्यमनीषी')

घोंसलेमें बैठा हुआ पक्षी मधुर स्वरसे गा रहा था। प्रातःकालकी भीनी-भीनी वायु चित्तको प्रसन्न कर रही थी। भगवान् भास्करका स्वागत करनेवाले सहयोगी पक्षियोंका कलरव आनन्दको बढ़ा रहा था। नैसर्गिक शोभा किसी अलक्षित प्रेम-राज्यका स्मरण दिला रही थी। अचानक एक अहेरी आकर घोंसलेके आगे खड़ा हो गया। उसने भैरव-हुंकार करके पक्षीको ललकारा और तत्काल धनुषपर बाण चढ़ा लिया। घोंसला कदलीपत्रकी नाईं काँप उठा। पक्षीने व्यग्र होकर कहा—'तुम कौन हो?' अहेरीने कड़ककर उत्तर दिया—'मुझे लोग कराल काल कहते हैं।' पक्षीने प्रश्न किया—'तुम्हारे आनेका क्या कारण है?' अहेरीने निःस्पृहतासे कहा—'मैं तुम्हारा अन्त करनेके लिये आया हूँ।' पक्षी मुसकराकर बोला—'मैंने क्या अपराध किया है?' अहेरीने उत्तर दिया—'तुमने कर्म-सूत्र छिन्न नहीं किया; बस, यही तुम्हारा अपराध है।' पक्षी खिल-खिलाकर हँसने लगा और भौंहें चढ़ाकर बोला—'तुम महामूर्ख हो।' अहेरीने गर्जकर कहा—'यह उद्दण्डता! तुम मुझे किस आधारपर मूर्ख बना रहे हो?' पक्षीने उत्तर दिया—'न जानना ही मूर्खता है, जिसे जीवका धर्म कहते हैं।' अहेरीने तीव्र स्वरसे कहा—'मैं त्रिकालज्ञ हूँ, ऐसी कौन-सी बात है, जिसे मैं नहीं जान सकता?' पक्षीने शान्तभावसे उत्तर दिया—'अच्छा, तो बतलाओ मैं कौन हूँ?' अहेरी बोला—'पाञ्चभौतिक शरीरधारी संसारी।' पक्षीने अट्टहास किया और भर्त्सना करके कहा—'यही तुम्हारा अज्ञान है, तुम घोंसलेको मेरा रूप मान रहे हो, इसीसे मुझे पाञ्चभौतिक कहते हो। यह नहीं जानते कि तुम्हारे नष्ट हो जानेपर भी मैं बना रहूँगा।' अहेरीने साश्चर्य घोंसलेकी ओर देखकर उत्तर दिया—'अच्छा, तुम्हीं मुझे अपना वास्तविक रूप बतला दो।' पक्षीने आश्वस्त स्वरसे कहा—'मैं वही हूँ, जिसका भेद आजतक किसीको नहीं मिला, न मिल सकता है, वेदोंने जिसका अन्त नहीं पाया, जिसपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता, जो काल, कर्म और स्वभावके बन्धन-से मुक्त है, जिसको नित्य, निरञ्जन एवं सच्चिदानन्द कहते हैं।' अहेरी लाल-लाल नेत्र दिखलाकर बोला—'इसका क्या प्रमाण है?' पक्षीने दृढ़तासे कहा—'प्रत्यक्षके लिये प्रमाणकी क्या आवश्यकता है, करके देख लो।'

अहेरीने कानतक धनुष खींचकर बाण छोड़ दिया। घोंसला शाखाका आधार त्याग नीचे गिर पड़ा। अहेरीने देखा कि घास-फूसके अतिरिक्त उसमें अन्य कोई पार्थिव पदार्थ नहीं है। एक ही क्षणके अनन्तर अहेरीको स्पष्ट सुनायी दिया कि दूसरे घोंसलेमें बैठा हुआ वही पक्षी अत्यन्त ललित, आकर्षक एवं हर्षोत्फुल्ल स्वरसे स्वर्गीय गानकी तान छेड़ रहा है।

जीवनका दार्शनिक विश्लेषण और प्राच्यदर्शनके अनुसार उसकी व्याख्या

(लेखक—श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

जीवन एक समष्टि है। शरीर और आत्मा—दोनोंके संयुक्त समूहका नाम जीवन है और दोनोंके वियोगका नाम मृत्यु है। बिना शरीरका आत्मा शक्तिहीन है तथा बिना आत्माका शरीर शवके रूपमें जड तथा चैतन्यहीन है। हम किसीके शरीरको जीवनके नामसे नहीं पुकार सकते और न उसके आत्माको ही। दोनोंकी समष्टिको ही हम जीवन कहते हैं। इसी प्रकार इस विशाल सृष्टिका भी एक शरीर है और एक इसका आत्मा है। सृष्टिकी अवस्थामें ये संयुक्त तथा प्रलयकी अवस्थामें वियुक्त रहते हैं। सृष्टिका शरीर प्रकृति और सृष्टिका आत्मा परब्रह्म या परमात्मा है। इन्हीं दोनों तत्त्वोंको हम चित् और अचित् (Nature and God), प्रकृति और पुरुष (Matter and Spirit), ब्रह्म और माया, आत्मा और शरीर (Soul and Body) तथा अन्य भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। इन्हीं दोनों तत्त्वोंकी समष्टिका नाम संसार है। सृष्टिकी अवस्थामें ये अपने स्थूल तथा प्रलयकी अवस्थामें ये अपने सूक्ष्मरूपमें पाये जाते हैं। संसारमें कुछ लोगोंका ध्यान सृष्टिके शरीरतत्त्वकी ओर गया और अन्य लोगोंका ध्यान उसके आत्मतत्त्वकी ओर। पश्चिमने जीवन और सृष्टिके शरीरको ग्रहण किया, प्राचीने उसकी आत्माको। शरीर भौतिक और दृष्टिगोचर है, अतः इसमें Observation और Experiment (दृष्टि-गणना तथा जाँच) की गुंजाइश है। अतः यह विज्ञानका विषय है। आत्मतत्त्व स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं देखा जा सकता। यह गम्भीर विचार तथा सूक्ष्म-बुद्धिका विषय है। अब इसको दर्शनने अपनाया। पश्चिम विज्ञानकी ओर झुका; पूर्व दर्शनकी ओर। पश्चिम सृष्टिके शरीर-तत्त्व—प्रकृतिका विश्लेषण करने लगा; पूर्व दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर आत्माका अन्वेषण करने लगा। पश्चिमकी कला और साहित्यपर भौतिक विज्ञानकी छाप है। वह भौतिक और शारीरिक सौन्दर्यकी ओर विशेष आकृष्ट हुआ है; प्राचीने शारीरिक सौन्दर्यके अन्तर्गत अध्यात्मवादकी एक रूपरेखा देखी। पश्चिमकी सर्वोत्कृष्ट नायिका—हेलेनमें हम शारीरिक सौन्दर्यकी प्रधानता पाते हैं, पर पूर्वकी सर्वोत्कृष्ट नायिका—सीताका सौन्दर्य उसकी पवित्र आत्माका दिव्य प्रतिबिम्बमात्र है। हेलेन हमारे सामने भोग्या नारीके रूपमें आती है, सीता परम पूज्या नारीके रूपमें। आज पश्चिम विज्ञानके द्वारा बाह्य प्रकृतिपर बहुत अंशोंमें विजय प्राप्त कर चुका है, पर आत्मतत्त्वकी अवहेलना करनेके कारण अन्तःप्रकृतिके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करनेके कारण पश्चिमके जीवनमें एक विराट् हाहाकार है—विलासिताकी लपट है—और स्वार्थ, हिंसा तथा द्वेषके कारण पारस्परिक संघर्ष है। पर पूर्व अध्यात्मवादकी धारामें इतनी दूरतक बह गया कि वह भौतिक विज्ञान तथा वास्तविक जीवनसे बहुत दूर चला गया था। (दुःख है आजकल वह भी अपने आदर्शको भूलकर पश्चिमका अन्धानुकरण करने लगा है!)

मैं कह चुका हूँ कि जीवन एक समष्टि है—शरीर और आत्मा दोनोंका समूह है। शुद्ध आत्मतत्त्व तो निर्विकार और सच्चिदानन्द है, पर शरीरके आवरणके अन्तर्गत ढँका हुआ आत्मा जीवात्माके रूपमें हमारे सामने आता है। आत्मा तीन शरीरों और पाँच कोशोंसे आच्छादित है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण या लिङ्ग शरीर तथा अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। स्थूल शरीर ही हमारा अन्नमय कोश है। स्थूल शरीरका निर्माण तथा वृद्धि खाये हुए भोजनसे होती है। हमारे सूक्ष्म शरीरमें प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश स्थित हैं। हमारे कारण-शरीरमें आनन्दमय कोश है। मृत्युके समय स्थूल शरीरसे हमारा वियोग हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर मृत्युके बाद स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्मकी अवस्थामें भी हमारे साथ रहता है। हमारे कर्मोंके संस्कार इसी सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित रहते हैं और वही सूक्ष्म शरीर स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म तथा भव-बन्धनका कारण है। इसी सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा पाना मोक्ष है। कारण-शरीर तो जीवात्माके साथ सदैव रहता है। गीतामें एक श्लोक है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् सृष्टिकी रचना प्रकृतिके आठ अवयवोंसे हुई है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश (Ether)—इन पाँच स्थूल तत्त्वोंसे स्थूल शरीरका निर्माण तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन सूक्ष्म तत्त्वोंसे सूक्ष्म शरीरका निर्माण हुआ है। हमारे असंख्य पुनर्जन्मों तथा योनि-परिवर्तनोंका कारण यही मन-बुद्धि-अहङ्कारसे बना हुआ सूक्ष्म शरीर है।

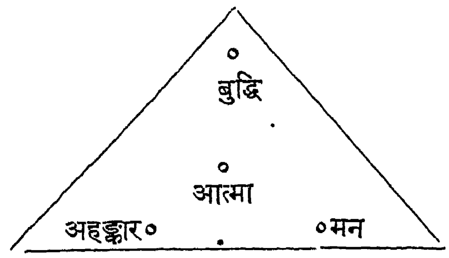
हमारे कर्मोंकी छाप इसी सूक्ष्म शरीरपर पड़ती है। हमारा वर्तमान जीवन हमारे अतीत जीवनका फल और हमारे भविष्य-जीवनका बीज है। जिस प्रकार एक छोटे-से वट-वृक्षमें सम्पूर्ण वट-वृक्षका विस्तार अन्तर्हित है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरमें भी सारे स्थूल शरीरका विस्तार और विकास अन्तर्हित है। अनुकूल परिस्थितिमें यह विस्तार विकसित एवं प्रत्यक्ष होने लगता है। यह आश्चर्यकी बात है कि हमारे पूर्वजन्मका कर्म किस प्रकार हमारे वर्तमान जीवनको आन्दोलित तथा प्रभावित करता है। साधारणतः कर्म हमलोग अपने स्थूल शरीरसे करते हैं और मृत्युके समय हमारा स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, फिर स्थूल शरीरसे किया हुआ कर्म क्यों नहीं नष्ट होता और किस प्रकार यह प्रारब्ध तथा संस्कारके रूपमें दूसरे जन्मपर भी प्रभाव डालता है? कर्म स्वतः न तो अच्छा है न बुरा। कर्म किस ध्येयसे किया जाता है, उसका लक्ष्य (Motive) क्या है, उसीपर कर्मका स्वरूप निर्भर करता है। जब हमलोग कोई कर्म करते हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ तथा स्नायु-जालकी ज्ञान-तन्तुएँ इसकी खबरें हमारे मस्तिष्कमें ले जाती हैं। हमारे बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) में कुछ कम्पन होता है—मानसिक जगत्‌में कुछ उथल-पुथल हो जाती है—और सूक्ष्म-शरीरपर एक गहरी छाप पड़ जाती है, कर्मका संस्कार अङ्कित हो जाता है। यही संस्कार हमारा प्रारब्ध बन जाता है। स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी सूक्ष्म शरीर तो हमारे साथ रहता है और यही सूक्ष्म शरीर अपने पूर्व-जन्मका कर्म-संस्कार प्रवृत्तिके रूपमें ले आता है, एवं प्रवृत्ति (Instincts) अज्ञातरूपसे हमारे जीवनका पथ-प्रदर्शन करती है। यदि कर्म करनेपर भी हमारे सूक्ष्म शरीरमें कोई लहर—कोई तरङ्ग उत्पन्न न हो, हमारे मानसिक जगत्‌में कोई उथल-पुथल न हो, तो कर्म न तो हमारे लिये बन्धनका कारण हो सकता है और न पाप या पुण्य उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणके लिये—किसी नग्न युवतीका दर्शन या उसके वक्षःस्थलका स्पर्श पाप है; क्योंकि इन कर्मोंसे मनमें एक विकार उत्पन्न हो जाता है और सूक्ष्म शरीरपर एक छाप पड़ जाती है। पर यदि किसी नवजात शिशुके सम्मुख कोई युवती नग्न हो जाय, या किसी सोये हुए व्यक्तिका हाथ भूलसे किसी युवतीके शरीरका स्पर्श कर ले, तो कोई पापका भागी नहीं होता, क्योंकि किसीके सूक्ष्म शरीरमें विकार उत्पन्न नहीं होता। एक व्यक्ति किसी नवयुवतीकी अङ्गुलिका स्पर्श भी यदि काम-भावनासे कर ले, तो वह पापका भागी हो जाता है, पर यदि उसी नवयुवतीके वक्षःस्थलमें कोई घाव हो जाय और कोई चिकित्सक चिकित्साके हेतु उसके वक्षःस्थलका स्पर्श करे, तो वह पापका भागी नहीं होता। क्योंकि पहलेके सूक्ष्म शरीरमें कामवासनाकी लहर उत्पन्न होती है और दूसरेके सूक्ष्म शरीरमें शुद्ध कर्तव्य-प्रेरणाकी।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन तीन तत्त्वोंसे निर्मित है। पुनर्जन्मके सारे खेल इन्हीं तीन तत्त्वोंकी न्यूनाधिक मात्राओंपर निर्भर हैं। अहङ्कार पहला तत्त्व है और इसीसे हमें प्रथम-प्रथम स्वार्थ, ममत्व (अपनापन) तथा अहं (मैं) की भावना आती है। निर्जीव और सजीवमें यही अन्तर है कि निर्जीवमें अहंकी भावना नहीं रहती और सजीवमें रहती है। इसी अहङ्कार-तत्त्वसे हमें भोजनकी तथा विकास और वृद्धिकी प्रेरणा मिलती है। वृक्ष-योनिमें केवल अहङ्कार-तत्त्वकी प्रधानता रहती है।

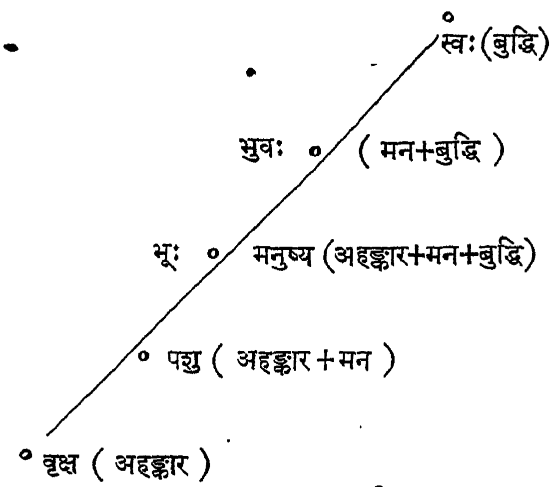
सूक्ष्म शरीरका दूसरा तत्त्व मनस्तत्त्व है। मनस्तत्त्वसे प्रवृत्ति (Instincts), इच्छा (Will), सुख-दुःखका अनुभव (Capacity of feeling pleasure and pain), स्मृति (Memory), विचार (Thinking) तथा कल्पना (Imagination) की प्रेरणा मिलती है। पशु-योनिमें अहङ्कार और मन—दो तत्त्वोंकी प्रधानता रहती है। भोजन और विकास, जो अहङ्कार-तत्त्वके प्रधान कार्य हैं, वृक्ष-योनि और पशु-योनिमें समान रूपसे पाये जाते हैं, पर मनस्तत्त्वके कार्य, इच्छा, अनुभूति, स्मृति इत्यादि प्रधानतः पशुओंमें पाये जाते हैं, वृक्षोंमें नहीं।

सूक्ष्म शरीरका तीसरा तत्त्व बुद्धि है। बुद्धि विवेककी जननी है और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करती है। मनुष्य-योनिमें सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि, अहङ्कार—तीनों विकसित रूपमें पाये जाते हैं। पशुओंको कर्म करनेकी प्रेरणा प्रवृत्तिसे मिलती है, मनुष्योंको बुद्धि-तत्त्व और विवेकसे। पशु यह नहीं समझते कि समाजके कल्याणके लिये—जीवनको उन्नत बनानेके लिये सेवा, प्रेम और त्यागकी कितनी आवश्यकता है। यह मानवताकी पुकार है। पशुता तो प्रवृत्ति-हीका दूसरा नाम है। यदि हम अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कार्य करते हैं, तो हममें पशुताकी प्रधानता है और यदि हम कर्तव्यकी प्रेरणासे विवेककी कसौटीपर कसकर कर्म करते हैं, तो वह पशुतापर मानवताकी विजय है।

जीवात्मा जिस किसी योनिमें क्यों न रहे, पर वह एक सूक्ष्म शरीरके आवरणके अन्तर्गत बंद है।



जीवनका विकासवाद हमें जीवनके सोपानकी ओर संकेत करता है। जीवनके मुख्यतः पाँच स्तर हैं। दो तो हम (मानव) पार कर चुके, अभी तीसरे स्तरमें वर्तमान हैं, किंतु दो उन्नत स्तर हमारे आगे हैं।



अभी हम जीवनके विकासके मध्यमें हैं। जीवनके प्रथम सोपान—वृक्षयोनिमें अहंकार जाग्रत् और मन तथा बुद्धि—ये दोनों न्यूनाधिक मात्रामें सुषुप्त रहते हैं। जीवनके द्वितीय सोपान—पशुयोनिमें बुद्धि-तत्त्व न्यूनाधिक मात्रामें सुषुप्त एवं मन तथा अहङ्कार जगे रहते हैं। मनुष्य-योनिमें तीनों तत्त्व जगे रहते हैं। अभी हम भूलोकके स्तरमें हैं। दो उन्नत स्तर—भुवर्लोक और स्वर्लोक हमसे आगे हैं। भुवर्लोकमें अहङ्कार सो जायगा, केवल बुद्धि और मन जगे रहेंगे। स्वर्लोकमें मन और अहङ्कार—दोनों सो जायँगे, केवल बुद्धि-तत्त्वकी प्रधानता रहेगी। जीवनके विकासमें वृक्ष-योनि निम्नतम है और देव-योनि उच्चतम। अहङ्कारमें तमकी प्रधानता है, मनमें रजकी और बुद्धिमें सत्त्वकी। मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन्हीं तीन तत्त्वोंमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण—ये तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। अहङ्कारमें प्राणमय कोशकी झलक मिलती है, मनस्तत्त्वमें मनोमय कोशकी और बुद्धिमें विज्ञानमय कोशकी। वृक्ष-योनिमें तमकी प्रधानता है, पशुयोनिमें रज और तमकी, मनुष्य-योनिमें सत्त्व, रज, तम—तीनोंकी; भुवर्लोकके स्तरमें, जो मनुष्य-योनि और देव-योनि दोनोंके बीचका जीवन है, सत्त्व और रजकी; तथा देव-योनिमें केवल सत्त्वकी प्रधानता है। गायत्री इसी भुवर्लोक और स्वर्लोककी ओर संकेत करती है। 'ॐ भूर्भुवः स्वः' के द्वारा वह हमें याद दिलाती है कि जीवनके नीचेके सोपानोंकी ओर मत देखो। जीवनके ऊपरके दो स्तरोंकी ओर देखो। गायत्रीका संकेत पशुताके ऊपर मानवताकी विजय है। पशुतामें प्रवृत्तिकी प्रधानता है, मानवतामें विवेककी। गायत्री हमें कहती है कि प्रवृत्तिकी धारामें—सुख-भोगकी लालसामें अपनेको मत बहने दो, किन्तु विवेकके द्वारा अपने कर्तव्यका निश्चय करो।

वृक्ष-योनिसे लेकर देव-योनितक—स्वर्लोकतक सूक्ष्म शरीरका क्रीड़ास्थल है—मायाका राज्य है। सूक्ष्म शरीरमें चाहे बुद्धिकी प्रधानता हो या अहङ्कारकी—चाहे देव-योनि हो या वृक्षयोनि—पर आत्मा जबतक सूक्ष्म शरीरमें है, तबतक वह कर्म-संस्कारके अधीन—प्रारब्धके अधीन है और बद्ध है। जब वह सूक्ष्म शरीरसे—मन, बुद्धि अहङ्कारसे—सत्त्व, रज, तमसे पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाता है, तभी वह मुक्त कहलाता है। इसी बातकी ओर गीताके ये श्लोक संकेत करते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

(९। २१)

अथवा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

(८। १६)

मोक्ष-मार्ग किधर है, और सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा हम कैसे पायँगे? सूक्ष्म शरीरका विकास कर्म-संस्कारसे होता है। हम जो अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, वे अपनी छाप—अपना प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर रख देते हैं। इसीका नाम आसक्ति है। यदि हम अनासक्त और निर्लिप्त होकर केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे कार्य करें, यदि कर्म करनेपर भी हमारे सूक्ष्म शरीरमें—हमारे अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी हलचल न हो, तो उस कर्मसे सूक्ष्म शरीरका विकास नहीं होगा और उस कर्मके संस्कारसे हमारी प्रवृत्ति भी नहीं बनेगी। यदि आगे हमारे सूक्ष्म शरीरका विकास रुक गया तो प्रारब्ध भोगनेके पश्चात् हम मुक्त हो जायँगे। गीतामें कहा है कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८ । १७)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

(४ । १४)

इसीका नाम कर्मयोग है। पर कर्मकाण्ड इससे भिन्न है। कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम। कर्मकाण्ड हमें स्वर्ग दे सकता है, पर हमारे सूक्ष्म शरीरका विकास नहीं रोक सकता। शारीरिक कर्म अच्छा भी हो, पर यदि मनको वह पवित्र नहीं बना सकता, तो उससे विशेष लाभ नहीं होता।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

इसी उपनिषद्-वाक्यको लक्ष्य करके तुलसीदासजीने लिखा है—

माधव! मोह-फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कल्प सत, औटत नास न पावै॥

यदि हम अपने अन्तःकरणको निर्मल नहीं कर सकते, यदि हम कर्मेन्द्रियोंको विषय-भोगसे रोककर मनमें उनका चिन्तन करते रहते हैं तो हम मोक्ष-मार्गकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३ । ६)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २ । ५९)

मैं कह चुका हूँ कि जीवन शरीर और आत्मा—दोनोंकी समष्टि है। किसीने जीवनमें—सृष्टिमें शरीरको देखा, किसीने आत्माको। शरीर स्थूल है, इसलिये कर्मका विषय है; आत्मा सूक्ष्म है, इसलिये ज्ञानका विषय है। शरीरमें हम मूर्त्त सुन्दरताकी झलक देखते हैं, इसलिये शारीरिक कर्मसे रस और आनन्दकी सृष्टि होती है। आत्माका ज्ञान शुष्क और नीरस विचारका विषय है। वेदके पूर्वभाग संहिता और ब्राह्मणने कर्मको अपनाया। वेदके उत्तरभाग—उपनिषद् और आरण्यकने ज्ञानको लिया। जैमिनिने पूर्वमीमांसामें कर्मकी मीमांसा की तथा बादरायणने उत्तरमीमांसा या वेदान्त-सूत्रमें ज्ञानकी। माता कर्मका प्रतीक है, पिता ज्ञानका। शाक्तधर्मने सृष्टिके शरीर, सृष्टिकी जननी प्रकृति देवीकी अनेक रूपोंमें, अनेक प्रकारोंमें अर्चना की। निवृत्तिमार्गी विद्वानोंने सृष्टिको, प्रकृतिको तथा संसारको माया एवं मिथ्या समझकर केवल सृष्टिके आत्मा ब्रह्मको खोजने तथा समझनेकी चेष्टा की। शाक्तों तथा मीमांसकोंका कर्म-मार्ग रहा, वेदान्तियोंका तथा निवृत्तिमार्गियोंका ज्ञानमार्ग। गीतामें कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३ । ३)

कर्म और ज्ञान दोनों मोक्षके मार्ग हैं, पर दोनोंमेंसे प्रत्येक एकाङ्गी है, अतः अपूर्ण है। मानव न तो केवल शरीर है और न केवल आत्मा, पर दोनोंकी समष्टि है। न तो हम माताकी अवहेलना कर सकते, न पिताकी। न तो हम कर्मको छोड़ सकते, न ज्ञानको। न हम संसारका तिरस्कार कर सकते हैं, न परमात्माका। श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनोंका संमिश्रण कर उसपर भक्तियोगका आवरण दे दिया है। रामानुजका विशिष्टाद्वैत-वेदान्त पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—कर्म और ज्ञान दोनोंपर अवलम्बित है। अपने मतमें उन्होंने श्रीमन्नारायणके रूपमें भगवती और भगवान्—दोनोंकी उपासना की है। श्रीशङ्कराचार्यका निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म, श्रीरामानुजाचार्यका चिद्-चिद्विशिष्ट सगुण ब्रह्म हो जाता है। पर सगुण ब्रह्मकी उपासनाकी अपेक्षा निर्गुण ब्रह्मज्ञान अधिक कष्टकर है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

(गीता १२ । ५)

श्रीशङ्कराचार्यने संसारको मिथ्या और भ्रममात्र समझा है, अतः उनकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, धन, शरीर सभी भ्रम हैं। इसलिये शरीरको स्वस्थ तथा नीरोग रखना, द्रव्योपार्जन करना, सन्तानोत्पत्ति इत्यादि सभी कार्य भ्रम मान लिये गये। और उन्हें तभीतक करना चाहिये जबतक ब्रह्मज्ञान हो जाय। पर मनोविज्ञान बतलाता है कि प्रवृत्तिकी धाराको एकाएक हम नहीं रोक सकते। हमारे अनेक जन्मोंके कर्म-संस्कार हमारी प्रवृत्तिमें एकत्रित हो गये हैं। कर्मेन्द्रियोंको बलपूर्वक हम रोक सकते हैं, पर प्रवृत्तिकी छाप जो हमारे सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित है, उसको हम सर्वथा नहीं मिटा सकते। पर प्रवृत्तिकी धारामें निश्चेष्ट होकर बहते रहना तो पशुता है। प्रवृत्तिकी धारा बड़े वेगसे ऊपरसे नीचेकी ओर बह रही है—

मानवतासे पशुताकी ओर जा रही है। यदि हम अपनेको इस धारामें छोड़ देंगे तो यह हमें पशुताके निम्नतम स्तरमें ले जायगी। यदि हम इस धाराको जबर्दस्ती रोकनेकी चेष्टा करें तो हम सहसा सफल नहीं हो सकते। प्रवृत्तिकी धारा इतनी प्रबल है कि रोकनेकी चेष्टा किये जानेपर वह अपना मार्ग छोड़कर और भी कण्टकाकीर्ण मार्गसे बहने लगेगी। पहला मार्ग अनुचित है, तो दूसरा असम्भव। पहलेकी झलक हमें बार्हस्पत्य-दर्शनमें मिलती है, दूसरेकी श्रीशङ्कराचार्यके ज्ञानमार्गमें। चार्वाकके भौतिकवादने प्रवृत्ति-पथपर अबाध निरङ्कुश होकर चलनेका आदेश दिया। उन्होंने यहाँतक कह डाला कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

तथा—

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।

उन्होंने कामिनी और काञ्चनके बीच रसना तथा उपस्थको मुक्त होकर विचरनेकी अनुमति दे दी। इधर निरे निवृत्तिवादने विवाह, भोजन तथा गार्हस्थ्य-धर्मतकको अनुचित ठहराकर, संसारको मिथ्या बताकर, संसारको तथा प्रवृत्तिको सर्वथा त्याग करनेका आदेश किया। श्रीरामानुजाचार्य आदिने बतलाया कि न तो हम निरी प्रवृत्तिकी धारामें बह सकते, क्योंकि वह पशुताकी ओर ले जाती है; और न हम प्रवृत्तिको सर्वथा रोक ही सकते हैं, क्योंकि प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है और प्रकृतिके साथ सङ्घर्षमें हम विजय प्राप्त नहीं कर सकते। हमें प्रवृत्तिके साथ चलना चाहिये, पर प्रवृत्तिको परिमार्जित कर लेना चाहिये (We should sublimate the instincts)। भोजन तथा अन्य भोग हम नहीं छोड़ सकते, पर विषय-भोगकी लालसासे नहीं—मौज उड़ानेके खयालसे नहीं, किंतु कर्तव्यकी प्रेरणासे विवेककी आज्ञासे हमें ये कार्य करने चाहिये। स्वादिष्ठ भोजन हम कर सकते हैं, पर शरीर-रक्षाके निमित्त। स्त्री-सहवास हम कर सकते हैं, [प]र समाजके कल्याणकी दृष्टिसे, विवाहिता पत्नीके साथ और [व]ह भी नियम तथा संयमके साथ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये [ह]ी। द्रव्योपार्जन हम कर सकते हैं, पर कर्तव्यकी दृष्टिसे और [व]ह भी सदुपयोगके लिये। गार्हस्थ्य जीवनके सारे कर्म हम कर [स]कते हैं, पर निष्काम निर्लिप्त अनासक्त होकर केवल कर्तव्य[क]ी प्रेरणासे—केवल भगवत्प्रीत्यर्थ। रामानुजके मतमें कर्मयोग [औ]र ज्ञानयोग एक ही मोक्षमार्गके दो दृष्टिकोण हैं। गीता [क]हती है—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

....

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥'

(गीता ५। ४-५)

प्रवृत्तिको सर्वथा रोकनेकी चेष्टा करते हुए प्रकृतिको शत्रु बनाकर हम मोक्षमार्गमें जितनी दूरतक अग्रसर हो सकते हैं, उससे कहीं आगे हम प्रकृतिको मित्र बनाकर जा सकते हैं; क्योंकि प्रकृतिके साथ सङ्घर्ष करनेमें हमारी जितनी शक्तिका अपव्यय होगा, उतनी शक्तिके सदुपयोगसे हम परमात्माके और भी समीप पहुँच सकते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि कर्तव्यका पथ-प्रदर्शक बुद्धि-तत्त्व या विवेक है। प्रवृत्ति तो केवल इच्छाकी जननी है। जब हम कोई कर्म करते हैं, तब बुद्धि-तत्त्व उसका पथ-प्रदर्शन करता है, वह यह बतलाता है कि कर्मको किस रास्तेसे किस रूपमें चलना चाहिये। प्रवृत्ति जो पूर्वकर्मोंके संस्कारको लेकर बलवती हो गयी है, कर्मको अपनी ओर खींचती है और बुद्धि-तत्त्व यदि विकसित तथा बलवान् नहीं रहा, तो कर्म-प्रवृत्तिका अनुसरण करने लगता है। जिन योनियोंमें बुद्धि-तत्त्व विकसित नहीं रहता, उन योनियोंके कर्मके लिये जीव उत्तरदायी नहीं होता। पशु प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर कर्म करते हैं, न कि विवेकके द्वारा विचारकर। वृक्षयोनि और पशुयोनि भोगयोनि हैं और मनुष्य कर्मयोनि। वृक्ष और पशु अपने पूर्वजन्मके किये हुए कर्मके फलको प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर भोगते रहते हैं। वे नवीन कर्म-संस्कारका निर्माण नहीं करते। मनुष्य अपने कर्मके लिये जिम्मेवार हैं, क्योंकि उसके पास बुद्धि-तत्त्व है। मनुष्योंमें भी शिशु, पागल और सोये हुए व्यक्ति अपने कर्मके लिये उत्तरदायी नहीं होते; क्योंकि शिशुका बुद्धि-तत्त्व पूर्ण विकसित नहीं रहता, पागलका निश्चेष्ट रहता है और सोये हुएका सुषुप्त। प्रवृत्तिका स्थान मनस्तत्त्वमें है। अतः शिशुमें, पागलमें और सोये हुए व्यक्तियोंमें भी प्रवृत्ति काम करती रहती है।

संसार प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है। जीवन चञ्चल है, पर हम इस बातकी जाँच कर सकते हैं कि हम किधर जा रहे हैं। यदि हमारे जीवनमें अभिमान, जडता, अकर्मण्यता तथा स्वार्थकी मात्रा अधिक है, यदि हममें तमोगुणकी प्रधानता है, तो इसके बाद हम वृक्षयोनिमें जायँगे। यदि हमारे जीवनमें प्रवृत्ति, भोगलिप्सा तथा कामनाकी मात्रा अधिक है। यदि हममें रजोगुणकी प्रधानता

है, तो हम पशु-योनिमें जा रहे हैं। यदि हममें प्रवृत्ति और भोगलिप्साके साथ-साथ कर्तव्यज्ञान और विवेक भी है, तो हम फिर मनुष्ययोनिमें आ रहे हैं। यदि पशुताके ऊपर मानवताकी—विवेककी पूरी विजय हो गयी, यदि हमारे सारे कर्म केवल कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं, तो हम जीवनके उच्च सोपान—भुवर्लोक और स्वर्लोककी ओर बढ़ते जाते हैं। हम जीवनके कितने ऊँचे सोपानपर चले आये, हम स्वर्गके कितने समीप पहुँच गये, यह उतनी प्रधान बात नहीं है, पर हमारा मुख किधर है, यही सबसे प्रधान बात है। जीवनके निम्नतम सोपानपरका व्यक्ति भी यदि स्वर्गकी ओर मुँह किये हुए है, तो वह एक-न-एक दिन स्वर्ग अवश्य पहुँचेगा, पर स्वर्गके समीप पहुँचा हुआ व्यक्ति भी यदि नीचेकी ओर मुँह करके चलेगा, तो वह कभी-न-कभी पतनके गर्त्तमें जा गिरेगा!

शरीर-विज्ञान (Physiology) शरीरके जिन-जिन अवयवोंका ज्ञान देता है, वे सभी अन्नमय कोशके अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनका विकास खाये हुए अन्नसे होता है, पर स्नायु-संस्थान और मस्तिष्क (Nervous system and Brain) अन्नमय कोशमें रहनेपर भी अन्नमय कोश और प्राणमय कोश—दोनोंका सन्धिस्थल है। यह संवेदनाका केन्द्र है और यहींसे प्राणमय कोश अपना कार्य प्रारम्भ करता है। जब प्रारब्धका क्षय हो जाता है और सञ्चित कर्म ज्ञानयोगकी अग्निमें जल जाता है तथा क्रियमाण कर्म अनासक्त कर्मयोगके कारण नवीन संस्कारका निर्माण ही नहीं करता, तब सूक्ष्म शरीर क्षीण और निर्जीव-सा हो जाता है। भक्तियोग और प्रपत्तियोग सूक्ष्म शरीरके बचे हुए अंशको भी छिन्न-भिन्न कर देता है। उस समय जब प्राणमय कोश सुषुम्णा नाड़ी (Central nervous system) के द्वारा सुषुम्णाद्वार (Medula) पर पहुँचता है, उस समय शरीर निश्चेष्ट हो जाता है और प्राणमय कोशकी समाप्ति हो जाती है। लघु मस्तिष्क (Cerebellum) में मनोमय कोशका भी अन्त हो जाता है तथा बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) के ब्रह्मरन्ध्रके समीप विज्ञानमय कोश तथा सूक्ष्म शरीरका पूर्ण अन्त हो जाता है। वह आत्मा अपने कारण-शरीर तथा आनन्दमय कोशमें आगे बढ़ता है। सूक्ष्म शरीरके नष्ट हो जानेसे पुनर्जन्म तथा स्वर्ग-नरकका कोई झंझट नहीं रहता। वह आत्मा छान्दोग्य तथा बृहदारण्यकमें कहे हुए अर्चिरादि मार्गपर अग्रसर होता है। हमें याद रखना चाहिये कि जीवात्मा प्रकाश-कण है और परमात्मा प्रकाशपुञ्ज। भौतिक विज्ञानका नियम है कि बड़ा पदार्थ छोटे पदार्थको अपनी ओर खींचता है। यदि छोटा पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे बँधा न हो। परमात्मा भी जीवात्माको अपनी ओर खींचता है, यदि वह सूक्ष्म शरीरसे बँधा न हो। जब प्रकाशकण प्रकाशसमूहसे मिलनेके लिये प्रस्थान करता है तो प्रकाशमार्ग इसमें सहायक होता है और अन्धकार बाधक। गीता कहती है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
(८। २४)

इसीलिये अर्चिरादि मार्गको मोक्षमार्ग कहा गया है। ईशावास्योपनिषद्के अन्तमें इसी मार्गसे जानेकी प्रार्थना की गयी है। रामानुजने इसे सद्योमुक्ति और शङ्करने इसे क्रममुक्ति बतलाया है।

आर्यजाति सदासे प्रकाशकी आराधना और प्रकाशका अन्वेषण करती आयी है। उपनिषद्वाक्य है कि—

असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

अन्धकार, अहङ्कार और पशुता—अज्ञान और तमोगुणका प्रतीक है, प्रकाश ज्ञान और मानवताका। गायत्री आर्यजातिकी चिरन्तन प्रार्थना है। गायत्री कहती है कि—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

हम सवितादेवके उस पवित्र प्रकाशका ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिको प्रकाशित करे। यहाँ सविताका अर्थ कोई-कोई सूर्य करते हैं, पर सविताका वास्तविक अर्थ परब्रह्म परमात्मा है।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती नारायणः।

परमात्मा ही सृष्टिका मूल कारण है।

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र)

अथवा—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

प्राणि-विद्या (Biology) बतलाती है कि सूर्यहीसे हममें जीवन आता है—सूर्यकी (Ultra-Violate) किरणोंसे हमें जीवनीशक्ति मिलती है। पर आकाशमें—इस विराट् प्रकृतिके वक्षःस्थलपर असंख्य सूर्य और असंख्य सौर-मण्डल

हैं । सूर्यके अन्तस्तलमें जो प्रकाश और जीवनीशक्ति है, उसका स्रोत परमात्मा ही है। फिर सूर्यकी किरण हमारे शरीरको प्रकाशित कर सकती है, पर हमारी बुद्धिको प्रकाशित नहीं कर सकती। परमात्माका प्रकाश हमारे अन्तस्तलमें पैठकर हमारी बुद्धिको उज्ज्वल और ज्योतिर्मय बना सकता है। फिर यदि हमारा अन्तःकरण पवित्र हो गया, हमारी बुद्धि प्रकाशित हो गयी, पशुता और अज्ञान हमसे दूर हो गये, तब तो हमारा जीवन ही सफल हो गया। इसीलिये गायत्रीकी इतनी महत्ता है।

आधुनिक विज्ञान बच्चेके शरीरको और स्वभावको पिता-माता तथा वंशपरम्परा (Heredity) पर निर्भर बतलाता है। बात है भी सही, पर इससे पुनर्जन्मका सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। जिस प्रकार वटका बीज मिट्टीमें जाकर अपने अनुकूल रस खींचकर एक विशाल वटवृक्षमें परिणत होता है और धानका बीज अपने अनुकूल रस खींचकर धानके रूपमें, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर अपने संस्कार और प्रवृत्तिके अनुरूप अनुकूल योनि तथा अनुकूल पिता-माता और वंश-परम्परा खोज लेता है और तदनुसार अपने स्थूल शरीर और स्वभावका विकास करता है। सूक्ष्म शरीर तथा प्राणमय कोश प्रथम-प्रथम पिताके गर्भमें वीर्य-कीटके रूपमें अन्नमय कोश ग्रहण करता है और वर्षों वहाँ रहकर फिर माताके गर्भमें प्रवेश करता है। इस बीचमें वह अपने सूक्ष्म शरीरके संस्कार-के अनुकूल पिता-मातासे स्वभाव, विचारधारा और जीवन-शैली ग्रहण करने जाता है। जन्म लेनेके बाद फिर मित्रोंसे और समाजसे अपने सूक्ष्म शरीरके अनुकूल संस्कार ग्रहण करने जाता है।

अब हम एक बात कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। परमात्मा एक है और वही इस विराट् सृष्टिके स्वामी तथा सञ्चालक हैं। शक्ति, शील, सौन्दर्यके द्वारा वे सृष्टि-के सारे कार्य सम्पन्न करते हैं। सौन्दर्यगुणके सहारे ब्रह्मा-रूपसे सृष्टि, शीलगुणके सहारे विष्णुरूपसे पालन और शक्ति-गुणके सहारे रुद्ररूपसे संहार करते हैं। पाञ्चरात्रकी भाषामें जिसे संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध कहा गया है, पुराणकी भाषामें उसे ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कहा गया है। उसी परमात्मा-का अंश जीवात्मा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५ । ७)

और प्रत्येक प्राणीके शरीरमें इसी जीवात्माका निवास-स्थान है। इसलिये प्रत्येक प्राणीका शरीर परमात्माका मन्दिर है। किसीके साथ द्वेष रखना, किसीकी हिंसा तथा किसीके साथ अन्याय या बुराई करना, किसीको किसी रूपमें कष्ट पहुँचाना परमात्माकी अवहेलना है। सबके साथ प्रेम, न्याय तथा उपकार करना सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। यही उपनिषद्की शिक्षा है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

वही बचेगा

तुझपर काल अचानक टूटैगो।
गाफिल मत हो, लवा बाज ज्यों हँसी खेलमें लूटैगो॥
कब आवैगो कौन राहसे प्रान कौन विधि छूटैगो।
यह नहिं जानि परैगो बीचहिं यह तन-दर्पन फूटैगो॥
तब न बचावैगो कोई जब काल दंड सिर कूटैगो।
'हरीचंद' एक वही बचैगो जो हरिपद-रस घूँटैगो॥

—भारतेन्दु

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

नमस्कार है उस महाभाग चातकको, जिसपर केवल प्रभुके गुणानुवाद ही गानेको दृढप्रतिज्ञ महाकविकी लेखनी भी मचल उठी। इतना ही नहीं, उसके मनमें स्वयं भी 'राम-घनस्याम तुलसी पपीहा' बन जानेकी चाह मुखरित हो उठी।

चातक पक्षी जो ठहरा, बिना पक्षके प्रेम-निष्ठा सम्भव भी तो नहीं है। अन्य पक्षी तो केवल साधारण अर्थमें ही पक्षी (पङ्खवाले) हैं, पर चातक तो हृदयसे भी पक्षी है। इसीसे तो महाकविने अन्य पक्षियोंसे तुलना करते हुए एक चातककी ही प्रशंसा की—

मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर॥

यों तो पक्षियोंमें मराल प्रत्येक दृष्टिसे प्रशंसित है, फिर भी उसके प्रेममें त्यागकी वह कमनीय कान्ति कहाँ, जो चातकमें है। वह तो मानस-सरका प्रेमी है, जहाँ आनन्द और सुखका ही साम्राज्य है। मराल! तुम प्रत्येक दृष्टिसे प्रशंसित हो, पर ध्यान रहे, अनन्यप्रेमी चातककी तुलना तुम नहीं कर सकोगे।

बास बेष बोलनि चलनि, मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की, कीरति बिसद बिसाल॥

चातक घनश्यामको देखकर सदा 'पिव-पिव' पुकारा करता है, इससे कहीं भ्रम न हो जाय कि उसकी यह पुकार जलके लिये है। वह जलका प्यासा होता तो सरिता-सरोवरकी क्या कमी थी। वह भी अन्य पक्षियोंकी भाँति चाहे जहाँ जल पीकर प्रसन्न और तृप्त हो जाता—

डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरनि बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥

पर वह तो प्रेमका ही प्यासा है—

चातक तुलसी के मतें, स्वातिहिं पियै न पानि।
प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि॥

वह तो स्वाती-मेघके दर्शनका ही प्रेमी है। इसीलिये वह यदि स्वातीकी बूँदें भी तिरछी गिरती हैं तो उन्हें पानेके लिये अपने मुखको टेढ़ा नहीं करता। दर्शन करते समय यदि एक-आध स्नेह-बिन्दु उसके मुखमें गिर जाय तो वही उसके लिये बहुत है। दर्शनसे वञ्चित होकर उसे स्वातीका जल भी नहीं चाहिये—

तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू, निदरि निबाहत नेम॥

धन्य है चातक तुम्हारी अनोखी प्रेम-तृषाको!

चातक वृद्ध हो चला, मृत्यु क्रमशः निकट आ रही है। पर उसे इसकी चिन्ता कहाँ! वह तो बार-बार पुत्रोंको पास बैठाकर दोहराता है। पुत्र! कहीं तुम मेरे मरनेके बाद स्वाति-जल छोड़कर दूसरे जलसे तर्पण न कर देना—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारहीं बार।
तात! न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर धार॥

पर ऐसा अनन्यप्रेमी अपनी वृद्धावस्थासे न मरा। मर जाता तो प्रेमका यह दिव्य आदर्श उपस्थित करता। बधिकका बाण चातकके शरीरको क्षत-विक्षत करके उसे गङ्गाजीमें गिरा देता है। पर वह गङ्गाजी, जिसे पानेके लिये मृत्युके समय महामुनि भी तरसा करते हैं, आज चातकके लिये परम सुलभ होनेपर भी उसकी प्रेमभरी दृष्टिमें हेय—तुच्छ जँचती हैं। इसलिये वह चोंचको ऊपर उठाकर उसे बंद कर लेता है कि जिससे गङ्गा-जल मुखमें प्रविष्ट न हो जाय। बधिकका बाण शरीरमें छेद कर सका, पर प्रेम-पटमें नहीं—

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

पक्षी चातक-जैसा प्रेम प्रभुसे जबतक नहीं हो जाता, तबतक प्रेमका दम भरना व्यर्थ है।

एक ऐसे ही चातकका चरित्र-चित्रण मानसमें भी श्रीगोस्वामीजीने अपनी चमत्कारपूर्ण लेखनीसे किया है।

आइये, हम उस मूर्तिमान् प्रेम श्रीलक्ष्मणजीके दर्शन कर अपनेको कृतकृत्य करें। गोस्वामीजीका तो वह परम धन ही है—

भावते भरतके, सुमित्रा-सीताके दुलारे
चातक चतुर राम स्याम घनके।
बल्लभ उरमिलाके, सुलभ सनेहबस,
धनी धन तुलसीसे निरधनके॥

मानसमें ऐसे महान् पात्रोंका अभाव नहीं, जो महान् मर्यादापालक, धर्मधुरीण और प्रभुके प्रिय चरणसेवक हैं।

जिनका चरित्र एक पूर्ण मानवका चरित्र है । जो पूर्णताकी कसौटीपर पूर्ण रीतिसे खरे उतरते हैं । जिनका वैराग्य, जिनकी तपस्या अद्वितीय है । जिनका निर्मल यश चन्द्रमाके सदृश हृदयके समस्त पाप-तापोंका शमन करनेवाला और असमर्थ-से-असमर्थके लिये भी आशाका उज्ज्वल सन्देश देनेवाला है । जिनकी यश-प्रभासे सारा मानस प्रकाशित हो रहा है । जिनके हृदयकी भक्ति, ज्ञान और कर्मकी समन्वयात्मक त्रिवेणीमें स्नान कर महामुनियोंने भी अपनेको कृतार्थ अनुभव किया । अधिक क्या, जिनकी यश-गाथा गाते-गाते भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी कभी नहीं थकते ।

पर इस परम प्रेमीमें यदि आप उपर्युक्त गुण ढूँढ़ने जायँगे तो सम्भव है कि आपको निराश होना पड़े । यहाँ तो प्राप्त होगा, केवल चातकका-सा अनन्य प्रेम । न यहाँ धर्म है, न ज्ञान ही । यह तो एक 'शिशु'की कथा है । जो एकको छोड़ 'सब भाँति अयाना' है । पर फिर भी मैं स्मरण करा दूँ—

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल ।
तुलसी चातक प्रेमकी कीरति बिसद बिसाल ॥

यद्यपि इस महाप्रेमीका यश लोकदृष्टिसे न तो उतना आदर्श ही है, और न निर्मल ही । पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस यशके बिना प्रभुकी वह गरिमामयी गुण-गाथा, जिससे मानसका कण-कण ओतप्रोत है और जिसकी निर्मलता असन्दिग्ध है, न तो निर्मल ही रह पाती और न तो प्रकाशित ही हो पाती । ध्वज-वस्त्रके सौन्दर्य, रंग और ऊँचाईको देखकर भले ही अधिकांश व्यक्तियोंकी दृष्टि दण्डपर न पड़े, पर ध्वजको उठाने और उसको ऊँचे आकाशपर ले जाकर लोगोंकी दृष्टि आकर्षित करनेका सारा श्रेय तो उस दण्डको है! इसे भला, दृष्टिहीनको छोड़कर कौन अस्वीकार करेगा । इसीसे तो सूक्ष्मद्रष्टा कविने उसकी वन्दनामें दण्डकी उपमा देकर उसके महत्त्वकी ओर सङ्केत किया—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता । सीतल सुभग भगत सुख दाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका ॥
सेष सहस्रसीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर । कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥

देवताओंको अमरत्व प्रदान करनेवाला यद्यपि अमृत ही माना जाता है । पर कौन कह सकता है कि परम कृपालु शिवके बिना वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता अथवा नहीं । यहाँ मेरा अभिप्राय है श्रीशङ्करजीके गरल-पानसे । भूतभावन भगवान् शिवने यदि कृपा करके उस भीषण गरलका पान न कर लिया होता—जिससे समस्त सचराचर जला जा रहा था, तो अमृत पान करके अमर होनेके लिये शेष ही कौन रहता ! यद्यपि यह सत्य है कि अमरताका सारा श्रेय अमृतको ही प्राप्त हुआ और भगवान् शिवका कण्ठ नील हो गया, पर क्या वह नीलिमा शिव-सौन्दर्यका दूषण है ? स्वीकार करना पड़ता है कि कदापि नहीं; वह नीलिमा तो उनके सौन्दर्यका भूषण है । 'नीलकण्ठ' उनका पवित्र नाम है, जिसका स्मरण होते ही उनके इस अकारण-कारुण्यसे श्रद्धावनत हो यह कहना ही पड़ता है कि—

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय ।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस ॥

एवं—

चलत्कुंडलं भ्रूसुनेत्रं विशालं । प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं ॥

यदि एक बार विष पान कर लेनेसे शङ्करकी कृपा अतुलनीय हो जाती है तो जिसने 'मानस'में न जाने कितनी बार 'अयश-विष'का पान किया, उसके लिये कौन-सा शब्द प्रयुक्त किया जाय ? निश्चित रूपसे शब्द उसकी महत्ताको व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं । प्रेम और प्रेमी दोनों ही अनिर्वचनीय हैं।

प्रायः आलोचकोंने इनके चरित्रमें असहिष्णुता, क्रोध और उद्दण्डतासम्बन्धी आरोप लगाये हैं ।

आइये, इस दृष्टिसे हम इनके चरित्रपर एक दृष्टि डालें । जनकपुरका धनुष-यज्ञस्थल, जहाँपर आये हुए हैं देश-देशके भूपति । मानवकी तो कथा ही क्या, देव-दानव भी लोभका संवरण न कर सके; क्योंकि वहाँ 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही' जो प्राप्त होनेवाली थी । यद्यपि उसे प्राप्त करना सरल न था क्योंकि उसके साथ जुड़ी हुई थी धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा । और वह धनु भी था महाकाल रुद्रका पिनाक । यथा—

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा । राज समाज आजु जोइ तोरा ।
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ॥

भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी सानुज महर्षि विश्वामित्रजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे । महाराज जनकजीने बड़े सत्कारपूर्वक एक विशाल मञ्चपर तीनों मूर्तियोंको ले जाकर बैठा दिया । इसके बाद प्रारम्भ हुआ राजाओंद्वारा धनुष तोड़नेका प्रयत्न । पर तोड़नेकी तो बात ही क्या, सहस्रों राजा मिलकर भी उसे अपनी जगहसे तिलभर न डिगा सके । वह वैसे ही अडिग रहा, जैसे पतिव्रता नारीका मन कामी पुरुषके सहस्रों उपलोभनोंको ठुकराकर अटल रहता है ।

डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी बचन सती मनु जैसें॥

लज्जित नरेश सिर नीचा करके अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, पर श्रीजनकजीकी अवस्था तो उस रेशमके कीटकी-सी हो गयी जो अपने बनाये हुए बन्धनमें आप ही जकड़ गया हो।

एक ओर था प्राणप्रिय पुत्रीका नित्य कौमार्य और दूसरी ओर थी सत्यनिष्ठा। धर्मभीरु महाराज अन्तमें निर्णय कर लेते हैं कि सत्य-रक्षाके लिये यह पुत्रीके कुमारी रहनेका दुःसह कष्ट भी सहन करना ही होगा। पर जगत्‌में वीरोंका अभाव देखकर उनकी व्याकुलता अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी, बिना कुछ कहे न रहा गया उनसे और वे उद्वेगभरी वाणीमें बोल पड़े—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥
सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥

योगिराज जनककी यह अवस्था देख नगरनिवासी नर-नारियोंके नेत्रोंमें आँसू भर आये!

चारों ओर घोर निराशाका साम्राज्य छा गया। और यह सब हुआ सर्वाभयप्रद वीरेन्द्रमुकुटमणि भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी उपस्थितिमें! अवश्य ही इस समय प्रभुका विरद उस शोक-सरितामें बहा जा रहा था, पर गुणसागर प्रभु न बोले। बोलते भी कैसे! उनका एक गुण नम्रता जो है! अपने मुखसे, अपनी वीरताका वर्णन भला मर्यादापुरुषोत्तम कैसे करते? सभी किंकर्तव्यविमूढ़ थे; बस, वहाँ एक ही महात्यागी था, जिसका न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था और न कोई विरद। उसे केवल एक चिन्ता थी—प्रभुके यशकी रक्षा कैसे हो। और सब कुछ शोक-सरितामें बह जाता, पर प्रभुके विरदको शोक-सरितामें बहते वह महात्यागी कैसे देख सकता था! वह जानता था, उसकी रक्षाके लिये अपनी नम्रता और मर्यादाका बलिदान करना ही होगा। पर प्रेम तो सर्वस्व बलिदान चाहता है। लक्ष्मण-जैसे बलिदानीके लिये यह कुछ कठिन नहीं था, और उन्होंने वही किया भी। वे बोले—खूब बोले। आत्मप्रशंसा भी करनी पड़ी। पर किसके लिये? उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें जनकजीकी अवहेलना थी और मर्यादाका अभाव भी था। पर एक वस्तु उसमें आदिसे अन्ततक ओतप्रोत् थी और वह थी श्रीलक्ष्मणजीका प्रभुके प्रति अगाध स्नेह। उन्होंने जो कुछ कहा—उसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥
रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥

'सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू' में तो मानो कविने श्रीलक्ष्मणजीके हृदयको ही खोलकर रख दिया। वह महाव्रती चतुर चातक तो महाज्ञानी जनकसे भी सीधे बात करनेमें अपमानका अनुभव करता है। उत्तर देनेमें भी सजल घनश्याम-रामको छोड़ और दूसरेकी ओर कैसे देखे? धन्य है महाप्रेमी चातक तुम्हारे इस मानको—

चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।

यद्यपि श्रीजनकजीका भाव प्रभुको अपमानित करनेका नहीं था। पर राम-प्रेमोन्मत्त श्रीलखनलालजी अनजानमें भी प्रभुका अनादर सहन करें—यह असम्भव है।

महात्यागी लक्ष्मणजीके इस अद्भुत प्रेममय त्यागको देख प्रभुके युगल कमल-नयन प्रेमाश्रुओंसे भर जाते हैं। उस समय उन्होंने जिस प्रेम और कृतज्ञताभरी दृष्टिसे लक्ष्मणको देखा, उसका वर्णन लेखनीका विषय नहीं। प्रेमके कारण प्रभुका कण्ठ रुद्ध हो गया। सङ्केतसे ही उन्होंने लक्ष्मणको बैठा लिया। उनके हाथोंको अपने श्रीकर-कमलोंमें लेकर भक्तवत्सल भगवान् अपनी सुधि-बुधि खो बैठे। विश्वके इतिहासमें न मिलेगा ऐसा चातक, न दूसरा घनश्याम। पर ऋणी कौन है पयद या पपीहा (चातक)? गोस्वामीजी तो पयदको ही ऋणी बताते हैं—

को को न ज्यायो जगतमें, जीवन दायक पानि।
भयो कनोड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

(२)

पूर्व-प्रसङ्गसे भी अधिक आक्षेप किया जाता है परशुराम-संवादके समय किये गये लक्ष्मणजीके भाषणपर। प्रभुके द्वारा

धनुर्भङ्ग हो जानेपर श्रीकिशोरीजीके साथ ही त्रिभुवनव्यापी यश भी प्राप्त हुआ। फिर भी आये हुए राजाओंमें क्षोभकी एक लहर-सी फैल गयी और उन्होंने युद्ध करने तथा श्रीजानकीजीको छीन लेनेके लिये योजना बनाना प्रारम्भ कर दिया—

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥
तोरें धनुषु चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहि कुअँरि को बरई॥

उसी समय आगमन होता है 'भृगुकुल-कमल-पतंग' श्रीपरशुरामजीका। क्रोधके कारण जिनका मुख और नेत्र रक्त-वर्ण हो रहे हैं। उन्हें देखते ही वे अहंमन्य राजा, जो अभी-अभी युद्ध और वीरताकी बड़ी-बड़ी बातें सोच रहे थे, काँपने लग जाते हैं और अपने नामके साथ बापका नाम बता-बताकर परशुरामजीके पाद-पद्मोंमें प्रणत होते हैं—

पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥

इसके पश्चात् उभय रघुकुलवीर भी प्रेमपूर्वक परशुरामजीको प्रणाम करते हैं। प्रभुका कोटि-कन्दर्प-कमनीय सौन्दर्य देखकर कुछ क्षणोंके लिये परशुरामजी देहस्मृति भूल जाते हैं—

रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥

फिर स्मरण आता है अपने आनेकी आवश्यकताका। और तब उबल पड़ते हैं सारे राजसमाजपर; किंतु क्रोध तो उन्हें उससे भी अधिक आ रहा था महाराज जनकपर, क्योंकि वे ही यहाँ इस काण्डके मूल कारण थे। क्रुद्ध स्वरमें उन्होंने प्रश्न किया—

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

योगिराज जनकका भी सारा ज्ञान साथ छोड़ बैठा। भयके मारे उनके मुखसे कोई उत्तर नहीं निकला।

अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। ....॥

कुटिल राजाओंके हृदयमें प्रसन्नताकी किरण चमक उठी। पर जनकपुरवासी स्त्री-पुरुषोंकी दशा तो बड़ी ही दयनीय हो रही थी। करुणामय भगवान् श्रीराघवेन्द्र लोगोंको भयभीत देख स्वयं आगे बढ़े। 'बिनय सील करुना गुन सागर' होनेके नाते उनकी वाणी भी उनके अनुरूप ही थी। बड़ी नम्रतासे प्रभुने कहा कि—'धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास ही होगा—

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

पर इसका फल तो उलटा ही हुआ। परशुरामजीने क्रुद्ध स्वरमें धनुष तोड़नेवालेको सहस्रबाहुके समान अक्षम्य शत्रुओंकी श्रेणीमें घोषित कर दिया—

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥

महाधीर श्रीलक्ष्मणजी सारी घटनाका अध्ययन बड़े ही ध्यानके साथ कर रहे थे। उनकी दूरदर्शिनी दृष्टिने भविष्यका भलीभाँति दर्शन कर लिया। वे तो देख रहे थे—प्रभुकी नम्रताका इनके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है? नम्रताका यह उलटा प्रभाव तथा श्रीकोशलेन्द्रके प्रति इन शब्दोंका प्रयोग उन्हें असह्य-सा हो गया। पर इसका कारण केवल इतना ही न था, अपि तु उससे भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी, जिसपर श्रीलक्ष्मणजीकी दृष्टि पड़ चुकी थी। उन्होंने सोचा—'यदि नम्रतासे परशुरामजी शान्त भी हो जायँ तो इससे लोगोंमें कुछ भ्रान्ति फैलनेकी ही सम्भावना है, विशेषकर वे 'कुटिल राजा' जो प्रभुका अगाध बाहु-बल देखकर भी प्रभावित नहीं हुए थे, युद्ध करनेके लिये पुनः विशेषरूपसे उत्साहित होंगे, क्योंकि उन्हें तो प्रभुकी नम्रतामें भी उनका भयभीत हो जाना ही भान होगा। वे समझेंगे कि परशुरामजीने भयभीत रामपर क्षमा कर दी। इससे उनमें तामसी आग्रह उत्पन्न होगा और तब होगा एक भयानक संग्राम। संग्राममें विजय तो निश्चित प्रभुकी ही होगी। तथापि प्रभुके पवित्र पाणिग्रहणके इस पुनीत अवसरपर ऐसे बीभत्स काण्डका होना सर्वथा अशोभन है। इससे तो प्रभुके बिरदकी वृद्धि नहीं होगी। पर प्रभुसे तो उग्रताकी आशा व्यर्थ है, फिर नम्र बने रहनेमें उनकी शोभा भी जो है।'

फिर क्या था, अपना कर्तव्य निर्णय करनेमें उन्हें देर न लगी। उन्होंने टेढ़ी और उग्रतासे भरी हुई जिस व्यङ्ग्यवाणीका परशुरामजीके प्रति प्रयोग किया, उससे दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। प्रथम तो—राजाओंमें यह भ्रम न फैल सका कि श्रीराघवेन्द्रकी नम्रता भयमूलक है। दूसरे, श्रीराघवेन्द्रकी तो यश-चन्द्रिका इससे चौगुनी चमक उठी। लोगोंने यह अनुभव किया कि बड़े भाईमें बड़प्पनके अनुरूप गम्भीरता भी है। वीरताके साथ नम्रताके इस अद्भुत संयोगको लोगोंने मणिकाञ्चनयोग समझा। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीद्वारा दिखायी गयी असहिष्णुतासे ही प्रभुकी सहिष्णुताका मूल्य बढ़ गया। लोगोंने 'छोट कुमार खोट बड़ भारी' कहकर जिस उपाधिसे लक्ष्मणको पुरस्कृत किया, वह सच्चे प्रेमीके लिये दूषण नहीं, भूषण है। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीने अपने

कार्यके द्वारा शत्रु-मित्र दोनोंके मनोंमें अपने प्रति नहीं, अपितु श्रीराघवेन्द्रके प्रति महान् आदर और श्रद्धाका भाव भर दिया। अपने यशका बलिदान करके प्रभुकी यश-पताकाको उठाये रखना इस अनन्यप्रेमीका ही कार्य था। आलोचक आलोचना करते समय यह भूल जाते हैं कि श्रीलक्ष्मणजीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—'प्रभुकी विरद-रक्षा', अपनी यश-रक्षा नहीं। क्या वे चाहते हैं कि वे भी नम्र बनकर एक महायुद्धको आमन्त्रण दे देते। प्रभुकी यशःपताकाको झुक जाने देते! यदि नहीं, तो फिर श्रीलक्ष्मण-जैसे मूर्तिमान् प्रेमको आवेश-शील बताना कहाँतक युक्तियुक्त है? इसीसे तो गोस्वामीजी उनकी वन्दना करते हुए उनमें सबसे पहला गुण शीतलताका ही बताते हैं—

बंदउँ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता॥

नमस्कार है महाव्रती लक्ष्मण तुमको और तुम्हारे बलिदानमय जीवनको! लोग यदि तुम्हें 'खोट' कहते हैं तो यह तो तुम्हारी नाट्य-कुशलताका ही सूचक है। सच्चा प्रेमी प्रदर्शन चाहता ही कब है। इस प्रकार 'रघुबर बाल पतङ्ग'की तुलनामें आये हुए 'भृगुकुल कमल पतङ्ग'के लिये श्रीलक्ष्मणजी अस्ताचल सिद्ध हुए और प्रभु प्रतिद्वन्द्वितारहित सूर्यकी तरह चमकते ही रहे! (क्रमशः)

कामके पत्र

(१)

बुराईका कारण अपने ही अंदर खोजिये

आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया है, इसके लिये क्षमा करें। बात यह है कि हम-लोग दूसरोंके अच्छे-बुरे कार्योंपर, दूसरोंकी उन्नति-अवनति-पर और दूसरोंकी सद्गति-दुर्गतिपर विचार करनेमें और उन-पर अपना मत देनेमें जितना समय नष्ट करते हैं, उतना समय यदि श्रीभगवान्‌के नाम-लीला आदिके चिन्तनमें और उनके गुण-कीर्तनमें लगावें तो हमें बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। जहाँ दूसरोंके गुण-दोष-चिन्तन और कथनमें राग-द्वेष, स्तुति-निन्दा होती है और मनमें वैसे ही संस्कार अङ्कित होते हैं, वहाँ यदि हम श्रीभगवान्‌के दिव्य कल्याणमय गुणगणका स्मरण-कीर्तन करें तो हमारे अंदर छिपे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। अन्तः-करण शुद्ध होता है और भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है। पर हम इतने मूढ़ हैं कि हमें परचर्चा बहुत मीठी लगती है और इसीसे हम अपने जीवनके अमूल्य समय-को व्यर्थ ही इसमें लगाकर विविध भाँतिकी असत् भावनाओं, कुविचारों एवं दुर्गुणोंको अपने अंदर भरते रहते हैं!

इससे एक बड़ी हानि यह होती है कि हमें अपने दोषोंकी ओर देखनेका समय नहीं मिलता और अंदर-ही-अंदर दोष बढ़ते जाते हैं। असलमें बुद्धिमान् मनुष्य तो वही है कि जो अपने उत्थान-पतनकी ओर दृष्टि रखकर नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ पतनके कारणों-को दूर करता रहता है।

आपको मैं क्या परामर्श दूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि जबतक आप अपनी बुराइयोंकी ओर ध्यान देकर उनको मिटानेका पूर्ण प्रयत्न नहीं करेंगे, तबतक अपने प्रतिद्वन्द्वियोंसे अच्छाईकी आशा करना आपके लिये निराशाका ही कारण होगा। मनुष्य अपनी बुराई नहीं देखता, इसीसे उसे दूसरोंमें सारी बुराईका विस्तार दीखता है। और जितनी बुराई दीखती है, उतना ही द्वेष बढ़ता है तथा जितना द्वेष बढ़ता है, उतनी ही बुराई भी अधिक दीखने लगती है। यह नियम है कि जिसमें राग होता है, उसके दोष भी गुणके रूपमें दिखायी देते हैं और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके गुण भी दोष दीखते हैं। मनुष्यको दूसरेकी बुराईका कारण अपनेमें खोजना चाहिये। सचाई और गहराईसे देखनेपर तुरंत ऐसा कोई दोष अपनेमें दीख जायगा, जो दूसरेमें बुराई उत्पन्न करनेमें हेतु है।

आप पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। सोचिये, अपनी ओर देखिये। यदि मेरी बात मानें तो श्रीमद्भगवद्गीता-के १६वें अध्यायको ध्यानसे पढ़िये और उसमें वर्णित आसुरी-सम्पदाके लक्षणोंसे अपने आचरणोंकी तुलना कीजिये। आपको पता लगेगा कि आपमें दोष हैं कि नहीं। और यदि दोष हों तो फिर, उनको दूर करनेका प्रयत्न करना आपका कर्तव्य ही होगा।

इसीके साथ-साथ आप नित्य कुछ समयतक भगवान्-के मङ्गलमय नामका जप कीजिये और इस मानसिक अशान्तिके कारणका सच्चा सन्धान बतलाने और उसे दूर करनेके लिये दयासिन्धु भगवान्से कातर प्रार्थना कीजिये। आप विश्वास रखिये, आपकी कातर प्रार्थना अकारण सुहृद् भगवान् अवश्य सुनेंगे और आपको मानस शान्ति प्राप्त हो, इसकी समुचित व्यवस्था कर देंगे। आपको ऐसी आँख देंगे जिससे आप अशान्तिके कारण-को, जो आपके ही अंदर वर्तमान है, स्पष्ट देख सकेंगे और साथ ही ऐसी शक्ति देंगे, जिससे आप उसका अनायास ही विनाश भी कर सकेंगे। उस कारणके मिटते ही आप निर्मल शान्तिका अनुभव करेंगे।

(२)

मान-बड़ाईसे बचिये

आपका पत्र मिला था। इधर काम-काज बहुत अधिक रहा, इससे समयपर उत्तर नहीं दिया जा सका। मनुष्य-में यह एक बड़ी दुर्बलता है कि वह अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थिति-को भूलकर अपने सम्बन्धमें लोगोंकी मिथ्या उच्च धारणा-को स्वीकार कर लेता है। आप सोचिये तो, किसी कंगालको यदि दूसरा कोई पुरुष या समाजके बहुसंख्यक लोग भी बड़ा धनी मानकर उसकी प्रशंसा करने लगें तो इससे क्या वह धनी हो जाता है? दूसरोंकी प्रशंसासे उसे क्या लाभ हुआ? इसी प्रकार हमारे अंदर यदि सद्गुण नहीं हैं, हमारे हृदयमें यदि प्रभुके प्रति निष्काम प्रेम नहीं है, हमारे पास यदि भगवान्‌के भजनका परम धन नहीं है और लोग हमें बड़ा सद्गुणसम्पन्न, बड़ा प्रेमी और बड़ा भजनानन्दी मानते हैं तो इससे हमें क्या मिल गया और हमारा क्या उपकार हो गया? और यदि इसको हम स्वीकार कर लेते हैं तो अपनेको धोखेमें डालनेके अतिरिक्त और क्या करते हैं। इस झूठी बड़ाई तथा मिथ्या सम्मानके बोझको उठाकर हम सिवा बोझ मरनेके और कुछ भी तो नहीं पा सकेंगे।

बड़ाई तथा सम्मान यदि सच्चे गुणोंको लेकर भी हों, तो भी साधकके लिये उनका स्वीकार करना परम हानिकर है। जहाँ मान-बड़ाईमें मिठास आया (और वह आता ही है), वहीं हमारी क्रियामेंसे वास्तविकता निकल जायगी और हम वही काम करने लगेंगे, जिसमें हमें लोगोंके द्वारा सम्मान मिले एवं लोग हमारी प्रशंसा करें। मतलब यह कि फिर हमारे कार्य सत्यकी सेवा—प्रभुकी भक्तिके लिये न होकर केवल लोकरञ्जनके लिये होंगे, फिर वे चाहे अकार्य या अधर्म ही क्यों न हों और उनसे परिणाममें हमारा परम अकल्याण ही क्यों न होता हो। इसलिये साधकको चाहिये कि वह सदा सचेत रहे और मान-बड़ाईका दूरसे ही त्याग करता रहे। उन्हें पास भी न आने दे। साधकका आचरण विषयी पुरुषसे सर्वथा प्रतिकूल होना चाहिये, तभी उसे साधनामें सिद्धि मिलती है और तभी वह सिद्धावस्थाके समत्वमें स्थित होता है। विषयी मान-बड़ाईका भूखा रहता है और इन्हें पानेके लिये कोई भी अकार्य करने-को तैयार रहता है। पर साधक मान-बड़ाईको विषवत् मानकर उनका त्याग करता है तथा अपमानके योग्य किसी भी निन्दनीय कार्यको न करता हुआ भी अपमान और निन्दाको अपने लिये शुभ समझता है एवं बड़ी प्रसन्नतासे इनका वरण करता है। वही जब सिद्धावस्था-में पहुँच जाता है, तब उसके लिये मानापमान और

निन्दा-स्तुति समान हो जाते हैं। अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान् उन्हें मानापमानको तथा निन्दा-स्तुतिको समान माननेवाले बतलाते हैं। 'मानापमानयोस्तुल्यः' 'तुल्यनिन्दास्तुतिः।'

(गीता १४, १२ अध्याय)

आपको जो बड़ाई हो रही है तथा आपको जो सम्मान मिल रहा है, आप इनको अपनी साधनाका विघ्न मानिये। भजन तो खूब कीजिये। और भी बढ़ाइये, परंतु मान-बड़ाईको तनिक भी पास मत फटकने दीजिये। इसीलिये भक्तलोग अपने भजन-धनको बहुत छिपाकर रक्खा करते हैं, वैसे ही जैसे सम्भ्रान्त कुलकी कोई नारी जारके प्रेमको गुप्त रखती है। पर यदि अब आपके लिये ऐसा सम्भव न हो तो आप मान-बड़ाईका स्वीकार तो मत कीजिये। सम्भव हो तो लोगोंको नम्रता और विनयके साथ रोकर समझा दीजिये कि 'जब आपलोग मेरे हितैषी हैं, मेरा पतन नहीं चाहते हैं और कल्याण ही चाहते हैं, तब फिर मुझे मान-बड़ाई देकर मेरा अकल्याण क्यों कर रहे हैं। मेरे पतनका मार्ग क्यों प्रशस्त कर रहे हैं।' और यदि वे मान जायँ तो बहुत ही अच्छी बात है। परंतु यहाँ भी बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनको तो मान-बड़ाई प्रिय लगते हैं और उन्हें प्राप्त करनेकी लालसा भी रहती है; परंतु ऊपरसे उनका विरोध किया जाता है, वह इस अभिप्रायसे कि ऐसा करनेपर लोगोंकी यह धारणा होगी कि ये कितने अच्छे पुरुष हैं, जो मान-बड़ाईको सर्वथा नहीं चाहते और इसके लिये इतने दुःखी होकर—रो-रोकर प्रार्थना करते हैं—और फलतः वे पहलेसे भी अधिक सम्मान और प्रशंसा करने लगेंगे।

मनके इस दुर्भावकी परीक्षा दूसरे सहजमें नहीं कर पाते—यह तो स्वयं आपके ही देखनेकी चीज है। आप अपने मनसे मान-बड़ाईको सचमुच बुरा समझने लगें और जैसे किसीके द्वारा आदरपूर्वक दिये जानेपर भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने लिये हानिकर और घृणित वस्तुको स्वीकार नहीं करते, वैसे ही मान-बड़ाईको स्वीकार न करें। फिर यदि कहीं कोई आपका सम्मान कर भी देगा, बड़ाई कर भी देगा तो उससे आपकी हानि नहीं होगी। यद्यपि साधकको इससे बचना ही चाहिये, क्योंकि यह मीठा विष है, और है अत्यन्त आकर्षक। समझता हुआ भी मनुष्य मोहवश इसे स्वीकार कर लेता है। इसीलिये कोई-कोई संत जान-बूझकर ऐसी चेष्टा किया करते हैं कि जिससे लोगोंके हृदयोंमें उनके प्रति जो सम्मानकी भावना होती है, वह नष्ट हो जाय। यह तो सच्चे सद्गुणोंके लिये प्राप्त होनेवाले सम्मान और प्रशंसाके लिये बात हुई। जहाँ बिना ही किसी सद्गुणके कोई अपनी बड़ाई या सम्मान करे और उसे हम स्वीकार कर लें तो यही समझना चाहिये कि या तो हम महामूर्ख हैं, या हममें किसी अंशमें दम्भ आ गया है जो हमारा पतन करके छोड़ेगा। मैं मानता हूँ—आपमें सद्गुण हैं और लोग आपका जो सम्मान तथा प्रशंसा करते हैं, वे सम्भवतः सद्भावसे ही करते हैं, तथापि उन्हें स्वीकार करना न तो आदर्श है और न आपके लिये तनिक भी लाभदायक ही है। हानिकारक तो प्रत्यक्ष ही है। मान-बड़ाईको सुनकर मनुष्यमें कहीं अपने सम्बन्धमें यथार्थसे अधिक उच्च धारणा हो गयी कि वह डूब गया। फिर उसमें अनेक दोष अपने-आप ही आ जायँगे।

असलमें मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर अपनेको देखता रहे। मैं किस ओर जा रहा हूँ। मेरे पास कितना धन है। मैं किस स्थितिमें हूँ। और यह सब भलीभाँति देखकर जैसा अपनेको पावे, वैसा ही समझे और दोष हों तो उन्हें स्पष्ट व्यक्त कर दे, एवं कदाचित् कुछ गुण हों तो उन्हें छिपा ले तथा अपनेसे अधिक सद्गुणवालोंकी ओर देखकर—

अनन्त अपार कल्याणगुण-सागर श्रीभगवान्‌के गुणोंका स्मरण कर अपनेको तुच्छ समझे, मनमें जरा भी अभिमानका अङ्कुर न उत्पन्न होने दे। इसीमें उसका कल्याण है।

धनी तो मनुष्य धन होनेपर ही हो सकता है, लोगोंके कहनेसे नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर भजनरूपी धनको बढ़ाना चाहिये और उसके लिये उत्तरोत्तर लोभ भी अधिक-से-अधिक करना चाहिये। विषयोंका लोभ जितना हानिकारक है, उतना ही भजनका लोभ महान् लाभदायक है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्गुण भी यदि भगवान्‌के सम्बद्ध हो जाते हैं, तो सद्गुण बन जाते हैं।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्द—इनमेंसे कोई भी भाव भगवान् श्रीहरिके साथ जोड़ दिया जाय तो फिर ये भाव भगवद्रूप ही हो जाते हैं।'

मेरे इस पत्रसे आपको कुछ भी सत्-प्रेरणा मिली तो आप उसे भगवान्‌की कृपा समझिये। मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

(३)

उपदेशक बननेके पहले योग्यता-सम्पादन करना आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका बहुत लंबा-चौड़ा पत्र मिला। आपके चित्तमें बहुत उत्साह है और आप पढ़ना छोड़कर तथा घरके काम-काजका भी त्याग कर समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं; एवं गाँव-गाँव घूमकर जनताको सदुपदेश देना चाहते हैं। सो यह तो बहुत ही श्रेष्ठ भाव है। जो मनुष्य अपनेको सेवाव्रती बनाना और निःस्वार्थभावसे समाज एवं देशकी सेवा करना चाहता है, वह धन्य है। ऐसा होते हुए भी मेरी रायमें अभी आपको पढ़ना चाहिये तथा घरका काम-काज भी नहीं छोड़ना चाहिये। आप अभी अल्पवयस्क हैं और आपकी बुद्धि भी अभी स्थिर नहीं है। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि मनमें बहुत बार पापभावना भी आती है। असत्य, कपट तथा काम-क्रोध भी हैं ही। द्वेष-दम्भके कार्य भी आपसे होते हैं। तथा भगवान्‌की ओर वैसा आपका आकर्षण भी नहीं है। भजन आपसे बहुत ही कम बनता है। ये सभी बातें आपने लिखी हैं। ऐसी अवस्थामें अभी आपको यह चाहिये कि आप स्वयं पहले देश तथा समाजकी सेवा करनेके योग्य बनें। इसके लिये पहले अपनी समुचित सेवा करें। पढ़-लिखकर तथा अपने शास्त्रोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर ऐसी योग्यता प्राप्त कर लें कि जिससे आप शास्त्रानुसार लोगोंको अच्छी-से-अच्छी बात सुन्दर भाषामें और आकर्षक रीतिसे भलीभाँति समझा सकें तथा उनपर अपने भाषणका प्रभाव डाल सकें। इसके साथ ही यह भी परम आवश्यक है कि आप अपने मनकी पापभावनाको समूल नष्ट कर दें; असत्य-कपट तथा काम-क्रोधसे सर्वथा छूट जायँ; द्वेष-दम्भ भी आपमें सर्वथा न रहें; भगवान्‌के प्रति आपका सच्चा आकर्षण हो और भगवान्‌के मङ्गलमय भजनमें आपकी असीम अभिरुचि हो। जब ये बातें आपमें आ जायँगी, सचमुच तभी आप सच्चे सेवाव्रती बन सकेंगे, तभी आपके द्वारा देश तथा समाजकी यथार्थ सेवा होगी एवं तभी आपको किसीके प्रति उपदेशादि देनेका अधिकार प्राप्त होगा। आपने जो 'समाचार-पत्र' निकालनेकी इच्छा प्रकट की है, सो समाचारपत्र निकालकर उसके द्वारा लोगोंको उपदेश देनेका अधिकार भी आपको वस्तुतः तभी प्राप्त होगा।

दूसरेका सुधार होना—उसकी बुराइयोंका दूर होना आवश्यक है, और उसमें हमारे द्वारा जितनी

सेवा हो, उतना ही उत्तम है; परंतु दूसरोंकी बुराई वही निकाल सकता है, दूसरोंका सुधार वही कर सकता है, जो स्वयं बुराइयोंसे रहित होकर सर्वथा सुधर गया हो। जनताको उपदेश देकर उनकी सेवा करना बहुत बड़े दायित्वका कार्य है। दूसरेके घरका कूड़ा साफ करना पुण्य है, पर वह कूड़ा हम तभी साफ कर सकेंगे, जब हमारा झाड़ू साफ होगा, झाड़नेकी कला हम जानते होंगे, और कौन कूड़ा है तथा कौन किसके लिये कामकी चीज है, इसको भलीभाँति जान सकेंगे। तीनोंमेंसे एक बात भी नहीं होगी, तो किसीका सुधार करने जाकर हम उसका बिगाड़ कर देंगे। हमारे झाड़ूमें यदि गंदा मैला लगा होगा तो हम दूसरोंके घरकी धूल झाड़नेके बदले वहाँ गंदा मैला फैला देंगे। झाड़ना नहीं जानते होंगे तो इकट्ठे कूड़ेको उल्टे इधर-उधर बिखेर आवेंगे और कौन कूड़ा है—इस बातको नहीं जानेंगे तो किसीके बड़े ही कामकी आवश्यक वस्तुको हम कूड़ा समझकर फेंक देंगे और उसकी बड़ी हानि कर देंगे—उसके जीवनकी जड़ ही काट डालेंगे।

मनुष्यकी वाणीसे तथा क्रियासे वही वस्तु प्रकट होती है, जो उसके हृदयमें होती है। मनुष्य चाहे कितना भी कपट-दम्भ करे, हृदयका असली भाव किसी-न-किसी क्रियामें प्रकट हो ही जाता है। अतएव जबतक हमारे हृदयमें काम-क्रोध, असत्य-कपट, द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, लोभ-मोह, कामना-वासना, अभिमान-अहङ्कार, ममता-माया आदि दोष वर्तमान हैं, जबतक हमारे द्वारा पाप बनते हैं और उनमें हमें रस आता है, तबतक हम दूसरोंको क्या देंगे? ऐसे हृदयको लेकर किसीका सुधार करने जायँगे तो सिवा अपने हृदयकी इस गंदगीको वहाँ भी फैला देनेके और उसका क्या उपकार करेंगे। यदि जनतामें वैसी बुरी बातें पहले न भी रही होंगी तो हमारी वाणी और लेखनीसे निकली हुई बुरी बातें उनमें आ जायँगी, वहाँके वातावरणमें हम एक नया क्षोभ उत्पन्न कर देंगे। जागृति, क्रान्ति, सुधार, अधिकार, उन्नति, शिक्षा, बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और लोकतन्त्र आदिके मनोहर नामोंपर हम लोगोंमें द्रोह, द्वेष, कर्तव्यशून्यता, प्रमाद, अश्रद्धा, नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता, असंयम, असत्य, स्तेय, अहङ्कार, हिंसा आदि अनेकों दोषोंको बढ़ाकर परस्पर दलबन्दियाँ और उन्हें एक दूसरेको गिरानेके प्रयत्नमें लगाकर उनके लोक-परलोक दोनोंको नष्ट कर देंगे, जैसा कि आजकल न्यूनाधिकरूपमें संसारमें प्रायः सर्वत्र हो रहा है। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि उपदेशकों, पथप्रदर्शकों और नेताओंके पवित्र और दायित्वपूर्ण स्थानोंपर ऐसे लोगोंका अधिकार हो गया है, जो स्वयं असंस्कृत, असंयमी और दायित्वज्ञानशून्य हैं। आजकी हिंसा-प्रतिहिंसा-मयी ध्वंसकारिणी प्रवृत्ति इसीका कुपरिणाम है! इस प्रकार सुधारके बदले बिगाड़ तो होता ही है—सफाईके बदले गंदा मैला तो फैलता ही है। साथ ही यदि कहीं सचमुच झाड़नेका काम किया जाता भी है तो वहाँ झाड़ना न जाननेसे जैसे कूड़ा इधर-उधर बिखर जाता है, वैसे ही एक या कुछ थोड़ेसे लोगोंमें रही हुई परिमित बुराई समाजभरमें फैल जाती है। चौबेजीको छब्बेजी न बनकर दूबेजी बननेको बाध्य होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपदेशकों और सुधारकोंके द्वारा अविवेकवश सुधारके नामपर समाजमें विस्तृत अमृतवल्लीपर ही भयानक विषसिञ्चन या उनके जीवनके मूलपर ही कुठाराघात किया जाता है। भगवद्भजन, देवपूजाराधना, शास्त्रीय आचरण, वर्णाश्रमधर्म, शौचाचार, सदाचार, संयम, मातृ-पितृ-भक्ति, पातिव्रत-धर्म, ब्राह्मणमहत्ता, सात्त्विक यज्ञ-दानादि, सन्ध्यावन्दन, शास्त्रीय भेद, नियमानुवर्तिता एवं वंशपरम्परागत पवित्र सुप्रथाओं आदिका विरोध और ऐसे पवित्र कार्योंके

प्रति लोगोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करानेकी चेष्टा—इसी प्रकारके जीवनमूलका उच्छेद करनेवाले कुकार्य हैं, जो विपरीत शिक्षा और उच्छृङ्खल उपदेशादिके फलस्वरूप बड़े गर्व एवं उल्लासके साथ किये जाते हैं ! इस प्रकार जनताको खास करके अपक्वबुद्धि सरलहृदय बालकों, नवयुवकों और नवयुवतियोंको उभाड़कर सदाचारके विरुद्ध खड़े कर देना सुधारके नामपर कितना बड़ा बिगाड़ है, संस्कारके नामपर कितना भयानक संहार है ! इसपर आप विचार करें ।

अतएव प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये । उन लोगोंको तो विशेष रूपसे करना चाहिये जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं । वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है । यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती । महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं । इसीलिये महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जाय जो नासमझीके कारण जगत्के लिये हानिकर हो । इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें । स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(३ । २१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है । अर्जुन ! मेरे लिये तीनों लोकोंमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु ही है जिसे मुझको प्राप्त करना हो, एवं जो मुझे प्राप्त न हो, ऐसा आप्तकाम एवं पूर्णकाम होनेपर भी मैं कर्माचरण करता हूँ । यदि कदाचित् मैं सजग रहकर (जगत्को लाभ पहुँचानेवाले) कर्मोंका आचरण न करूँ तो बहुत बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि भैया अर्जुन ! लोग तो मुझे श्रेष्ठ मानकर मेरे पीछे-पीछे ही चलते हैं । मेरे कर्म न करनेका फल यह हो कि, सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका उत्पन्न करनेवाला और इस सारी प्रजाका उच्छेद करनेवाला बनूँ ।'

इससे पता लगता है कि अपनेको श्रेष्ठ माननेवाले अगुआ पुरुषपर कितना बड़ा दायित्व है और उसे अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, एवं किस प्रकारसे स्वयं आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये ।

फिर, एक बात यह भी है कि व्यक्तियोंके समूहको लेकर ही समाज बनता है । यदि एक व्यक्ति यथार्थरूपमें सुधर गया तो समाजका एक अङ्ग सुधर गया । यों सभी व्यक्ति अपना-अपना सुधार करने लगें तो सारा समाज अपने-आप सुधर जाय । एवं यदि इसके विपरीत सभी लोग दूसरोंका सुधार करनेमें लग जायँ, और अपने सुधारकी ओर ध्यान ही न दें तो किसीका भी सुधार न हो ।

इसलिये मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप दूसरोंके लिये उपदेशक बननेकी लालसाको दबाकर पहले अपनेमें योग्यता बढ़ावें, एवं अपने जीवनको परम विशुद्ध और भगवान्की सेवाके परायण बना दें । फिर आपके द्वारा

जो कुछ होगा, सब विश्वकी सेवा ही होगी। विश्वकी सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन विश्वात्मा भगवान्‌के अनुकूल होता है और जो अपनेको विश्वम्भर-की सेवामें समर्पित कर देता है।

(४)

परिस्थितिपर फिरसे विचार कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिले चार महीने हो गये। समयाभाव और स्वभावदोषसे मैं उत्तर नहीं लिख सका, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। आपने अपनी परिस्थिति लिखी, वह अवश्य ही विचारणीय है। ऐसी परिस्थितिमें, आपने जैसा लिखा है, दुर्बल-हृदय और अनिश्चित-बुद्धि मनुष्यके लिये बाध्य होकर इस प्रकारके कर्म करना स्वाभाविक हो जाता है, यह भी ठीक ही है। ऐसी परिस्थितिमें पड़े बिना कोई कैसे कह सकता है कि इस प्रकारके आपद्धर्ममें क्या करना चाहिये। वस्तुतः—

'जाके कबहुँ न फटी बेवाँई। सो का जानै पीर पराई॥

—के अनुसार दूसरेकी परिस्थितिका अनुभव करना और उसे उस परिस्थितिमें इच्छा न रहते हुए भी क्यों ऐसा कार्य करना पड़ता है, इसका यथार्थ निर्णय करना बहुत ही कठिन है। तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य पापको पाप बताते हुए भी यदि उसे करता है तो या तो वह उसे पाप बताता है पर यथार्थमें समझता नहीं। संखिया खानेसे मनुष्य मर जाता है, यह पक्का विश्वास जिसको होता है वह सुन्दर दीखने-वाले सुमिष्ट लड्डुओंमें भी संखियेका सन्देह हो जाने-पर उन्हें नहीं खाता; क्योंकि वह समझता है कि खाऊँगा तो मैं मर जाऊँगा। या इतना उन्मत्त हो गया है कि अपने भले-बुरेका ज्ञान ही खो बैठा है; अथवा उसकी पापमें पापबुद्धि है ही नहीं, केवल दम्भसे उन्हें पाप बतलाता है और परिस्थितिका बहाना लेकर युक्तिवाद-के द्वारा अपनी दुर्बलताको अवश्यकर्तव्य बतलाकर उसका समर्थन करता है। बहुत बार अच्छाईके वेषमें बुराई आती है, धर्मके नामपर अधर्म आता है और कर्तव्यका स्वरूप धारण करके नितान्त अकर्तव्य आया करता है। ऐसी अवस्थामें मनुष्य उन शास्त्रीय शब्दों या लोकोक्तियोंका, जो अवस्थाविशेषके लिये कर्तव्य होती हैं, सहारा लेकर बुराई, अधर्म या अकर्तव्यका प्रसन्नता-पूर्वक वरण करता है। जैसे—

(१) झूठ बोलनेवाला व्यापारी कहता है—व्यापारमें झूठ मिले हुए सत्यके बिना काम ही नहीं चलता। मनुमहाराजने—'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' कहा है। महाभारतादिमें भी व्यापार-विवाह आदिमें मिथ्या भाषण अपराध नहीं माना गया है।

(२) परिवारमें मोह-आसक्ति रखनेवाला सोचता है—भगवान्‌ने इनको हमारे हाथों सौंपा है, इसलिये इनकी सार-सँभाल करना हमारा धर्म है। भरतजीने भी यही किया था।

(३) आलसी कहता है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहै सबके दाता राम॥

(४) भक्त बनकर अपनी पूजा करानेवाला कहता है—

'राम तें अधिक राम कर दासा।'

(५) कड़वा बोलनेवाला कहता है—

बुरे लगैं हितके बचन हिये बिचारो आप।
कड़वी भेषज बिनु पिये मिटै न तनकी ताप॥

(६) अपनेको गुरु बताकर पुजवानेवाला उपदेश करता है—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेवकी जिन गोबिंद दिये मिलाय॥

(७) संत सजकर पूजा करानेवाला भगवान् रामके वचनोंका प्रमाण देता है—

'मोते अधिक संत करि लेखे'

(८) चोर कहता है—स्वयं श्रीकृष्णने माखन चुराया था। इसीसे उनका नाम 'चौराग्रगण्य' है।

(९) जुआरी मानता है—'द्यूतं छलयतामस्मि' गीताके वचनानुसार जुआ तो भगवान्‌का स्वरूप है ।

(१०) शराबी और मांसाहारी मनुका प्रमाण देते हैं—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

'न तो मांसभक्षणमें दोष है, न मद्यमें और न मैथुनमें ही ।'

(११) स्त्री और सेवकोंपर अत्याचार करनेवाले सारा दोष तुलसीदासजीपर मँढ़ते हुए कहते हैं—

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी । ए सब ताड़न के अधिकारी ॥

(१२) क्रोधी कहता है—

साँच कहूँ होकर निडर,कोई हो नाराज ।
मैंने तो सीखा यही साँच बोलिये गाज ॥

(१३) माता-पिताकी अवहेलना करके अपने मतका समर्थन करनेवाला गाता है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

(१४) झूठा आश्वासन देनेवाले सोचते हैं—कुछ भी कह देना है, करना तो है नहीं 'वचने का दरिद्रता ।'

(१५) बात-बातमें डाँट-डपट करनेवाला कहता है—'साँप काटे नहीं तो क्या फुफकारे भी नहीं ?'

(१६) भाई-भाईसे लोभवश लड़नेवाला—कौरव-पाण्डवोंकी कथा उपस्थित करता है ।

(१७) पर-दोष-दर्शन तथा परनिन्दा करनेवाले प्रमाण देते हैं—

बैद्य न जानैं रोगकौं औ जो नहिं देत बताहिं ।
बैद्य धरमतें सो गिरैं रोगी प्रान नसाहिं ॥

—और कहते हैं कि यदि हम किसीके दोष न देखें एवं लोगोंको बताकर सावधान न करें तो कैसे उसके दोष छूटें और कैसे लोग उसके दोषोंसे बचें ।

(१८) वर्णाश्रमानुकूल धर्म, संयम-नियम, सन्ध्या-बन्दनादिका त्याग करनेवाले अपनेको प्रेमी घोषित करके कहते हैं—'भाई ! ये सब तो उन लोगोंके लिये हैं, जिन्होंने प्रेमका मुख नहीं देखा है, प्रेम-राज्यमें इनका क्या काम ? एवं नारायण स्वामीके ये दोहे पढ़ देते हैं—

तब लौं यह फाँसी गले, बरनास्रम व्रत नेम ।
नारायण जब लौं नहीं, मुख दिखलावे प्रेम ॥
धर्म धैर्य संयम-नियम, सोच बिचार अनेक ।
नारायण प्रेमी निकट, इनमें रहैं न एक ॥

(१९) कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करनेवाला अपनेको ज्ञानी मानकर भगवान्‌के शब्दोंकी दुहाई देता है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

जिसकी आत्मामें ही रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उस मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है ।

(२०) आहार-विहारमें पशुवत् व्यवहार करनेवाला गीताका श्लोक पढ़ देता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्ता इन सभीमें ज्ञानी पुरुष समदर्शी होते हैं ।

इसी प्रकार ओर भी अनेकों बहाने होते हैं बुराईका समर्थन करनेके लिये । वस्तुतः यह इन सद्विचारों एवं सदुक्तियोंका भीषण दुरुपयोग और अर्थका अनर्थ है, जो मूर्खतासे या दम्भसे अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये मनुष्य करता है ।

अतएव आप अपने हृदयको टटोलकर देखिये, उसमें कोई छिपा हुआ ऐसा दोष तो नहीं है जो युक्तिवादसे परिस्थितिका बहाना करके आपको धोखा देता हो ।

फिर जो धर्मका सच्चा सेवक है और भगवान्‌के पवित्र पथपर चलना ही जीवनका परम कर्तव्य समझता है उसके लिये तो खुला मार्ग है, उसमें किंतु-परंतुको स्थान ही नहीं है । वह तो ऐसा कोई भी कर्म, किसी भी हेतुसे नहीं करता जो अधर्म हो और भगवान्‌के पवित्र पथसे च्युत करानेवाला हो ।

संसारमें मनुष्यका वास्तविक शत्रु

(लेखक—डा० महम्मद हाफिज सैयद, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, डी०लिट्)

अर्जुनके भगवान्से यह पूछनेपर कि 'मनुष्य बलात्कारसे लगाये हुए-के सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणासे पापाचरणमें प्रवृत्त होता है ?' श्रीभगवान्ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न यह 'काम' ही क्रोध है, यही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) और बड़ा पापी है । यहाँ तुम इसीको वैरी समझो ।'

सामान्यतया शोक और संतापके शिकार होकर हम अपने दुर्भाग्यके लिये भगवान्को अपराधी ठहराया करते हैं। ऐसी प्रवृत्तिका आधार केवल एक भ्रान्त धारणा है । श्रीभगवान् तो सदा निरपेक्ष और तटस्थ हैं, उनमें न तो कोई राग है न द्वेष । हमारे पथ-प्रदर्शनके लिये उन्होंने केवल किसी अटल नियमविशेषका निर्माण भर कर दिया है । यदि हम उसके अनुकूल आचरण करते हैं तो सुखका अनुभव करते हैं और प्रतिकूल करनेपर स्वाभाविक ही दुःखको प्राप्त होते हैं । भगवदीय इच्छाकी अभिव्यञ्जनास्वरूप यह नियम अपने काममें बिल्कुल अचूक और पक्का है तथा हमारी सत्ताके शारीरिक, मानसिक और नैतिक—सभी क्षेत्रोंको अनुशासित करता है । अपने शोक-संतापोंको उत्पन्न करनेवाले स्वयं हमी हैं, वे हमारी ही कुकृतियों एवं कुविचारोंके परिणाम हैं।

बुद्धि मनुष्यके श्रेष्ठतम तत्त्वोंमेंसे एक है । यदि इसका उचित रीतिसे विकास किया जाय और सचाईसे अनुगमन किया जाय तो यह कठिनाइयोंमें तो बहुत कम डालती है, उल्टे हमें सब ओरसे बचाते हुए बड़ी सुरक्षित रीतिसे मनोवाञ्छित उद्देश्य तक पहुँचा देती है । स्वर्ण तो सभी चाहते हैं, पर उसके लिये परिश्रम करनेसे, उसे खानसे खनकर निकालनेसे भागते हैं । प्रत्येक प्राणी शान्ति, सुरक्षा और सुखकी इच्छा करता है; पर उन्हें वहाँ ढूँढ़ता है, जहाँ वे हैं नहीं । आजकल बहुत-से ऐसे लोग मिलेंगे, जो बुद्धिकी श्रेष्ठताके विषयमें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें करते हैं और उसे मनुष्यके लिये निरापद मार्गकी निर्देशिका बताते हैं; पर ऐसे लोगोंकी संख्या ही कितनी है जो अपने व्यवहारको शुद्ध और निर्लिप्त—अनासक्त बुद्धिके आदेशानुसार ठीक रखते हैं । यदि लोग अपनी बुद्धि और साधारण समझकी प्रेरणाओंको सचाईसे मानें तो उनके शोक-संताप बहुत अंशमें कम हो जायँगे ।

जब हम अपने हृदयमें खोज-खोजकर यह देखने चलते हैं कि कौन हमारी असंख्य व्याधियोंका कारण बन रहा है, कौन हमें दासताकी बेड़ियोंमें बाँधे हुए और बंद किये हुए है, तो बहुत ध्यानसे देखनेपर यही विदित होता है कि हमारी अनियन्त्रित कामनाएँ ही हमारे अपमान, असफलता, निराशा, शोक और संतापकी जननी हैं । हम बिना विचारे ही इन्द्रिय-भोगोंकी ओर, उनसे अधिक-से-अधिक सुख पानेकी आशामें दौड़ पड़ते हैं । परंतु सूक्ष्म विश्लेषण करनेपर हमको पता चलता है कि भोगों और भोग-सामग्रियोंसे हमें जो कुछ मिल रहा था, वह एक ऐसे सुखकी क्षणिक प्रतीति भर है कि जिससे न तो हमें कोई नैतिक संतोषकी प्राप्ति होती है और न वह मनकी उस शान्तिकी ओर ले जाता है जिसे पानेके लिये हमें वास्तवमें प्रयत्नशील होना चाहिये । ज्ञात साधनोंसे हम चाहे जबतक सुखकी आकाङ्क्षा करनेके लिये स्वतन्त्र हैं, पर उचित यही होगा कि कम-से-कम एक बार तो ठहरकर हम अपने अन्तरात्मासे पूछें कि जिसके पीछे हम दौड़ रहे हैं, वह वास्तवमें स्पृहणीय है या नहीं । जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके शब्द हमें बार-बार यही चेतावनी देते हैं कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'इन्द्रिय-विषय-संस्पर्शसे उत्पन्न सभी भोग दुःखको प्राप्त करानेवाले हैं, वे आदि-अन्तवाले होनेसे अस्थायी हैं। अतः भैया अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमते ।'

अब यह हमलोगोंका कर्तव्य है कि भगवान्के इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करें और स्वयं इस बातका पता लगावें कि भोगोंसे अन्तमें जाकर हमें कोई सन्तोष प्राप्त होता है या नहीं । दूसरी ओर जो लोग भगवान्के शब्दोंकी परीक्षा करके उसकी सत्यता प्रमाणित कर चुके हैं, वे हमें निश्चयपूर्वक विश्वास दिलाते हैं कि क्षणिक सुखोंकी आराधना मानसिक शान्तिको उत्पन्न करनेकी जगह हमारे हृदय तथा मनमें और भी अधिक अराजकता, अशान्ति एवं अव्यवस्था उत्पन्न कर देती है । जीवनके उन क्षणोंमें जब हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें किसीके पीछे दौड़ना नहीं है, किसीके पीछे-पीछे चलना नहीं है, किसीके लिये लालसा

नहीं करनी है और कुछ पाना नहीं है, तब हमें भान होता है कि हमारा बोझा हल्का हो गया है, मन शान्त हो गया है और हृदय निर्मल हो गया है। केवल शुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोणसे देखते हुए विवेककी कसौटीपर कसकर हमें ग्रहण करना है या तो सुखकी क्षणिक अनुभूतियोंको या उनकी तुलनामें अधिक चिरस्थायी एवं शाश्वत सुखसाधनको। श्री जे० एस्० मिलके शब्दोंमें ऐन्द्रिय-सुखसे बौद्धिक सुख अधिक कालव्यापी होता है।

सुरक्षा एवं सुखकी अधिक विशाल तथा उत्तमतर भावनासे भूषित होनेके लिये हमें अपने समस्त उपद्रवोंके मूलको ढूँढ़ निकालना है और जहाँतक हो सके इसको निकालकर दूर फेंक देना है एवं अपनेको इसके जालसे मुक्त कर लेना है। केवल इसी रीतिसे चिन्ता, अव्यवस्था और कलहके बोझसे हम वास्तविक स्वतन्त्रता तथा सन्त्राण पाकर भारमुक्त हो सकते हैं। सुख और अपने शत्रुपर विजय-प्राप्तिके मार्गमें प्रत्येक पदपर हमें अपनी कामनाके महाशन और महापापात्मक स्वरूपको पहचानकर उसे किसी महत्तर उद्देश्यकी प्राप्तिकी अभिवाञ्छामें परिणत एवं रूपान्तरित कर देना चाहिये। भगवदीय इच्छाकी योजनानुसार हमारे विकासके उषःकालमें हमें क्रियाशील बनाने तथा योग्यताकी कतिपय दिशाओंमें जानेवाली प्रवृत्तियोंको विकसित करनेमें कामनाका कुछ कम हाथ नहीं रहता। यदि हम निश्चेष्ट रह जायँ तो वे प्रवृत्तियाँ पनपें ही नहीं। भौतिक जगत्के नाना क्षेत्र तथा सांसारिक व्यापारोंके बृहत् विस्तार, जिनसे हम कई विशेष प्रकारकी योग्यताओंको प्राप्त करते हैं—निष्फल हो जाते, यदि हमें अपनी कामनाकी प्रेरणा न प्राप्त होती रहती। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कम विकसित लोगोंके लिये एक सीमातक कामनाके अनुगमनका भी अपना एक महत्त्व है। पर जब हम अपने मानसिक वृत्तका पर्याप्त विस्तार कर चुके हों और अपनी कुछ नैतिक दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त कर चुके हों, तब यह उचित और न्याय्य होगा कि हम अपने भीतर तर्क-वितर्क करके यह जानते कि कौन-सी कार्य-प्रणाली तथा कौन-सी विचारधारा हमें अपने लक्ष्यके समीप ले जानेवाली तथा नष्ट होनेसे बचानेवाली है। अपने विकासके इसी दुराहेपर हम अपने शत्रु और मित्रकी पहचान करना प्रारम्भ कर देते हैं। हमारे विकासके प्रारम्भिक दिनोंमें जो हमारा मित्र था, वही जब हम वयस्क हो जाते हैं और अपने आत्मा तथा भाग्यपर अपना ही शासन एवं प्रभुत्व स्थापित करनेकी इच्छासे अपने पैरोंपर स्वयं खड़ा होना सीखने लगते हैं, हमारा शत्रु हो जाता है। केवल बुद्धि और सद्विवेक ही हमें यह निर्णय करनेमें सहायता प्रदान कर सकते हैं कि किस कार्य-प्रणालीका अनुसरण करके हमें उसपर चलते रहना चाहिये—बुद्धि एवं धर्मका अथवा इनके विरोधी भावोंका।

कुछ ऐसे नैतिक तथ्य और आदेश हैं, जिनका प्राचीन और अर्वाचीन—सभी धर्मोंने सार्वभौमरूपसे और एक स्वरसे उपदेश किया है। इन धर्मोंके आदि-प्रवर्तकोंको मानव-जातिके विगत विकास तथा भावी भाग्यका पूरा-पूरा अनुभव और ज्ञान था। अपनी लंबी अनुभूतिके द्वारा वे जानते थे कि नैतिक उन्नतिके मार्गमें मनुष्यके लिये किधर पग बढ़ाना ठीक है। वे व्यवहारके कुछ नियम बना गये हैं जो युग-युगसे कालकी कसौटीपर खरे उतरते चले आ रहे हैं। इसलिये नैतिक तथ्योंमें विश्वास रखनेवाले एवं अपने कल्याण तथा सुखके लिये नैतिक संतोषकी खोज करनेवाले व्यक्तियोंके लिये उनका पालन करना अनिवार्य हो गया है। हमें बार-बार कुमार्गसे बचनेके लिये तथा सत्य और अहिंसा आदि धनात्मक गुणोंका विकास करनेके लिये कहा गया है। हमें अपने भीतरकी कुप्रवृत्तियोंको, उनके विरोधी गुणोंका विकास करके निकाल देना है। मनुष्यकी सत् अथवा असत् प्रवृत्तियाँ उसके बहुधा आवृत्त विचारों और क्रियाओंका ही परिणाम बनकर आती हैं। निरन्तर चिन्तन तथा विचारके सतत आग्रहसे हम अपने चरित्रमें कतिपय गुणोंका विकास कर सकते हैं और जब हम प्रलोभनमें पड़कर भ्रान्त हों अथवा जीवनकी स्वीकृत और यथोचित योजनाके विरुद्ध काम करनेको उद्यत हों, तब उन विकसित गुणोंके प्रकाशसे यथार्थ मार्ग देख सकते हैं। इस प्रकार हम अपने नैतिक चरित्रका पुनर्निर्माण और सुधार कर सकते हैं और समस्त दोषोंकी मूल कामनारूपी अपने शत्रुको परास्त करनेमें सफल हो सकते हैं।

पथ-प्रकाशके शब्दोंमें जीवनके कष्टों तथा कामनाके दुःखोंको दूर करनेकी इसके सिवा और कोई दवा नहीं है कि हम अपने ध्यानको उसपर केन्द्रित करें जो अविनाशी, अपरिवर्तनशील और अनामय है। दूसरे शब्दोंमें हमें सदैव अपने दिव्य स्वरूपका ध्यान करना चाहिये और अपनेको अपने अन्तरमें स्थित परमात्माके उस सनातन अंशसे एकीभूत करना सीखना चाहिये जो वास्तविक सुख और नित्यजीवनका एकमात्र स्रोत है। अपने इस महान् काम-शत्रुको परास्त करनेका केवल यही एक उपाय है।

अपूर्व आत्मसमर्पण

(लेखक—श्रीयुत एस० एम० बोरा)

दक्षिण भारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेंड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है, एक ओर पानीका घड़ा रक्खा है; दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं, पास ही मिट्टीकी दावात रक्खी है और हाथमें कलम लिये वे कुछ लिख रहे हैं। आसपास कुछ पुस्तकें पड़ी हैं, कुछ ही दूरपर पोथियाँ बाँधनेके बैठन पड़े हैं। पण्डितजी बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रक्खी पोथियोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर पन्ने रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोलकर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ गया और प्रकाश मन्द पड़ गया। इसी बीच एक प्रौढा स्त्रीने आकर दीपकमें तेल भर दिया और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगी। ऐसा करते दीपक बुझ गया। पण्डितजीका हाथ अँधेरेमें रुक गया। स्त्री बत्ती जलाकर तुरंत वहाँसे लौट रही थी कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली गयी। उन्होंने कौतूहलमें भरकर पूछा—'देवी ! आप कौन हैं ?' 'आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ इसके लिये क्षमा कीजिये' स्त्रीने जाते-जाते बड़ी ही नम्रतासे कहा। 'परंतु ठहरो, बताओ तो आप कौन हैं ? और यहाँ क्यों आयी हैं ?' पण्डितजीने बल देकर पूछा। स्त्रीने कहा, 'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं, आप अपना परिचय दीजिये—जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—"प्राणनाथ ! मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, मुझे 'आप' कहकर मुझपर पाप न चढ़ाइये।"

पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले—'हैं, मेरी पत्नी ! विवाह कब हुआ था ?' स्त्रीने कहा—'लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।'

पण्डितजी—तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा।

स्त्री—प्राणनाथ ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा बायाँ हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्य संगी बने हुए हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लंबा समय तुमने कैसे बिताया—मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तो तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी ?

स्त्री—प्राणेश्वर ! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया ! इसीसे यह प्रसङ्ग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी ?

स्त्री—नाथ ! और क्या करती, जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती। प्रातःकाल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती। आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती। तदनन्तर सन्ध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता। रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें सो जाती।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये तो मन चाहिये। दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर ये चक्षुगोलक कैसे किसको देख सकते हैं। चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती। आपका मन तो नित्य निरन्तर तल्लीन रहता है अध्ययन, विचार और लेखनमें। फिर आप मुझे कैसे देखते ?

पण्डितजी—अच्छा तो, हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है ?

स्त्री—दुपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा गाना सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं, उसीसे निर्वाह होता है ।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्गद कण्ठसे बोले—'तुम्हारा नाम क्या है देवी !' स्त्रीने कहा—'भामती।' 'भामती ! भामती ! मुझे क्षमा करो, पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखनेतककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीपर क्षमा करो' यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे ।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव ! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये। आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती, तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषयविमुग्ध पशु बन गयी होती । आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है । नाथ ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है । मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किञ्चित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है । किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपञ्चमें कितना फँस जाती । और पता नहीं शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती । आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी । यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है । अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये । मुझे सदाके लिये भूल जाइये ।' यों कहकर वह जाने लगी ।

पण्डितजी—भामती ! भामती ! तनिक रुक जाओ, मेरी बात तो सुनो !

भामती—नाथ ! आप अपनी जीवनसंगिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहकी गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पङ्कमें फँसाते हैं ?

पण्डितजी—भामती ! मैं तुझे पाप-पङ्कमें नहीं फँसाना चाहता । मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ ।

भामती—नाथ ! आप तो देवता हैं, आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्का उद्धार होगा ।

पण्डितजी—'भामती ! तुम सच मानो ! भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन किया; परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन-मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य हैं । व्यास भगवान्ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया, परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो ।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे । भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव ! यह क्या कर रहे हैं ? मैंने तो अपने जीवनमें आपकी सेवाके अतिरिक्त कभी कुछ चाहा नहीं । आपने मुझ-जैसीको ऐसी सेवाका सुअवसर दिया । यह आपका मुझपर महान् उपकार है । आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रही हूँ, यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ, तो मेरा महद्-भाग्य हो ।'

पण्डितजी—भामतीदेवी ! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया । परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है । मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पङ्क्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है, अतः जगत्में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा । तुमने मेरे लिये जो अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो । 'प्रभो ! आप ऐसा कीजिये जिसमें इस अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय ।' 'आप अपने काममें लगिये देव !' यों कहकर भामती जाने लगी । तब 'तुमको जहाँ जाना हो, जाओ । परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता ।' यों कहकर पण्डितजीने पोथी-पत्रे बाँध दिये ।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है । इस ग्रन्थका नाम है—'भामती' और इसके लेखक हैं—पण्डित वाचस्पति मिश्र ।

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घका निवेदन

'कल्याण' में 'गीता-जयन्ती' तक सवा लाख गीतापाठके लिये प्रार्थना की गयी थी। इस सम्बन्धमें पाठकोंकी सूचना प्राप्त हो गयी थी। साथ ही श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानस-प्रचार-सङ्घके सदस्य बननेके लिये भी निवेदन किया गया था। हर्ष और संतोषकी बात है कि 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंने बड़े ही उत्साहके साथ इस ज्ञानयज्ञमें हाथ बँटाया है तथा हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। अबतक श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके गीता-विभागमें ३२४५ सदस्य और रामायण-विभागमें ३१२५ सदस्य बने हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रतिदिन ७८४ पाठ श्रीगीता-जीके और ५२ पाठ श्रीरामायणजीके, इसी हिसाबसे २८२२४० पाठ गीताजीके और १८७२० रामायणजीके वार्षिक स्थायी रूपसे हो रहे हैं।

जिन महानुभावोंने पाठका नियम लिया है आशा है, वे सब-के-सब उसी उत्साहसे नियमा-नुसार बराबर पाठ करते रहेंगे। यदि किसी कारणविशेषसे किसी सज्जनका कोई पाठ छूट जाय तो वे कृपापूर्वक पाठकी पूर्ति कर लें और भविष्यमें अनुष्ठानका क्रम न टूटे—इस बातका विशेष ध्यान रक्खें। कृपापूर्वक सालमें दो बार, 'पाठ बराबर चालू है' यह सूचना अवश्य देनेकी कृपा करें।

× × ×

आप जानते ही हैं कि गीता और रामायणके पाठकी कितनी अपार महिमा है। विश्व-साहित्यके ये दो अमूल्य रत्न हैं। ये दोनों प्रासादिक ग्रन्थ माने गये हैं और इनके प्रेमपूर्वक स्वाध्यायसे बड़ा भारी लाभ मिलता है। अतः प्रत्येक व्यक्तिका इनके स्वाध्यायके लिये प्रयत्न करना परम कर्तव्य है—ऐसा समझकर आप भी इस कार्यमें योग प्रदान करते रहनेकी कृपा करें।

जिन महानुभावोंने गीता-रामायण-प्रचारमें अपना हार्दिक सहयोग प्रदान कर सदस्य बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके प्रति हम बहुत अधिक कृतज्ञ हैं और हम आशा करते हैं कि इसी प्रकार वे विशेष उत्साहसे इस भगवत्कार्यमें हाथ बँटाते रहेंगे—जिससे इसके लाखों सदस्य बनाये जा सकें। प्रत्येक सदस्य कम-से-कम एक-एक और सदस्य बना दें तो यह संख्या सहज ही दुगुनी हो सकती है। सदस्य बनने और बनानेके-लिये आवेदनपत्र नीचे लिखे पतेसे मँगवानेकी कृपा करें।

आशा और विश्वास है—आपका सहयोग हमें सदा मिलता रहेगा।

विनीत,

संयोजक—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ

पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

परोपकारकी महत्ता

दानेन भूतानि वशीभवन्ति
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै-
र्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः । घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणाङ्गणे ॥
परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः । गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥
परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् । जीवन्तु पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥

दानसे सब प्राणी वशमें हो जाते हैं, दानसे वैर नष्ट हो जाते हैं, दानसे पराये भी अपने भाई-बन्धु बन जाते हैं और दान सारे व्यसनोंको मिटा देता है। उपकार न करनेवाले मनुष्यसे मैं तिनकेको भी श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि वह घास बनकर पशुओंकी रक्षा करता है और रणाङ्गणसे भागे हुए डरपोक मनुष्योंको छिपाकर बचा लेता है। एक बार विष्णु भगवान्‌ने मुक्ति और परोपकारको तराजूके पलड़ोंपर रखकर तौला तो परोपकार-का पलड़ा ही भारी रहा। इसीलिये उन्होंने दस अवतार धारण करके परोपकार किया। परोपकार न करनेवाले मनुष्यके जीवनको धिक्कार है। जीते रहें वे पशु, जिनका चमड़ा भी जूता बनकर उपकार करेगा।